पिताजी की मृत्यु के तीन साल उपरान्त परिवार में मुकद्दमेबाजी आरम्भ हुई। चार साल तक घोर सग्राम चला और दोनो ओर से लगभग चार लाख रुपये व्यय हुए। दूकानो पर ताले लगे, रिसीवर नियुक्त हुए और व्यापार भी बहुत कुछ नष्ट-भ्रष्ट होगया। अन्त मे अदालत की ओर से फैसले मे समस्त सम्पत्ति चार भागो में बाँटी गई। सम्पत्ति का एक भाग शम्भुरत्न तथा बालक प्रसाद को दिया गया, दूसरा भाग गिरजाशकरसाहु तथा उनके लडको को मिला, तीसरा भाग शिवशकरसाहु को मिला और चौथा भाग महादेवजी के दो मन्दिरो को मिला, जो प्रसादजी के पूर्वजो ने काशी में बनवाये थे[1]। पन्द्रह वर्ष की अवस्था में प्रसादजी की माता का भी स्वर्गवास होगया और इस पारिवारिक कलह के समाप्त होते ही माताजी के दो वर्ष बाद प्रसादजी के बडे भाई शम्भुरत्न भी दिवगत होगये। बडे भाई शम्भुरत्न ही घर तथा दूकान की देखभाल करते थे। वैसे वे बडे ही शौकीन और रईसी ठाट के व्यक्ति थे। वे सदैव आस्ट्रेलियन वैलर घोडो की टमटम पर सवारी करते और उच्च कोटि के अपव्ययी थे। जिनके अपव्यय के कारण ही प्रसाद-परिवार पर्याप्त ऋण-ग्रस्त होगया था। अत बडे भाई के मरते ही प्रसादजी को ऋण-भार से लदी हुई मूर्तिमान विडम्बना सदृश दु खद गृहस्थी का भार सँभालना पडा और सत्तरह वर्ष की आयु में ही व्यापार, गृहस्थी तथा अपने उत्तरदायित्व का भार प्रसादजी के कधो पर आगया[2]।

भाई की मृत्यु के एक वर्ष बाद ही प्रसादजी ने स्वय अपने वैवाहिक सम्बन्ध की बातें कीं और २० वर्ष की आयु मे (स० १९६६ में) गोरखपुर से अपना पहला विवाह किया। प्रथम पत्नी १० वर्ष तक जीवित रही। उनकी मृत्यु के एक वर्ष बाद प्रसादजी ने दूसरा विवाह किया। दूसरी पत्नी से एक वर्ष बाद एक पुत्र उत्पन्न हुआ, जो प्रसूतकाल में अपनी माता के साथ ही स्वर्ग को चला गया[3]। इसके उपरान्त वे गयाजी गये और वहाँ से महोदधि, भुवनेश्वर और पुरी की यात्रा करते हुए उन्होने पर्वत एव समुद्र की महान शोभा के दर्शन किये। पर्वतो की भव्यता एव सागर की विशालता ने उनकी भावुकता को अत्यधिक उत्तेजना प्रदान की[4]। इस यात्रा से लौटने के ४–५ वर्ष बाद प्रसादजी ने देवरिया (गोरखपुर) से अपना तीसरा

१—डा० राजेन्द्रनारायण शर्मा द्वारा लिखित 'प्रसादजी के सस्मरण' की पाडुलिपि से।

२—प्रसाद का जीवन और साहित्य, पृ० १४।

३—डा० राजेन्द्रनारायण शर्मा की पाडुलिपि से।

४—कवि प्रसाद की काव्य-साधना, पृ० ६–७।

विवाह किया। इसी तीसरी पत्नी से रत्नशकर उत्पन्न हुए, जिनका नाम प्रसादजी ने अपने बडे भाई की स्मृति मे 'शम्भुरत्न' का ही परिवर्तन करके रखा था।

भाई की मृत्यु के उपरान्त लगभग तीस वर्ष—स० १९६३ से स० १९९३ तक प्रसादजी दूकान, घर और साहित्य की त्रिधारा मे वहते रहे। उनके जीवन का अधिकांश भाग व्यवसाय के सँभालने में लगा और अपने अतिम समय में ही ऋण से मुक्त होकर सन्तोष की साँस ली[1]। स० १९९३ मे वे एक वार डा० मोतीचन्द के छोटे भाई नारायण चन्द की शादी मे दावत खाने गये। वहाँ पर दावत खाते-खाते प्रसादजी को जाडा लगने लगा और बुखार आगया। वहुत दिनो तक सभी लोग मलेरिया समझते रहे। अत मे शीतकाल के आते ही उनको खाँसी भी प्रारम्भ हो गई। किन्तु रोग का ठीक निदान न हुआ। पेट मे दर्द रहने लगा। प्रसादजी ने खाना भी कम कर दिया जिससे अव वे दुर्वल होगये। परन्तु उनके उत्साह मे कोई कमी नही हुई। सं० १९९३ के शीतकाल में वे लखनऊ प्रदर्शिनी देखने गये। वहाँ से लौटकर आने के कुछ दिन वाद वे पुन. ज्वर से पीडित हुए। अव की वार उनके कफ आदि की जाँच हुई, जिससे पता चला कि वे राजयक्ष्मा रोग से पीडित थे। स० १९९४ के आरम्भिक दिनो में वे फिर कुछ स्वस्थ हो गये, परन्तु वर्षाकाल के आते ही रोग फिर उखड आया, जीभ पर छाले पड गये और भयकर दशा हो गई। डाक्टरो ने प्रसादजी को स्थान-परिवर्तन की सलाह दी, परन्तु उन्हे काशी को छोड कर कही भी जाना पसद न था। ऐसी भयकर वीमारी के अवसर पर भी वे अपने पुत्र के विवाह की योजनायें वनाया करते थे। अत में स० १९९४ मे शीतकाल के आते ही उन्हे चर्म-रोग ने भी सताया और उस समय सूखी हड्डियो पर सूखी चमडी का आवरण-मात्र शेष रह गया। उस समय डा० एच० सिह अपनी होम्योपैथिक औषधियो से उनकी चिकित्सा करते थे, क्योकि धार्मिक मनोवृत्ति के कारण वे अन्य अँग्रेजी औषधियाँ खाना अच्छा नही समझते थे। अंत मे कार्तिक शुक्ल एकादशी स० १९९४ को सध्या के साढे चार वजे हिन्दी भाषा के इस अमर कवि ने अपने पार्थिव शरीर को छोड दिया। रात्रि के ८ वजे प्रसादजी की शवयात्रा निकली। लगभग ३०—४० व्यक्ति साथ थे। पूर्वजो की प्रथानुसार काशी के हरिश्चन्द्र घाट पर उनकी चिता का निर्माण हुआ। तदुपरान्त कुछ ही देर में अग्निदेव ने उनके पार्थिव शरीर को पचतत्त्वो में विलीन कर दिया। इस तरह लगभग ४८ वर्ष की आयु में ही हिन्दी का यह अमर कवि हिन्दी-जगत से विदा हो गया।

शिक्षा तथा ज्ञानार्जन—वचपन मे प्रसाद जी को सवसे पहले गोवर्द्धन सराय मुहल्ले मे श्री मोहिनीलाल गुप्त की अपनी निजी पाठशाला में पढने के लिए भेजा

१—प्रसाद का जीवन और साहित्य, पृ० ११।

गया। वहाँ पर प्रसादजी ने अक्षर-ज्ञान प्राप्त किया और साथ ही कविताएँ लिखने की प्रेरणा भी प्राप्त की, क्योंकि मोहिनीलाल गुप्त स्वय एक रससिद्ध कवि थे। इस छोटी-सी पाठशाला को प्रसाद जी "आरम्भिक सरस्वती पीठ" कहा करते थे[1]। इसके बाद उन्होने क्वीस कालेज में ७ वी कक्षा तक शिक्षा ग्रहण की। परन्तु पिताजी की मृत्यु हो जाने के कारण अधिक न पढ सके और घर पर ही सस्कृत, उर्दू, हिन्दी, अंग्रेजी आदि भाषायें सीखने लगे। श्री दीनबधु ब्रह्मचारी से उन्होंने सस्कृत का अध्ययन किया और उपनिषद् ग्रथ पढे[2]। इसके अतिरिक्त अन्य वैदिक ग्रथो, वैष्णव और शैव दर्शनो का अध्ययन स्वत करके इनका पर्याप्त ज्ञान प्राप्त किया। जिसकी छाप इनकी रचनाओ पर विद्यमान है। बचपन में ही पिताजी के सामने बैनी, शिवदा आदि कवियों की समस्या-पूर्तियों एव अन्य कविताओ को सुनते-सुनते प्रसादजी को कविता लिखने की पद्धति का ज्ञान हो गया था और कभी-कभी लुक-छिपकर कुछ तुकबदियाँ भी की थी, जो आज नही मिलती[3]। इनके घर के समीप काशी के गोवर्द्धन सराय मुहल्ले मे कुछ कायस्थ परिवार रहते थे, जिनकी उर्दू-फारसी की शायरी का आनद प्रसादजी को अनायास मिलता रहता था[4]। अत उनसे इन्होने 'इश्क मजाजी' की भावनाओ से भरी हुई उर्दू गजल लिखने का ज्ञान प्राप्त किया, जिसका प्रभाव 'आंसू' काव्य पर स्पष्ट लक्षित होता है। इसके अतिरिक्त प्रसादजी ने भारत के अतीतकालीन इतिहास का अनुशीलन बडी गहराई के साथ किया और उसी अध्ययन के आधार पर उन्होने अजातशत्रु, स्कदगुप्त, चन्द्रगुप्त, आदि नाटक तथा 'प्रेमराज्य', 'करुणालय' 'कामायनी' आदि काव्य लिखे। अत प्रसादजी ने भारतीय सस्कृति एव भारतीय इतिहास का अच्छा ज्ञान प्राप्त किया था तथा उनका अध्ययन विस्तृत था, जिसका प्रभाव उनकी समस्त रचनाओ पर दिखाई देता है।

मित्र-गोष्ठी—प्रसादजी की मित्र-मडली में काशी के सभी साहित्यकार सम्मिलित थे। वैसे उनके अतरग मित्र तो अधिक न थे। उनमें से श्री रायकृष्णदास, विनोदशकर व्यास, केदारनाथ पाठक, लक्ष्मीनारायण सिह 'ईश' आदि प्रसिद्ध हैं। 'ईश' जी तो उनके 'आरम्भिक सरस्वती पीठ' के सहपाठी भी थे। यह मित्रमडली

१—प्रसाद की याद, सस्मरण ३, ले० रायकृष्णदास, हिमालय, दीपावली अक, स० २००३, पृ० ७।

२—प्रसाद और उनका साहित्य, पृ० १९–२०।

३—कवि प्रसाद की काव्य साधना, पृ० ७।

४—प्रसाद की याद, सस्मरण ३, ले० रायकृष्णदास, हिमालय, दीपावली अक, स० २००३, पृ० ६।

शाम को नारियल टोले वाली दूकान के सामने चबूतरे पर नित्य जुडती थी। वहाँ पर कुछ नये-नये मित्र तथा काशी के साहित्यकार भी आते रहते थे। एक महाशय जिनका नाम रामानद था, वे भी वहाँ अवश्य पहुँचते और अपने उर्दू के चुटीले सवैये तथा घनाक्षरी सुनाया करते थे[1]। कुछ साहित्यकार प्रसादजी के घर पर यदा-कदा आते रहते थे, जिनमे से अधिकाश उनके प्रिय मित्र थे और जिनके साथ साहित्य के बारे मे प्रसादजी प्राय बडी देर तक बातें किया करते थे। उनमें से सर्व श्री मैथिलीशरण गुप्त, सुमित्रानदन पत, सूर्यकान्त त्रिपाठी 'निराला', महादेवी वर्मा, रामचन्द्र वर्मा, प्रेमचद, जैनेन्द्रकुमार, केशवप्रसाद मिश्र, बालकृष्ण शर्मा, शान्तिप्रिय द्विवेदी आदि प्रसिद्ध हैं। शेष समय मे जब प्रसादजी नागरी प्रचारिणी सभा में जाते तो वहाँ डा० श्यामसुदरदास, आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, लाला भगवानदीन, अयोध्यासिंह उपाध्याय आदि से मिलते रहते थे। वहाँ के पुस्तकाध्यक्ष श्री केदारनाथ पाठक तो प्रसादजी के अभिन्न मित्र थे। इमके अतिरिक्त कुछ बाहर से आए हुए और काशी में रहने वाले साहित्यिक भी प्रसादजी के मित्र थे, जिनमे से पं० रूपनारायण पाडेय, श्री शिवपूजन सहाय, श्री गोविन्दवल्लभ पत, प० विशम्भरनाथ जिज्जा, उग्रजी, बेढब बनारसी, 'सुमन' जी, 'बेनीपुरी' जी, प० लक्ष्मीनारायण मिश्र, प० नददुलारे बाजपेयी, द्विजजी, डाक्टर राजेन्द्र, वाचस्पति पाठक आदि प्रसिद्ध हैं। अत: उस काल के लगभग सभी हिन्दी के साहित्यकारो का प्रसादजी से अच्छा परिचय था और वे प्राय: प्रसादजी की मित्र-गोष्ठियो मे सम्मिलित होकर अपनी-अपनी रचनाएँ सुनाते, प्रसादजी की रचनाएँ सुनते तथा इधर-उधर की गपशप भी खूब किया करते थे।

दिनचर्या — प्रसादजी नित्य प्रातः ब्राह्म मुहूर्त्त में उठकर पहले साहित्य-रचना किया करते थे। तदुपरान्त बेनिया पार्क में टहलने के लिए जाते। वहाँ प्रेमचदजी, व्यासजी, गहमरीजी आदि से भेंट होजाती और उनके साथ पर्याप्त समय तक घूमते रहते। फिर लौटते हुए डा० एन० सिंह के यहाँ पर भी कुछ देर बैठते और घर आकर दूध पीते तथा दो घटे तक व्यापार कार्य देखते। इसके बाद तेल-मालिश, स्नान एव व्यायाम किया करते थे। दोपहर को १२ बजे भोजन करके सो जाते। वे दोपहर को नित्य सोया करते थे। सोने के उपरान्त २–३ बजे उठकर कारखाने मे आते और व्यापार सबधी पत्रो तथा किरायेदारो की बातो का फैसला करते थे। शाम को लगभग ६–७ बजे दूकान पर पहुँच जाते और रात के ६ बजे तक वहाँ मित्रमडली मे खूब गपशप किया करते थे। रात के १० बजे तक घर लौट आते और भोजन करके सो जाते थे[2]।

१—वही पृ० ८।

२—प्रसाद और उनका साहित्य, पृ० २४।

इस तरह प्रसाद जी का जीवन अत्यत सयत एव नियमित था। उनके जीवन में प्रवृत्ति एव निवृत्ति का पूरा सामजस्य था। उनका बचपन तो बडे लाड-प्यार में व्यतीत हुआ, परन्तु युवावस्था से लेकर अतिम समय तक वे बराबर बाधाओ, आपत्तिओं एव जटिलताओ का सामना करते रहे, जिसका आभास उनकी 'आत्मकथा' में मिलता है, जो प्रेमचंदजी के बहुत कहने पर सकेत रूप में 'हस' विशेषाक के लिए प्रसादजी ने लिखी थी[1]। इतना सघर्षमय जीवन व्यतीत करते हुए भी वे अपनी दूकान एव गृहस्थी की देखभाल बडे मनोयोग के साथ करते रहे और ऋण-ग्रस्त परिवार को अपने जीवन में ही ऋण-मुक्त करके सतोप की साँस ली। साथ ही साहित्य-सृजन की ओर भी उनकी रुचि बराबर बनी रही तथा सकटो में फँमे रहकर भी ऐसे अनेक मूल्यवान् ग्रथ हिन्दी-जगत की भेंट किये जिनके ऊपर हिन्दी-साहित्य आज गर्व कर सकता है।

प्रसादजी का व्यक्तित्व

शारीरिक गठन एव वेश-भूषा—प्रसादजी अत्यन्त भव्य एव गम्भीर आकृति के पुरुष थे। उनका कद कुछ नाटा, शरीर बहुत कसा हुआ, हृष्ट-पुष्ट तथा सुगठित था। कसरत-कुश्ती ने उनके शरीर को सुडौल बना दिया था। वे उज्ज्वल गौर वर्ण के व्यक्ति थे और चेहरे पर सदैव तेज झलकता रहता था। किशोरावस्था में वे प्राय. शेरवानी तथा पाजामा पहनकर बाहर निकलते थे। सिर पर लाल व हरी चुन्दरी की लद्दूदार पगडी धारण करते थे। युवावस्था में वे कभी-कभी पीताम्बर पहनते, उमी के जोड का उपरना ओढते तथा गले में पुष्पमाला और मस्तक पर त्रिपुड लगाया करते थे[2]। प्रसादजी की साधारण वेश-भूषा मे पहले शान्तिपुरी धोती और

१—उज्ज्वल गाथा कैसे गाऊँ मधुर चाँदनी रातों की,
अरे खिलखिलाकर हँसते होने वाली उन बातों की।
मिला कहाँ वह सुख जिसका मैं स्वप्न देखकर जाग गया ?
आलिंगन में आते-आते मुसक्या कर जो भाग गया।

× × × × ×

सुनकर क्या तुम भला करोगे—मेरी भोली आत्मकथा ?
अभी समय भी नहीं—थकी सोई है मेरी मौन व्यथा।

—हस, जनवरी-फरवरी १९३२ ई०

२—प्रसाद की याद, सस्मरण १, ले० रायकृष्णदास, हिमालय, श्रावणी स० २००३, पृ० ११ तथा हिमालय, जन्माष्टमी स० २००३, पृ० ४।

ढाका की मलमल का कुर्त्ता सम्मिलित था, परन्तु पीछे वे खद्दर भी पहनने लगे थे। जाडो में प्राय वे सुँघनी रग के पट्टू का कुरता तथा सकरपारे की सीवन का रुईदार ग्रोवरकोट पहनते थे, आँखो पर चश्मा और हाथ में डडा रहता था[1]। इस तरह वे अन्त मे सादा जीवन व्यतीत करने लगे थे।

योग्यता एवं कौशल—प्रसादजी को वचपन से ही कुशाग्र बुद्धि प्राप्त थी। इसी कारण वे तुरन्त नई-नई वातो को सीख लेते थे और सीखकर नये ढँग से उन्हे प्रस्तुत किया करते थे। यह पहले ही सकेत किया जा चुका है कि प्रसादजी ने ६ वर्ष की अवस्था मे ही समस्या-पूर्ति करके अपनी मित्र-मडली एव अपने काव्य-गुरु को वौद्धिक कुशलता एवं प्रतिभा का परिचय दे दिया था। किन्तु १५ वर्ष की अवस्था से तो वे नियमित रूप से कविता, कहानी, नाटक आदि लिखने लगे। उनकी दृष्टि वडी पैनी थी। वे सदैव आडम्वर मे से तत्त्व की खोज मे लगे रहते थे। उनकी इस सूक्ष्म एव तीव्र दृष्टि की ओर सकेत करते हुए रायकृष्णदासजी ने लिखा है कि—"एक-एक वीज-मत्र मे कैसे-कैसे दार्शनिक तत्त्व निहित हैं, यह वे भली प्रकार जानते थे तथा अपनी वुद्धि के अनुसार कभी-कभी शव्दो का अर्थ भी नये-नये ढँग से किया करते थे। जैसे एक वार 'ह्री' शव्द का अर्थ किया था—'सोऽह हर: इति ह्री[2]। वे किसी भी लौकिक व्याख्या को सहसा स्वीकार नही करते थे और वेद-पुराणों के श्लोको की व्याख्यायें भी अपनी वुद्धि के अनुसार किया करते थे, जिन्हे देखकर अच्छे-अच्छे विद्वान् भी चमत्कृत होजाते थे। उन्हे गीता के श्लोको की साम्प्रदायिक व्याख्याये स्वीकृत न थी। अत. वे मित्रो के सम्मुख स्पष्ट, सगत एव ग्राह्य व्याख्यायें किया करते थे[3]। वे किसी भी सिद्धान्त के सार को लेकर अपने ढग से उसका ऐसा निरूपण करते थे कि जिससे वह व्यावहारिक जीवन के अनुकूल वन जाता था और सभी लोग उसे सरलता से समझ लेते थे। उनके नियतिवाद, आनन्दवाद, समरसता आदि के सिद्धान्त इसी प्रकार के हैं, जिन्हें प्रसादजी ने अपने ढग से प्रस्तुत किया है।

साहित्यिक योग्यता के अतिरिक्त वे अपने व्यापार-कार्य मे भी वडे कुशल थे। यद्यपि वे व्यापार सम्वन्धी कार्यो की देखभाल में थोडा समय ही लगाते थे, फिर भी उतने ही काल में वे व्यापार की वस्तुस्थिति को पूर्णत. जान लेते थे। उन्हे 'सुँघनी'

१—प्रसाद और उनका साहित्य, पृ० ३५।

२—प्रसाद की याद, सस्मरण ४, ले० रायकृष्णदास, हिमालय, पौष सं० २००३, पृ० १०।

३—प्रसाद की याद, संस्मरण ६, ले० रायकृष्णदास, नई धारा, फाल्गुन सं० २००७, पृ० २८।

एव सुर्ती वनाना अच्छी तरह आता था और उसके लिए काम में आने वाली कस्तूरी को परखना भी भली प्रकार जानते थे। 'भपका' चढ़ने पर वे गुलावजल और इत्रो की देख-रेख भी कर लेते थे और इत्र तथा हर तरह के 'टाइलेट' वनाना जानते थे[1]। इस तरह उन्हें अपने पैतृक व्यवसाय का पूर्ण ज्ञान था और उसे सुचारु रूप से चलाने की योग्यता भी अल्पकाल में ही प्राप्त हो गई थी।

इसके अतिरिक्त उनकी योग्यता एव कौशल का आभास उनकी रचनाओ से मिलता है। अपने नाटको में ऐतिहासिक खोज के आधार पर वस्तु का सकलन करके नई शैली को अपनाते हुए उन्होने जिस उच्चकोटि के नाट्यकला-कौशल एव ऐतिहासिक ज्ञान का परिचय दिया है, वह सर्वथा सराहनीय है। ऐसे ही 'आँसू', 'लहर', 'कामायनी' काव्यो में अभिव्यजना की अनूठी पद्धति एव भावो की विविधता का चित्रण करके प्रसादजी ने अपनी असाधारण प्रतिभा एव अलौकिक बुद्धि का प्रदर्शन किया है। अत नई नई रचनाओ, नई नई शैलियो एव नई-नई भावाभिव्यक्तियो में प्रसादजी की अनुपम योग्यता, अलौकिक ज्ञान, अद्भुत पाडित्य तथा अद्वितीय कौशल के दर्शन होते हैं।

✓ स्वभाव—प्रसादजी अत्यन्त सौम्य एव गभीर स्वभाव के व्यक्ति थे। वे नम्र, निरभिमानी और कुचक्र से सदैव दूर रहने वाले उदार आशय व्यक्ति थे। उन्हें कभी किसी पर क्रोध नही आता था। रायकृष्णदासजी का कथन है कि वैसे तो वे कभी किसी पर क्रोध नही करते थे, किन्तु वे जीवन में एक वार एक भौतिक दर्शन के परम भक्त महाशय पर क्रुद्ध हुए, जिसने प्रसादजी की धार्मिकता पर आघात करते हुए यह कहा था कि तुम्हारा शिव क्या कर सकता है? उस समय वे अपने को न सँभाल सके और उन महाशय के गाल पर थप्पड जमाकर बोले कि 'मेरा शिव यह कर सकता है[2]।' इस घटना के अतिरिक्त वे कभी किसी भी व्यक्ति पर क्रुद्ध नही हुए और सभी से वडे हँस कर मिला करते थे। मित्रों से खूब हँसी-मजाक करते, उन्हें छेडते और उनकी वातो में रस लिया करते थे। डा० राजेन्द्रनारायण शर्मा का कथन है कि प्रसादजी वेनिया पार्क में टहलते हुए प्राय गोपालराम गहमरी को खूब चिढ़ाया करते थे फिर उनकी जली-कटी वातों में उन्हे वडा आनन्द आता था।

प्रसादजी को चाटुकारिता एव पराई असूया से वडी घृणा थी। वे अपने कटु से कटु आलोचक के वारे में भी कभी कोई अपशब्द कहना या उसको उचित उत्तर देना अच्छा नही समझते थे। यहाँ तक कि मिलने पर सदैव मुस्करा कर सज्जनोचित

१—प्रसाद और उनका साहित्य, पृ० २४।

२—प्रसाद की याद, सस्मरण ५, नई धारा, माघ स० २००७, पृ० ७।

व्यवहार ही किया करते थे। प्रसादजी के समय में उनके प्रबल विरोधियो में से प० बनारसीदास चतुर्वेदी तथा बाबू दुलारेलाल भार्गव प्रसिद्ध हैं। श्री विनोदशंकर व्यास ने एक दिन बडे क्रोध मे भरकर प्रसादजी से यह कहा कि "मैं इन लोगो का उत्तर देना चाहता हूँ।" इस पर प्रसादजी ने इतना ही कहा "लिखने दो, न मैं खुद उत्तर देना चाहता हूँ और न तुम्हें ही सलाह दूँगा।" यहाँ तक कि प्रेमचन्दजी ने इनके नाटको की आलोचना करते हुए इन्हे "गढे मुर्दे उखाडने" वाला बतलाया था। उस आलोचना के कई मास पश्चात् एक दिन प्रेमचन्दजी प्रसादजी से मिलने आये और अपने लिखने पर खेद प्रकट करने लगे। इस पर प्रसादजी ने यही कहा कि "मुझे उसका कोई ख्याल नही है[1]।"

प्रसादजी अत्यन्त सकोची स्वभाव के व्यक्ति थे। वे कभी किसी को धन देकर नही माँगते थे और घर पर चाहे कैसा ही बेकार व्यक्ति क्यो न आजाय, उससे भी खूब खुलकर मिलते तथा उसका कभी अपमान करके उसे दुखी बनाना अच्छा नही समझते थे। वे 'इटरव्यू' से सदैव दूर रहते थे, क्योकि बीसवीं शताब्दी के पत्रकारो की तिल का ताड़ बनाने वाली मनोवृत्ति से उनका अच्छा परिचय था। वे मौन-गभीरता का अभिनय नही किया करते थे, अपितु बड़े ही मृदुभाषी, हँस-मुख, मिलनसार, सहृदय और व्यवहार-कुशल व्यक्ति थे[2]।

अत्यन्त सकोचशील होकर भी उनके स्वभाव में एक प्रकार की अक्खड़ता थी, किन्तु वह अक्खडता केवल उनकी रचनाओ तक ही सीमित थी और उन्हे नाथूराम शर्मा 'शकर' की अक्खड पद-योजनाएँ भी अधिक अच्छी लगती थीं[3]। फिर भी वे सदैव प्रसन्नचित्त रहकर ईर्ष्या, द्वेष, दभ, अहकार आदि से दूर रहते हुए एक सरल एव सज्जनोचित मनस्वी स्वभाव के व्यक्ति थे।

सामाजिकता—प्रसादजी की प्रवृत्ति अन्तर्मुखी थी। प्राय. वे किसी के घर जाना अधिक पसद नही करते थे। वैसे तो अधिकाश व्यक्ति उनके यहाँ ही आते रहते थे। फिर भी उन्हें दूसरे के पास जाते हुए हिचकिचाहट होती थी। वे केवल विनोदशकर व्यास, रायकृष्णदास अथवा केदारनाथ पाठक के यहाँ तो निस्सकोच भाव से आया-जाया करते थे। शेष सभी स्थानो पर जाते हुए उन्हे अत्यधिक सकोच होता था। इतना ही नहीं वे कभी किसी कवि-सम्मेलन अथवा सभा का सभापति

१—प्रसाद और उनका साहित्य, पृ० २५–२७।

२—वही पृ० २५।

३—प्रसाद की याद, संस्मरण ४, ले० रायकृष्णदास, हिमालय, पौष सं० २००३, पृ० ११।

होना भी स्वीकार नहीं करते थे। कवि-सम्मेलनो में कविता सुनाना उन्हें पसद न था। वहुत आग्रह करने पर वडी कठिनाई के साथ अपनी लिखी पुस्तक से ही वैठे-वैठे कुछ पढ दिया करते थे। जीवन में पहली वार प्रसादजी ने जनता की भीड के सम्मुख कोशोत्सव के अवसर पर नागरी प्रचारिणी सभा के अहाते में 'नारी और लज्जा' नामक कविता पढी थी[१]।

अन्तर्मुखी प्रवृत्ति होने पर भी प्रसादजी को समाज के किसी भी व्यक्ति से घृणा न थी और न कभी किसी व्यक्ति को सदेह की दृष्टि से ही देखते थे। अपने परिचित व्यक्तियो के दुःख-सुख का वे सदैव ध्यान रखते थे और वे निरतर एक से दूसरे, दूसरे से तीसरे और तीसरे से चौथे के वारे में पूछताछ किया करते थे। इसी भाँति वे सभी परिचित व्यक्तियो के आर्थिक कष्ट आदि का पता सुगमता से लगा लेते थे और समय-समय पर गुप्त रूप से उनकी सहायता भी किया करते थे[२]।

प्रसादजी विवाद, विग्रह, विद्वेष, हो-हल्ला, भीड-भडक्का आदि से बहुत डरते थे। वे किसी भी गुटवदी में पडना अच्छा नही समझते थे। साहित्यिक झगडो से सदैव दूर रहकर अपनी काव्य-साधना में लीन रहना उन्हे अधिक पसद था। वे राग-द्वेष से दूर रहकर समाज के कल्याण का मार्ग प्रशस्त करने में लगे रहते थे[३]। इसलिए उनमें केवल परिवार प्रेम, मित्र प्रेम ही अधिक प्रवल न था, उससे भी अधिक उनके हृदय मे समाज, देश धर्म, साहित्य और सस्कृति का प्रेम भी हिलोरे लेता रहता था[४]।

प्रसादजी अपनी प्रतिष्ठा एव प्रशसा के लिए मिथ्याडम्बर पसद नही करते थे। उनके व्यवहार में कोई ऐसी विचित्रता एव कृत्रिमता न थी, जिससे व्यर्थ ही दूसरे लोग उनसे आतकित रहे और उनकी प्रतिष्ठा करने लगें। वे अत्यन्त सादगी के साथ जीवन व्यतीत करना अधिक अच्छा समझते थे और साधारण जनसमुदाय में समाज के एक सखा-सदस्य की भाँति हिलमिल कर रहना उन्हे अधिक प्रिय था[५]। विद्या, बुद्धि, वल, वैभव, रूप, यश आदि सबकुछ पाकर भी उन्हे तनिक भी गर्व न था।

१—प्रसाद और उनका साहित्य, पृ० ३६।

२—व्यक्ति प्रसाद, ले० रामऋषि, साप्ताहिक आज, ता० २-११-४४, पृ० ५।

३—हस, वर्ष ८, अक ४, जनवरी १९३८, पृ० ३३७।

४—चरित्ररेखा, ले० श्री जनार्दन द्विज, जागरण, वर्ष १, अक ११, ता० ३१-१०-१९३२, पृ० १५।

५—प्रसादजी के सस्मरण, ले० डा० राजेन्द्र शर्मा, साप्ताहिक आज, सोमवार कार्तिक २९, स २०००, पृ० ७।

इनके बारे मे न वे स्वय ही कुछ कहते और न दूसरे के मुख से कुछ सुनने की उन्हे व्यग्रता ही होती थी। कोई निंदा करे तो चुप, प्रशसा करे तो भी चुप रहना ही प्रसादजी को प्रिय था[१]।

प्रसादजी समाज की सूक्ष्मातिसूक्ष्म बातो का बडी गहराई के साथ अध्ययन करते थे और सामाजिक अभ्युत्थान के लिए निरतर प्रयत्नशील रहते थे। प्रसादजी के समाज-प्रेम की झलक उनके नाटको, काव्यो, उपन्यासो मे सर्वत्र विद्यमान है। 'कामना' नाटक मे उन्होने स्पष्ट ही समाज की बुराइयो का उल्लेख करते हुए पारस्परिक स्नेह, सौहार्द्र तथा भ्रातृत्व भाव को धारण करने का आग्रह किया है। साथ ही यह कामना की है कि "उस दिन की प्रतीक्षा में कठोर तपस्या करनी होगी, जिस दिन ईश्वर और मनुष्य, राजा और प्रजा, शासित और शासको का भेद विलीन होकर विराट विश्व, जाति और वर्ण से स्वच्छ होकर एक मधुर मिलन क्रीडा का अभिनय करेगा"[२]।

प्रसादजी मे कही-कही हमें पलायनवादी स्वर भी सुनाई पडता है। उनकी "लेचल वहाँ भुलावा देकर मेरे नाविक ! धीरे-धीरे[३]' नामक कविता, 'आँसू' काव्य तथा 'कामायनी' के कतिपय स्थलो पर मनु के कथनो[४] में हमे पलायनवादी प्रवृत्ति के दर्शन होते है। परन्तु ये सभी कथन समाज की विषमता को देखकर उनकी छटपटाहट के द्योतक है। समाज में नित्यप्रति जो दुख, हाहाकार, चीत्कार आदि उन्हे सुनाई पडते थे, उनको दूर करने के लिए वे प्रयत्यशील थे, इसी कारण कभी-कभी उनके हृदय मे यह व्यग्रता होती थी, जिससे ऐसे स्वर निकल पडते थे। वैसे प्रसादजी ने पलायनवादिता का घोर विरोध किया है और समाज को उन्नत बनाने के लिए सदैव कर्मशीलता के साथ-साथ सघर्षमय जीवन व्यतीत करने तथा विघ्नो से टक्कर लेने का आदर्श प्रस्तुत किया है। उन्होने अपने ग्रथो में अनेक स्थलो पर इस भावना के सकेत किए है[५]।

१—चरित्ररेखा, ले० श्री जनार्दन द्विज, जागरण, वर्ष १, अंक ११, ता० ३१-१०-१९३२, पृ० १५।

२—कामना, पृ० ९८।

३—लहर, पृ० १४।

४—कामायनी, पृ० ४८, ४९, ५४, ६९ तथा २२९।

५—कामायनी, पृ० ५५–५९, चन्द्रगुप्त पृ० १०७, जनमेजय का नागयज्ञ पृ० ८३, कामना पृ० ९७–९८।

सामर्थ्य—प्रसादजी बडे ही परिश्रमी, अध्यवसायी एव अनवरत कार्य में लीन रहने वाले व्यक्ति थे। घोर आपत्तियो के आ जाने पर भी वे अविचल भाव से साहित्य-सेवा में लगे रहे। जैसे मानो उन्होंने हिन्दी-साहित्य के भडार को सर्वांग-पूर्ण करने का निश्चय कर लिया था। उनके हृदय में अदम्य उत्साह था। हिन्दी-साहित्य के क्षेत्र में कुछ नवीन अथवा कुछ अनूठी रचना करने के लिए वे सकल्प सा कर चुके थे[1]। वे नियमित रूप से लिखा करते थे और पत्र-पत्रिकाओ के सम्पादको का अनुरोध कभी टालते न थे। उन्हें सभी के लिए कुछ न कुछ लिखना पडता था, परन्तु कभी अपनी असमर्थता प्रकट करना नही जानते थे। उनके अदम्य उत्साह एव कर्मशीलता का ही यह परिणाम था कि काशी से 'इन्दु' जैसा उत्कृष्ट साहित्यिक मासिक पत्र निकलने लगा। प्रेमचन्दजी को 'हस' पत्र निकालने की प्रेरणा भी प्रसादजी ने ही दी थी। श्री शिवपूजनसहाय से 'जागरण' पत्र निकलवाने की योजना भी प्रसादजी ने ही बनाई थी[2]। इन सभी पत्रो के लिए वे कविता, लेख कहानियाँ आदि लिखा करते थे और साथ ही अपने नाटक, काव्य, उपन्यास आदि लिखने में भी निरन्तर लीन रहते थे।

प्रसादजी की सामर्थ्य, दृढता एव सहनशीलता का पता उस समय चलता है जब इनकी नई शैली की अतुकान्त कविताएँ देखकर तत्कालीन समालोचक इनकी बडी कटु आलोचना करने लगे। कोई कहता 'अभी कल का छोकरा है, चला है कविता लिखने।' किसी ने कहा 'समतुकान्त कविता में मेहनत पडती है।' कोई-कोई, कविता करना किसी वर्ण-विशेष या जाति-विशेष की सम्पत्ति समझते थे। परन्तु इन सभी समालोचको की परवा न करके प्रसादजी अपने मार्ग पर निरन्तर बढते रहे। उन्हे कटु से कटु आलोचना भी मार्ग से तनिक भी डिगा न सकी और वे अपना पथ स्वय बनाते हुए एक प्राकृतिक नदी की भाँति साहित्य के क्षेत्र में बढते रहे[3]। उनके अनवरत परिश्रम एव सतत उद्योगशील रहने का कारण यह था कि वे नियति में विश्वास करते थे और यह जानते थे कि जो कुछ होना है वह तो होगा ही, कायर बनने अथवा कर्म से विरक्त रहने से क्या लाभ[4]। साथ ही उनका विश्वास था कि

१—प्रसाद की याद, सस्मरण २, ले० रायकृष्णदास, हिमालय, श्रीकृष्ण जन्माष्टमी, सं० २००३, पृ० ४।

२—प्रसाद और उनका साहित्य, पृ० ३२।

३—कवि प्रसाद की काव्य-साधना, पृ० १०।

४—अजातशत्रु, पृ० ३८।

'उद्योगहीन मनुष्य शिथिल होजाता है। उसका चित्त आलसी होजाता है[1]।' अत भविष्य की विशेष चिन्ता न करके विघ्नो के स्रोत से अकेले ही टक्कर लेते हुए वे अपने निस्वार्थ कर्म में लीन रहते थे। उनका यह मत था, 'मनुष्य साधारण धर्मा पशु है, विचारशील होने से मनुष्य होता है और निस्वार्थ कर्म करने से वही देवता भी हो सकता है[2]। वे कर्म का भोग, तथा आगामी भोगो के लिए कर्म करने को ही जड का चेतन आनन्द मानते थे[3]। इसी कारण वे कर्म से कभी विमुख न होकर निस्वार्थ भाव से अनवरत परिश्रम करते रहे और उन्होने अल्पायु मे ही अनेक ग्रथो का निर्माण करके अपनी अटूट सामर्थ्य एव दृढ सशक्तता का परिचय दिया।

रुचि एवं व्यसन—प्रसादजी सौन्दर्य-प्रेमी थे। एक वैभव-पूर्ण परिवार मे जन्म लेने के कारण ललित-कलाओ की ओर बचपन से ही उनकी रुचि थी। साहित्यकला की उपासना मे वे अपना अधिक से अधिक समय लगाते थे और भारतीय इतिहास का गहराई के साथ अध्ययन किया करते थे। साथ ही सगीतकला के रसास्वादन के लिए वे यदा-कदा वेश्याओ के यहाँ भी निस्सकोच भाव से जाया करते थे। काशी की सिद्धेश्वरी बाई का सगीत उन दिनो बड़ा प्रसिद्ध था। प्रसादजी भी अपने घनिष्ट मित्रो के साथ उस सगीत का आनन्द लिया करते थे[4]। मूर्तिकला को भी वे बडे सतृष्ण नेत्रो से देखा करते थे। सारनाथ के सग्रहालय में मूर्तियो का निरीक्षण करते हुए वे घटो बिता देते थे। भगवान् बुद्ध की सौम्य मूर्तियो के सौन्दर्य मे उनका मन अधिक रमता था। सारनाथ के सग्रहालय की प्राचीन स्त्रियो की मूर्तियाँ प्राय उनकी प्रथम पत्नी से अधिक मिलती जुलती थी। अत. वे यह कहा करते थे कि सभवत गोरखपुर प्रदेश के स्त्री-सौन्दर्य से ही इन मूर्तिकारों ने अपने नमूने प्राप्त किये होगे[5]।

प्रसादजी को प्राकृतिक सौन्दर्य अधिक प्रिय था। प्रकृति की रमणीक छटा देखने के लिए वे प्राय सारनाथ घूमने जाते। वहाँ पर धमेख स्तूप के समीप एक प्राचीन बौद्ध विहार के ध्वस का एक टीला है, जिस पर हुमायूँ के छिपने की स्मृति मे अकबर की बनवाई हुई अठमहल गुमटी है। यह स्थल प्रसादजी को विशेष प्रिय था। वहाँ का एक-एक ईंट-रोडा उनसे बातें करता और उन्हे अपनी राम कहानी

१—विशाख, पृ० ५४।

२—चन्द्रगुप्त, पृ० १०२।

३—कामायनी, पृ० ५६।

४—प्रसाद का जीवन और साहित्य, पृ० २०।

५—प्रसाद की याद, संस्मरण ५, ले० रायकृष्णदास, नई धारा, माघ सं० २००७, पृ० ५।

सुनाता था। वही से वे उन्मुक्त प्रकृति का निरीक्षण भी किया करते थे। गुमटी पर चढ कर वहाँ के शीतल मद पवन के झोके का आनन्द लेते हुए वे सूर्य का ढलना देखते और वहाँ पर उगी हुई एक-एक वनस्पति का सूक्ष्म निरीक्षण करते हुए प्राकृतिक छटा में तल्लीन हो जाते थे[१]।

प्रसादजी को पान, इत्र तथा फूलो का बडा शौक था। वे इत्र परखना खूब जानते थे। उन्होने अपने घर के समीप ही मन्दिर के प्रागण में एक छोटा सा बगीचा तैयार किया था, जिसमें वे नित्यप्रति अपने दो-तीन घटे व्यतीत किया करते थे। वहाँ पर गुलाब, जुही, बेला, रजनीगधा इत्यादि जब फूलते, तो वे उन्हें सतृष्ण नेत्रो से मुग्ध होकर देखा करते थे। वर्षा-काल में यह वाटिका अत्यन्त रमणीक जान पडती थी। वही पर पारिजात के वृक्ष के नीचे प्रसादजी ने एक पत्थर की चौकी डाल रखी थी, जिस पर बैठना उन्हें अत्यन्त प्रिय था[२]।

प्रसादजी को भोजन का भी बडा चाव था। वे स्वय बडा सुन्दर एव रुचिकर भोजन तैयार कर लेते थे। कभी-कभी मित्रो के साथ बगीचे आदि में घूमने जाते, तो दिन भर वही रहते और अपने हाथ से भोजन तैयार करके सबके साथ खाया करते थे। प्रसादजी गोभी, आलू, मटर आदि की तरकारी बनाने एव चूरमे के लड्डू बनाने में सिद्धहस्त थे। उनके बनाये हुए भोजनो की प्रशसा उनके मित्र मुक्तकठ से आज भी किया करते है[३]।

युवावस्था में प्रसादजी को दड-कसरत का भी बडा शौक था। अपने शरीर को बनाने में वे बडे सावधान रहते थे। वे एक हजार बैठक और पाँच सौ दण्ड नित्य किया करते थे। उन्हें कसरत कराने वाला शिक्षक भी उनसे जोर करते हुए थक जाता था। दो एक बार प्रसादजी ने कुश्ती-कला के विशेषज्ञो को भी परास्त कर दिया था[४]।

प्रसादजी को पहले मेला-तमाशा देखना भी अच्छा लगता था। वैसे वे भीड से घबडाते थे, परन्तु काशी में जो मडलियाँ होली के अवसर पर राम, लक्ष्मण आदि का वेश बनाकर गाती हुई निकलती, उनका आनन्द वे स्थान-स्थान पर जाकर लिया करते थे। रगभरी एकादशी के दिन वे विश्वनाथ के मन्दिर में शृगार देखने के लिए

१—वही पृ० ६।

२—प्रसाद और उनका साहित्य, पृ० ३०।

३—वही पृ० ३०।

४—प्रसाद और उनका साहित्य, पृ० ३४।

भी जाते[1] थे। इसके साथ ही मित्रो के साथ नौका-विहार करना भी उन्हे रु
प्रतीत होता था[2]।

प्रसादजी नवीनता के भी वडे प्रेमी थे। उनके वैठने के स्थान पर नित
सजावट होती रहती थी। वे थोडे से ही परिवर्तन से नवीनता उत्पन्न किया
थे। यदि वे ईख का रस पीते तो उसमें ग्राम का वौर पिरवा देते, जिससे
स्वाद में नवीनता आ जाती थी[3]। इसी तरह वे नवीन उक्तियों के भी वडे शौ
थे। उन्हे निम्नलिखित दो शेर इसीलिए वडी प्रिय थी, क्योंकि इनमे उक्ति
नवीनता है :—

(१) शमा जलती है महफिल मे उडे है गिर्द परवाने।
ये दोनो मिलके जलते हैं मुहब्बत का असर देखो।
(२) हमने देखी है किसी शोख की मस्ती भरी आँख,
मिलती जुलती है छलकते हुए पैमाने से[4]।

अन्य चारित्रिक विशेषताएँ—प्रसादजी अपने वडे भाई मे वडी आस्था
थे। उनके सम्मुख एक शब्द भी कहना वे मर्यादा के विरुद्ध समझते थे। वे अ
सात्विक मनोवृत्ति के व्यक्ति थे। यद्यपि उनके परिवार मे माँस खाना निषिद्ध न
फिर भी वे आजीवन निरामिष आहारी वने रहे। वे कभी भी मादक वस्तुअ
सेवन नही करते थे। केवल यदा-कदा भाँग-ठडाई अवश्य पी लिया करते थे। प्रस
का सम्बन्ध श्यामा गौन्हारिन, भगवती तथा किशोरी बाई नामक वैश्याओ से व
जाता है। परन्तु समाज के इन घृणित वर्ग से सम्बन्ध रखने पर भी वे कमलप
उनसे दूर ही रहे और कभी अपने सात्विक जीवन को कलकित नही किया[5]।

प्रसादजी के हृदय मे निष्कपटता एवम् उदारता अत्यधिक मात्रा मे थी।
किसी प्रकार अपनी हानि से दूसरे का भला होना, तो वे तुरन्त हानि उठाने क

१—प्रसाद की याद, संस्मरण ५, ले० रायकृष्णदास, नई धारा, माघ
२००७, पृ० ३२।

२—वही पृ० ७।

३—प्रसाद की याद, संस्मरण ६, ले० रायकृष्णदास, नईधारा, फ
सं० २००७, पृ० ३२।

४—प्रसाद की याद, संस्मरण ५, ले० रायकृष्णदास, नई धारा, माघ
२००७, पृ० ८।

५—प्रसाद का जीवन और साहित्य, पृ० २०।

ार हो जाते थे, परन्तु दूसरो को कभी हानि नही पहुँचाते थे। इतना ही नही वे सु॰स्वार्थ भाव से साहित्य-सेवा किया करते थे। प्रसादजी ने कभी किसी पत्र-पत्रिका ना पुरस्कार रूप में एक पैसा भी नही लिया। हिन्दुस्तानी ऐकेडेमी से उन्हें ५०० देरुपये तथा नागरी प्रचारिणी सभा से २०० रुपये पुरस्कार के रूप में प्राप्त हुए थे, प्रकिन्तु वे सब रुपये उन्होने नागरी प्रचारिणी सभा काशी को अपने बडे भाई के मारकस्वरूप दान कर दिये थे[1]।

ज प्रसादजी के हृदय में असीम करुणा एवम् वेदना ने अपना घर बना लिया तें था। उनकी यह वेदना दीन, दुखियों की भाँति केवल द्रवीभूत ही नहीं करती थी, पर पितु हृदय में मादकता की भी सृष्टि करती थी, जिससे कभी किसी का जी नही मुर घाता था। उनके करुण सगीत में रुलाने और उल्लसित करने की शक्ति थी। वे थ॰ अभाव' को 'सर्वस्व' के रूप में ग्रहण नही करते थे, अपितु 'सर्वस्व' को ही 'अभाव' भरा हुआ पाते थे।

थी प्रसादजी बडे ही धार्मिक एवम् उत्सव-प्रिय व्यक्ति थे। शिव को परात्पर ब्रह्म मानते थे तथा शिवरात्रि का उत्सव बडी धूमधाम से मनाया करते थे। इसके साथ ही वे निडर, निर्भीक एवम् निर्द्वन्द्व मनोवृत्ति वाले पुरुष थे। उन्होने निर्भीकता का गुण अपने ज्येष्ठ भ्राता से सीखा था और इसी निर्भीकता के कारण वे अकेले ही सम्पूर्ण आपदाओ का डटकर सामना करते रहे। भाई की मृत्यु के उपरान्त परिवार में कोई अपना कहने वाला न था। केवल एक भौजाई शेष बची थी। परन्तु प्रसादजी की निर्भीक मनोवृत्ति ने ही उन्हे आगे बढने का साहस प्रदान किया और स्वय ही सामाजिक उत्तरदायित्वो का भार अपने कधे पर उठाकर अपने व्यवसाय का एवम् साहित्य-रचना के कार्यो मे उत्तरोत्तर उन्नति करते रहे।

कि प्रसादजी के व्यक्तित्व का अध्ययन करने पर यह निष्कर्ष निकलता है कि वे जा॰ अलौकिक प्रतिभा एवम् उत्कृष्ट बुद्धि सम्पन्न व्यक्ति थे तथा एक आदर्श व्यक्तित्व दि॰र अवतीर्ण हुए थे। उनका वह व्यक्तित्व अत्यन्त भव्य और आकर्षक था। उन्हें ी प्रकार से निर्लिप्त, उदार एव उन्नत हृदय प्राप्त हुआ था, जिससे वे प्रथम भेंट में से प्रत्येक व्यक्ति को रिझा लेते थे, अपना बना लेते थे और वह व्यक्ति भी सदैव के काए उनका आत्मीय बन जाता था। वे अपने युग की समस्त प्रगतिशील शक्तियो से कवगत थे। इसी कारण वे एक जागरूक नेता की भाँति साहित्य के माध्यम द्वारा _राज की उन्नति के लिए, समाज के कल्याण के लिए तथा मानवता के प्रसार के ए सतत प्रयत्न करते रहे।

१—प्रसाद और उनका साहित्य, पृ० २६।

बहुमुखी प्रतिभा

प्रसादजी की प्रतिभा का विकास अनेक दिशाओ मे हुआ है। उन्होने हिन्दी साहित्य की सर्वांगीण उन्नति करते हुए उसके भडार को अपनी विविध रचनाओ से पूर्ण किया है और उसके सभी अभावो की पूर्ति करते हुए मुक्तक कविताएँ, प्रबधात्मक काव्य, खडकाव्य, महाकाव्य, गीति नाट्य, नाटक, एकाकी नाटक, कहानियाँ, कथा तथा निबध पर्याप्त मात्रा में लिखे हैं।

मुक्तक-कविता—प्रसादजी की आरम्भिक ब्रजभाषा सम्बन्धी कविताओ का सग्रह 'चित्राधार' के नाम से प्रकाशित हुआ। इसका प्रथम सस्करण सं० १९७५ मे निकला था, जिसमें कुछ खड़ी बोली की कविताएँ भी सगृहीत थी, परन्तु सं० १९९५ मे 'चित्राधार' का द्वितीय सस्करण प्रकाशित हुआ, जिसमें से खडी बोली की कविताएँ निकाल दी गई और केवल उनकी ब्रजभाषा में लिखी हुई कविताओ तथा अन्य प्राचीन रचनाओ को संकलित करके उसका प्रकाशन किया गया[1]। 'चित्राधार' का यही अतिम रूप है, जिसमें 'पराग', 'मकरद बिंदु' के अतर्गत कुल ६२ मुक्तक कविताएँ सगृहीत है[2]। इन कविताओ का अध्ययन करने पर यही ज्ञात होता है कि अधिकाश कविताएँ हरिश्चन्द्र आदि प्राचीन कवियो के अनुकरण पर लिखी गई हैं, फिर भी उनमे पर्याप्त मौलिकता है। भाव और कला की दृष्टि से वे शिथिल एवम् अपूर्ण नहीं हैं। इतना अवश्य है कि उनमे पद-योजना परम्परागत है, रीतिकालीन अनुप्रास-प्रियता भी है और ब्रजभाषा के प्रचलित उपमानो का ही प्रयोग हुआ है; परन्तु प्रकृति-चित्रण सुन्दर है और कही कही पर मनोभावो का भी सजीव वर्णन मिलता है।

'चित्राधार' के अतिरिक्त प्रसादजी की खडी बोली की कविताओ का प्रथम सग्रह 'कानन-कुसुम' के नाम से प्रकाशित हुआ। इसका प्रथम सस्करण स० १९७० में निकला था, जिसमें केवल ४० कविताएँ थी। सं० १९७१ में इसका द्वितीय सस्करण हुआ, जिसमे कुछ और कविताएँ जोडी गई, किन्तु स० १९८६ मे इसका तृतीय सस्करण निकाला गया, जिसमें ४९ कविताएँ सगृहीत हैं। काल-क्रम से इसमे 'चित्राधार' में संगृहीत ब्रजभाषा की कविताओ के कुछ बाद में और कुछ उसी समय की लिखी हुई कविताएँ सकलित की गई हैं[3]। पहले 'कानन-कुसुम' को 'चित्राधार' के प्रथम सस्करण में ही प्रकाशित किया था, परन्तु पीछे स० १९८६ मे ही इसे वह

१—प्रसाद का विकासात्मक अध्ययन, पृ० १३।
२—चित्राधार, पृ० १३९–१४०।
३—प्रसाद का विकासात्मक अध्ययन, पृ० ३७–४२।

स्वतन्त्र रूप प्राप्त हुआ, जो आजकल प्रचलित है। इसकी अधिकांश कविताएँ इतिवृत्तात्मक हैं। रचना-शैली सरल है। प्रारम्भिक कविताएँ होने के कारण इनमें भावो की गहनता एवम् कलात्मक सौंदर्य का सर्वथा अभाव है।

इसके अनन्तर प्रसादजी खडी बोली में ही मुक्तक-कविताएँ लिखने लगे, जिनका सग्रह 'झरना' के नाम से प्रकाशित हुआ। इसका प्रथम सस्करण भाद्रपद कृष्णाष्टमी स० १९७५ में हुआ था, जिसमे केवल २५ कविताएँ थी। किन्तु स० १९८४ में इसका दूसरा सस्करण निकाला गया, जिसमे अन्य कविताएँ भी सकलित की गईं और अब कुल ५५ कविताओ का यह सग्रह 'झरना' के नाम से प्रसिद्ध है। इसमें सर्वप्रथम प्रसादजी की लाक्षणिक एवम् प्रतीकात्मक शैली के दर्शन होते हैं। छायावादी शैली का प्रारम्भ इसी सग्रह से होता है। इसमें प्रसादजी की रहस्यवाद सम्बन्धी कविताएँ भी है। भाषा और भाव की दृष्टि से यह रचना अपेक्षाकृत उत्कृष्ट है और इसमें नवीन भावाभिव्यक्ति एवम् अनुभूति की गहराई के दर्शन होते हैं।

स० १९९० में प्रसादजी की कविताओ का तृतीय सग्रह 'लहर' के नाम से प्रकाशित हुआ। इसमे प्रसादजी की ४३ कविताएँ सगृहीत है। इनमे से 'अशोक की चिंता', 'पेशोला की प्रतिध्वनि', 'शेरसिंह का आत्म-समर्पण' तथा 'प्रलय की छाया' नामक पाँच प्रबन्धात्मक कविताएँ प्रसादजी की प्रबध-योजना के आरम्भिक रूप को प्रस्तुत करती हैं, जिनमे कथोपकथन, वर्णन-कौशल, वस्तु-चित्रण एव उक्ति-चमत्कार उल्लेखनीय है। प्रथम कविता को छोड कर शेप चारो कविताएँ छद के बन्धनो से मुक्त स्वतत्र शैली में लिखी गई हैं, जिनमे धारावाहिकता के साथ-साथ भाव-निरूपण की अद्भुत शक्ति विद्यमान है। इनके अतिरिक्त शेप कविताओ मे जीवन की सुख-दुखमयी अनुभूतियो, यौवन की मादक अभिलाषाओ आदि के चित्र अकित किए गए हैं। प्रकृति-चित्रण भी यहाँ अत्यन्त सजीव है। किसी-किसी कविता मे पलायनवादी स्वर भी सुनाई पडता है। रचना की दृष्टि से इनमें लाक्षणिकता, प्रतीकात्मकता, उपचार-वक्रता, मानवीकरण आदि की प्रधानता है। सभी रचनाएँ कवि की प्रौढ अनुभूति एव उत्कृष्ट कला की ओर सकेत करती हैं।

प्रबन्धात्मक काव्य—प्रसादजी का सबसे पहला प्रबन्धात्मक काव्य 'प्रेमराज्य' है, जो स्वतत्र रूप से दीपावली के अवसर पर स० १९६६ मे प्रकाशित हुआ था। उसी समय यह इन्दु मासिक पत्र मे भी छपा था और आजकल 'चित्राधार' द्वितीय सस्करण मे सगृहीत है। यह एक ऐतिहासिक कथा-काव्य है, जो दो भागो में विभाजित है। इसके पूर्वार्द्ध में विजयनगर के हिन्दू राजा सूर्यकेतु और बहमनी वश के यवन राजाओ के बीच होने वाले तालीकोट-युद्ध का वर्णन है, जिसमें मन्त्री के विश्वासघात से राजा सूर्यकेतु हार जाते हैं और उनकी मृत्यु भी हो जाती है। उत्तरार्द्ध मे राजा के

पुत्र चन्द्रकेतु तथा मन्त्री की कन्या ललिता के प्रेम एवं परिणय का वर्णन है। यह एक छोटा सा काव्य है और इसकी रचना इतिवृत्तात्मक है। परन्तु इसमें युद्ध-वर्णन, प्रकृति-चित्रण तथा प्रेम-निरूपण में प्रसादजी की कला के दर्शन होते हैं। साथ ही यहाँ शिव के विश्वम्भर रूप का वर्णन करके उन्होने अपने शैव मतावलम्वी होने का समर्थन किया है। सारा काव्य व्रजभाषा मे है और रचना-शैली मे प्राचीन परम्परा का अनुसरण किया गया है।

'प्रेम राज्य' के दो मास उपरान्त पौष स० १९६६ में 'वन मिलन' नामक दूसरा कथात्मक काव्य प्रकाशित हुआ। यह आजकल 'चित्राधार' द्वितीय सस्करण में सकलित है। इसमें व्रजभाषा के अन्तर्गत 'अभिज्ञान शाकुतल' नाटक की कथा के उत्तरार्द्ध का वर्णन है अर्थात् शकुन्तला, भरत और दुष्यन्त के कण्व-आश्रम में आने के उपरान्त अनुसूया तथा प्रियम्वदा का भी शकुन्तला के साथ हस्तिनापुर को जाने का वर्णन किया गया है। यह काव्य भी इतिवृत्तात्मक है। प्रारम्भिक प्रकृति-चित्रण तथा वीच-वीच मे आए हुए उपालम्भ-पूर्ण कथोपकथन सुन्दर हैं।

स० १९६७ मे प्रसादजी के दो छोटे-छोटे प्रवन्धात्मक काव्य प्रकाशित हुए, जो 'अयोध्या का उद्धार' तथा 'शोकोच्छ्वास' के नाम से प्रसिद्ध हैं। इनमे से 'अयोध्या का उद्धार' नामक कथा-काव्य 'चित्राधार' के द्वितीय संस्करण में सकलित है। यह काव्य भी इतिवृत्तात्मक शैली मे व्रजभाषा के अन्तर्गत लिखा गया है। इसमें नागवशीय कुमुद के शासन से कुश द्वारा अयोध्या के उद्धार की कथा संकलित की गई है। रचना की दृष्टि से यह काव्य अत्यन्त सरल है और इसमे विभिन्न छन्दो का प्रयोग हुआ है। दूसरा 'शोकोच्छ्वास' काव्य सम्राट् सप्तम एडवर्ड के देहावसान पर लिखा गया था। अत यह एक छोटा सा शोक-काव्य है, जिसकी रचना रोला छन्द में व्रजभाषा के अन्तर्गत हुई है। यह रचना भारतेन्दु की भाँति प्रसादजी की भी राज-भक्ति का समर्थन करती है। रचना-शैली सरल एव सुवोध है।

स० १९७१ मे प्रसादजी का 'प्रेम-पथिक' काव्य स्वतन्त्र रूप मे प्रकाशित हुआ। यह पहले व्रजभाषा में लिखा गया था और इसका कुछ भाग इन्दु, कला १, किरण २, भाद्रपद, स० १९६६ मे प्रकाशित हुआ था। परन्तु पीछे इसे खडी वोली में रूपान्तरित करके प्रकाशित किया गया। पहले इसमें 'चमेली' और 'किशोर' की कथा थी, परन्तु पीछे दोनो नाम निकाल दिये गये और एक प्रेमी की प्रेम-पथ द्वारा आनन्द नगर की यात्रा का वर्णन करते हुए इस काव्य की रचना की गई। इसमें प्रकृति के भावाक्षिप्त चित्र अकित किए गये हैं और प्रेम तथा सौंदर्य का निरूपण सुन्दर ढग से किया गया है।

इसी वर्ष इन्दु, कला ५, खड १, किरण ६, स० १९७१ में 'महाराणा का

महत्व' नामक एक छोटा सा ऐतिहासिक कथा-काव्य और प्रकाशित हुआ। इसमें महाराणा प्रताप के शौर्य एव पराक्रम का वर्णन है तथा अरावली की घाटी में सैनिको द्वारा पकडी गई नवाव-पत्नी को सादर नवाव के पास लौटा देने में महाराणा प्रताप के महत्व का वर्णन किया गया है। यह काव्य नाटकीय ढग से लिखा गया है। शैली इतिवृत्तात्मक है। अमित्राक्षर छद का प्रयोग किया गया है और प्रकृति के कोमल चित्रो के अतिरिक्त यहाँ पर भयानक रूप का भी सफल चित्रण किया गया है।

तदनन्तर स० १६८२ में 'आँसू' काव्य प्रकाशित हुआ। इसके प्रथम सस्करण में केवल २५२ पक्तियाँ थी। परन्तु स० १६९० मे इसका द्वितीय सशोधित सस्करण निकाला गया जिसमे कुछ परिवर्तन करते हुए कुल ३८० पक्तियाँ प्रकाशित हुईं। प्रसादजी की यही पहली काव्य-रचना है, जिसने अधिकाश लोगो को आकर्षित किया। इसमे विप्रलम्भ शृगार के अतर्गत प्रसादजी ने अपने युवा जीवन की मादक स्मृतियो के चित्र अकित किये हैं। इसकी रचना-शैली अत्यत प्रौढ है, जिसमे लाक्षणिकता, प्रतीकात्मकता एव उपचार-वक्रता के साथ-साथ रहस्यमयी उक्तियो का भी समावेश हुआ है। इसमे परम्परागत उपमानो के स्थान पर नये-नये उपमानो एव नयी पद-योजना का भी प्रयोग हुआ है। इस पर थोडा उर्दू-फारसी की कविता का भी प्रभाव है, जो इन्हे अपने पडौस से प्राप्त हुआ था।

'आँसू' के उपरान्त स० १६६२ में 'कामायनी' महाकाव्य प्रकाशित हुआ। प्रसादजी ने 'कामायनी' का श्रीगणेश ऋषि पचमी स० १६८५ मे किया था और ७ वर्ष वाद शिवरात्रि स० १६६२ मे इस महाकाव्य की समाप्ति हुई। इसका प्रथम चिन्ता सर्ग 'मनु की चिन्ता' के नाम से स० १६८५ में ही 'सुधा' पत्रिका मे प्रकाशित हुआ था[1] और 'काम' सर्ग का कुछ अश नागरी प्रचारिणी सभा के 'कोशोत्सव स्मारक सग्रह' मे 'आवरण' के नाम से प्रकाशित हुआ[2]। आगे चल कर इनमे सशोधन एवम् परिवर्द्धन करके प्रसादजी ने उन्हे 'कामायनी' मे स्थान दिया।

नाटक—प्रसादजी की प्रतिभा का जैसा विकास काव्य-सृष्टि मे दिखाई देता है उससे कही अधिक उनकी प्रतिभा नाटको की सृष्टि मे विकसित हुई है। सबसे पहले स० १६६७ मे प्रसादजी का 'सज्जन' नाटक प्रकाशित हुआ। यह नाटक आजकल 'चित्राधार' द्वितीय सस्करण मे सगृहीत है। इसकी कथा महाभारत से ली गई है और इसमे चित्ररथ द्वारा दुर्योधन आदि के पकडे जाने पर अर्जुन से उन्हे मुक्त कराने मे युधिष्ठिर की सज्जनता का वर्णन किया गया है। इस नाटक पर भारतेन्दु की शैली

१—सुधा, वर्ष २, खड १, सख्या ३, अक्टूबर १६२८, पृ० ४४५–४५०।
२—कोशोत्सव स्मारक सग्रह, पृ० ५०७–५०६।

का पूरा-पूरा प्रभाव है और प्राचीन परम्परा के अनुसार नादी, प्रस्तावना, भरत-वाक्य आदि का प्रयोग हुआ है। यद्यपि यह छोटा सा नाटक है, फिर भी अपने में पूर्ण है और व्यापार की कमी नही है। रचना-शैली साधारण है। परिहास हँसने का व्यर्थ प्रयत्न किया गया है। कथोपकथनो में कविता का प्रयोग अधिक है और भाषा भी परिमार्जित नही है।

स० १९६९ में प्रसादजी का 'कल्याणी परिणय' नाटक प्रकाशित हुआ। इसके आरम्भ मे नादी तो हैं, परन्तु प्रस्तावना नही है। अन्त मे भरत-वाक्य भी है। इसमे चाणक्य की चाल, सिल्यूकस का अभिमान एवम् कातरता, कार्नेलिया का पितृ-प्रेम तथा चन्द्रगुप्त का शौर्य उल्लेखनीय है। यह नाटक कुछ परिवर्तित रूप में अब 'चन्द्रगुप्त' के चतुर्थ अक मे आगया है।

स० १९७० में 'करुणालय' गीति-नाट्य प्रकाशित हुआ। प्रसादजी की काव्य-सम्बन्धी स्वच्छन्द मनोवृत्ति की यह प्रथम रचना है। इसमें अतुकान्त छंदो मे अमित्राक्षर कविता के अतर्गत एक वैदिककालीन कथा सकलित है। यह एक प्रकार का एकाकी है, जिसमे पाँच दृश्य हैं। कथोपकथन अत्यंत सजीव एव त्वरायुक्त हैं। प्रकृति-चित्रण भावात्मक है। नाट्य-कला की दृष्टि से तो यह रचना साधारण है, परन्तु इसमें काव्य-तत्त्व की प्रधानता है। यहाँ नादी, प्रस्तावना, भरत-वाक्य आदि कुछ नही है।

इसके एक वर्ष वाद सं० १९७१ में 'राज्यश्री' नाटक प्रकाशित हुआ। इसमे नादी तथा भरत-वाक्य का प्रयोग तो हुआ है, किन्तु प्रस्तावना नही है। इसी नाटक मे प्रसादजी की नाट्य-कला के प्रथम दर्शन होते हैं, जहाँ वह आरभिक रूप मे हैं। रचना साधारण है और चरित्र-चित्रण में अन्विति विशृखल हो गई है, क्योकि लेखक का उद्देश्य राज्यश्री का चरित्र-चित्रण करना रहा है, परन्तु हर्ष का चरित्र प्रधान हो गया है। फिर भी प्रारम्भिक नाटको मे यह श्रेष्ठ है।

स० १९७८ मे 'विशाख' नाटक प्रकाशित हुआ। वह प्रसादजी की नाट्य-कला का सुन्दर प्रयास जान पड़ता है। इसकी कथा ऐतिहासिक है और इसमे 'विशाख' आदि के चरित्र-चित्रण सुन्दर हैं। यहाँ समय, स्थान, व्यापार आदि सभी की अन्विति मिलती है। कथोपकथन सरल एव सुन्दर हैं।

'विशाख' के वाद स० १९७९ में 'अजातशत्रु' नाटक प्रकाशित हुआ। यह नाटक उनकी श्रेष्ठ रचनाओ में गिना जाता है। इसकी कथावस्तु जटिल है, परन्तु चरित्र-चित्रण की दृष्टि से यह नाटक सफल है। इसकी भाषा अपेक्षाकृत कठिन है। दार्शनिकता भी इसमें अधिक है। इस पर वौद्धदर्शन का अधिक प्रभाव है। परन्तु

इसमें नादी, प्रस्तावना, भरत-वाक्य आदि का प्रयोग न करके नवीन नाट्य शैली का प्रयोग किया गया है।

'अजातशत्रु' के उपरान्त स० १९८३ में 'जनमेजय का नागयज्ञ' प्रकाशित हुआ। पौराणिक युग के इतिहास से कथा लेकर प्रसादजी ने इसकी सृष्टि की है। इसमें नागो को क्षत्रिय बतलाते हुए एक सफल राष्ट्र का रूप दिया है। यह रचना नाट्यकला की दृष्टि से सुन्दर है, परन्तु श्रेष्ठ नाटको में इसका चतुर्थ स्थान है। स० १९८३ में ही प्रसादजी का 'कामना' नाटक प्रकाशित हुआ। इसमें मनोविकारो का सूक्ष्म अध्ययन करते हुए उनका मानवीकरण किया गया है। इसे 'कॉमेडी ऑफ ह्यूमर्स' कहा जा सकता है। यह नाटक 'कामायनी' की पृष्ठभूमि के रूप मे है, क्योकि मनोविकारो को मूर्तरूप देने का जो प्रयत्न यहाँ प्रारम्भ हुआ है, उसका चरम विकास 'कामायनी' में है। यह एक रूपक नाटक है और इसमें देश की स्थिति पर व्यंग्यात्मक प्रहार किया गया है। इसमे सभी चरित्रो का चित्रण प्रसादजी की प्रतिभा का द्योतक है।

स० १९८५ में 'स्कदगुप्त' नाटक प्रकाशित हुआ। प्रसादजी की नाट्यकला का यह दूसरा सुन्दर नाटक है। कथावस्तु यहाँ भी जटिल होगई है। परन्तु चरित्र-चित्रण सफल है। अभी तक प्रसादजी तीन अक का ही नाटक लिखते थे, परन्तु यह नाटक पाँच अको में समाप्त हुआ है। इस नाटक मे अर्थ-प्रकृतियो, अवस्थाओं, सधियो आदि का ध्यान रखकर वस्तु की योजना की गई है। स्कदगुप्त के उपरान्त स० १९८६ मे 'एक घूँट' नामक छोटा सा एकाकी नाटक प्रकाशित हुआ। यह हिन्दी का प्रथम एकाकी नाटक है। इसमें एक ही दृश्य है और पात्रो का परिचय पूर्ण है। यह एक प्रतीकात्मक नाटक है। इसमें अरुणाचल आश्रम, कुज, रसाल, वनलता, मुकुल, प्रेमलता, आनद आदि सभी प्रतीक हैं। यहाँ पात्रो की भरमार नही है। रचना-शैली सुन्दर है, कथोपकथन सजीव हैं और कुछ-कुछ यथार्थवादी दृष्टि-कोण का भी समावेश हुआ है।

स० १९८८ मे 'चन्द्रगुप्त' नाटक प्रकाशित हुआ। इसमें नवीन ऐतिहासिक खोजो के आधार पर वस्तु का सकलन किया गया है। प्रसादजी के नाटको की वृहत्त्रयी मे यह सर्वश्रेष्ठ है। परन्तु शुक्लजी 'स्कदगुप्त' को प्रसादजी का सर्वश्रेष्ठ नाटक मानते है[1]। उनके चन्द्रगुप्त, स्कदगुप्त तथा ध्रुवस्वामिनी ये तीन नाटक वृहत्त्रयी में आते हैं। चन्द्रगुप्त नाटक मे समय की अन्विति नही है। इसमें २२ वर्षो का समय लिया गया है। यह नाटक चार अको में समाप्त हुआ है, जिसके प्रत्येक अक में कितने

१—हिन्दी साहित्य का इतिहास, पृ० ५५१।

ही दृश्य आते हैं। फिर भी यह नाटक भारतीय संस्कृति, भारतीय नाट्यकला, राष्ट्रीयता एवम् काव्य के अनेक गुणों से युक्त है।

चन्द्रगुप्त के दो वर्ष उपरान्त सं० १९९० मे 'ध्रुवस्वामिनी' नाटक प्रकाशित हुआ। यह नाटक तीन अंको मे विभाजित है और भारतीय तथा पाश्चात्य नाट्यकला का मिश्रित रूप प्रस्तुत करता है। अन्य नाटको की अपेक्षा यह अभिनेय है। इसके प्रत्येक अंक में केवल एक ही दृश्य है। यह एक समस्या प्रधान नाटक है, परन्तु इसकी कथा ऐतिहासिक है। इसमें मोक्ष (तलाक) की समस्या पर विचार किया गया है और 'वीरभोग्या वसुन्धरा' की भांति रमणी को भी वीरभोग्या ठहराया है तथा यह बतलाया है कि जो व्यक्ति रमणी की रक्षा नहीं कर सकता उसे उसके रखने का भी अधिकार नहीं। नाट्यकला की दृष्टि से यह नाटक भी प्रसादजी के नाट्यकौशल का द्योतक है।

इस तरह प्रसादजी ने छोटे-बडे कुल १२ नाटक लिखे हैं, जिनमे उन्होंने अपने नाटकीय कौशल को प्रदर्शित करते हुए अपनी बहुमुखी प्रतिभा का परिचय दिया है।

कहानी—सबसे पहले प्रसादजी ने 'ब्रह्मर्षि' तथा 'पचायत' नामक दो कथायें लिखी थी, जो क्रमश सं० १९६६ तथा सं० १९६७ में इन्दु के अतर्गत प्रकाशित हुई। ये पौराणिक आधार पर लिखी हुई प्रसादजी की प्रारम्भिक कहानियाँ हैं। 'ब्रह्मर्षि' में विश्वामित्र तथा वशिष्ठ के सघर्ष की कथा है और 'पचायत' में इस प्रश्न का उत्तर है कि स्कंद और गणेश मे कौन बडा है। इसमे भव रूप पिता की पहले परिक्रमा कर आने के कारण गणेश विजयी होते हैं। 'पचायत' मे हास्य एवम् मनोविनोद अधिक है।

इन दो कथाओं के उपरान्त प्रसादजी की कहानियो के पाँच कहानी-संग्रह निकले, जिनमें से 'छाया' कहानी-सग्रह स० १९६९ में, 'प्रतिध्वनि' स० १९८३ में, 'आकाश-दीप' सं० १९८६ मे, 'आँधी' स० १९८६ में और 'इन्द्रजाल' सं० १९९३ में प्रकाशित हुआ। इन सभी सग्रहो मे ७० कहानियाँ सगृहीत हैं, जिनमें से 'आकाशदीप' 'पुरस्कार', 'मधुआ' 'गु डा', 'बेडी', 'देवरथ' आदि प्रसिद्ध हैं। उनकी ये ऐतिहासिक एवम् सामाजिक कहानियाँ हैं। इन कहानियो मे प्रसादजी का ऐतिहासिक एवम् सामाजिक ज्ञान विद्यमान है। कला की दृष्टि से उनकी प्राय सभी कहानियाँ घटना और सम्वाद की गूढ व्यजना, चित्रण-कौशल और रमणीय कल्पना के सुन्दर समन्वय के साथ चलने वाली हैं[1]।

१—हिन्दी साहित्य का इतिहास, पृ० ५४४।

उपन्यास—प्रसादजी ने तीन उपन्यास लिखे है, जिनमे से दो पूर्ण है और एक अपूर्ण। उनका प्रथम 'ककाल' उपन्यास स० १९८६ में प्रकाशित हुआ। यह उनकी अत्यन्त प्रौढ रचना है। इसकी शैली सस्कृत-बहुल तत्सम-प्रधान है। इसमे समाज के धर्मावलम्बियो पर कराग व्यग्य है और समाज के खोखलेपन का यथार्थवादी चित्रण किया गया है। इसके वर्णन अत्यत सजीव है। इसमे अधिकाश ऐसे पात्रो का सकलन किया गया है, जो वर्णसकर हैं और समाज से बहिष्कृत होने के कारण समाज की परम्पराओ को तोडने वाले हैं। दूसरा 'तितली' उपन्यास स० १९९१ में प्रकाशित हुआ। इसमे अभिजात्य परिवारो एवम् साधारण गृहस्थो के जीवन का सफल चित्रण है और ग्राम-सुधार की बौद्धिक योजना प्रस्तुत की गई है। तीसरा 'इरावती' एक ऐतिहासिक उपन्यास है, जिसे प्रसादजी अधूरा ही छोड गये। इस अधूरे उपन्यास को उनकी मृत्यु के उपरान्त प्रकाशित किया गया। इसके वर्णनो को देखने से यही ज्ञात होता है कि प्रसादजी का यह उपन्यास अत्यन्त उत्कृष्ट होता। इसमें जितने वर्णन मिलते है, वे सभी ऐतिहासिक वातावरण को प्रस्तुत करने में अत्यन्त सफल सिद्ध हुए है।

निबंध—प्रसादजी की प्रतिभा का विकास जहाँ काव्यो, नाटको, कहानियो और उपन्यासो में हुआ है, वहाँ निबधो मे भी उनकी उत्कृष्ट प्रतिभा के दर्शन होते हैं। प्रसादजी के निबध तीन वर्गो मे बाँटे जा सकते है—(१) साहित्यिक निबध, (२) ऐतिहासिक निबध और (३) समीक्षात्मक निबध। साहित्यिक निबधो के अतर्गत 'प्रकृति-सौदर्य', 'भक्ति', 'हिन्दी साहित्य सम्मेलन', 'सरोज' तथा 'हिन्दी कविता का विकास'—ये पाँच निबध आते है, जो इन्दु मासिक पत्र मे स० १९६६ से लेकर स० १९६९ तक प्रकाशित हुए थे। इनमे से 'प्रकृति-सौदर्य' तथा 'सरोज' भावात्मक निबध हैं, जिनकी भाषा तत्सम-प्रधान है तथा जिसमे सस्कृत की समासान्त पदावली का अनुकरण किया गया है परन्तु भावो का प्रवाह गद्य-काव्य के अनुकूल है। 'भक्ति' निबध शुक्लजी के मनोविकारो पर लिखे हुए निबधो का पूर्व रूप प्रस्तुत करता है। शेष निबधो मे से ऐतिहासिक निबधो मे 'सम्राट् चन्द्रगुप्त मौर्य' (स० १९६६), 'मौर्यो का राज्य परिवर्तन' (स० १९६९), 'आर्यावर्त का प्रथम सम्राट्' (स० १९८५) तथा 'दाशराज्ञ युद्ध' (स० १९८८) नामक निबध आते हैं, जिनमे गवेषणात्मक सामग्री भरी पडी है। इनके अतिरिक्त प्रसादजी ने अपने नाटको की भूमिकाएँ तथा 'कामायनी' का जो 'आमुख' लिखा है, वे भी ऐतिहासिक निबधो की ही कोटि मे आते हैं, क्योकि वहाँ पर भी ऐतिहासिक खोज के आधार पर सामग्री सकलित की गई है।

तीसरे समीक्षात्मक निबधो की कोटि मे आपके ये ग्यारह निबध आते हैं—

(१) चम्पू, (२) कवि और कविता, (३) कविता रसास्वाद, (४) काव्य और कला, (५) रहस्यवाद, (६) रस, (७) नाटको में रस का प्रयोग, (८) नाटको का आरम्भ, (९) रगमच, (१०) आरम्भिक पाठ्य काव्य तथा (११) यथार्थवाद और छायावाद। इनमें से अतिम आठ निबध 'काव्य और कला तथा अन्य निबध' के नाम से सकलित किये गये हैं। इन सभी निबधो की शैली अत्यन्त उत्कृष्ट एवम् समालोचनात्मक है। इनमें प्रसादजी ने शुक्लजी का विरोध करते हुए रहस्यवाद और छायावाद को विदेशी सौगात न मानकर उन्हे भारत की निजी सम्पत्ति बतलाया है। साथ ही इन निबन्धो के पढने से यह ज्ञात होता है कि प्रसादजी का अध्ययन अत्यंत विस्तृत था और वे किसी बात को समझाने की कला मे भी निपुण थे।

प्रसादजी की प्रकाशित रचनाओ की विविधता, उत्कृष्टता एव नवीनता को देखने पर यही ज्ञात होता है कि प्रसादजी की प्रतिभा बहुमुखी थी। वे साहित्य की सर्वांगीण उन्नति में लगे हुए थे और अपनी रचनाओ मे हिन्दी के भडार की पर्याप्त पूर्ति करना चाहते थे। आज हिन्दी साहित्य के भडार की ओर दृष्टि डालने पर प्रतीत होता है कि प्रसादजी ने अपनी अलौकिक प्रतिभा से जो-जो रचनाएँ प्रस्तुत की हैं, वे वास्तव मे अद्वितीय हैं और उनके बिना हिन्दी साहित्य मे अभाव के दर्शन हो सकते थे। इतना ही नही प्रसादजी ने अपनी प्रतिभा द्वारा जिन नई शैलियो एव नई विधाओ को जन्म दिया है, वे सभी हिन्दी साहित्य की अनूठी निधियाँ हैं और साहित्य के ऐतिहासिक विकास मे उनका महत्वपूर्ण स्थान है।

प्रसाद-साहित्य मे युग-सघर्ष का स्वरूप

युग की साहित्यिक स्थिति का प्रसाद-साहित्य में उन्मेष—प्रसादजी की सर्वप्रथम कविता सं० १९६३ में 'भारतेन्दु' मासिक पत्र मे प्रकाशित हुई। इससे पूर्व उनकी कोई भी प्रकाशित रचना उपलब्ध नहीं होती और प्रसादजी ने अपने भानजे श्री अम्बिकाप्रसाद गुप्त से 'इन्दु' मासिक पत्र का प्रकाशन श्रावण सुदी २, स० १९६६ से प्रारम्भ कराया था। इन्दु के प्रकाशित होने के उपरान्त वे निरन्तर लिखते रहे। इधर 'कामायनी' सं० १९९२ में प्रकाशित हुई और उनके दो वर्ष उपरान्त स० १९९४ में प्रसादजी का स्वर्गवास हुआ। अत प्रसादजी का रचनाकाल स० १९६३ से सं० १९९४ तक ३१ वर्ष का ठहरता है।

भारतेन्दु-युग (सं० १९२२-१९५७ वि०)—प्रसादजी ने जिस समय साहित्य-क्षेत्र में पदार्पण किया, उससे तीन वर्ष पूर्व ही स० १९६० से पं० महावीर प्रसाद द्विवेदी (स० १९२७-१९९५) ने 'सरस्वती' का सम्पादन-कार्य आरम्भ कर दिया था। परन्तु अभी तक उनका प्रभाव हिन्दी-क्षेत्र में व्याप्त नही हुआ था। काशी में अभी

तक भारतेन्दु-युग ही चल रहा था और हनुमान, रसीले, बेनी 'द्विज', रामकृष्ण वर्मा, जगन्नाथदास 'रत्नाकर', किशोरीलाल गोस्वामी आदि सभी कवि भारतेन्दु-कालीन रचना-शैली को अपनाते हुए ब्रजभाषा में ही कविता कर रहे थे[1]। अतः उस समय के वातावरण से प्रसादजी भी प्रभावित हुए और उन्होंने सर्वप्रथम भारतेन्दु के साहित्य का अनुकरण करते हुए ही साहित्य-क्षेत्र में पदार्पण किया। इसी कारण उनकी आरम्भिक रचनाओं पर भारतेन्दु एवं भारतेन्दु-युग का प्रभाव स्पष्ट दृष्टिगोचर होता है। भारतेन्दु ने 'रामलीला' नामक एक चम्पू लिखा था, तो प्रसादजी ने 'उर्वशी' तथा 'बभ्रूवाहन' नामक दो चम्पू लिखे। भारतेन्दु ने 'देवीछद्मलीला', 'रानीछद्मलीला', 'तन्मय छद्मलीला' आदि छोटे-छोटे प्रबन्धात्मक काव्य लिखे, तो प्रसादजी ने भी प्रारम्भ में 'अयोध्या का उद्धार', 'वनमिलन', 'प्रेमराज्य', 'प्रेमपथिक', आदि प्रबन्धात्मक काव्य लिखे। भारतेन्दु ने यदि 'प्रात समीरन', 'बकरी-विलाप', 'हिन्दी भाषा', आदि पद्य-निबन्ध लिखे थे, तो प्रसादजी ने भी 'भारतेन्दु प्रकाश', 'विदाई', 'मानस', 'शरदपूर्णिमा' आदि २२ पद्य-निबन्ध लिखे, जो 'पराग' के अन्तर्गत 'चित्राधार' मे सगृहीत है[2]। भारतेन्दु ने यदि कवित्त, सवैया एव पदो के रूप में अनेक फुटकर कविताओं की रचना की, तो प्रसादजी ने भी प्रारम्भ में ऐसी ही मुक्तक कविताओं की रचना की, जिनमे से २३ कवित्त, ३ सवैया तथा १४ पद 'मकरन्द बिन्दु' के अन्तर्गत 'चित्राधार' में सगृहीत है[3]। ऐसे ही भारतेन्दु के पौराणिक नाटक 'सत्य-हरिश्चन्द्र' की ही भाँति प्रसादजी ने 'सज्जन' नाटक लिखा और उनके ऐतिहासिक नाटक 'नीलदेवी' की भाँति प्रसादजी ने 'प्रायश्चित' नाटक लिखा। इतना ही नही भारतेन्दु ने जिस तरह 'प्रिंस एलवर्ट' की मृत्यु पर शोक-काव्य लिखा था, उसी तरह सम्राट् सप्तम एडवर्ड की मृत्यु पर 'शोकोच्छ्वास' लिखकर प्रसादजी ने भी उसे काशी में वितरित कराया[4]।

इस तरह भारतेन्दु का पूरा-पूरा अनुकरण करते हुए प्रसादजी ने अपने प्रारम्भिक साहित्य की सृष्टि की, जिससे भारतेन्दु-युग की कुछ प्रमुख विशेषताएँ भी उनके साहित्य में मिल जाती हैं। जैसे इस युग में ब्रजभाषा की शृगार-प्रधान कविताओं एव समस्या-पूर्तियो की प्रधानता थी, प्रसादजी के 'चित्राधार' द्वितीय

१—प्रसाद की याद—सस्मरण २—ले० रायकृष्णदास, हिमालय, कृष्णजन्माष्टमी स० २००३, पृ० ६।

२—चित्राधार, पृ० १३६–१७०।

३—वही, पृ० १७१–१९०।

४—प्रसाद का विकासात्मक अध्ययन, पृ० १६।

संस्करण मे 'मकरन्द विन्दु' के अन्तर्गत सकलित अधिकाश कविताएँ शृङ्गार-प्रधान हैं, जो सयोग एव वियोग की भावनाओ को लेकर ही लिखी गई हैं तथा जिनमें से कुछ कविताएँ 'वेगि प्रान प्यारे नेंक कण्ठ सो लगाओ तो', 'विछुरन मीन की औ मिलन पतग की' 'अखियाँ अब तो हरजाई भई' आदि समस्याओ की पूर्ति पर लिखी गई जान पडती हैं[1]। इसके साथ ही भारतेन्दु-युग के विविध वर्ण्य-विषयो को अपनाते हुए प्रसादजी ने 'रसाल', 'मानस', 'उद्यान-लता', 'विदाई', 'नीरद', 'शरद-पूर्णिमा', 'इन्द्र-धनुप', 'सध्यातारा', आदि कविताएँ लिखी हैं, जिनमे दोहा, रोला, लावनी, कजरी, सवैया आदि विभिन्न छन्दो को अपनाते हुए प्रकृति के सुन्दर चित्र प्रस्तुत किए हैं[2]। भारतेन्दु-युग मे जिस प्रकार के लोक-गीतो का लिखना प्रारम्भ होगया था, वैसे लोकगीत तो प्रसादजी ने नही लिखे हैं, किन्तु उन्हे लोक-गीतो से प्रेम था। इसी कारण प्रसादजी ने अपनी आख्यायिकाओ एव उपन्यासो मे स्थान-स्थान पर लोकगीतो को उद्धृत किया है। जैसे—'वरजोरी वसे हो नयनवाँ मे'[3] 'कही बेगन वाली मिले तो बुला देना'[4] 'विलमि विदेश रहे'[5], 'लगे नैन वालेपन से'[6] आदि। इसके अतिरिक्त नाटको मे तो प्रसादजी ने भारतेन्दु-युग की शैली का अनुकरण किया, परन्तु व्यग्यात्मक निवन्धो मे वे इस युग का अनुकरण न कर सके।

द्विवेदी-युग (सं० १६५७-१६७१)—प्रसाद-साहित्य मे द्विवेदीकालीन इतिवृत्तात्मक एव वौद्धिकता प्रधान भावनाओ का भी थोडा-वहुत उन्मेप दिखाई देता है। 'चित्राधार' के उपरान्त प्रकाशित 'कानन-कुसुम' कविता सग्रह, 'करुणालय' गीति नाट्य, 'महाराणा का महत्व' आदि प्रारम्भिक रचनाएँ इतिवृत्तात्मक, उपदेशपूर्ण, नीतिपरक, एव वाह्य-वर्णन-प्रधान हैं। इनमे कल्पना की अपेक्षा बौद्धिकता का पुट अधिक है तथा विवरणात्मक वर्णन अधिक दिये गये है। वैसे 'प्रेम-पथिक' भी इसी काल की रचना है, परन्तु उसमे हमें प्रसादजी की स्वच्छद मनोवृत्ति के भी दर्शन होते हैं। शेप प्रकृति-चित्रण आदि मे द्विवेदी-कालीन प्रभाव ही विद्यमान है। इतना अवश्य है कि प्रसादजी की इन रचनाओ में खडी वोली का शुद्ध रूप अपनाया गया है और नवीन छदो का प्रयोग हुआ है। इसके अतिरिक्त इस काल मे हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन

१—चित्राधार, पृ० १७४-१८३

२—वही, पृ० १३६—१७०।

३—आँधी, पृ० ८७।

४—इन्द्रजाल, पृ० ६२।

५—वही, पृ० ६३।

६—तितली, पृ० १५६।

(स० १९६७), कवि और कविता (स० १९६७), कविता रसास्वाद (स० १९६७), सरोज (स० १९६९), हिन्दी कविता का विकास (स० १९६९) आदि निवध भी लिखे गये, जिनमें द्विवेदीकालीन भावात्मक एव विचारात्मक शैली की प्रधानता है। प्रसादजी की कई छोटी कहानियां भी इसी काल मे प्रकाशित हुईं, जिनमें से ग्राम (१९६७), चदा (१९६७), मदन-मृणालिनी (स० १९६८), जहानारा (स० १९६९), अशोक (स १९६९), सिकदर की शपथ (स० १९६९), तानसेन (स० १९६९) आदि प्रसिद्ध है। इन कहानियो मे हमें मार्मिकता तथा शैली की शुद्धता के साथ-साथ भाव-प्रधानता के भी दर्शन होते है और सामाजिक जीवन का भी विश्लेषण मिल जाता है। इस काल मे प्रसादजी का कोई भी कलापूर्ण नाटक प्रकाशित नही हुआ। कल्याणी-परिणय (स० १९६९), प्रायश्चित्त (स० १९७१) आदि जो नाटक प्रकाशित हुए, इन पर भारतेन्दु का ही प्रभाव है।

छायावादी युग (स० १९७१–१९९२)—आगे चल कर द्विवेदी-युग की स्थूल, नीति-परक, वाह्यार्थनिरूपिणी एव इतिवृत्तात्मक कविता-प्रणाली के विरुद्ध प्रतिक्रिया हुई, जिसके परिणामस्वरूप एक नये युग का श्रीगणेश हुआ, जो छायावादी युग के नाम से प्रसिद्ध है। इस युग का प्रारम्भ प्रथम महायुद्ध (स० १९७१) से माना जाता है। वैसे तो इस युग की स्वच्छद मनोवृत्तियो का आभास द्विवेदी-युग मे श्रीधर पाठक, प्रसाद, मैथिलीशरण गुप्त, मुकुटधर पाडेय, बद्रीनाथ भट्ट आदि की तत्कालीन रचनाओं में ही मिल जाता है, परन्तु इस युग के प्रमुख कवियो में प्रसाद, पत, निराला, महादेवी, रामकुमार वर्मा आदि आते हैं। प्रसादजी तो छायावादी युग के प्रवर्त्तक ही माने जाते है[1]। परन्तु शुक्लजी ने मैथिलीशरण गुप्त, मुकुटधर पाडेय तथा बद्रीनाथ भट्ट को छायावाद का प्रवर्त्तक बतलाया है[2] और गुप्तजी की नक्षत्र-निपात[3] (स० १९७१) कविता को छायावाद की प्रथम रचना कहा है। इसका मूल

१—प्रसाद का विकासात्मक अध्ययन, पृ० ७३।

२—हिन्दी साहित्य का इतिहास, पृ० ६४८।

३—गुप्तजी की "नक्षत्र-निपात" कविता इस प्रकार है—

जो स्वजनों के बीच चमकता था अभी,
आशा-पूर्वक जिसे देखते थे सभी।
होने को था अभी बहुत कुछ जो बडा,
हाय! वही नक्षत्र अचानक खस पडा,
निशि का सारा शान्त भाव हत हो गया,
नभ के उर का एक रत्न सा खो गया।

कारण यह है कि आपने 'इन्दु' मासिक पत्र की फाइले उलटने का कष्ट नही किया और केवल 'सरस्वती' की फाइलो के आधार पर ही अपनी यह राय स्थिर की है। यदि 'इन्दु' की फाइले उठाकर देखी जायँ तो पता चलेगा कि छायावाद में जिस स्वच्छद मनोवृत्ति के अनुकूल नये-नये छद-विधान और अभिव्यजना की नई प्रणालियो को अपनाया गया है, उनमे से नये-नये मात्रिक एव अतुकान्त छदो का प्रयोग तो प्रसादजी 'करुणालय' (माघ स० १९६९), महाराणा का महत्व (सं० १९७१), और प्रेमपथिक (स० १९७१) से ही करने लगे थे। इसके अतिरिक्त अनूठी अभिव्यजना भी 'करुणालय' में यत्किंचित् विद्यमान है। जैसे—

'सघन लता दल मिले जहाँ हैं प्रेम से,
शीतल जल का स्रोत जहाँ है वह रहा।
हिम के आसन बिछे पवन परिमल मिला,
वहना है दिन रात, वहाँ जाना तुम्हे !
सुनो ग्रीष्म के पथिक, न ठहरो फिर यहाँ
चलो, बढो ! वह रम्य भवन अति दूर है।'[1]

अत 'करुणालय' के आधार पर ही प्रसादजी 'छायावाद' के प्रवर्त्तक माने जा सकते हैं। परन्तु शुक्लजी ने लिखा है कि "'झरना' की उन २४ कविताओ में उस समय नूतन पद्धति पर निकली हुई कविताओ से कोई ऐसी विशिष्टता नही थी जिस पर ध्यान जाता। दूसरे सस्करण में, जो बहुत पीछे स० १९८४ मे निकला, पुस्तक का स्वरूप ही बदल गया। उसमें आधी से ऊपर अर्थात् ३१ नई रचनाएँ जोडी गई, जिनमे पूरा रहस्यवाद, अभिव्यजना का अनूठापन, व्यजक चित्र-विधान सब कुछ

आभा उसके अमल अन्तिमालोक की
रेखा सी कर गई हृदय पर शोक की !
सारे तारे उसे देखते ही रहे,
हिम कण रूपी कोटि-कोटि आँसू वहे।
किन्तु न उसको बचा सका फिर इन्दु भी,
काम न कुछ कर सके अमृत के बिन्दु भी।
भूतल का भी इसी तरह का हाल है—
सचमुच निष्ठुर काल बड़ा विकराल है।
—सरस्वती, ज्येष्ठ शुक्ल ८, १९७१ वि०, पृ० ३०४।

१—करुणालय, पृ० ९।

सं० १९७० में गीताजलि पर नोवेल पुरस्कार प्राप्त हुआ, जिसका प्रभाव हिन्दी-जगत पर भी पड़ा और अधिकाश हिन्दी के युवक-कवि गीताजलि की सौंदर्यप्रधान कविताओं से प्रभावित होकर हिन्दी में रचना करने लगे। टैगोर की इन कविताओं में एक दिव्य एवम् व्यापक सौंदर्यानुभूति के दर्शन होते हैं। उन्होंने सौंदर्य को आध्यात्मिक रूप प्रदान किया और अपने दिव्य नेत्रों से इस विश्वव्यापी सौंदर्य की वह झलक देखी, जो कण-कण में विद्यमान है, सत्य है, अखड है, शाश्वत है और जिसमें भोग और त्याग का पूर्ण सामजस्य है। वे इसी विश्वव्यापी सौंदर्य के उपासक होने के कारण ससार में ही ब्रह्म की झलक देखते थे, ससार को सत्य वतलाते थे तथा भोग और त्याग के सामजस्य में अथवा प्रवृत्ति और निवृत्ति के समन्वय में ही जीवन की सार्थकता सिद्ध करते थे। वे सौंदर्य का उपभोग करने के लिए हृदय की पवित्रता तथा सयम को अत्यावश्यक समझते थे और कहा करते थे कि 'ससार के समस्त सौंदर्य के, समस्त महिमा के अन्तःपुर में जो सती लक्ष्मी विराजमान है, वह भी हमारे सम्मुख ही है, किन्तु शुद्ध न होने के कारण हम उसे नहीं देख सकते। जब हम विलास में खूब गोते खाते हैं, भोग के नशे में मस्त होकर घूमते हैं, तब समस्त ससार की आलोक-वसना सती लक्ष्मी हमारी दृष्टि के सामने से अन्तर्हित हो जाती है।"[१] वे सत्य, शिव, सुन्दरम् का पूर्ण सामजस्य करने वाली दृष्टि के लिए ही अपने दिव्य सौंदर्य को गोचर कहा करते थे और इसी सौंदर्यानुभूति में आनन्द की अनुभूति का होना भी वतलाया करते थे। उनका कहना था कि 'सौंदर्य विश्व की प्रत्येक वस्तु में व्याप्त है, इसलिए प्रत्येक वस्तु हमारे आनन्द का स्रोत वन सकती है।'[२]

टैगोर की इस व्यापक सौंदर्यानुभूति के समान ही प्रसादजी की भी सौंदर्य सम्बन्धी भावनायें दृष्टिगोचर होती हैं। वे भी सौंदर्य को प्रियदर्शन कहते हुए सर्वत्र व्याप्त वतलाते हैं[3] और उसमें 'सत्य एवम् शिव' का भी समावेश स्वीकार करते हैं[४]। इतना ही नही टैगोर की ही भाँति वे भी विश्वात्मा को सुन्दरतम कहते हैं तथा उसके स्निग्ध, शान्त एवम् गम्भीर महासौंदर्य-सुधासागर के कणों को ही इस विश्व में सर्वत्र फैला हुआ वतलाते हैं।[५] इसी कारण प्रसादजी की दृष्टि में भी सृष्टि का सब कुछ अभिराम है तथा एक से एक मनोहर दृश्य यहाँ भरे पड़े हैं।[६] इस तरह प्रसादजी भी दिव्य एवम् आध्यात्मिक सौंदर्य के उपासक हैं और उन्हें भी 'उस

१—साहित्य, पृ० २८। २—साधना, पृ० १०९।
३—कानन-कुसुम, पृ० ५१। ४—आँसू, पृ० १६।
५—प्रेम-पथिक, पृ० २५। ६—झरना, पृ० ५२।

सुन्दरतम की सुन्दरता' ही विश्वमात्र में छाई हुई दिखलाई देती है।[1] इतना ही नहीं प्रसादजी ने भी सौंदर्यानुभूति में भोग एवं त्याग तथा मिलन एवं विरह का सफल सामजस्य स्थापित किया है[2]। इसके अतिरिक्त टैगोर की भांति प्रसादजी ने भी सौन्दर्य और आनन्द का अटूट संबंध स्थापित किया है[3] तथा लिखा है कि 'आनन्द का अंतरंग सरलता है और बहिरंग सौन्दर्य है, इसी में वह स्वस्थ रहता है।'[4] अतः पवित्र एवं सरल हृदय में ही इस दिव्य सौन्दर्य की अनुभूति हो सकती है और उसी को आन्तरिक आनन्द का अनुभव हो सकता है।

निष्कर्ष यह है कि प्रसादजी की सौन्दर्य-भावना महाकवि टैगोर की सौन्दर्य-भावना के ही समकक्ष ठहरती है। कुछ स्थलों पर वह टैगोर से प्रभावित भी है, परन्तु यह दिव्य सौन्दर्यानुभूति छायावादी कवियो की अपनी वस्तु है, क्योकि इन कवियो ने सर्वत्र व्यापक सौन्दर्य के दर्शन किए हैं और उसी से प्रभावित होकर अपनी भावनाओ को व्यक्त किया है।

युग की सामाजिक स्थिति का प्रसाद-साहित्य में उन्मेष—प्रसाद-साहित्य तत्कालीन ब्राह्म-समाज, आर्यसमाज, थियोसफीकल सोसायटी, रामकृष्ण मिशन, प्रार्थना समाज आदि सम्पूर्ण सुधारवादी सामाजिक संस्थाओ के विचारो से प्रभावित है। इस युग में सभी सामाजिक संस्थाओ द्वारा ईश्वर की व्यापक सत्ता में विश्वास प्रगट किया गया है और धार्मिक सकीर्णता का उच्छेद करके सभी धर्मो के प्रति सहिष्णुता का वर्त्ताव करने का आग्रह किया गया है। प्रसादजी की 'नमस्कार' तथा 'मन्दिर' कविताओ में भी उक्त भावनाएँ वडे सयत ढग से व्यक्त हुई हैं और उस ईश्वर को सर्वत्र व्याप्त वतलाते हुए मन्दिर, पगोडा, गिरजा आदि को भक्ति-भावना के छोटे-वडे नमूने वतलाया है।[5]

वर्ण-व्यवस्था की वुराईयों को प्रसादजी भी अच्छी तरह समझते थे, क्योकि ऊँच-नीच, छूआछूत, छोटा-वड़ा आदि की भावनाओं का प्रचार इसी वर्ण-व्यवस्था द्वारा हुआ है। वे यह जानते थे कि 'भारतवर्ष आज वर्णों और जातियो के वन्धन में जकड कर कष्ट पारहा है।···प्रत्येक व्यक्ति अपनी छूँछी महत्ता पर इतराता हुआ दूसरे को नीचा—अपने से छोटा समझता है, जिससे सामाजिक विषमता का विषमय प्रभाव फैल रहा है।'[6] अतः उन्होंने भी समस्त जातियो एवं सम्पूर्ण जगत को उस प्रेममय सर्वेश का अग वतलाया[7] और निम्न वर्ग के व्यक्तियो के प्रति सहानुभूति प्रकट

१—प्रेम-पथिक, पृ० २४। २—प्रेम-पथिक, पृ० २६, आंसू, पृ० ४६।
३—प्रेम-पथिक, पृ० २५। ४—एक घूंट, पृ० २०।
५—कानन-कुसुम, पृ० ४–६। ६—कंकाल, पृ० १४८–१५०।
७—कानन-कुसुम, पृ० ११।

करने, उनकी पीड़ा सुनने, सात्वना देने, उनकी सुधबुध लेने आदि की सलाह दी।[1] साथ ही सामाजिक एकता एव समानता की घोषणा करते हुए कहा कि 'एक बार फिर स्मरण रखना चाहिए कि हम लोग एक है, ठीक उसी प्रकार जैसे श्रीकृष्ण ने कहा है—'अविभक्तं च भूतेषु विभक्तमिव च स्थितम्'—यह विभक्त होना कर्म के लिए है, चक्र प्रवर्त्तन को नियमित रखने के लिए है।[2] अत यह विभाजन ईश्वर-कृत नही है, अपितु सम्पत्ति-अधिकार और विद्या के कारण हो गया है।'[3] इसी कारण प्रसादजी ने मत-धर्म आदि को दूर करके मानव-मात्र मे प्रेम करने, ससार भर को मित्र बनाने तथा सभी को उस परमपिता की प्यारी संतान बतलाकर परस्पर अभिन्न होकर रहने का आग्रह किया है।[4]

प्रसादजी के साहित्य में सीमित मानव-समाज की एकता या समानता का वर्णन नही है, अपितु वहाँ विश्व-बधुत्व की भावना अथवा सम्पूर्ण मानवता के प्रेम का वर्णन मिलता है। उन्होने 'कामना' नाटक में स्पष्ट लिखा है—"आत्मप्रतारको उस दिन की प्रतीक्षा में कठोर तपस्या करनी होगी, जिस दिन ईश्वर और मनुष्य, राजा और प्रजा, शासित और शासको का भेद विलीन होकर विराट विश्व, जाति और देश के वर्णो से स्वच्छ होकर एक मधुर मिलन-क्रीडा का अनुभव करेगा"[5]। वे विश्व भर मे एक कुटुम्ब स्थापित होने की कामना करते है और मानव-मात्र से स्नेह करते हुए ऐसी मानवता के अनुयायी है, जहाँ वर्ण, धर्म और देश को भूल कर मनुष्य मनुष्य से प्यार करता है।[6]

प्रसाद-साहित्य में स्त्री-स्वातन्त्र्य, स्त्री-शिक्षा तथा स्त्री-पुरुष समानता के विचार भी स्थान-स्थान पर व्यक्त हुए है। अजातशत्रु नाटक मे आपने नारी-पुरुष की समानता, नारी-स्वातन्त्र्य एव नारी के विद्रोह की झाँकी प्रस्तुत की है। अन्त में इस समस्या का समाधान करते हुए आपने बतलाया है कि नारी और पुरुष में समानता कैसे हो सकती है, नारी तो पुरुष की अपेक्षा कही महान् है, 'वह तो स्नेह, सेवा और करुणा की मूर्ति है, सात्वना के लिए अभय-वरद हस्त है, मानव-समाज की सारी वृत्तियो की कुंजी है और विश्व-शासन की एकमात्र अधिकारिणी प्रकृति-स्वरूपा है, उसके राज्य की सीमा विस्तृत है और पुरुष की सकीर्ण।'[7] इतना ही नहीं उन्होने एक कुलवती गृहिणी को धैर्य, सहिष्णुता, शील और कल्याण-कामना से

१—कानन-कुसुम, पृ० ४५।
२—कंकाल, पृ० ३५१।
३—कंकाल, पृ० ३४८।
४—कानन-कुसुम, पृ० ३१-३२।
५—कामना, पृ० ९८।
६—इन्द्रजाल, पृ० २१।
७—अजातशत्रु, पृ० १२४-१२५।

युक्त, सुख-दुख में सर्वदा प्रसन्न रहने वाली तथा अन्नपूर्णा कहा है।[1] साथ ही नारी के लिए ऐसे पुरुष का परित्याग करने की भी सलाह दी है, जो क्लीव हो, अपनी पत्नी को दूसरे की अंकगामिनी बनाने मे सकोच न करे और जो पत्नी का सुख-दुख मे साथ न दे[2]। अत. आप नारी-स्वातन्त्र्य तो चाहते है, परन्तु स्त्री-पुरुष की समानता को यथेष्ट नही समझते और नारी को पुरुष की अपेक्षा कही महान् एव मानवमात्र पर शासन करने वाली शक्ति मानते है। इसके अतिरिक्त 'तितली' उपन्यास मे कन्या पाठशाला की व्यवस्था तथा कन्या-गुरुकुल की कल्पना द्वारा प्रसादजी ने स्त्री-शिक्षा पर भी जोर दिया है।[3]

प्रसाद-साहित्य में सामाजिक सेवा-भाव को भी अधिक महत्व दिया गया है। उनके नाटको मे यह सेवा-भाव अधिक मुखरित हुआ है। 'स्कदगुप्त' नाटक का पर्णदत्त अप्रिय होकर भी देश के बहुत से दुर्दशा-ग्रस्त वीर-हृदयो की सेवा में अपना जीवन व्यतीत करता है, वहाँ देवसेना भी आश्रम मे रहकर दीन-हीनो की सेवा मे लीन रहती है।[4] 'अजातशत्रु' नाटक मे मल्लिका अपने पति का वध करने वालो की सेवा-सुश्रूषा बडी तन्मयता के साथ करती है।[5] 'तितली' उपन्यास मे शैला तथा तितली अपनी अनवरत समाज-सेवा द्वारा धामपुर गाँव मे सुन्दर सगठन स्थापित करती है, पाठशाला, बैंक और चिकित्सालय आदि खोलती है, जिससे समस्त गाँव मे नया उल्लास, नई उमग भर देती है।[6]

प्रसादजी ने सप्तम एडवर्ड की मृत्यु पर लिखी हुई अपनी कविता 'समाधि सुमन'[7] तथा सम्राट् पचम जार्ज के आगमन पर रचित 'राजराजेश्वर'[8] कविता मे अंग्रेजी राज्य तथा अंग्रेज सम्राटो की प्रशसा अवश्य की है, किन्तु उन की शासन-व्यवस्था एव उनके सामाजिक सुधारो की व्यग्यपूर्ण आलोचना करते हुए वे 'कामना' मे लिखते है—'देश मे धनवान और निर्धन, शासको का तीव्रतेज, दीनो की विनम्र दयनीय दासता सैनिकबल का प्रचड प्रताप, किसानो की भारवाही पशु की सी पराधीनता, ऊँच और नीच, अभिजात और वर्बर, सैनिक और किसान, शिल्पी और व्यापारी और इन सभी के ऊपर सभ्य व्यवस्थापक सब कुछ तो है। नये-नये सदेश, नये-नये उद्देश्य, नई-नई सस्थाओ का प्रचार सब कुछ सोना और मदिरा के बल पर

१—इरावती, पृ० ८७। २—ध्रुवस्वामिनी, पृ० ६३।
३—तितली, पृ० २३२,२३७। ४—स्कंदगुप्त, पृ० १३६।
५—अजातशत्रु, पृ० ११६। ६—तितली, पृ० २६५।
७—इन्दु, कला १, किरण ११, ज्येष्ठ १९६७, पृ० १९४–१९५।
८—इन्दु, कला ३, किरण ३, फरवरी १९१२ ई०, पृ० २०३।

होरहा है।'[1] इसके साथ ही 'ग्राम' कहानी में उन्होंने अँग्रेजो द्वारा स्थापित जमीदारी प्रथा का उल्लेख करते हुए यह भी बतलाया है कि किस प्रकार महाजन-जमीदार किसानो से रुपया वसूल करके अँग्रजो की नीति के अनुसार ग्रामो का शोषण किया करते थे।[2] वे भली प्रकार जानते थे कि इन साहसी उद्योगी अँग्रेजों ने भारत का अकूत धन लेजाकर अपने कोष में जमा किया है, और इसी धन के बल पर उनके यहाँ 'सुगन्ध जल के फौवारे छूटते हैं, बिजली के गरम कमरो में जाते ही कपड़े उतार देने की आवश्यकता होती है'[3], और दूसरी ओर इस भारत मे प्राकृतिक पदार्थों का अपव्यय करके 'जनता को दरिद्र बनाया जारहा है, उनकी वृत्ति के उद्‌गम को बन्द कर देने का उपक्रम होरहा है, जिससे इस देश के बच्चे दुर्बल, चिताग्रस्त और झुके हुए दिखाई देते हैं... छिपकर बातें करना, कानो में मंत्रणा करना, छुरों की चमक से आँखो में त्रास उत्पन्न करना, वीरता के नाम से किसी अद्‌भुत पदार्थ की ओर दौड़ना युवको का कर्त्तव्य होरहा है। कहते हैं, हम धीरे-धीरे सभ्य होरहे हैं।'[4]

इस प्रकार प्रसाद-साहित्य में चित्रित सामाजिक स्थिति का विवेचन करने पर यह निष्कर्ष निकलता है कि प्रसादजी नें अपने युग की सामाजिक दशा का अच्छी तरह निरीक्षण किया था। इसी कारण उन्होंने अपने साहित्य में उसका स्वरूप अकित करके समाज को उसकी भलाई-बुराई आदि से अवगत कराने का प्रयत्न किया और सुधार के लिए जो-जो उपयुक्त प्रयत्न हो सकते थे, उनको भी बतलाने की चेष्टा की। उनका लक्ष्य ही समाज की बुराइयो को दूर करके सर्वत्र एक स्वस्थ, सम्पन्न एव उन्नतशील समाज की स्थापना करना था। इसीलिए वे अतीत और वर्तमान से सामग्री लेकर ऐसे साहित्य की सृष्टि करते रहे, जिसमें मानवता-प्रेम को प्रश्रय मिले, विश्व-बधुत्व के भाव जाग्रत हो, समाज-सेवा की ओर जनता अग्रसर हो और समाज के स्त्री-पुरुष पारस्परिक कलह, द्वेष आदि से दूर होकर अपनी वर्तमान आर्थिक दशा को देखते हुए देश और समाज की सर्वांगीण उन्नति के लिए प्रयत्नशील हो। कामायनी से पूर्व प्रसाद-साहित्य की यही समाज के लिए देन है और अन्त में इसी का पूर्ण विकास 'कामायनी' में हुआ है।

प्रसाद-साहित्य में ऐतिहासिक एवं राजनीतिक स्थिति का उन्मेष—प्रसाद-युग में राजनीतिक क्षेत्र के अतर्गत पर्याप्त जागृति थी। अँग्रेजो के अत्याचारों से पीड़ित जनता स्वतत्रता-प्राप्ति के लिए क्रान्ति मचा रही थी और उस क्रान्ति में सक्रिय भाग लेकर देश में सुशासन एवं सुव्यवस्था स्थिर कराने का प्रयत्न कर रही थी। साथ ही

१—कामना, पृ० ७६।
२—छाया, पृ० २३–२६।
३—तितली, पृ० १८–१६।
४—कामना, पृ० ८३, ४३–४४।

गांधीजी के सत्य, अहिंसा, सेवा, ग्राम-सुधार; सर्वोदय की भावना आदि को अपनाकर सारा देश एक नवीन प्रकार के आन्दोलन में भाग ले रहा था और अंग्रेजों की दमन-नीति का साहस, दृढता, शान्ति एव सयम के साथ सामना करता हुआ स्वतन्त्रता-सग्राम में अग्रसर हो रहा था।

यद्यपि प्रसाद-साहित्य में समस्त ऐतिहासिक एव राजनीतिक घटनाओ की ओर तो सकेत नही मिलते, फिर भी उनके साहित्य मे प्रमुख-प्रमुख घटनाओ के सकेत मिल जाते हैं। सर्वप्रथम स० १९१४ मे होने वाले प्रथम स्वतन्त्रता-सग्राम या सिपाही-विद्रोह का उल्लेख करते हुए प्रसादजी ने दो कहानियाँ लिखी हैं—'शरणागत' तथा 'गुडा'। 'शरणागत' कहानी में भारतीयो की अंग्रेज शरणागतो के प्रति की गई सहानुभूति का उल्लेख किया है।[1] तथा 'गुडा' कहानी में अंग्रेजी अफसर हेस्टिंग्ज द्वारा तत्कालीन काशीराजा चेतसिह के साथ किए गये दुर्व्यवहार का वर्णन है।[2] प्रसादजी ने अंग्रेजो के समय में स० १९३४, १९५५, १९५६ आदि मे पड़ने वाले दुर्भिक्षो का वर्णन भी बड़ी सजीवता के साथ किया है। उनके 'करुणालय'[3] तथा 'तितली' [4] में उक्त दुर्भिक्षो का सकेत विद्यमान है।

स० १९४३ मे काग्रेस की स्थापना के उपरान्त देश में राष्ट्रीयता, देश-प्रेम, स्वतन्त्रता आदि की जो भावनाएँ विकसित हुई तथा विपिनचन्द्रपाल, अरविंद घोष, तिलक आदि ने देश को सगठित करके विदेशी सत्ता एव विदेशी वस्तुओ का वहिष्कार करने का जो प्रयत्न किया, उसका आभास प्रसाद के जनमेजय का नाग-यज्ञ, कामना, स्कदगुप्त, चन्द्रगुप्त आदि नाटको में मिलता है। जैसे, 'जनमेजय का नागयज्ञ' में मनसा तथा उसकी दो सखियो के गाने में देश के युवको को स्वतन्त्रता प्राप्ति के लिए सगठित होने का सकेत किया है।[5] 'कामना' नाटक में विदेशी विलास की शासन-सभा, राज्य-व्यवस्था आदि का उल्लेख करके विदेशी सत्ता एव विदेशी वस्तुओ का वहिष्कार करते हुए अंग्रेजो की दमन-नीति-पूर्ण शासन-व्यवस्था पर करारा व्यग्य किया है।[6] 'स्कदगुप्त' मे देश-प्रेम की भावना जागृत करते हुए भारतवर्ष पर अपना सर्वस्व न्योछावर करने के लिए जोर देते हुए लिखा है :—

'जिएँ तो सदा उसी के लिए यही अभिमान रहे, यह हर्ष।
निछावर करदें हम सर्वस्व, हमारा प्यारा भारतवर्ष ॥"[7]

१—छाया, पृ० ४३–४८। २—इन्द्रजाल, पृ० ९१–१०६।
३—करुणालय, पृ० ११–१२। ४—तितली, पृ० ७–८।
५—जनमेजय का नागयज्ञ, पृ० ८३।
६—कामना, पृ० ३२, ७२, ७६, ९७।
७—स्कंदगुप्त, पृ० १५१।

इसी तरह 'चन्द्रगुप्त' नाटक में चन्द्रगुप्त की राष्ट्रीय झलक अपने हाथ में झंडा लेकर स्वातन्त्र्य प्राप्त करते हुए देश के तरुणों को विदेशी आक्रमणकारियों के विरुद्ध युद्ध करने की प्रेरणा प्रदान करती है।[1]

सं० १९६८ में जार्ज पंचम के आगमन पर प्रसादजी ने 'राजराजेश्वर' कविता लिखी, जो 'स्वागत', 'दरबार' तथा 'विदा'—इन तीन शीर्षकों में बँटी हुई है तथा जिसमें दिल्ली के दरबार का वर्णन किया है।[2]

सं० १९७१ से सं० १९७५ तक जो प्रथम विश्व-युद्ध हुआ उसका संकेत 'अजातशत्रु' नाटक में विद्यमान है, क्योंकि वहाँ स्थान-स्थान पर संसार भर के युद्ध, विप्लव, विद्रोह, संघर्ष आदि का उल्लेख किया है।[3]

प्रथम विश्वयुद्ध के उपरान्त भारत की स्वतन्त्रता के प्राप्त न होने पर जो यहाँ पर बम-विस्फोट, हत्याकाण्ड आदि हुए तथा जिनके परिणामस्वरूप देश के कितने ही नेताओं एवं क्रान्तिकारियों को जेल में बंदी किया गया, उन सभी बातों की ओर संकेत करते हुए प्रसादजी ने 'अजातशत्रु' नाटक में लिखा है कि "क्या विप्लव हो रहा है।... अंधी जनता अँधेरे में दौड़ रही है। मनुष्य मनुष्य के प्राण लेने के लिए शस्त्र-कला को प्रधान गुण समझने लगा है और उन गाथाओं को लेकर कवि कविता करते हैं, बर्बर रक्त में और भी उष्णता उत्पन्न करते हैं। राजमन्दिर बंदीगृह में बदल गये हैं। कभी सौहार्द्र से जिसका आतिथ्य कर सकते थे उसी को बन्दी बनाकर रखा है।"[4]

इसके अनन्तर गांधीजी ने राजनीति के क्षेत्र में पदार्पण करके सत्य को

हुए वे लिखते हैं 'अन्त मे वही विजयी होता है, जो सत्य को परम ध्येय समझता है।'[1] साथ ही गांधीजी की विचारधारा का पालन करते हुए प्रसादजी ने 'तितली' उपन्यास मे ग्राम-सुधार पर भी जोर दिया है, और तितली तथा शैला के निरन्तर उद्योग द्वारा धामपुर ग्राम में चकवदी कराते हुए समस्त किसानो की सुख-सुविधाओ का ध्यान रखा है और उनके लिए अस्पताल, रात्रि-पाठशाला, वैंक आदि खुलवाये हैं। वहाँ पर साफ-सुथरी सडके, नालो पर पुल तथा अनेक करघो की व्यवस्था की गई है और इतना सुधार दिखलाया गया है कि जिससे वह साधारण गाँव नगर से भी अधिक सुन्दर वन गया है।[2] इस तरह प्रसाद-साहित्य मे गांधीजी की नीति का पर्याप्त समर्थन मिलता है। इतना अवश्य है कि वे गांधीजी की निष्क्रिय प्रतिरोध की पद्धति को नही मानते थे और इसी कारण उन्होने अपने नाटको में सर्वत्र सक्रिय प्रतिरोध को महत्व देते हुए देश मे सु-व्यवस्था स्थापित कराने का उपक्रम किया है।

प्रसादजी का अन्तर्द्वन्द्व और अन्तर्मन्थन—'कामायनी' की पृष्ठभूमि को जानने के लिए अभीतक युग की जिन प्रवृत्तियो एव प्रेरणाओ का दिग्दर्शन कराया गया है, उनमें ही प्रसाद-साहित्य का अन्तर्द्वंद्व एव अन्तर्मथन भी आ जाता है, क्योंकि प्रसादजी के हृदय में व्याप्त अन्तर्द्वन्द्व उनके समस्त नाटको एव कविताओ मे व्यक्त हुआ है और इसी के आधार पर आगे चलकर 'कामायनी' मे भी इसकी प्रधानता हो गई है। श्री कृष्णदास जी के मतानुसार प्रसादजी के नाटक केवल बाह्यद्वन्द्व से ही भरे हुए नही है, अपितु उतना ही उनमें अन्तर्द्वन्द्व भी विद्यमान है और इन दोनो के समुचित सम्मिश्रण के कारण ही उनके नाटक 'मानवता के उच्चतम आदर्श के पूर्ण व्यजक' तथा 'मानवता की एक वडी भारी पूँजी हैं।'[3] प्रसादजी ने अपने अन्तर्द्वन्द्व एव अन्तर्मथन को प्रकट करने के लिए नाटको मे कुछ विशेष पात्रो की सृष्टि की है, जो यद्यपि ऐतिहासिक हैं, फिर भी उनके चरित्र का विकास प्रसादजी की मनोवृत्ति के आधार पर हुआ है। इसी कारण उनमे बाह्यद्वन्द्व की अपेक्षा अन्तर्द्वन्द्व का ही प्राधान्य है। 'अजातशत्रु' का विम्बसार 'कामना' का विवेक, 'स्कदगुप्त' के मातृगुप्त और पर्णदत्त, 'जनमेजय का नागयज्ञ' के सरमा और आस्तीक, 'चन्द्रगुप्त' का चाणक्य इत्यादि ऐसे ही पात्र हैं, जिनका जीवन सकल्प-विकल्प पूर्ण अन्तर्द्वन्द्व से भरा हुआ है। उदाहरण के लिए 'अजातशत्रु' के विम्वसार का निम्नलिखित कथन लिया जा सकता है—"आह, जीवन की क्षण-भगुरता देखकर भी मानव कितनी गहरी नींव देना चाहता है।......मनुष्य व्यर्थ महत्त्व की आकाक्षा मे मरता है, अपनी नीची, किन्तु

१—जनमेजय का नागयज्ञ, पृ० ८२, ९५। २—तितली, पृ० २६५।
३—अजातशत्रु, प्राक्कथन, पृ० ५।

इसी तरह 'चन्द्रगुप्त' नाटक में गांधार की राजपुत्री अलका अपने हाथ में झंडा लेकर स्वातन्त्र्य गान गाती हुई देश के युवकों को विदेशी आक्रमणकारियों के विरुद्ध युद्ध करने की भावना जाग्रत करती है।[1]

सं० १९६८ में जार्ज पंचम के आगमन पर प्रसादजी ने 'राजराजेश्वर' कविता लिखी, जो 'स्वागत', 'दर्बार' तथा 'विदा'—इन तीन शीर्षकों में बँटी हुई है तथा जिसमें दिल्ली के दर्बार का वर्णन किया है।[2]

सं० १९७१ से सं० १९७५ तक जो प्रथम विश्व-युद्ध हुआ उसका संकेत 'अजातशत्रु' नाटक में विद्यमान है, क्योंकि वहाँ स्थान-स्थान पर संसार भर के युद्ध, विप्लव, विद्रोह, संघर्ष आदि का उल्लेख किया है।[3]

प्रथम विश्वयुद्ध के उपरान्त भारत की स्वतन्त्रता के प्राप्त न होने पर जो यहाँ पर बम-विस्फोट, हत्याकाण्ड आदि हुए तथा जिनके परिणामस्वरूप देश के कितने ही नेताओं एवं व्यक्तियों को जेल में बंदी किया गया, उन सभी बातों की ओर संकेत करते हुए प्रसादजी ने 'अजातशत्रु' नाटक में लिखा है कि "क्या विप्लव हो रहा है।··· अंधी जनता अँधेरे में दौड़ रही है मनुष्य मनुष्य के प्राण लेने के लिए शस्त्र-कला को प्रधान गुण समझने लगा है और उन गाथाओं को लेकर कवि कविता करते है, बर्बर रक्त में और भी उष्णता उत्पन्न करते है। राजमन्दिर बंदीगृह में बदल गये हैं। कभी सौहार्द्र से जिसका आतिथ्य कर सकते थे उसी को वन्दी बनाकर रखा है।"[4]

इसके अनन्तर गांधीजी ने राजनीति के क्षेत्र में पदार्पण करके सत्य को अपनाते हुए सत्याग्रह करने तथा नैतिकता का आधार लेकर सविनय-अवज्ञा-आन्दोलन करने की प्रणालियों द्वारा राजनीति का सम्बन्ध नीति एवं धर्म से स्थापित किया। प्रसादजी ने भी गांधीजी की विचारधारा से सहमत होकर 'ध्रुवस्वामिनी' नाटक में लिखा है—"राजनीति ही मनुष्यों के लिए सबकुछ नहीं है। राजनीति के पीछे नीति से भी हाथ धो न बैठो, जिसका विश्व मानव के साथ व्यापक सम्बन्ध है।"[5] तदनन्तर 'जनमेजय का नागयज्ञ' में उन्होंने स्पष्ट घोषित किया है—"क्या धर्म कोई इतर वस्तु है? वह तो व्यापक है। भला बिना उसके कहीं राष्ट्रनीति और समाज-नीति चल सकती है?" आगे चल कर सत्याग्रह के आन्दोलन की ओर संकेत करते

१—चंद्रगुप्त, पृ० २१७–२१८।

२—इन्दु, कला ३, किरण ३, फरवरी सन् १९१८, पृ० २०३।

३—अजातशत्रु, पृ० ८७, ९०। ४—अजातशत्रु, पृ० ११३।

५—ध्रुवस्वामिनी, पृ० ४४।

भावनाओ के सघर्ष का रूप विद्यमान है, जिनमे अन्तःकरण की प्रेम सम्बन्धी भावनायें, वासनात्मक मन की चंचलता, चित्तवृत्तियो की विविधता, व्यथित मन की वेदनात्मक अनुभूति आदि का चित्रण करते हुए कवि ने मानव-जीवन के सघर्षपूर्ण चित्र अकित किए है और उन चित्रो में अन्तर्द्वन्द्व को प्रमुख स्थान दिया है।

इसके अनन्तर 'आँसू' काव्य तो अन्तःप्रकृति के सजीव चित्र अकित करने के लिए ही लिखा गया है। उसकी सारी कविता अन्तर्द्वन्द्व एव अन्तर्मथन का ही शब्द-रूप है और उसमें हृदय की उन मधुर एवम् प्रेममयी भावनाओ की अभिव्यक्ति हुई है, जो यौवन को झकझोर डालती हैं तथा जिनके सघर्ष में पड़कर असाधारण मानव भी कुछ क्षणो के लिए तडप उठता है। 'आँसू' की आरंभिक पक्ति "इस करुणा कलित हृदय में अब विकल रागिनी बजती"[१] ही अन्तर्द्वन्द्व का सजीव चित्र अकित करती हुई आगे बढी है।

'आँसू' के पश्चात् प्रकाशित 'लहर' कविता सग्रह में 'आत्मकथा', 'अशोक की चिन्ता', 'प्रलय की छाया' आदि कविताओ मे तो अन्तर्द्वन्द्व का प्राधान्य है ही, इनके अतिरिक्त 'हे सागर संगम अरुण नील', 'आह रे, वह अधीर यौवन' 'वे कुछ दिन कितने सुन्दर थे ?'[२] आदि कविताओ में भी मानस-जगत के सतत सघर्ष, असफलता, निराशा, व्यथा, वेदना आदि का वर्णन हुआ है, जिनमें हृदय की अतृप्त-वासनाओ के विप्लव एवम् मानसिक उथल-पुथल के सजीव चित्र विद्यमान हैं और जो प्रसादजी के अन्तर्द्वन्द्व एवम् अन्तर्मथन का प्रतिनिधित्व करते है।

साराश यह है कि प्रसाद-साहित्य में अन्तर्द्वन्द्व का प्राधान्य है। इसके मूल में पारिवारिक संघर्ष और सकट, असमय में ही प्रियजनो का वियोग, देश की पराधीनता, स्वतन्त्रता-सग्राम की असफलताएँ, सामाजिक विषमताएँ आदि हो सकती हैं। साथ ही प्रसादजी का सारा जीवन भी सघर्षमय रहा और वे अपने परिवार की स्थिति सुधारने में लगे रहे। अत इन सभी कारणो से उनकी रचनाओ में हार्दिक एव मानसिक सघर्ष की प्रधानता हो सकती है। परन्तु यह अन्तर्द्वन्द्व एव अन्तर्मथन केवल प्रसादजी के सघर्षमय जीवन का ही चित्र प्रस्तुत नही करता, अपितु तत्कालीन मानव-समाज की आन्तरिक स्थिति का भी द्योतक है और इसी का चरम विकास 'कामायनी' काव्य में हुआ है।

'करुणालय' की प्रवृत्ति का 'कामायनी' में पर्यवसान—प्रसादजी मुख्यतया स्वच्छन्दतावादी कवि है और उनकी इस प्रवृत्ति का सर्वप्रथम क्षीण आभास हमें 'करुणालय' में मिलता है। यही पर वे नवीन ढंग की कविता का प्रयोग करते हुए

१—आंसू, पृ० ७–८। २—लहर, पृ० १५, २७–३१।

सुदृढ़ परिस्थिति में उसे सतोष नही होता, नीचे से ऊँचे चढ़ना ही चाहता है, चाहे फिर गिरे तो भी क्या ।[१]

इसी प्रकार के मानव-जीवन एव उसके आतरिक सघर्ष से सम्बधित विचार उनके नाटको में स्थान-स्थान पर व्यक्त हुए हैं,[२] उन सभी स्थलो पर हमें दार्शनिकता के साथ-साथ मानव-हृदय में चलने वाली भावनाओ के सघर्ष का भी पता चल जाता है ।

नाटकों के अतिरिक्त उनकी कहानियो एव उपन्यासो में भी अन्तर्द्वन्द्व एव अन्तर्मथन की ही प्रधानता है । उनकी अन्तर्द्वन्द्व प्रधान कहानियो में से 'आकाशदीप', 'देवदासी', 'आंधी', 'पुरस्कार', 'मदन-मृणालिनी' आदि प्रसिद्ध हैं ।[३] इन कहानियो में सर्वत्र मानव-जीवन की ऊँची-नीची स्थितियो, उनमें व्याप्त भावनाओ एव विचारो तथा हृदयस्थ भाव-सघर्षों के दर्शन होते हैं । यही दशा प्रसादजी के उपन्यासो की है । उनके 'ककाल' तथा 'तितली' उपन्यास तो अन्तर्द्वन्द्व के साक्षात् मूर्तिमत रूप हैं । 'ककाल' उपन्यास के मगल, विजय, यमुना, घटी, किशोरी आदि अधिकांश पात्र अन्तर्द्वन्द्व प्रधान हैं, जिनके जीवन में निरतर मानसिक संघर्ष चलता रहता है, जो समाज की आंखो में धूल झोंक कर भी अपने मन एव हृदय से बच नही पाते और मन के सकल्प-विकल्प एव हृदय के भावगत सघर्ष में अत तक पडे रहते हैं । यही दशा 'तितली' उपन्यास की है, जिसमें इन्द्रदेव, शैला, मधुबन, तितली आदि के मानसिक सघर्ष एवम् हृदयगत उथल-पुथल का चित्रण करते हुए प्रसादजी ने मानव-जीवन में व्याप्त अन्तर्द्वन्द्व एवम् अतर्मथन के सजीव चित्र अकित किए हैं । तीसरे 'इरावती' नामक अपूर्ण उपन्यास में भी प्रसादजी ने इरावती, कालिन्दी, अग्निमित्र, ब्रह्मचारी आदि का जितना चित्रण किया है, उसमें अन्तर्द्वन्द्व का ही प्राधान्य है ।

प्रसादजी के नाटक एव कथा-साहित्य से भी अधिक उनके काव्यो एव मुक्तक कविताओ में अन्तर्द्वन्द्व एव मानसिक सघर्ष की प्रधानता है । आरम्भिक रचनाओ में से 'प्रेमराज्य', 'प्रेमपथिक', 'करुणालय', 'महाराणा का महत्व' तथा 'चित्राधार' एव 'झरना' में सकलित अनेक कविताओं में हृदय के विप्लव एव मानवीय

१—अजातशत्रु, पृ० २८ ।

२—देखिए क्रमश कामना, पृ० २५–२६, स्कंदगुप्त, पृ० २३, २४, ११८, जनमेजय का नागयज्ञ, पृ० ७६, ७७, ८७, ८८ और चद्रगुप्त, पृ० ८७, १७३ ।

३—देखिए क्रमश आकाशदीप (कहानी सग्रह) पृ० १, ८७, आंधी (कहानी संग्रह) पृ० १, १०२, और छाया (कहानी संग्रह) पृ० १०३ ।

यद्यपि 'करुणालय' में लक्षित प्रसादजी की प्रवृत्तियाँ उनके सभी ग्रन्थो में विद्यमान हैं, फिर भी इन प्रवृत्तियो की शृङ्खला को 'कामायनी' से जोड़ने वाली उनकी दो कृतियाँ प्रमुख हैं—'आँसू' और 'कामना'। 'आँसू' काव्य मे अभिव्यंजना की अनूठी पद्धति का प्रयोग करते हुए मानव के प्रेम, सौंदर्य, विरह-वेदना आदि को आध्यात्मिक रूप प्रदान किया गया है। यहाँ नियतिवादी भावना अधिक उच्च स्वर में सुनाई देती है, मानव की अन्त प्रकृति का चित्रण अधिक सजीवता के साथ हुआ है, संसार के अपावन कालुष्य को मिटाकर सर्वत्र निर्मलता की याचना करते हुए विश्व-कल्याण की कामना की गई है, और अन्त में जीवन के लिए आशाप्रद सन्देश देकर मानवता के प्रति प्रेम एवम् सहानुभूति की व्यंजना हुई है।

इसके अनन्तर उनकी दूसरी कृति 'कामना' आती है, जिसमें प्रतीकात्मक शैली का प्रयोग करते हुए अधिकाश मनोविकारो को मूर्तरूप प्रदान करके चित्रित किया गया है। यहाँ पर कामना, लालसा, लीला, करुणा, प्रमदा, सन्तोष, विनोद, विलास, विवेक, शान्तिदेव, दम्भ आदि सभी पात्र मनोविकारो के प्रतीक हैं, और इसी प्रतीक शैली को 'कामायनी' मे भी अपनाया गया है। 'कामना' मे भौतिकवादी विलास-प्रिय जीवन की झाँकी प्रस्तुत करते हुए एवम् उसके कारण सर्वत्र अशान्ति, दम्भ, क्रूरता, अतृप्ति, लालसा आदि की वृद्धि दिखलाकर अन्त में आध्यात्मिक जीवन व्यतीत करने का जैसा संकेत किया है, उसी का चरम विकास 'कामायनी' में हुआ है। 'कामना' मे ईश्वर-मनुष्य, राजा-प्रजा, शासक-शासित, ईश्वर-सृष्टि आदि का समन्वय करते हुए जिस समन्वयवाद एवम् समरसता के सिद्धान्त की ओर सकेत है, उसी का विकसित रूप 'कामायनी' मे विद्यमान है। 'कामना' मे आडम्बर-पूर्ण, छल-छद्म से भरी हुई विकासशील सभ्यता का सकेत करके पुन. सात्विक एवम् सरल जीवन व्यतीत करने का जैसा आग्रह किया गया है, उसका पूर्ण विकास 'कामायनी' में हुआ है। इसके साथ ही प्रसादजी ने पहले 'कामना' को 'विलास' के चंगुल में फँसाकर अत्यन्त अतृप्त, विवेक-शून्य, असन्तुष्ट, अशान्तिमय जीवन व्यतीत करते हुए दिखलाया है और अन्त में उसका विवाह सन्तोष से कराकर उसे पुन सुखी एवम् आनन्दमग्न चित्रित किया है। इस रूपक प्रणाली द्वारा उन्होने यह संकेत किया है कि मानव जब तक विलास-मग्न रहता है, तबतक उसकी कामना सदैव अतृप्त, असन्तुष्ट एवम् अशान्त बनी रहती है, परन्तु जैसे ही उसकी 'कामना' सन्तोष को अपनाकर विलास का परित्याग कर देती है, वैसे ही उसे पुन शान्ति, सुख, आनन्द आदि की प्राप्ति हो जाती है। प्रसादजी की यही रूपक-कल्पना आगे चलकर 'कामायनी' में पूर्ण विकास को प्राप्त हुई है।

उपरिलिखित तीन प्रमुख ग्रन्थो के अतिरिक्त प्रसादजी के अन्य ग्रन्थ भी

अपने नवीन विचारो, नवीन सिद्धान्तो एव नवीन प्रेरणाओ को लेकर अवतीर्ण हुए है। यहाँ पर प्रसादजी की मनोवृत्तियो एव प्रवृत्तियो के वे बीज विद्यमान हैं, जो 'आँसू', 'कामना', 'चन्द्रगुप्त' आदि मे अकुरित होते हुए 'कामायनी' में जाकर पल्लवित एव पूर्ण विकसित हुए हैं।

वैदिककालीन शुन शेप के आख्यान को लेकर 'करुणालय' की सृष्टि हुई है, जिसमें यज्ञ के अन्तर्गत की जाने वाली बलि, हिंसा आदि को क्रूर एव आसुरी क्रिया बतलाया है। 'कामायनी' में भी आगे चलकर मनु द्वारा की गई पशु-बलि को निन्दनीय ठहराया है और हिंसा-कर्म से विरत होने की सलाह दी है। दूसरे, 'करुणालय' में नर-बलि से शुन शेप को मुक्त कराकर जिस मानवता-प्रेम, अहिंसा, विश्वबन्धुत्व आदि की ओर सकेत किया गया है, उसी का चरम विकास आगे चलकर 'कामायनी' में हुआ है। तीसरे, राजा हरिश्चन्द्र को देवशक्ति में विश्वास करने वाले तथा विश्वामित्र को विश्वात्मा की सर्वत्र सत्ता स्वीकार करते हुए उसे समस्त प्राणियो का मगलकारक मानने वाले बतलाकर नियतिवाद मे विश्वास प्रकट किया है, जिसका चरम विकास 'कामायनी' में हुआ है। चौथे, पति-परित्यक्ता सुव्रता को अपने पति विश्वामित्र एव पुत्र शुन शेप से मिलाकर उसकी सुशीलता, पुत्र-वत्सलता, पति-परायणता आदि का जैसा उल्लेख 'करुणालय' में है, वैसा ही आगे चलकर श्रद्धा, मनु एव मानव आदि के मिलन पर हुआ है। पाँचवे, यज्ञ के भौतिक-विधान का निराकरण करते हुए समवेत स्वर में स्तवन करने एव अन्त.साधना की जिस पद्धति का उल्लेख 'करुणालय' मे हुआ है, वही पद्धति अधिक विकसित रूप मे 'कामायनी' के अन्तर्गत विद्यमान है। छठे, राजा हरिश्चन्द्र की राज्य तक उत्सर्ग करने की भावना, सुव्रता की सुशीलता, वशिष्ठ मुनि की वध मे पराङ्मुखता, विश्वामित्र की सहृदयता आदि का उल्लेख करते हुए उत्सर्ग, दया, क्षमा, परोपकार, सेवा-वृत्ति, त्याग, ममता आदि का जो उल्लेख 'करुणालय' में मिलता है, उसी का चरम विकास 'कामायनी' में हुआ है। 'मानव, 'करुणालय' मे 'चलो सदा चलना ही तुमको श्रेय है' या 'बढो, बढो, हाँ रुको नहीं इस भूमि में' अथवा 'चलो पवन की तरह रुकावट है कहाँ'[1] आदि कहकर जिस कर्मशील जीवन की ओर सकेत किया गया है वैसा ही 'कामायनी' श्रद्धा के सन्देश मे विद्यमान है, किन्तु वहाँ अधिक विकसित रूप से ये भाव व्यक्त हुए हैं। अत 'करुणालय' प्रसादजी की उन अधिकाश प्रवृत्तियों का मूल आधार है, जिन पर प्रसाद-साहित्य का शिलान्यास हुआ है और आगे चलकर जिसके ऊपर 'कामायनी' के काव्य-भवन का निर्माण हुआ है।

१—करुणालय पृ० ८

स्मारक सग्रह' में प्रकाशित 'प्राचीन आर्यावर्त्त और उसका प्रथम सम्राट्' मे दे चुके थे। परन्तु इन्द्र की कथा का अन्वेषण करते-करते उन्हे मानव-सृष्टि के आदि प्रवर्त्तक वैवस्वत मनु एवम् श्रद्धा की कथा के सकेत मिले और पहले वे इसी कथा के आधार पर 'कामायनी' लिखने लगे। इसकी समाप्ति पर उनका विचार 'इन्द्र' पर नाटक लिखने का था[1]। परन्तु असमय मे ही निधन हो जाने के कारण उनका वह मन्तव्य पूरा न हो सका। फिर भी उनके अतरग मित्र श्री विनोदशकर व्यास के कथनानुसार 'कामायनी' लिखकर उन्हे पूर्ण सतोप हुआ था और जिस समय 'कामायनी' समाप्त हुई, उनके चेहरे पर एक अपूर्व शान्ति विराज रही थी[2]। इससे यही सिद्ध होता है कि प्रसादजी अपनी प्रवृत्तियो को अकित करते हुए जैसा महाकाव्य लिखना चाहते थे, वह 'कामायनी' ही है। अत. प्रसादजी की समस्त प्रवृत्तियो के सामूहिक चित्रण के रूप मे 'कामायनी' की अवतारणा हुई है।

'कामायनी' की अवतारणा का दूसरा कारण यह भी प्रतीत होता है कि वे इतिहास के बडे प्रेमी थे और साहित्य के माध्यम से भारत के विगत इतिहास को जनता के सम्मुख प्रस्तुत करना चाहते थे। इसी कारण उन्होने वैदिकयुग से लेकर आधुनिक युग तक के इतिहास का अनुशीलन किया और उसमे से अपनी धारणाओ के अनुकूल सामग्री चुनकर कभी गीति-नाट्य, तो कभी कहानी, कभी नाटक, तो कभी निवध आदि के रूप मे उस सामग्री को जनता के सामने उपस्थित किया। जैसे, मुस्लिम युग की घटनाओ को 'महाराणा का महत्व', 'वीर वालक', 'शेरसिंह का आत्म-समर्पण','पेशोला की प्रतिध्वनि','प्रलय की छाया' आदि कविताओ तथा 'चित्तौर-उद्धार', 'गुलाम', 'जहानारा' आदि कहानियो के माध्यम से प्रस्तुत किया है। मध्ययुगीन हिन्दू राजाओ की घटनाओ को 'विशाख', राज्यश्री', 'प्रायश्चित' आदि नाटको द्वारा जनता के सम्मुख रखा है। बौद्धकालीन घटनाओ को 'अशोक', 'सिकन्दर की शपथ' आदि कहानियो तथा 'चन्द्रगुप्त मौर्य्य', 'अजातशत्रु', 'स्कदगुप्त', 'ध्रुवस्वामिनी' आदि नाटको के माध्यम से उपस्थित किया है। रामायण-महाभारतकालीन घटनाओ को अयोध्या का उद्धार', 'वन-मिलन', चित्रकूट', 'भरत, 'कुरुक्षेत्र' आदि कविताओ तथा 'सज्जन', 'जनमेजय का नागयज्ञ' आदि नाटको मे अकित किया है और वैदिक-कालीन घटनाओ को 'उर्वशी' नामक चम्पू मे, 'ब्रह्मर्षि' तथा 'पचायत' नामक कथाओ मे, 'करुणालय' नामक गीत-नाट्य मे तथा 'आर्यावर्त्त का प्रथम सम्राट्', 'दाशराज्ञ युद्ध' आदि गवेपणात्मक निवधो मे प्रस्तुत किया है। इसी कारण इससे और आगे वढकर

१—प्रसाद और उनका साहित्य, पृ० १७७।

२—वही, पृ० ३७।

वहीं साहित्य अधिक आकर्षित करता है, जिसमें अतीत और करुणा का अंश विद्यमान रहता है।[1]

(१०) वे मानव की अन्तःप्रकृति के कवि हैं। इसी कारण उनके साहित्य में मानसिक संघर्ष, अन्तर्द्वन्द्व, अन्तर्मन्थन, आदि की प्रधानता है।

(११) वे आदर्शवादी भी है। अतः जहाँ वे रूढि एवम् परम्परा का विच्छेद करने की सलाह देते हैं, वहाँ वे भारतीय जीवन के मौलिक सिद्धान्तों की अवहेलना नही करते, अपितु उनका पालन करते हुए नवीन भावो एवम् विचारो को ग्रहण करने की सलाह देते हैं। अतः उनका यह आदर्शवाद यथार्थोन्मुख है।

(१२) वे दार्शनिक है और दर्शन का व्यावहारिक पक्ष ही उन्हें अधिक प्रिय है। वे ऐसे किसी दर्शन को मानने के लिए तैयार नही जो ससार की असत्यता का प्रतिपादन करता हुआ मानव को वैराग्य, अकर्मण्यता, कर्तव्य-पराङ्मुखता आदि की शिक्षा देता है। इसी करण वे मुख्यत शैव दर्शन की ओर उन्मुख हुए है, जहाँ अपने विचारो के अनुकूल उन्हे अधिक सामग्री मिली है।

(१३) वे स्वच्छन्दतावादी है। इसी कारण युग की समस्त प्रगतिशील शक्तियो एवम् भावनाओ का अध्ययन करते हुए मानव को रूढिगत विचारो एवम् परम्परा का विच्छेद करने की सलाह देते है।

(१४) वे नव-अभिव्यजनावादी है अर्थात् अभिव्यजना की अनूठी पद्धतियो के आविष्कार से उन्हे अधिक मोह है तथा वे नई-नई उक्तियो के प्रेमी है। इसी कारण वे परम्परा के विरुद्ध अभिव्यजना की नवीन प्रणाली के प्रवर्तक हैं, जिसमें प्रतीकात्मकता, लाक्षणिकता, व्यग्य आदि की प्रधानता है।

साराश यह है कि प्रसादजी की ये ही वे प्रवृत्तियाँ हैं, जिनके आधार पर उनके साहित्य की सृष्टि हुई है, इनमे ही उनका जीवन-दर्शन भी अन्तर्निहित है और इनके आधार पर ही वे एक युग-स्रष्टा, स्मृतिकार, समाज के पथ-प्रदर्शक एव क्रान्तदर्शी कवि प्रतीत होते हैं।

कामायनी की अवतारणा—प्रसादजी की जिन प्रवृत्तियो की ओर अभी सकेत किया गया है, वे उन सभी प्रवृत्तियो को सभवत किसी एक महानाटक अथवा महाकाव्य में अंकित करना चाहते थे। उनका पहले यह विचार था कि इन्द्र की कथा के आधार पर कोई वृहत् रचना प्रस्तुत की जाय और इसीलिए वे वैदिक एवम् पौराणिक ग्रंथों का अध्ययन करके 'इन्द्र' सम्बन्धी सामग्री सकलित कर रहे थे। उनके पास बहुत कुछ सामग्री सकलित भी हो चुकी थी, जिसका आभास वे 'कोशोत्सव-

१—प्रतिध्वनि, पृ० ३६।

स्मारक सग्रह' मे प्रकाशित 'प्राचीन आर्यावर्त्त और उसका प्रथम सम्राट्' मे दे चुके थे। परन्तु इन्द्र की कथा का अन्वेषण करते-करते उन्हे मानव-सृष्टि के आदि प्रवर्त्तक वैवस्वत मनु एवम् श्रद्धा की कथा के सकेत मिले और पहले वे इसी कथा के आधार पर 'कामायनी' लिखने लगे। इसकी समाप्ति पर उनका विचार 'इन्द्र' पर नाटक लिखने का था[1]। परन्तु असमय मे ही निधन हो जाने के कारण उनका वह मन्तव्य पूरा न हो सका। फिर भी उनके अतरग मित्र श्री विनोदशकर व्यास के कथनानुसार 'कामायनी' लिखकर उन्हे पूर्ण सतोप हुआ था और जिस समय 'कामायनी' समाप्त हुई, उनके चेहरे पर एक अपूर्व शान्ति विराज रही थी[2]। इससे यही सिद्ध होता है कि प्रसादजी अपनी प्रवृत्तियो को अकित करते हुए जैसा महाकाव्य लिखना चाहते थे, वह 'कामायनी' ही है। अतः प्रसादजी की समस्त प्रवृत्तियो के सामूहिक चित्रण के रूप मे 'कामायनी' की अवतारणा हुई है।

'कामायनी' की अवतारणा का दूसरा कारण यह भी प्रतीत होता है कि वे इतिहास के बडे प्रेमी थे और साहित्य के माध्यम से भारत के विगत इतिहास को जनता के सम्मुख प्रस्तुत करना चाहते थे। इसी कारण उन्होने वैदिकयुग से लेकर आधुनिक युग तक के इतिहास का अनुशीलन किया और उसमे से अपनी धारणाओ के अनुकूल सामग्री चुनकर कभी गीति-नाट्य, तो कभी कहानी, कभी नाटक, तो कभी निवध आदि के रूप मे उस सामग्री को जनता के सामने उपस्थित किया। जैसे, मुस्लिम युग की घटनाओ को 'महाराणा का महत्व', 'वीर बालक', 'शेरसिह का आत्म-समर्पण','पेशोला की प्रतिध्वनि','प्रलय की छाया' आदि कविताओ तथा 'चित्तौर-उद्धार', 'गुलाम', 'जहानारा' आदि कहानियो के माध्यम से प्रस्तुत किया है। मध्ययुगीन हिन्दू राजाओ की घटनाओ को 'विशाख', 'राज्यश्री', 'प्रायश्चित' आदि नाटको द्वारा जनता के सम्मुख रखा है। बौद्धकालीन घटनाओ को 'अशोक', 'सिकन्दर की शपथ' आदि कहानियो तथा 'चन्द्रगुप्त मौर्य्य', 'अजातशत्रु', 'स्कदगुप्त', 'ध्रुवस्वामिनी' आदि नाटको के माध्यम से उपस्थित किया है। रामायण-महाभारतकालीन घटनाओ को अयोध्या का उद्धार', 'वन-मिलन', चित्रकूट', 'भरत, 'कुरुक्षेत्र' आदि कविताओ तथा 'सज्जन', 'जनमेजय का नागयज्ञ' आदि नाटको मे अकित किया है और वैदिक-कालीन घटनाओ को 'उर्वशी' नामक चम्पू मे, 'ब्रह्मर्षि' तथा 'पचायत' नामक कथाओ मे, 'करुणालय' नामक गीत-नाट्य मे तथा 'आर्यावर्त्त का प्रथम सम्राट्', 'दाशराज्ञ युद्ध' आदि गवेषणात्मक निवधो मे प्रस्तुत किया है। इसी कारण इससे और आगे वढकर

१—प्रसाद और उनका साहित्य, पृ० १७७।

२—वही, पृ० ३७।

मानवता के विकास की घटना को वे 'कामायनी' मे अंकित कर गये हैं। इतना ही नही 'कामायनी' के प्रारम्भिक सर्ग 'चिन्ता' मे प्रसादजी ने यह भी संकेत कर दिया है कि इस मानव सृष्टि से पूर्व जो देवसृष्टि थी, उसका इतिहास भी भारतीय जीवन से सम्बद्ध है और वे उस इतिहास की घटनाओ को ही संभवत 'इन्द्र नाटक' में दिखाना चाहते थे। अतः ऐतिहासिक परम्परा का पूर्ण चित्र अंकित करने की अभिलाषा से ही वे 'कामायनी' की ओर उन्मुख हुए और इसीलिए उन्होने मानव-इतिहास के प्रारम्भिक पृष्ठों के रूप में 'कामायनी' की अवतारणा की।

इसके अतिरिक्त कामायनी की अवतारणा के बारे में भिन्न-भिन्न विद्वानों की भिन्न-भिन्न राय हैं। जैसे श्री नन्ददुलारे वाजपेयी का मत है कि मनु या मनस्तत्व का विवेचन करने के लिए 'कामायनी' का निर्माण हुआ है।[१] श्री रामनाथ 'सुमन' का विचार है कि मानव-सभ्यता का विकास दिखलाने के लिए 'कामायनी' की रचना हुई है।[२] पं० रामचन्द्र शुक्ल का मत है कि 'आनन्दवाद' की प्रतिष्ठा के लिए 'कामायनी' रची गई है[३], और श्री इलाचन्द्र जोशी का मत है कि 'कामायनी' की रचना मुक्तात्मा की उस चिरन्तन पुकार को लेकर हुई है जो आदिकाल से चिर अमर आनन्द-भास के अन्वेषण की आकाक्षा से व्याकुल है।[४] किन्तु सामूहिक रूप से सभी आलोचको का विचार यह है कि मानव-मन एव मानवता के क्रमिक विकास को प्रस्तुत करने के लिए 'कामायनी' की अवतारणा हुई है।

निष्कर्ष यह है कि प्रसादजी के हृदय को एक तो वे प्रवृत्तियाँ प्रेरित कर रही थी, जिनका कि उल्लेख इससे पूर्व किया जा चुका है। दूसरे, इतिहास-प्रेम एव मानवता का इतिहास भी उन्हे महाकाव्य लिखने के लिए प्रोत्साहित कर रहा था, तीसरे, वे आज के भ्रमित मानव को आधुनिक जीवन की विषमताओं एव उसकी भयकर स्थितियो का दिग्दर्शन भी कराना चाहते थे, जिससे कि उसे मार्गदर्शन की अनुभूति प्राप्त हो और वह आडम्बर-प्रियता को छोडकर शुद्ध सात्विकता को अपनाने की चेष्टा करे। चौथे, सम्भवत वे यह भी जानते थे कि जिस छायावादी प्रवृत्ति का पर्याप्त उत्कर्ष हो चुका है और कितनी ही मुक्तक कविताएँ भी लिखी जाचुकी हैं, परन्तु उस प्रवृत्ति को लेकर अभीतक कोई महाकाव्य नही लिखा गया है। अत इन सभी भावनाओ, धारणाओ एव प्रवृत्तियो से प्रेरित होकर प्रसादजी ने 'कामायनी' की अवतारणा की।

१—जयशंकर प्रसाद, पृ० ८४।
२—कवि प्रसाद की काव्य साधना, पृ० ४०।
३—हिन्दी साहित्य का इतिहास, पृ० ६६०।
४—साहित्य-सर्जना, पृ० ११७।

प्रकरण २

कामायनी की वस्तु

सक्षिप्त कथा—कामायनी की आधारभूत कथा तो अत्यन्त लघु है, परन्तु प्रसादजी ने अपनी उर्वर कल्पना द्वारा उसे विस्तृत रूप प्रदान किया है। उसकी सक्षिप्त रूप-रेखा इस प्रकार है। एक भयकर जलप्लावन के कारण सम्पूर्ण देव-सृष्टि नष्ट होजाती है और उसमे से केवल मनु शेष रहते हैं। उनकी नौका एक महामत्स्य का चपेटा खाकर उत्तर में हिमगिरि पर आ पहुँचती है। मनु इसी स्थान पर उतर पडते हैं। जलप्लावन के उतर जाने पर पहले वे शालियाँ बीन कर पाकयज्ञ करते हैं। तदुपरान्त उनकी भेट एक परम सुन्दरी युवती से होती है, जिसका नाम श्रद्धा है। वह निराश, व्यथित एवम् किंकर्त्तव्यविमूढ मनु को आशा, दृढता एवम् कर्मण्यता का सन्देश देती है तथा मनु के लिए अपना जीवन समर्पित करती हुई पशुपालन, कृषि आदि कार्यों द्वारा मानव-सभ्यता के प्रारम्भिक उपकरणो का सग्रह करती है। इसी समय प्रलय के कारण भटकते हुए आकुलि-किलात नामक दो असुर-पुरोहित मनु के समीप आते है और मनु से पशु-बलि द्वारा मित्रावरुण यज्ञ कराते हैं। इस हिंसा-कार्य से श्रद्धा रूठ जाती है और वह मनु को इस कार्य से पराङ्मुख करने का भरसक प्रयत्न करती है। परन्तु मनु आखेट आदि मे लीन रहकर इस कार्य को नही छोडते। इसी बीच मे श्रद्धा गर्भवती होजाती है और वह अपनी भावी सन्तान के लिए ऊनी वस्त्र, सुन्दर कुटीर आदि का निर्माण करती है। मनु श्रद्धा के इन सभी कार्यों को अपने प्रणय-सुख मे बाधक समझते हैं। अत उनके हृदय में गर्भस्थ शिशु के प्रति ईर्ष्या होती है और वे आसन्नगर्भा श्रद्धा को छोडकर चल देते हैं। यहाँ से चलकर मनु उजडे हुए सारस्वत नगर मे पहुँचते हैं। इस नगर की रानी इडा से उनकी भेंट होती है और वह मनु को अपने नगर का शासक नियुक्त करके उन्हे नगर की उन्नति करने की प्रेरणा देती है। मनु अपने प्रयत्नो द्वारा नगर की पर्याप्त श्रीवृद्धि करते हैं। परन्तु अपनी वासना की तृप्ति के लिए वे नगर की रानी इडा के साथ अनैतिक व्यवहार करने के लिए उद्यत होजाते है। इसके परिणामस्वरूप समस्त नगर

में जन-क्रान्ति मच जाती है। देवता भी रुष्ट होजाते हैं और मनु तथा उनकी प्रजा में घमासान युद्ध होता है। प्रजा का नेतृत्व करने वाले आकुलि-किलात है। मनु सबसे पहले इन दोनो असुर पुरोहितो को मार गिराते हैं, परन्तु अन्त में प्रजा से पराजित होकर वे मुमूर्षु दशा में पृथ्वी पर गिर पडते हैं।

✓ इधर पुत्रवती श्रद्धा विरहिणी के रूप में अपना जीवन व्यतीत करती है। परन्तु एक रात को उसे मनु से सम्बन्धित उक्त दुर्घटना स्वप्न में दिखाई देती है और वह अपने कुमार को साथ लेकर खोजती-खोजती उसी स्थान पर आ पहुँचती है, जहाँ मनु मूर्छित पडे हैं। सेवा-सुश्रूषा से मनु ठीक होजाते है, परन्तु ग्लानिवश फिर वे एक रात को श्रद्धा के समीप से भाग जाते हैं। प्रात होते ही श्रद्धा अपने पुत्र को इडा की शासन-व्यवस्था सँभालने के लिए वही सारस्वत नगर में छोड जाती है और मनु को खोजने चल देती है। मनु निकट ही सरस्वती नदी के किनारे तपश्चर्या करते हुए मिल जाते हैं। श्रद्धा के आते ही मनु को नटराज शिव के दर्शन होते हैं और वे उनके चरणो तक ले चलने के लिए श्रद्धा से आग्रह करते हैं। श्रद्धा उनका पथ-प्रदर्शन करती हुई मार्ग में त्रिपुर या त्रिकोण का रहस्य समझाती है। इस त्रिपुर में इच्छा, ज्ञान और क्रिया नामक तीन शक्तियो से सम्बन्धित भावलोक, ज्ञानलोक और क्रियालोक हैं, जो पृथक्-पृथक् रहने के कारण अपूर्ण है। तदनन्तर श्रद्धा अपनी स्मिति से इन तीनो लोको का समन्वय कर देती है, जिससे समस्त विश्व मे मनु को दिव्य अनाहत नाद सुनाई पडता है, उनके स्वप्न, स्वाप, जागरण आदि नष्ट होजाते हैं और वे श्रद्धा-सहित तन्मय होकर अखण्ड आनन्द को प्राप्त होते हैं। जिस स्थान पर मनु को यह आनन्द प्राप्त होना है, उसे कैलाश गिरि कहा गया है। कुछ कालो के उपरान्त इडा तथा मानव भी अपनी समस्त प्रजा को लेकर कैलाश की यात्रा करने आते हैं। यहाँ आकर श्रद्धा तथा मनु से उनकी भेंट होती है और सभी एक सयुक्त परिवार के सदस्य वन जाते है। सभी के हृदयो से भेद-भाव की भावना तिरोहित होजाती है तथा सभी समरसता को प्राप्त करके अखट आनन्द में मग्न होजाते हैं।

कामायनी की इस कथा का विश्लेषण करने पर इसके चार भाग प्रतीत होते हैं—(१) जलप्लावन तथा मनु, (२) मनु-श्रद्धा का मिलन और उनका गृहस्थ जीवन, (३) मनु-इडा-मिलन तथा सारस्वत नगर की दुर्घटना और (४) मनु की कैलाश यात्रा तथा तत्वदर्शन। अब इन चारो भागो के आधार पर ही कथा के मूल स्रोतो की खोज करने का प्रयत्न किया जायगा और यह देखने की चेष्टा की जायगी कि कथा में कितना अश ऐतिहासिक एवम् कितना अश कल्पित है।

वस्तु का स्रोत और उसका विकास

(१) **जलप्लावन तथा मनु**—विश्व के इतिहास मे जलप्लावन एक अत्यन्त प्राचीन घटना है। शतपथब्राह्मण में इसे 'ओघ' कहा गया है।[1] परन्तु पुराणो मे इसका वर्णन प्रलय के रूप मे मिलता है। ब्रह्म तथा विष्णुपुराण मे तीन प्रकार की प्रलयो का उल्लेख मिलता है—नैमित्तिक, प्राकृतिक तथा आत्यतिक। एक कल्प के अन्त में होने वाली प्रलय को नैमित्तिक, दो परार्द्ध में होने वाली प्रलय को प्राकृतिक तथा सम्पूर्ण सृष्टि का नाश करने वाली प्रलय को आत्यतिक प्रलय कहा है।[2] इन तीनो के अतिरिक्त अग्नि तथा श्रीमद्भागवत पुराण मे नित्य-प्रति प्राणियो का विनाश करने वाली एक चौथी नित्य प्रलय का उल्लेख और मिलता है।[3] परन्तु कामायनी में जिस प्रलय का वर्णन आया है, उसे अग्निपुराण तथा श्रीमद्‌भागवत पुराण में ब्राह्म नामक नैमित्तिक प्रलय कहा गया हैं।[4] यह प्रलय एक भयकर जलप्लावन द्वारा हुई थी। इस जलप्लावन का उल्लेख ऋग्वेद में नही मिलता। वहाँ पर नासदीय सूक्त में केवल इतना ही कहा गया है कि सृष्टि के विकास से पूर्व यहाँ चारो ओर अन्धकार छाया हुआ था और सर्वत्र जल ही जल व्याप्त था।[5] यजुर्वेद तथा सामवेद में भी इस जलप्लावन की चर्चा नही है। परन्तु अथर्ववेद मे अवश्य इसका सकेत मिलता है। वहाँ 'कुष्ठ' नामक औषधि का वर्णन करते हुए उसे हिमालय की उस चोटी पर उत्पन्न होते हुए बतलाया है, जहाँ पर शून्य मे भटकती हुई एक स्वर्णिम नाव पहले उतरी थी।[6] अतः सर्वप्रथम यही पर प्रलय तथा उसमें बचने वाली मनु की नाव के हिमालय पर पहुँचने का क्षीण सकेत मिलता है।

इसके अनन्तर जलप्लावन होने तथा मनु के नौका द्वारा हिमालय पर पहुँचने की विस्तृत कथा शतपथब्राह्मण में मिलती है। इस कथा मे यह बतलाया गया है कि एक बार प्रभात के समय हाथ धोने के लिए जल लेते समय मनु के हाथ मे एक छोटी सी मछली आगई और उसने मनु से अपनी रक्षा की प्रार्थना की। साथ ही उस मछली ने मनु को प्रलय होने की भी सूचना दी और कहा कि तुम एक नौका बनाकर उसमें चढ जाना, मैं बडी होकर उस प्रलय से तुम्हे बचा लूँगी। मनु ने उस

१—शतपथब्राह्मण १।८।१।२

२—ब्रह्मपुराण २३१।१, विष्णुपुराण ६।३।१–२

३—अग्निपुराण ३६८।१–२ तथा श्रीमद्‌भागवतपुराण १२।४।३५

४—अग्निपुराण २।८।२ तथा श्रीमद्‌भागवतपुराण ८।२४।७

५—ऋग्वेद १०।१२६।३ ६—अथर्ववेद १६।३६।७–८

मछली की रक्षा की और वह बहुत बड़ा मत्स्य होगई। कालान्तर में उस मत्स्य के बतलाये हुए समय पर ही जलप्लावन हुआ, जिसमें सारी प्रजा डूब गई। परन्तु अकेले मनु मत्स्य के सींग में अपनी नौका बाँधकर उत्तरगिरि की चोटी पर पहुँच गये और उस प्रलय से बच गये। उत्तरगिरि की वह चोटी 'मनोरवसर्पण' कहलाती है।[1]

इस कथा का क्षीण आभास जैमिनीय ब्राह्मण मे भी मिलता है। परन्तु वहाँ पर जलप्लावन से मनु को मत्स्य नही बचाता, अपितु सामवेद की ऋचायें स्वयं स्वर्णिम नौका बनकर मनु की रक्षा करती है।[2] काल क्रम से यह कथा पुनः महाभारत में बड़े विस्तार के साथ मिलती है। परन्तु यहाँ पर शतपथब्राह्मण की कथा में पर्याप्त परिवर्तन होगया है। प्रथम तो यहाँ वदरिकाश्रम मे तप करते हुए, उसके समीप चीरिणी नदी के किनारे मनु की मत्स्य से भेंट हुई है। दूसरे, मनु को विवस्वान् का पुत्र तथा एक प्रतापी महर्षि बतलाया गया है। तीसरे, मत्स्य ने यहाँ यह कहा है कि अब पदार्थों के विनाश का समय आगया है और उसके लिए ही जलप्लावन होगा। चौथे, मत्स्य ने स्वयं को प्रजापति ब्रह्मा बतलाया है और कहा है कि मेरी ही कृपा से तुम आगामी सृष्टि-रचना में सफल होगे। पांचवे, यहाँ केवल मनु ही जलप्लावन से शेष नही रहते, अपितु समस्त पदार्थों के बीज और सप्तर्षि भी मनु के साथ उस नौका में बचे रहते हैं। छठे, जिस स्थान पर मनु उतरे थे, उसका नाम महाभारत मे 'नौबन्धन' दिया गया है। सातवें, महाभारत में सर्वप्रथम जलप्लावन की भयंकरता का अत्यन्त काव्यात्मक वर्णन मिलता है।[3] इस तरह शतपथब्राह्मण की साधारण कथा महाभारत में आकर असाधारण काव्यरूप धारण कर लेती है और उस पर धार्मिकता का गहरा प्रभाव दिखाई देता है।

महाभारत के अनन्तर मनु एवम् जलप्लावन की यह कथा मत्स्यपुराण में और भी विस्तार के साथ मिलती है। यहाँ आकर इस कथा में और भी परिवर्तन होगया है। पहले तो मनु को दक्षिण देश का राजा कहकर मलय पर्वत पर तपस्या करते हुए बतलाया गया है और उसी पर्वत के समीप तर्पण करते हुए मत्स्य से भेंट करायी है। दूसरे, मत्स्य को यहाँ बीस अयुत योजन लम्बे आकार का लिखा है। तीसरे, मत्स्य को प्रजापति ब्रह्मा न कहकर विष्णु भगवान् का अवतार बतलाया है। चौथे, यहाँ पर मत्स्य ने मनु को यह संदेश दिया है कि इस प्रलय के अनन्तर जब नवीन सृष्टि का विकास होगा तब सतयुग के प्रारंभ में तुम्ही इस चराचर जगत के प्रजापति होगे और मन्वन्तर के अधिपति होकर समस्त देवताओं के भी पूज्य होगे।

१—शतपथब्राह्मण १।८।१–६ २—जैमिनीयब्राह्मण ३।९९

३—महाभारत, वनपर्व १८७।२–५५

पाँचवें, यहाँ पर मनु के साथ तीन वेद—ऋक्, यजु, साम, समस्त विद्याओ के साथ सभी पुराण, चन्द्रमा, सूर्य, नर्मदा नदी, महर्षि मार्कडेय तथा शकर के अवशिष्ट रहने का उल्लेख मिलता है। छठे, मनु नौका का स्वय निर्माण नही करते, अपितु देवताओ द्वारा बनी हुई नाव प्रलय के समय उपस्थित होती है। सातवें, यहाँ यह वर्णन नही मिलता कि मनु किस स्थान पर सबसे पहले नौका से उतरे थे।[1] मत्स्यपुराण की इस कथा पर धार्मिक प्रभाव की प्रधानता है, इसी कारण यह विस्तृत होगई है और इसीलिए इसमे असाधारण बातो का उल्लेख अधिक मिलता है।

इसके अनन्तर श्रीमद्भागवतपुराण में यह कथा आई है। यहाँ पर मत्स्य-पुराण से अधिक अन्तर तो नही मिलता, फिर भी कुछ बातें पृथक् ढग से बतलाई गई हैं। जैसे, यहाँ पर मनु का नाम राजा सत्यव्रत लिखा है, उन्हे द्रविडदेश का राजा बतलाया है, वे मलयपर्वत के समीप कृतमाला नदी मे तर्पण करते हुए मत्स्य से भेंट करते हैं, मत्स्य ने ठीक सातवें दिन प्रलय का होना बतलाया है, यहाँ सभी प्राणियो के एक-एक जोडे, सब तरह के बीज तथा सभी प्रकार की औषधियो का मनु के साथ शेष रहना लिखा है, मत्स्यपुराण की भाँति यहाँ सूर्य-चन्द्र के शेष रहने का नही, अपितु नष्ट होने का वर्णन मिलता है और इनके अभाव में सप्तर्षियो के प्रकाश में ही मनु का नौका द्वारा बचना बतलाया गया है। यहाँ पर मत्स्य का आकार एक लाख योजन लम्बा कहा है तथा उसे स्वर्णिम रग का भी बतलाया है। शेष समस्त कथा मत्स्यपुराण के ही समान है और यहाँ पर भी मत्स्य को विष्णु भगवान् का अवतार कहकर देवताओ द्वारा मनु के समीप स्वय नौका का आना लिखा है।[2]

श्रीमद्भागवतपुराण के अतिरिक्त यह कथा अग्निपुराण के द्वितीय अध्याय मे मिलती है। यहाँ पर सक्षेप मे भागवतपुराण के समान ही सारी कथा आई है।[3]

अग्निपुराण के अतिरिक्त भविष्यपुराण मे भी मनु-मत्स्य कथा मिलती है, किन्तु मनु का नाम यहाँ न्यूह दिया गया है और उन्हे आदम की सतान बतलाया है। ये न्यूह भारतवर्ष के राजा कहे गये हैं और विष्णु-भक्त बतलाये हैं। एक दिन इन्हे स्वप्न मे विष्णु भगवान् यह आदेश देते है कि आज से सातवें दिन प्रलय होगा। अत तुम एक नाव बनाकर अपने परिवार सहित उस पर चढ जाना। न्यूह ने विष्णु के कथनानुसार एक ५० हाथ चौड़ी तथा ३०० हाथ लम्बी नाव बनाई और समस्त भारत के जल-मग्न हो जाने पर उस प्रलय से उस नौका द्वारा अपनी रक्षा की। न्यूह अपने साथ समस्त जीवो एवम् परिवार के लोगो को भी नौका पर चढा ले गये

१—मत्स्यपुराण १।१०-३४ २—श्रीमद्भागवतपुराण ८।२४।४१-४५
३—अग्निपुराण २।१-१७

को जला डालते हैं और सभी स्थान जल-रहित होजाते हैं। उस समय जली हुई पृथ्वी कछुए की पीठ के समान होजाती है। जब सम्पूर्ण लोक जलने लगते हैं तब रुद्र रूपी जनार्दन अपने मुख से निश्वास छोडते हुए मेघो को उत्पन्न करते हैं। वे सवर्तक आदि मेघ समस्त आकाश में व्याप्त होजाते हैं और महावृष्टि करते हुए समस्त जगत को जलमग्न कर देते हैं।[1]

नैमित्तिक प्रलय का ऐसा ही वर्णन ब्रह्मपुराण[2], मार्कण्डेयपुराण[3], स्कद-पुराण[4], पद्मपुराण[5], वायुपुराण[6] आदि में भी मिलता है और सर्वत्र प्रलयकालीन भीषणता, भयकर जल-वृष्टि, भयानक सहार आदि के दर्शन होते हैं। इन्ही आधारो पर 'कामायनी' के अतर्गत प्रलय के भीषण दृश्य का वर्णन किया गया है।[7]

इस नैमित्तिक प्रलय एवम् जलप्लावन का उल्लेख दक्षिण भारत के प्राचीन ग्रथो में भी मिलता है। तमिल भाषा में लिखी हुई 'तमिलम् तमिलरम्' नामक पुस्तक के अतर्गत प्रलय का वर्णन करते हुए लिखा है कि पहले दक्षिण में लेमूरिया या कुमारिखड नाम का भूखड लका से दक्षिणी ध्रुव तक तथा अफ्रीका से सुमात्रा-जावा द्वीप-समूह तक फैला हुआ था, परन्तु जलप्लावन के कारण वह भूखड समुद्र में डूब गया और उसका अवशिष्ट भाग ही आज लका के रूप में विद्यमान है।[8] इस जलप्लावन के कारण का उल्लेख करते हुए आगे लिखा है कि लका में देवताओ के नष्ट होजाने पर ही यह जलप्लावन हुआ था और इसमें चार लाख गलियाँ, पच्चीस राजमहल तथा रावण के कितने ही दुर्ग डूब गये थे, जो तूतुकुडी से लेकर मन्नार तक बने हुए थे। यह जलप्लावन प्राचीन युग मे हुआ था। इसके अतिरिक्त वहाँ एक दूसरे जलप्लावन का और उल्लेख मिलता है, जो कलनी के राजा दिशाराज के समय में हुआ था। इसमें एक लाख नगर, नौ सै सत्तर मछुओ के गाँव तथा चार सौ मोती निकालने वालो के गाँव नष्ट हो गये थे।[9]

भारतेतर ग्रथो में जलप्लावन सम्बन्धी कथायें—भारतीय ग्रथो के अतिरिक्त विश्व के अन्य साहित्य में भी जलप्लावन की कथायें मिलती हैं। यूनानी साहित्य में

१—विष्णुपुराण ६।३।११–४०

२—कल्याण, सक्षिप्त मार्कण्डेयब्रह्मपुराणाक, पृ० २६२।

३—मार्कण्डेयपुराण ४६।३८–३९

४—स्कदपुराण, वैष्णवखड, पुरुषोत्तम माहात्म्य खड २।३

५—पद्मपुराण, सृष्टि खड ३।१६–२५ तथा ३६।६९–७६

६—वायुपुराण ६।१–३५

७—कामायनी, पृ० १३–१५।

८—तमिलम् तमिलरम्, पृ० १०।

९—वही, पृ० १८–१९।

ड्यूकलियन (Deucalion) तथा उनकी पत्नी पीरिया (Pyrrha) की कथा मे मनु जैसा ही वर्णन मिलता है। वहाँ लिखा है कि लौहयुग मे पाप तथा अत्याचार अधिक बढ गये थे। मानव-समाज अत्यधिक पतित होगया था। उस समय ज्यूज (Zeus) नामक देवता ने जल-वृष्टि करके इस पतित मानव-सृष्टि के विनाश का निश्चय किया। तत्काल घोर वर्षा होने लगी और समस्त सृष्टि जल में निमग्न होगई, परन्तु ड्यूकलियन ने एक पोत का निर्माण किया और उसके द्वारा पत्नी सहित अपनी रक्षा की। जब जल कम हुआ तब उनका पोत थिसली (Thessaly) मे ओथरस पर्वत (Mount Othrys) पर जाकर ठहरा और वहाँ पहुँचकर इन दोनो ने पुनः नवीन सृष्टि का विकास किया[1]। ड्यूकलियन तथा पीरिया की यह कथा स्पष्ट रूप से मनु और श्रद्धा की कथा से मिलती-जुलती है तथा पापियो का विनाश करने के लिए जैसे यूनान मे जलप्लावन हुआ था, वैसा ही वर्णन कामायनी मे भी मिलता है।

यूनान के अतिरिक्त बेबीलोनिया के साहित्य मे भी जलप्लावन सम्बन्धी अनेक कथाये मिलती हैं। अत्रहसिस (Atra-Hasis) महाकाव्य में आई हुई एक कथा के अनुसार पता चलता है कि अर्डेटस (Ardates) की मृत्यु के पश्चात् उसका पुत्र जिसूथस (Xisuthros) राजगद्दी पर बैठा। उसने अठारह सर (१८ × ३६०० वर्ष) तक राज्य किया। उसी के समय मे एक बार भीषण बाढ आई। राजा को उस बाढ का पता स्वप्न में ही चल गया था। अत वह अपनी नौका मे ही बना रहा और जल के कम हो जाने पर उसने तीन बार नौका से पक्षी उडाये। दो बार तो पक्षी लौटकर नौका पर ही आगये, किन्तु तीसरी बार पक्षी लौटकर नही आये तब उसने यह समझ लिया कि अब जलप्लावन उतर चुका है और भूमि भी निकल आई है। अत. वह बाहर निकला और उसने देवो को बलि देकर बेबीलोनिया नगर का पुनः निर्माण किया[2]। यह कथा भी मनु की कथा से मिलती-जुलती है, क्योंकि जिस तरह जिसूथस जलप्लावन से नौका द्वारा अपनी रक्षा करता है तथा वही आगामी सृष्टि का प्रवर्तक बनता हैं, वैसे ही कामायनी मे मनु का भी वर्णन मिलता है।

बेबीलोनिया के साहित्य में गिलगमेश महाकाव्य के अतर्गत एक और जलप्लावन का उल्लेख मिलता है। वहाँ पर लिखा है कि जनता में दुष्कर्म एवम् पापाचार अधिक बढ गये थे। अत परमेश्वर ई (God Ea) ने महान् जल-वृष्टि द्वारा उनके विनाश का निश्चय किया। तुरन्त ही ऐसी घनघोर वर्षा हुई, जिसमें पृथ्वी के सभी भाग जल-मग्न हो गये। केवल तत्कालीन धार्मिक व्यक्ति उत्नपिश्तिम

1—Myth of Ancient Greece and Rome, p 22-23
2—The Flood Legend in Sanskrit Literat... p. 148-149

(Utnapishtam) एक नौका द्वारा उस जलप्लावन से बचे। शेष सभी व्यक्ति नष्ट हो गये। उत्नपिश्तिम ने अपनी नौका में सभी प्रकार के जीवो के जोडे, कोप, सभी प्रकार के कारीगर तथा कलाकारो को अपने साथ ले लिया था। अत में यह पोत एक पर्वत पर जाकर रुका और जलप्लावन के कम हो जाने पर देवो को बलि देकर उत्नपिश्तिम ने पुन बेबीलोनिया की सभ्यता का विकास किया।[1] यह कथा मनु की कथा से पूर्णतया मिलती है, क्योकि यहाँ पर जलप्लावन का कारण तत्कालीन जनता का दुष्कर्मो में लीन रहना बतलाया है और उत्नपिश्तिम की नौका द्वारा रक्षा का उल्लेख करते हुए उसके साथ अन्य जीवो एवम् पदार्थो का भी शेष रहना सिद्ध किया है। इतना ही नही उसी अवशिष्ट व्यक्ति द्वारा पुन नवीन सभ्यता के विकास की सूचना दी है। ये सभी बातें प्रसादजी ने कामायनी की कथा में भी सकलित की हैं।

जलप्लावन की यह कथा बडे विस्तार के साथ ईसाई धर्म-ग्रथ बाइबिल में भी विद्यमान है। वहाँ लिखा है कि आदम की वश परम्परा मे नूह नाम के एक बडे ही धर्मात्मा व्यक्ति हुए। वे बडे ईश्वर-भक्त थे। उनके समय में सारी पृथ्वी अनाचार एवम् दुष्कर्मो से परिपूर्ण होगई। सारी जनता चरित्र-भ्रष्ट होगयी। तब परमेश्वर यहोवा ने इनके विनाश का निश्चय किया तथा नूह से अपनी रक्षा के लिए एक ३०० हाथ लम्बी, ५० हाथ चौडी तथा ३० हाथ ऊँची नौका बनाने के लिए कहा। परमेश्वर के कथनानुसार ठीक सातवें दिन जलप्लावन आरम्भ हो गया और नूह अपने साथ अपना परिवार, प्रत्येक प्राणियो के एक-एक जोडे तथा अन्य आवश्यक सामग्री लेकर नौका पर चढ गये। नूह की यह नौका अराराट पर्वत पर जाकर रुकी और वहाँ आकर नूह ने पहले देवताओ को बलि प्रदान की तथा एक नई सृष्टि का विकास किया।[2] बाइबिल की यह कथा कामायनी की कथा से मिलती है, क्योकि प्रलय के कारण में बाइबिल की भाँति प्रसादजी ने जनता के स्थान पर देवो के अनाचार आदि का उल्लेख किया है। शेष कथा में अन्य कथाओ की ही भाँति मनु की कथा से पूर्णतया साम्य है।

इसके अतिरिक्त चैल्डिया के साहित्य मे भी जलप्लावन सम्बन्धी कथा मिलती है। उस कथा के अनुसार पता चलता है कि जनता के पापाचारो से रुष्ट होकर परमेश्वर ई (God Ea) ने महावृष्टि द्वारा सृष्टि के विनाश का निश्चय किया और तत्कालीन धार्मिक पुरुष हासीसद्रा (Hasisadra) को यह आदेश दिया कि जब

1—Encyclopaedea Britanica, Vol 7, p 176

२—बाइबिल, (हिन्दी) उत्पत्ति खड, अध्याय ६,७,८।

मैं महावृष्टि द्वारा सृष्टि का विनाश करना आरम्भ करूँ, तुम उनसे पूर्व ही एक नौका बनाकर उसमे अपनी पत्नी, मित्र तथा अन्य परिवार के व्यक्तियो को लेकर साथ ही समस्त पदार्थों के बीज अपने पास रखकर चढ जाना। अन्त मे नियत समय पर परमेश्वर ई ने भीषण जलप्लावन से समस्त पापियो को नष्ट कर दिया और धर्मात्मा हामीसद्रा ही अपने परिवार के साथ नौका द्वारा उस जलप्लावन से बचे।[1] यह कथा बाइबिल की कथा से बहुत कुछ मिलती-जुलती है और इससे इस बात की ओर पुष्टि होती है कि प्रलय एकमात्र पापियो के विनाश के लिए ही हुई थी।

जलप्लावन सम्बन्धी यह कथा कुरानशरीफ मे भी आई है। यह कथा बाइबिल से पूर्णतया मिलती है, क्योकि इसमें भी हजरत नूह का नौका द्वारा जलप्लावन से बचने का वर्णन मिलता है। साथ ही ईश्वर मे अविश्वास करने वाले लोगो का विनाश करने के लिए जलप्लावन का होना बतलाया गया है। अन्तर इतना ही है कि बाइबिल में हजरत नूह की नाव अरारात पर्वत पर आकर रुकती है, जबकि कुरान में उस पर्वत का नाम जूदी दिया गया है। इस कथा से भी मनु की भाँति नूह मानव-सृष्टि के आदि प्रवर्त्तक सिद्ध होते है और कामायनी मे जलप्लावन से जो देव-सृष्टि का विनाश दिखाया गया है, उस बात की पुष्टि भी कुरानशरीफ से होजाती है।[2]

उपर्युक्त कथाओ के अतिरिक्त पहलवी ग्रन्थो मे भी ऐसे संकेत मिलते हैं, जिनमे जलप्लावन का होना सिद्ध होता है। वहाँ पर सृष्टि के प्रारम्भ मे आकाश, जल, वायु आदि से दानवो के संघर्ष का पता चलता है, जिससे जल-वृष्टि एवम् बाढ आदि के होने का संकेत मिल जाता है।[3] इसके साथ ही पारसी के धार्मिक ग्रंथ 'वेदीदाद' मे भी यह उल्लेख मिलता है कि देवताओ ने बहुत कुछ सोचकर अपार शीत के साथ हिमपात द्वारा एक भीषण बाढ लाने का निश्चय किया था। परन्तु यीमा को अपनी रक्षा करने की सूचना दे दी थी। अन्त में देवो के निश्चय के अनुसार जलप्लावन हुआ और उसमे यीमा ही शेष रहे।[4] इनके अलावा सुमेरियन ग्रन्थो में भी जलप्लावन का वर्णन आया है। वहाँ लिखा है कि राजा जियूसुद्द् (Zi-u-Suddu) को स्वप्न मे जलप्लावन का संदेश दिया गया। यह जलप्लावन सात दिन तक रहा। एक बडी नौका द्वारा जियूसुद्द् ने अपनी रक्षा की और अन्त मे सृष्टि का विनाश होजाने पर धर्मात्मा राजा जियूसुद्द् ने नवीन सृष्टि का विकास किया।[5]

1—Vedic India by Regozin, p 340
2—The Holy Quran, 11/3/25-49
३—आलोचना, वर्ष १, अंक ४, पूर्णाङ्क ८, जुलाई १९५३, पृ० २१।
४—वही, पृ० २१।
5—*The Flood Legend in Sanskrit Literature*, p. 138-140.

इसी तरह असीरिया के साहित्य मे भी जलप्लावन सम्बन्धी कथा मिलती है, जिससे पता चलता है कि जलप्लावन से बचने के लिए नायक ने एक नौका बनाई थी, जिसकी योजना परमेश्वर ई ने उसके सम्मुख रखी थी और उस नौका पर अपने परिवार, कुशल कारीगरो, जानवरो आदि को चढाकर नायक ने उस भीषण बाढ से अपनी रक्षा की थी।[1]

इनके अतिरिक्त वेल्स, लिथुआनिया और आइसलेंड मे भी जलप्लावन सम्बन्धी कथाये मिलती हैं। परन्तु वहाँ पर यह जलप्लावन जल-वृष्टि द्वारा नही होता, अपितु राक्षस के रक्त की धारा के बहने से होता है।[2] इसके साथ ही चीन, ब्रह्मा, इडोचीन, मलाया, आस्ट्रेलिया, न्यूगिनी, मेलेनेशिया, पालीनेशिया, उत्तरी दक्षिणी अमरीका आदि देशो में भी जलप्लावन सम्बन्धी कथाये मिलती है। परन्तु ससार भर की समस्त जलप्लावन सम्बन्धी कथाओ की तुलना करने पर यही ज्ञात होता है कि दक्षिणी एशिया की समस्त कथाये समान है, क्योकि उनमे सर्वत्र सम्पूर्ण पृथ्वी के डूबने एवम् अधिकाश पदार्थो के नष्ट होने का उल्लेख मिलता है। उत्तरी एशिया की कथाओ में से चीन, जापान की कथाओ मे पूर्ण विनाश का वर्णन नही मिलता। यूरोप मे भी ऐसे विनाश के वर्णन कम मिलते है और अफ्रीका की कथाओ मे तो जलप्लावन के वर्णन नही के बराबर है[3]।

ससार-भर की जलप्लावन सम्बन्धी कथाओ का अनुशीलन करने पर यह निष्कर्ष निकलता है कि अधिकाश कथाओ में सर्वप्रथम जलप्लावन होने का कारण तत्कालीन जनता का दुष्कर्मो, पापाचारो एवम् अनैतिक आचरणो में लीन होकर ईश्वर मे अविश्वास रखना बतलाया गया है। कामायनी के कवि ने भी देवो की विलास-प्रियता एवम् उनके किसी अन्य शक्ति में विश्वास न रखने के कारण ही जलप्लावन का होना सिद्ध किया है। दूसरे, अधिकाश कथाओ मे नायक जलप्लावन से बचने के लिए नौका का प्रयोग करता है और वह नौका किसी पर्वत की चोटी पर आकर रुकती है, जहाँ से कि आगामी नवीन-सृष्टि का विकास होता है। कामायनी की कथा मे भी उक्त सभी बाते स्वीकार की गई हैं और मनु नौका द्वारा हिमगिरि की चोटी पर पहुँच कर वही से नवीन मानव सृष्टि का विकास करते है। तीसरे, अधिकाश कथाओं में लिखा है कि उस जलप्लावन मे नायक के साथ कुछ अन्य प्राणी एवम् पदार्थ भी शेष रहते हैं। कामायनी में प्रसादजी ने भी इस विश्व-विश्रुत

1—The Flood Legend in Sanskrit Literature, p 137–138
2—Encyclopaedia Britannica, Vol 7, p 176
३—वही, पृ० १७७।

बात का अनुसरण करते हुए मनु के साथ जल, अग्नि, धान्य, पशु, श्रद्धा, इडा, आकुलि-किलात, सारस्वत नगर के निवासी आदि का जलप्लावन से शेप रहना सिद्ध किया है। चौथे, सर्वत्र जलप्लावन किसी देवता या परमेश्वर के रुष्ट हो जाने पर हुआ है। कामायनी में भी विराट् शक्ति के रुष्ट हो जाने पर इस जलप्लावन का होना सिद्ध किया है। पाँचवे, अधिकाश कथाओ में यह बतलाया गया है कि नायक की नौका द्वारा रक्षा करने मे स्वय ईश्वर या उसके किसी सहायक का हाथ रहा है। कामायनी के लेखक ने भारतीय कला का अनुसरण करते हुए नौका की रक्षा करने मे मत्स्य की सहायता स्वीकार की है और उसी के एक चपेटे से मनु की नौका को हिमगिरि पर पहुँचाया है।

साधारणतया कामायनी मे वर्णित मनु एवम् जलप्लावन की कथा के मूलाधार तो भारतीय ग्रन्थ ही हैं, परन्तु उस कथा को अधिक न्यायसगत एवम् तर्कसम्मत बनाने के लिए प्रसादजी ने अन्य कथाओ का आधार भी लिया है। कुछ विद्वान् शतपथब्राह्मण मे वर्णित जलप्लावन की कथा को सेमेटिक जाति के बैबिलोनिया वालो से उधार ली हुई बतलाते हैं। इस पर प्रसादजी ने लिखा है कि 'प्रथम तो मैकडानल ही उक्त बात को स्वीकार नही करते। दूसरे, हिमालय की खोज करने वाले डा० ई० ट्रिकलर का विचार है कि बालू में दबे हुए प्राचीन नगरो के चिह्न हिमालय तथा उसके निकटवर्ती प्रान्त मे जलप्रलय या ओघ का होना सिद्ध करते हैं।'[1] अत भारतीय जलप्लावन की कथा कही बाहर मे उधार नही ली गई है, अपितु भारत मे होने वाली घटना का ही सत्य रूप प्रस्तुत करती है।

(२) मनु-श्रद्धा का मिलन और उनका ग्रहस्थ जीवन—जलप्लावन के अनन्तर कामायनी की कथा-वस्तु के दूसरे अग की पूर्ति मनु-श्रद्धा के मिलन और उनके गृहस्थ जीवन की झाँकी मे होती है। कामायनी के चरित्रनायक वैवस्वत मनु हैं।[2] पुराणो में चौदह मन्वन्तरो की कल्पना की गई है और प्रत्येक मन्वन्तर का एक-एक मनु माना गया है, जो उस मन्वन्तर का आदि प्रवर्तक माना जाता है तथा जिसके द्वारा सम्पूर्ण सृष्टि की व्यवस्था होती है। वहाँ पर चौदह मनुओ के नाम क्रमशः स्वायभुव, स्वारोचिप, उत्तम, तामस, रैवत, चाक्षुप, वैवस्वत, सावर्णि, भौत्य, रौच्य, तथा चार मेरुसावर्ण्य दिये गये हैं। इनमें से वैवस्वत मनु आधुनिक सातवें मन्वन्तर के प्रवर्तक माने गये हैं।[3] वैवस्वत मनु के जन्म की कथा ऋग्वेद के दसवे मण्डल मे मिलती

है। वहाँ लिखा है कि त्वष्टा नामक देवता की सरण्यू तथा त्रिशिरा नामक दो पुत्रियाँ थीं, जिनमे से सरण्यू का विवाह विवस्वान् (सूर्य) के साथ हुआ । सरण्यू से विवस्वान् को दो सन्तान प्राप्त हुईं—यम तथा यमी । तदनन्तर सरण्यू अपने समान किसी अन्य देवपुत्री को विवस्वान् के समीप छोड एक घोडी का रूप धारण कर उत्तरकुरु मे चली गई । विवस्वान् उस देवपुत्री को ही सरण्यू समझते रहे और उसी से राजर्षि वैवस्वत् मनु का जन्म हुआ ।[1] मनु के जन्म से सम्बन्धित यही कथा शौनक कृत वृहद्देवता मे भी मिलती है ।[2] परन्तु पुराणों में आकर इस कथा में पर्याप्त परिवर्तन हुआ है । प्रथम तो विवस्वान् की पत्नी का नाम सरण्यू न देकर 'सज्ञा' दिया गया है और विवस्वान् के असहनीय तेज को न सहने के कारण उन्हे छोडकर चले जाने का वर्णन मिलता है । दूसरे, जिस देव-पुत्री को सज्ञा अपने पति विवस्वान् के पास छोड कर जाती है, उसका नाम 'छाया' दिया है और इसी छाया के गर्भ से वैवस्वत मनु का जन्म होना वतलाया है । शेष कथा पुराणो में ऋग्वेद के ही समान है ।[3] इतना अवश्य है कि ब्रह्मपुराण मे सरण्यू के स्थान पर पहले ही छाया नाम मिलता है और उसके वाद उसका नाम 'उषा' दिया है, जिससे यम, यमी और वैवस्वत मनु का उत्पन्न होना वतलाया है।[4] इन कथाओ से इतना ही निष्कर्ष निकलता है कि वैवस्वत मनु सूर्य-वश के हैं, आधुनिक मानव-सृष्टि के प्रवर्तक है और एक ऐतिहासिक पुरुष हैं । प्रसादजी ने मनु के जन्म आदि का उल्लेख नही किया है। केवल उन्हे ऐतिहासिक पुरुष मानकर मानव सृष्टि का आदि-प्रवर्तक सिद्ध किया है ।[5] जिसकी पुष्टि उक्त कथाओ से हो जाती है।

जलप्लावन के अनन्तर मनु एक विस्तृत रमणीय गुहा को ठीक करके उसमें अपने रहने के लिए सुन्दर, स्वच्छ और वरणीय स्थान वनाते हैं।[6] कामायनी के इस कथन की पुष्टि श्री आर० सी० मजूमदार के इस कथन मे होती है कि 'आदि मानव ने अपने जीवन के प्रभात में सर्वप्रथम गुहा को ही अपने रहने का स्थान वनाया था और वही मे उसने जानवरो का आखेट तथा उनका पालन करना आरम्भ किया । कुर्नूल की गुफाओं मे आदि मानव के निवासस्थान सम्बन्धी चिह्न आज भी विद्यमान है ।'[7]

१—ऋग्वेद १०।१७।१-२ २—वृहद्देवता ६।१-६

३—देखिए मत्स्यपुराण अध्ययन ११, वायुपुराण अध्याय ८४, मार्कंडेयपुराण अध्याय ७७ तथा ब्रह्माण्डपुराण अध्याय ६०-६१ ।

४—ब्रह्मपुराण ६।१०-१६ ५—कामायनी, आमुख, पृ० १ ।

६—कामायनी, पृ० ३० । 7—The Vedic Age, p 84

गुहा को ठीक करके मनु अपने समीप सचित अग्नि से अग्निहोत्र करते हैं और शालियो को चुनकर फिर पाकयज्ञ की व्यवस्था करते हैं।[१] 'कामायनी' की इन बातो का उल्लेख सर्वप्रथम ऋग्वेद मे ही मिलता है। वहाँ पर आठवें मण्डल मे वैवस्वत मनु के रचे हुए पांच सूक्त मिलते हैं, जिनमे वे विश्वेदेवा की प्रार्थना करते हुए उनसे यज्ञ-पशु, पृथ्वी, वनस्पति, उषा, रात्रि, औषधि, सन्तान आदि की याचना करते हैं और सदैव ब्रह्मचर्यव्रत का पालन करते हुए अग्निहोत्र आदि मे लीन रहने की कामना प्रकट करते हैं।[२] इसके अतिरिक्त शतपथब्राह्मण मे जलप्लावन के उपरान्त मनु को आगामी सृष्टि की कामना से दधि, घृत आदि के द्वारा पाकयज्ञ करते हुए बतलाया है।[३] इसके साथ ही ऐतरेय[४] तथा तैत्तिरीय[५] ब्राह्मण मे लिखा है कि प्रजापति ने जब सृष्टि के विकास की इच्छा की, तो सबसे पहले उसने तप किया और तप करने के उपरान्त ही सृष्टि का विकास किया। इनके अतिरिक्त बृहदारण्यक उपनिषद् मे यह उल्लेख मिलता है कि सृष्टि-रचना से पूर्व वह अकेला ही था। अतः पहले उसकी यह इच्छा हुई कि सृष्टि उत्पन्न करने के लिए मेरी जाया हो और फिर मै उससे सन्तान रूप मे उत्पन्न होऊँ।[६]

उपर्युक्त प्रमाणो के आधार पर यह सिद्ध होता है कि सृष्टिकर्त्ता ने पहले सृष्टि की कामना से तप या यज्ञ किया और उसके उपरान्त जाया या भार्या की कामना की। प्रसादजी भी 'कामायनी' मे पहले मनु को तपश्चर्या, पाकयज्ञ आदि में लीन दिखाते हैं। इसके अनन्तर प्रकृति के मनोरम वातावरण एवम् मित्रवरुण की बालाओ के अक्षय शृगार को देखकर मनु के हृदय में भी यहाँ अनादि वासना जाग्रत होती है तथा वे भी अपनी जीवन-सगिनी के मिलन की उत्कठा प्रकट करते हैं।[७]

शतपथब्राह्मण मे मनु के पाकयज्ञ से एक योषिता की उत्पत्ति बतलाई है, जिसका नाम इडा दिया है और उसी से मनु को सृष्टि का विकास करते हुए लिखा है।[८] परन्तु 'कामायनी' मे प्रसादजी ने इडा से पूर्व श्रद्धा से मनु की भेंट कराई है। यह श्रद्धा मनु के द्वारा किये गये पाकयज्ञ का अवशिष्ट अन्न रखा हुआ देखकर यह

१—कामायनी, पृ० ३१–३२।

२—ऋग्वेद ८।२७।२–२२ तथा ८।२९।९–१०

३—शतपथब्राह्मण १।८।१।७

४—ऐतरेयब्राह्मण ५।५।३२

५—तैत्तिरीयब्राह्मण २।२।३।१

६—बृहदारण्यक उपनिषद् १।४।१७

७—कामायनी, पृ० ३५–४१।

८—शतपथब्राह्मण १।८।१।७।११

अनुमान करती है कि प्रलय से यहाँ भी कोई प्राणी बचा हुआ है, इसीलिए उसने दयार्द्र होकर अन्य प्राणियो के लिए यह अन्न रखा है। यह सोचकर जैसे ही वह मनु की गुहा के निकट आती है, तुरन्त उसे मनु के दर्शन होते है और वह मनु को कर्म की प्रेरणा देकर आगामी सृष्टि का विकास करने के लिए प्रोत्साहित करती है तथा वे दोनो आगे चलकर पति-पत्नी के रूप में गृहस्थी का निर्माण करते है।

श्रद्धा के जीवन-परिचय के बारे में भारतीय वाङ्मय मे अनेक परस्पर विरुद्ध बातें मिलती हैं। ऋग्वेद में श्रद्धा को देवता तथा ऋषि दोनो रूपो में स्वीकार किया गया है और श्रद्धा-सूक्त की श्रद्धा ही देवता तथा श्रद्धा ही ऋषि मानी गई है। इसके साथ ही श्रद्धा-सूक्त की अनुक्रमणिका में उसे काम-गोत्र मे उत्पन्न कामायनी कहा गया है।[१] इससे श्रद्धा का जन्म काम के वश में होना सिद्ध होता है और काम उसके पूर्वज या वश मे श्रेष्ठ पुरुष सिद्ध होते है। आगे चलकर ऋग्वेद के बालखिल्य सूक्त में "श्रद्धा या दुहिता तपस" कहकर श्रद्धा को सूर्य की पुत्री बतलाया है।[२] इसके अनन्तर यजुर्वेद तथा शतपथब्राह्मण मे भी "श्रद्धा वै सूर्यस्य दुहिता" कहकर श्रद्धा को सूर्य की पुत्री कहा गया है।[३] परन्तु तैत्तिरीय ब्राह्मण में उसे ऋत की पुत्री एवम् काम की माता कहा गया है।[४] अत जो काम ऋग्वेद में श्रद्धा के पूर्वज थे अब वे तैत्तिरीय ब्राह्मण में आकर उसके पुत्र हो जाते हैं। इसके उपरान्त मुडक तथा प्रश्न उपनिषद् मे श्रद्धा को परम ब्रह्म की पुत्री माना गया है।[५] किन्तु पुराणो में जाकर श्रद्धा सर्वत्र दक्ष प्रजापति की पुत्री मानी गई है[६] और काम को उसका पुत्र ही माना गया है।[७] इस तरह उसके वश का कोई निश्चित मत नही मिलता। कामायनी में उसे काम और रति की पुत्री बतलाया है। इसका आधार केवल ऋग्वेद की अनुक्रमणिका में आया हुआ 'कामगोत्रजा कामायनी' शब्द है। प्रसादजी ने इसी आधार पर

१—कामगोत्रजा श्रद्धा नामर्षिका। तथा चानुक्रम्यते। श्रद्धया श्रद्धा कामायनी श्राद्धमानुष्टुभत्विति। ऋग्वेद १०।१५६ (अनुक्रमणिका)

२—ऋग्वेद ६।१।६

३—यजुर्वेद १६।४, शतपथब्राह्मण १२।७।३।११

४—'श्रद्धा देवी प्रथमजा ऋतस्य' (तैत्तिरीयब्राह्मण ३।१२।१–२) 'श्रद्धा कामस्य मातरम्' (तै० ब्रा० २।८।८।८)

५—मुडक उपनिषद् २।१।७, प्रश्नोपनिषद् ६।४

६—मार्कंडेयपुराण ५०।१६।२०, विष्णुपुराण १।७

७—विष्णुपुराण १।७।२८, कूर्मपुराण अध्याय ८, वायुपुराण १०।३४, मार्कंडेयपुराण ५०।२८

श्रद्धा और कामायनी दोनो को एक करके उसे केवल काम-पुत्री ही माना है। इसका एक कारण यह भी है कि ऋग्वेद मे 'काम' को सृष्टि के आदि मे सबसे पहले विद्यमान बतलाया है।[१] अब अगर पौराणिक आधार पर श्रद्धा को दक्ष की पुत्री मानकर काम को उसका पुत्र मानते हैं तो उक्त ऋग्वेद की बात का खडन होता है। दूसरे यदि ब्राह्मणो-ग्रथो के आधार पर श्रद्धा को सूर्य की पुत्री मानते हैं और उधर मनु भी सूर्य के पुत्र माने गये हैं, तब दोनो एक ही वश के हो जाते हैं और दोनो का वैवाहिक सम्बन्ध उचित नही ठहरता। उपनिषदो का आधार कुछ अधिक महत्वपूर्ण नहीं है, क्योकि परम ब्रह्म की तो सभी सन्तान हैं। इसी कारण प्रसादजी ने केवल ऋग्वेद के 'कामायनी' शब्द को आधार बनाकर श्रद्धा को काम और रति की पुत्री माना है, जिससे एक तो ऋग्वेद से कथा-सूत्र की सगति बैठ जाती है और दूसरे आगे चलकर श्रद्धा-मनु के विवाह मे कोई गडबडी नही पडती।

श्रद्धा के विवाह के बारे मे भी भारतीय ग्रथो मे भिन्न-भिन्न बाते मिलती हैं। जैसे ऋग्वेद के ऐतरेय ब्राह्मण में श्रद्धा को सत्य की पत्नी माना गया है।[२] परन्तु शतपथब्राह्मण मे स्थान-स्थान पर मनु के लिए 'श्रद्धादेव' शब्द आया है।[३] तैत्तिरीय ब्राह्मण मे भी मनु को 'श्रद्धादेव' कहा गया है।[४] इतना ही नहीं विष्णु, देवीभागवत, ब्रह्मवैवर्त्त, हरिवश और शिवपुराण में भी समान रूप से सातवे मन्वन्तर के प्रवर्त्तक वैवस्वत मनु को 'श्रद्धादेव' या 'श्राद्धदेव' कहकर सम्बोधन किया गया है।[५] इससे श्रद्धा मनु की पत्नी सिद्ध होती है। परन्तु पुराणो मे श्रद्धा को धर्म की पत्नी भी कहा गया है।[६] इससे फिर यह समस्या खडी होजाती है कि जो पुराण एक ओर मनु को श्रद्धादेव कहते हैं, वे ही पुराण श्रद्धा को धर्म की पत्नी भी घोषित करते हैं। परन्तु इस समस्या का समाधान श्रीमद्भागवतपुराण से हो जाता है, क्योकि वहाँ पर स्पष्ट ही श्रद्धा वैवस्वत मनु की पत्नी बतलाई गई है[७] और उससे दस पुत्र होने का भी उल्लेख मिलता है, जिनके नाम क्रमशः इक्ष्वाकु, नृग, शर्याति, दिष्ट, धृष्ट, करूपक,

---

१—ऋग्वेद १०।१२९।४

२—ऐतरेयब्राह्मण ७।२।१०

३—शतपथब्राह्मण १।४।१।१६,१।१।४।१५ आदि।

४—तैत्तिरीयब्राह्मण ३।२।५।९

५—विष्णुपुराण ३।१।३०, देवीभागवत १०।१०।१, ब्रह्मवैवर्तपुराण, प्रकृति खंड, ५४।६३, हरिवंशपुराण ९।८ तथा शिवपुराण, उमासहिता, अध्याय १।

६—मार्कंडेयपुराण ५०।२१ तथा विष्णुपुराण १।७

नरिष्यन्त, पृषध्र, नभग और कवि दिये गये है[1] तथा ये ही आगे चलकर सूर्यवंश की स्थापना करने वाले भी माने गये हैं। इसी आधार पर प्रसादजी ने श्रद्धा को मनु की पत्नी के रूप मे स्वीकार किया है और उसी से मानव-सृष्टि का विकास दिखलाया है।

आकुलि-किलात एव पशुयज्ञ—श्रद्धा के साथ प्रणय-बंधन में बँध जाने के उपरान्त कामायनी में मनु का साक्षात्कार दो असुर पुरोहितो से होता है, जो जलप्लावन के उपरान्त अनेक कष्ट सहते हुए इधर-उधर भटक रह थे तथा जो श्रद्धा द्वारा पालित पशु को खाने की लालसा से अधीर होकर उसे मारने की युक्तियाँ सोच रहे थे। वे तुरन्त मनु के समीप आकर मैत्रावरुण यज्ञ करने की प्रेरणा देते हैं तथा मनु भी प्राचीन सस्कारो के कारण इन असुर पुरोहितो की प्रेरणा से पशु-बलि द्वारा यज्ञ करने के लिए उद्यत हो जाते है। इन असुर पुरोहितो का नाम आकुलि तथा किलात दिया गया है।[2]

आकुलि-किलात दोनो ऐतिहासिक व्यक्ति हैं। ऋग्वेद के दशममंडल में इन दोनो से सम्बधित एक कथा का उल्लेख मिलता है। वहाँ लिखा है कि "राजा असमाति के बधु, सुबधु, श्रुतबधु तथा विप्रबधु नामक चार पुरोहित थे। वे सभी गोपायन थे। उस राजा ने इन चारो पुरोहितो को निकाल कर अन्त में आकुलि-किलात को अपना पुरोहित बना लिया। ये दोनो व्यक्ति असुर एवम् मायावी थे। जब सुबधु आदि पुरोहितो ने राजा असमाति पर आक्रमण किया, तब आकुलि-किलात दोनो असुर पुरोहितो ने अपने छल-कपट से सुबधु को मार दिया।"[3] अत इस कथा मे ये दोनो असुर पुरोहित बतलाए गये है। इसके अतिरिक्त बृहद्देवता में भी यही कथा मिलती है और वहाँ पर आकुलि-किलात को मायावी एवम् असुर पुरोहित बतलाते हुए इनके द्वारा कपोत बनकर सुबधु को मारने का उल्लेख किया है।[4] ताड्य ब्राह्मण मे इन दोनो का उल्लेख स्त्रीलिंग द्विवचन में मिलता है। परन्तु मैक्समूलर का मत है कि ये दोनो पुरुष हैं और असुर पुरोहित के रूप मे आये हैं।[5] शतपथब्राह्मण में

१—ततो मनु श्राद्धदेव सज्ञयामास भारत।
श्रद्धाया जनयामास दशपुत्रान् स आत्मवान्॥
इक्ष्वाकु-नृग-शर्याति-दिष्ट-धृष्ट-करूषकान्।
नरिष्यन्त-पृषध्र च नभग च कविं विभु॥
—श्रीमद्भागवतपुराण ९।१।११–१२

२—कामायनी, पृ० १११–११५।

३—ऋग्वेद १०।५७ की अनुक्रमणिका। ४—बृहद्देवता ७।८५–८८

५—ऋग्वेद, भाग ४, मैक्समूलर द्वारा लिखित भूमिका, पृ० १०३।

इन दोनो असुर पुरोहितो का सम्बन्ध श्रद्धादेव मनु से बतलाया गया है। वहाँ पर ये श्रद्धादेव मनु को मैत्रावरुण यज्ञ करने की प्रेरणा देते हैं।[१] अतः उक्त प्रमाणो द्वारा आकुलि-किलात दोनो असुर पुरोहित ठहरते हैं और मनु को यज्ञ करने की प्रेरणा देते हैं। इन्ही आधारो पर प्रसादजी ने कामायनी में इन दोनो की कथा का प्रयोग किया है। मुख्यत प्रसादजी ने शतपथब्राह्मण को ही अपना आधार बनाया है और उसी आधार पर कामायनी में आकुलि-किलात द्वारा मनु से मैत्रावरुण यज्ञ के लिए पशुबलि करायी है। ऋग्वेद की कथा का मनु से कोई सम्बन्ध न होने के कारण उसका कोई विशेष उपयोग कामायनी मे नही हुआ है। हाँ, इतना अवश्य दिखाई देता है कि सारस्वत नगर मे जब आकुलि-किलात जनता का नेतृत्व करके मनु के विरुद्ध लडते हैं[२], तब वहाँ पर ऋग्वेद की कथा का कुछ आधार प्रतीत होता है, क्योकि जिस तरह ऋग्वेद में ये सुबधु को मारने का प्रयत्न करते हैं, सभवत. उसी आधार पर प्रसादजी ने इन्हे मनु के विरुद्ध आक्रमण करने वाला मान लिया है।

कामायनी मे जिस पशु-यज्ञ का वर्णन मिलता है, उसका मूल आधार यजुर्वेद है। वहाँ पर यज्ञ-यूप खडा करने तथा उससे बाँधकर पशुओ का बध करने का बडा ही विस्तृत उल्लेख मिलता है। यजुर्वेद मे पशु को रज्जु से बाँधकर इस तरह की प्रार्थना का विधान मिलता है कि 'हे पशो! तेरा मन देवताओ के मन से और तेरे प्राण देवताओ के प्राणो से मिल जायें।' इस प्रार्थना के उपरान्त घृत-मिश्रित पशु की वसा को यजमान द्वारा खाने का वर्णन मिलता है।[३] शतपथब्राह्मण में भी पशु को यूप से बाँधने, उसका वध करने, उसको हवि रूप मे देवो को समर्पित करने तथा उसके अवशिष्ट भाग को खाने का उल्लेख आया है।[४]

यज्ञ के साथ सुरा तथा सोम पीने का वर्णन भी ऋग्वेद मे ही मिल जाता है। वहाँ सोम सूक्त में सोम की बडी प्रशसा की गई है और उसे पीकर वैभव-सम्पन्न होने का उल्लेख मिलता है।[५] यजुर्वेद में सोम को धनप्रदाता, बुद्धिवर्द्धक, बलप्रदायक, शत्रुविनाशक आदि कहा है[६] और सोम को अन्न का रूप भी बतलाया है। इतना ही नही यह भी लिखा है कि प्रजापति ने अन्न-रस-रूप सोम पीकर ही क्षत्रिय को वश में किया था।[७] इससे यह सिद्ध है कि सोम अन्न या धान्य से बनाया जाता होगा और सभी देवता इसका पान करते थे। शतपथब्राह्मण में सौत्रामणी यज्ञ

१—शतपथब्राह्मण १।१।४।१४–१६ २—कामायनी, पृ० २०१।

३—शुक्लयजुर्वेद ६।६–१६ ४—शतपथब्राह्मण ३।७।३।२–४

५—ऋग्वेद ८।४८।८ ६—शुक्लयजुर्वेद ५।३५

७—शुक्लयजुर्वेद १६।७५

के वर्णन में सोम तथा सुरा दोनो की बडी प्रशसा की गई है, दोनो को मादक बतलाया है तथा दोनो का पान करके देवो को मदोन्मत्त होते हुए लिखा है।[1] ईसाई धर्म-ग्रथ बाइबिल में भी यह उल्लेख मिलता है कि हजरत नूह ने पहले दाख की बारी लगाई और दाख के मधु को पीकर वे उन्मत्त हो गये तथा अपने डेरे में नगे हो गये।[2]

उक्त आधारो पर कामायनी में भी प्रसादजी ने मनु से पशु-यज्ञ कराय है। उस यज्ञ में श्रद्धा द्वारा पालित पशु की बलि दी जाती है, जिससे यज्ञ-वेदी क दृश्य बडा भयकर हो जाता है, क्योकि वेदी के चारो ओर रुधिर के छीटे औ अस्थियो के टुकडे पडे हुए दिखाई देते हैं, वेदी पर निरीह पशु की कातर वाणं सुनाई देती है तथा सारा वातावरण अत्यत घृणास्पद बन जाता है। यज्ञ के उपरान्त मनु सोमरस के साथ पुरोडाश खाते हुए भी बतलाये गये है।[3]

यहाँ तक कथा का ऐतिहासिक आधार मिलता है। इसके उपरान्त 'कामायनी में इस पशु-यज्ञ से श्रद्धा के रूठने, उसके गर्भवती होने तथा एक सुन्दर गृहस्थी क निर्माण करने का जो वर्णन आया है, उसका कोई ऐतिहासिक एवम् पौराणिव आधार नही मिलता। वह सब प्रसादजी की अपनी कल्पना का विलास है।

✓३—**मनु-इडा मिलन तथा सारस्वत नगर की दुर्घटना**—श्रद्धा के सुन्द गृहस्थ-जीवन से पराङ्मुख होकर मनु हिमगिरि की गुहा से नीचे उतर कर सारस्वत प्रदेश में आते है। यहाँ उनकी भेंट उस नगर की रानी इडा से होती है। उसक सारस्वत नगर भौतिक हलचलो से विनष्ट हो चुका है। अत वह इसे पुन बसान चाहती है। परन्तु योग्य शासक के अभाव मे अभीतक उसकी मनोकामना पूर्ण नह हुई है। मनु को पाकर वह उन्हे अपने नगर का शासक नियुक्त कर देती है। मनु नग की आशातीत उन्नति करते हैं, परन्तु नगर की रानी इडा के साथ अपनी अतृ वासना की पूर्ति करने के कारण वहाँ भयानक जनक्रान्ति होती है, जिसमें मनु घायल होकर मूर्च्छित हो जाते है।

कामायनी की इस कथा का ऐतिहासिक आधार खोजने पर पता चलता है कि यहाँ जिस सारस्वत प्रदेश का वर्णन आया है, वह सरस्वती नदी के किनारे क प्रदेश है। ऋग्वेद में इस सरस्वती नदी की बडी प्रशसा मिलती है और उसे नदिय

१—शतपथब्राह्मण १२।७।३।१२

२—बाइबिल (हिन्दी) उत्पत्ति खड, ६।२१-२२

३—कामायनी, पृ० ११६-११७। -49

में श्रेष्ठ, पवित्र तथा सरस ऊर्मि वाली कहा है।[1] इसी के किनारे इन्द्र ने वृत्र का वध किया था, इस कारण ऋग्वेद मे इसे वृत्रघ्नी भी कहा है।[2] परन्तु यह सरस्वती नदी कहाँ थी ? इसके बारे में विद्वानो की भिन्न-भिन्न राय हैं। अधिकाश विद्वान् इस सरस्वती नदी का पजाब में बहते हुए राजस्थान के समुद्र मे गिरना सिद्ध करते हैं। परन्तु प्रसादजी ने ऐतिहासिक प्रमाणो के आधार पर यह सिद्ध किया है कि देवताओ की यश-गाथा से सम्बन्धित यह सरस्वती नदी पजाब की सरस्वती से भिन्न पश्चिमी अफगानिस्तान के पास गाधार प्रान्त में बहती थी। यही पर प्राचीन सप्त सिन्धु प्रदेश था, जिसका वर्णन अवेस्ता में भी मिलता है और यही देवो की वह आवास-भूमि थी, जिसके चारो ओर समुद्र था तथा जो उत्तर-पश्चिम में गाधार प्रान्त के द्वारा पश्चिमी एशिया माइनर से मिली हुई थी। अपनी इस खोज के आधार पर प्रसादजी ने कधार के समीपवर्ती स्थान को सारस्वत प्रदेश माना है और इसी कारण उसे उन्नत शैल शृगो से घिरा हुआ बतलाया है।[3]

पुराणो में सरस्वती नदी की प्रशसा तो मिलती है,[4] परन्तु वहाँ सारस्वत प्रदेश का उल्लेख नही मिलता। स्कन्दपुराण[5] में सरस्वती के जिस प्रदेश का वर्णन मिलता है, उसका नाम वहाँ द्वारावती नगरी दिया गया है, जो स्पष्ट ही पजाब की सरस्वती नदी के किनारे बसी हुई कोई नगरी जान पडती है। इसके अतिरिक्त पुराणो मे इलावृत्त या इडावृत्त का भी उल्लेख मिलता है। ब्रह्मपुराण मे लिखा है कि मेरु के दक्षिण मे भारतवर्ष है। उसके उत्तर मे किम्पुरुषवर्ष तथा उसके उत्तर में हरिवर्ष है। इसी तरह मेरु के उत्तरी भाग मे सबने अन्त में रम्यकवर्ष, उसके दक्षिण में हिरण्यमयवर्ष और उसके भी दक्षिण मे उत्तरकुरु है। साथ ही इन छै वर्षो के बीच में इडावृत्तवर्ष है, जिसके मध्यभाग मे सुवर्णमय ऊँचा मेरु पर्वत खडा हुआ है। यह इडावृत्तवर्ष मेरु के चारो ओर नौ हजार योजन तक फैला हुआ है। उसमें मेरु के पूर्व में मन्दराचल पर्वत, दक्षिण में गधमादन, पश्चिम में विपुल तथा उत्तर में सुपार्श्व की स्थिति है।[6] मार्कंडेयपुराण में लिखा है कि जम्बूद्वीप के तीन खण्ड दक्षिण में हैं, इनके मध्य में इडावृत्तवर्ष है, जो अर्धचन्द्राकार है तथा जिसके पूर्व मे भद्राश्ववर्ष,

---

१—ऋग्वेद ७।९५।१–२ तथा ७।९६।५

२—ऋग्वेद ६।६१।७

३—कोशोत्सव-स्मारक-संग्रह, पृ० १७२–१७३।

४—पद्मपुराण, सरस्वती आख्यान, सृष्टि खड, अध्याय १८।

५—स्कंदपुराण, ब्राह्मखंड, धर्मारण्यमाहात्म्य, अध्याय २९।

६—कल्याण-संक्षिप्त मार्कंडेयब्रह्मपुराणांक, पृ० ३०७।

पश्चिम में केतुमालवर्ष और मध्य में मेरु पर्वत है।[१] इडावृत्तवर्ष की यही स्थिति मत्स्यपुराण[२], वायुपुराण[३] तथा अग्निपुराण[४] में भी दी गई है।

उपर्युक्त स्थिति के आधार पर जब मेरु पर्वत भारत के उत्तर में हिन्दुकुश पर्वत के आसपास आधुनिक कोहमूर माना जाता है[५], तब इडावृत्तवर्ष उसके नीचे अफगानिस्तान में कधार के आसपास ठहरता है और इसी आधार पर सारस्वत प्रदेश तथा इडावृत्तवर्ष दोनो एक ही जान पडते हैं। वैसे भी इडा के नाम पर ही इस प्रदेश का नाम इडावृत्तवर्ष पड सकता है और मेरु पर्वत से नीचे उतर कर मनु का इसी प्रदेश में आना ठीक भी जान पडता है, क्योकि उक्त वर्णन के आधार पर पुराणो में इसी प्रदेश के मध्य में मेरु पर्वत की स्थिति मानी गई है।

इसी इडावृत्तवर्ष या सारस्वतप्रदेश में मनु की भेंट यहाँ की रानी इडा से होती है। ऋग्वेद मे इडा की चर्चा स्थान-स्थान पर मिलती है। वहाँ पर इसे मनु की धर्मोपदेशिका अथवा मनुष्यो पर शासन करने वाली[६], शोभनशील योद्धाओ वाली एव प्रकर्ष हिंसाकारिणी[७], पशु-यूथ की माता[८], मैत्रावरुण की पुत्री[९] तथा मनुष्यों में कर्म-चेतना उत्पन्न करने वाली[१०] कहा है। इसके साथ ही सरस्वती एवम् मही के साथ इडा को देवी कहकर स्थान-स्थान पर सम्बोधन किया गया है।[११] ऋग्वेद तथा यजुर्वेद मे अग्नि को इडा का पुत्र बतलाया है।[१२] इडा के जन्म की कथा वेदो मे नही मिलती। सर्वप्रथम शतपथब्राह्मण मे मनु द्वारा किए गये मैत्रावरुण यज्ञ से इडा की उत्पत्ति बतलाई है तथा उसे मनु की पुत्री कहकर उसी से फिर मनु को आगामी सृष्टि का विकास करते हुए लिखा है।[१३] यहाँ पर मनु-पुत्री होने के कारण उसका नाम मानवी[१४] तथा मैत्रावरुण यज्ञ से उत्पन्न होने के कारण उसका नाम

१—वही, कल्याण, पृ० १५१। २—मत्स्यपुराण (हिन्दी) पृ० २६०।
३—वायुपुराण (हिन्दी) पृ० ११४।
४—अग्निपुराण, अध्याय १०७–१०८।
५—कोशोत्सव-स्मारक-सग्रह, पृ० १६५।
६—ऋग्वेद १।३१।११
७—वही १।४०।४ ८—वही ५।५१।१९
९—वही ७।६५।४ १०—वही १०।११०।८
११—ऋग्वेद १।१३।९, ५।५।८, १।१४२।९ आदि।
१२—ऋग्वेद ३।२९।४ तथा शुक्लयजुर्वेद ३४।१४
१३—शतपथब्राह्मण १।८।१।६–११
१४—वही १।८।१।२६

मैत्रावरुणी[1] भी दिया है। तैत्तिरीय ब्राह्मण मे भी इडा को मानवी तथा यज्ञो का अनुशासन करने वाली कहा है।[2] इसके अतिरिक्त हरिवंश[3], ब्रह्म[4], मत्स्य[5], पद्म[6], विष्णु[7], वायु[8], श्रीमद्भागवत[9] आदि पुराणो में भी मनु द्वारा किए गये मैत्रावरुण यज्ञ से इडा के जन्म का उल्लेख मिलता है। इन प्रमाणो से यही ज्ञात होता है कि इडा मित्रावरुण की पुत्री है और उसका मनु से सम्बन्ध हुआ है, इस कारण वह मानवी भी कहलाती है। प्रसादजी ने इडा को मनु-पुत्री न मानकर केवल इडा से मनु के सम्बन्ध की ही चर्चा की है।

कामायनी में मनु और इड़ा के जिस अनैतिक आचरण का वर्णन किया गया है। उसका उल्लेख वेदो मे तो नही मिलता। ऋग्वेद के ऐतरेय ब्राह्मण मे अवश्य एक कथा मिलती है। यहाँ लिखा है कि एक बार प्रजापति ने अपनी दुहिता के साथ अनैतिक आचरण किया। प्रजापति के इस आचरण को देखकर देवता लोग चिल्ला उठे और प्रजापति को दड देने के लिए किसी व्यक्ति की खोज करने लगे। जव उन्हे कोई व्यक्ति दिखाई न दिया, तव उन देवताओ ने मिलकर एक ऐसे रौद्र शरीर का निर्माण किया, जो 'भूतवन्' कहलाया तथा उससे देवो ने प्रजापति को दड देने के लिए कहा। तव उस रौद्र मूर्ति ने पशुओ का आधिपत्य मांगा। देवो ने उसे पशुपति वना दिया। तव वह रौद्रमूर्ति 'पशुमान्' कहलाने लगी। इसके उपरान्त उस रौद्रमूर्ति ने प्रजापति के पाप-प्रक्षालन के लिए उन पर आक्रमण किया और प्रजापति के शरीर को वेध डाला।[10] यही कथा शतपथब्राह्मण[11], मत्स्यपुराण[12] आदि में भी मिलती है। शिव-महिम्न-स्तोत्र में भी इसी कथा का संकेत मिलता है, क्योकि वहाँ पर भी काम-मोहित प्रजापति पर शिव अपना वाण चलाते हैं।[13] इन कथाओ के आधार पर यही ज्ञात होता है कि प्रजापति अपनी दुहिता अथवा देवो की भगिनि के साथ जैसे ही अनैतिक आचरण करते हैं वैसे ही देवता रुष्ट हो जाते हैं और रुद्र के द्वारा प्रजापति को दड दिलवाते हैं। कामायनी में भी प्रसादजी ने इसी आधार पर

१—शतपथब्राह्मण १।८।१।२७

२—तैत्तिरीयब्राह्मण १।१।४।४

३—हरिवंशपुराण, अध्याय १०।

४—ब्रह्मपुराण, अध्याय ७।

५—मत्स्यपुराण अध्याय ११–१२।

६—पद्मपुराण, सृष्टि खंड अध्याय ८।

७—विष्णु पुराण, अध्याय ४।

८—वायुपुराण २५।१–३४

९—श्रीमद्भागवतपुराण ६।१।१३–४२

१०—ऐतरेयब्राह्मण ३।३।३३

११—शतपथब्राह्मण १।७।४।१–३

१२—मत्स्यपुराण ३।३१–४०

१३—शिव-महिम्न-स्तोत्र २२।

पहले मनु को प्रजापति के रूप में अंकित किया है। तदुपरान्त जब वे वहाँ की रानी अथवा अपनी 'आत्मजा प्रजा' इडा के साथ अनैतिक आचरण करते हैं; तब देव-शक्तियाँ क्षुब्ध हो जाती हैं, रुद्र का तीसरा नेत्र खुल जाता है और वे ही रुद्र देवता अपने बाण से मनु को मूर्च्छित कर देते हैं।[1] प्रसादजी ने इस ऐतिहासिक कथा में अपनी कल्पना से इतना और जोड दिया है कि देवो के साथ ही सारस्वत नगर की जनता भी मनु के विरुद्ध क्रान्ति मचाती है और उनका नेतृत्व असुर-पुरोहित आकुलि तथा किलात करते हैं। उनमें घमासान युद्ध होता है, जिसमें मनु असुर-पुरोहितों को तो मार गिराते हैं, परन्तु स्वयं रुद्र के बाण का शिकार बनकर धराशायी हो जाते हैं। इस कथा द्वारा प्रसादजी ने आधुनिक शासक एवम् शासितो के वर्ग-सघर्ष को प्रस्तुत करने का प्रयत्न किया है तथा जनता की विजय दिखाकर जनता को शासकों का नियमन करने वाली भी बतलाया है।

२ (४) **श्रद्धा तथा मनु की कैलाश-यात्रा और तत्त्वदर्शन**—कामायनी की कथा के अन्तिम भाग मे प्रसादजी ने अपने दार्शनिक सिद्धान्तो के आधार पर कथा को एक अप्रत्याशित मोड दिया है, जिससे उसमें ऐतिहासिक तत्त्वो का सर्वथा अभाव होगया है और दार्शनिकता की प्रधानता होगई है। इस कथा-भाग मे प्रसादजी ने तीन बातें दिखलाई हैं—प्रथम तो मनु को ताडव नृत्य करते हुए नटराज शिव के दर्शन होते है। दूसरे, मनु को त्रिपुर या त्रिकोण की वास्तविकता का ज्ञान होता है और तीसरे, कैलाश शिखर पर पहुँच कर वे समरसता को अपनाते हुए अखण्ड आनन्द का अनुभव करते है। वही पर इडा, मानव, सारस्वत नगर की प्रजा आदि भी पहुँच जाते हैं जिससे एक सयुक्त परिवार बस जाता है और सभी सम्मिलित रूप में भौतिकता से परे आध्यात्मिकता एवम् भौतिकता के समन्वित रूप को अपनाते हुए अखण्ड आनन्द को प्राप्त करते हैं।

शिव का ताडव नृत्य—प्राय सहार कार्य करने के लिए शिव जो नृत्य किया करते हैं, उसे ताडव नृत्य के नाम से पुकारा जाता है। दशरूपककार ने नृत्य के लास्य और ताडव दो भेद किए हैं, जिनमे से लास्य को मधुर और तांडव को उद्धत नृत्य कहा है।[2] कहा जाता है कि पार्वती ने लास्य नृत्य की सृष्टि की है, इसी कारण वह मधुर है और सहारकारी शिव से ताडव नृत्य का जन्म हुआ है, इसी कारण उसमें उद्धत एवम् भीषण रूप के दर्शन होते है। वैदिक ग्रन्थो में शिव के ताडव नृत्य का वर्णन नहीं मिलता। ब्रह्मपुराण मे शिव ताडव नृत्य करने वाले मख मे बाजा

बजाने वाले तथा गीत-वादन आदि कार्यो मे लीन रहने वाले बतलाये गये हैं।[1] लिगपुराण में शिव के ताडव नृत्य के बारे में एक कथा मिलती है। वहाँ लिखा है कि एक बार दारुक नामक राक्षस का वध करने के लिए जब पार्वती ने काली रूप धारण किया और उसका वध करके शिव के पास लौटी, तो भगवान् शिव ने सध्या के समय पार्वती को प्रसन्न करने के लिए ताडव नृत्य किया था।[2] इससे यह सिद्ध होता है कि शिव का ताडव नृत्य केवल सहार के लिए ही नही होता था अपितु मनोरजन के लिए भी होता था। शिव-ताडव-स्तोत्र मे ताडव नृत्य का विशद वर्णन मिलता है। यह स्तोत्र अत्यन्त प्राचीन माना जाता है और जनश्रुति के आधार पर रावण का रचा हुआ कहा जाता है। इसमे लिखा है कि 'शिव अपनी जटाओ से गिरते हुये जल-प्रवाह द्वारा पवित्र कण्ठ मे बडे-बडे सर्पो की माला पहन कर डम-डम शब्दकारी डमरू को बजाते हुए नृत्य किया करते है। इस नृत्य के समय उनकी जटाओ मे गगा अपनी चचल तरगो के साथ घूमने लगती है, ललाट मे अग्नि धक्-धक् जलने लगती है, सर्पो की मणियो का प्रकाश चतुर्दिक फैल जाता है, अधिक वेग से घूमने के कारण सर्पो के श्वास भी वेग से चलने लगते हैं, मालाग्नि भी और तीव्र हो जाती है तथा डमरू की धिमि-धिमि ध्वनि भी बढ जाती है, जिससे उनके ताडव नृत्य की गति मे भी तीव्रता आजाती है।'[3]

इसके अतिरिक्त 'शिव-महिम्न-स्तोत्र' में भी शिव के ताडव नृत्य का वर्णन मिलता है। वहाँ लिखा है कि शिव का ताडव नृत्य विश्व का कल्याणकारी है। शिव के ताडव नृत्य करते समय उनके चरणो के आघात से पृथ्वी घूमने लगती है, विशाल बाहुओ के सघर्ष से नक्षत्रयुक्त आकाश पीडित होने लगता है और चचल जटाओ से प्रताडित स्वर्गलोक भी कम्पायमान हो उठता है।[4] साथ ही 'देवी-नाम-विलास' नामक ग्रथ मे भी शिव के ताडव नृत्य का वर्णन मिलता है।[5]

प्रसादजी ने इन्ही आधारो पर कामायनी मे शिव के ताडव नृत्य का वर्णन किया है और लिखा है कि "अन्धकार में मे अपार ज्योत्स्ना का रूप धारण करते हुए भगवान् शिव अपनी ताडव लीला से सृष्टि के कण-कण में आह्लादकारिणी हलचल उत्पन्न करने लगे। परिश्रम के कारण उनके मस्तक मे पसीने की बूँदे झर रही थी, जो सूर्य, चन्द्र, तारागण आदि का रूप धारण करके आकाश मे बिखर रही थी। उनके चरणो के आघात मे पर्वत भी धूल के कण सदृश उड रहे थे, चारो ओर असत्य

१—कल्याण—सक्षिप्त मार्कंडेयब्रह्मपुराणाक, पृ० ३४२–३४४।

२—लिगपुराण २०६, २५-२८। ३—शिव-तांडव-स्तोत्र १, २, ४, १६।

४—शिव-महिम्न-स्तोत्र १६, ३३। ५—कामायनी-सौंदर्य, पृ० २२६–२३८।

ब्रह्माड फैल रहे थे, सारा ससार काँप रहा था, अनन्त चेतन परिमाणु बिखर कर विलीन होरहे थे और ससार मे क्षण-क्षण पर परिवर्तन होरहा था। समस्त प्रकृति गल-गल कर उनके अनत तेज मे मिल रही थी और उस क्षण उनकी स्वच्छ हँसी के कारण भीषणता भी सुन्दरता मे परिणत हो रही थी।"[१]

त्रिकोण या त्रिपुर—इस कथा में दूसरा वर्णन त्रिकोण या त्रिपुर का मिलता है। इस त्रिपुर की कल्पना का आधार ऋग्वेद प्रतीत होता है, क्योंकि वहाँ पर अग्नि के तीन रूपो की कल्पना की गई है तथा उसे त्रिधातु भी वतलाया गया है।[२] यजुर्वेद में आकर स्पष्ट ही अग्नि को लोहमय, रजतमय तथा स्वर्णमय गृहो में निवास करने वाली कहा है।[3] इसके अनन्तर शतपथब्राह्मण में एक कथा मिलती है, जिसमें लिखा है कि देवताओ से पराजित होकर असुरो ने प्रजापति की तपस्या करके तीन पुरो का निर्माण किया। जिससे पृथ्वी में लोहे का, अन्तरिक्ष में चांदी का और द्युलोक में सुवर्ण का पुर वनाया गया, तव उन असुरो के पुरो का नाश करने के लिए देवो ने 'उपसद' नामक अग्नि की उपासना की, जिससे उस अग्नि ने उत्पन्न होकर तीनो पुरो को भस्मसात् कर दिया।[४]

वैदिक साहित्य के अनतर त्रिपुर की कथायें लौकिक साहित्य में पर्याप्त मात्रा मे मिलती हैं। महाभारत[५], शिवपुराण[६], लिंगपुराण[७], श्रीमद्भागवतपुराण[८], मत्स्यपुराण[९] आदि में त्रिपुर सम्बन्धी कथा का उल्लेख मिलता है और सर्वत्र असुरो के लोहे, चाँदी तथा स्वर्ण के तीन पुरो का निर्माण देवताओं से सुरक्षित होने के लिए हुआ है। परन्तु शतपथब्राह्मण की कथा से इन लौकिक कथाओ में यह अन्तर मिलता है कि यहाँ पर शिव के द्वारा उन तीनो पुरो का विध्वस कराया गया है तथा उन असुरो के नाम भी दिये गये हैं।

इनके अतिरिक्त शैवागमो[१०] मे इस त्रिपुर का वर्णन कुछ और ही ढग से मिलता है। वहाँ पर त्रिपुर के तीन कोण माने गये हैं, जो क्रमश इच्छा, ज्ञान और क्रिया कहलाते हैं। ये तीनो कोण तीन शक्तियो से व्याप्त रहते हैं, जो क्रमशः इच्छा-

---

१—कामायनी, पृ० २५२—२५४। २—ऋग्वेद ३।२६।७

३—शुक्लयजुर्वेद ५।८ ४—शतपथब्राह्मण ३।४।४।३—४

५—महाभारत कर्णपर्व, अध्याय ३३—३४।

६—शिवपुराण, रुद्रसहिता युद्ध खड ५।१—१०

७—लिंगपुराण, अध्याय ७१। ८—श्रीमद्भागवतपुराण ७।१०।५३—७०

९—मत्स्यपुराण अध्याय १२९—१४०।

१०—तन्त्रालोक भाग २, पृ० १०४।

शक्ति, ज्ञानशक्ति एव क्रियाशक्ति कहलाती हैं। इनमे से इच्छाशक्ति सृष्टि की कामना उत्पन्न करती है और नाना कर्मों में लीन होने की प्रेरणा देती है।[१] दूसरी ज्ञान शक्ति दो प्रकार की है—ज्ञेयाधिक्य और ज्ञेयानधिक्य। ज्ञेयाधिक्य ज्ञानशक्ति अपूर्णता का आभास कराती है और ज्ञेयानधिक्यशक्ति शुद्धाशुद्ध मार्ग का ज्ञान कराती है।[२] तीसरी, क्रियाशक्ति वह है जिसमे समस्त शक्तियो का पारस्परिक ट्टन वैचित्र्य होता है।[३] इस तरह इन तीनो शक्तियो के भिन्न-भिन्न कार्यों से पूर्ण यह त्रिपुर या त्रिकोण है, जो त्रिलोक या ससार भी कहलाता है तथा जिसकी धिष्ठात्री त्रिपुरादेवी मानी जाती है, जो ब्रह्मा, विष्णु एवम् शिव-रूपा है तथा जो च्छा, ज्ञान एवम् क्रिया-शक्ति से सम्पन्न होकर अपने चन्द्रमा-रूप से सृष्टि-कार्य रती है, अग्नि-रूप से सहार कार्य करती है और रवि-रूप से ससार की स्थिति का र्य करती है।[४] जबतक ये तीनो पुर या त्रिकोण पृथक्-पृथक् बने रहते हैं, तबतक ाधियुक्त संसार का रूप प्रस्तुत करते हैं, परन्तु जैसे ही ये समरस होकर एक हो ते हैं तब इनकी पृथक् सत्ता नही रहती और समस्त उपाधियो से शून्य होकर कमात्र आनन्दरूप में परिणत हो जाते हैं। इस एकरूपता की अवस्था को ही तन्त्रो 'निरंजनावस्था' कहा है, जिसको प्राप्त करके योगी समस्त भेद-भाव पूर्ण उपाधियो रहित होकर अखण्ड आनन्दघन शिवरूप को प्राप्त हो जाता है।[५] इसके साथ ही पुरारहस्य मे श्रद्धा को ही त्रिपुरादेवी के रूप मे स्वीकार किया है और सी को अपनी अनन्त शक्ति के द्वारा त्रिपुरो या त्रिकोणो को एक करने वाली तलाया है।[६]

उक्त आधारो पर ही प्रसादजी ने कामायनी मे त्रिपुर या त्रिकोण का वर्णन कया है। वैदिक एवम् लौकिक साहित्य से तो आपने तीनो पुरो के रगो की कल्पना ो है और उनके आधार पर ही इच्छा के भावलोक को रागारुण, ज्ञानलोक को श्वेत था कर्मलोक को श्याम रंग का बतलाया है, जो स्पष्टतया स्वर्ण, रजत एवं लोहे के रो से सम्बन्ध रखते हैं। साथ ही शैवागमो से आपने इच्छा, ज्ञान तथा क्रिया ो कल्पना ली है और उसी के आधार पर तीनो लोको का वर्णन करते हुए इच्छा-लोक में भाव की प्रधानता, कर्मलोक मे नाना प्रकार की एषणाओ मे व्याप्त कर्मो की धानता तथा ज्ञानलोक में शुद्धाशुद्ध मार्ग की खोज और शुष्क ज्ञानार्जन की प्रधानता

१—तंत्रालोक, भाग २, पृ० ८४। २—वही, पृ० ८५–८७।
३—वही, पृ० १११। ४—वही, पृ० ७८ ७९।
५—वही, पृ० ११४–११५।
६—त्रिपुरारहस्य, ज्ञानखण्ड, अध्याय ६।

बतलाई है। इसके अनन्तर तीनो की पृथक्ता के कारण ही ससार के विडम्बनापूर्ण जीवन की ओर भी सकेत किया है। पुन: त्रिपुरारहस्य के आधार पर आपने श्रद्धा की स्थिति द्वारा इन तीनो लोको की पृथक्ता दूर की है। इस तरह उक्त ग्रन्थो के आधार पर ही प्रसादजी ने कामायनी के त्रिपुर या त्रिकोण का वर्णन किया है जो स्पष्टतया त्रिलोक या ससार के जीवन का सजीव चित्र प्रस्तुत करता है और जिसके द्वारा प्रसादजी ने आधुनिक विडम्बनापूर्ण मानव-जीवन को आनन्दमग्न बनाने का सुझाव भी रखा है।

कैलाश पर अखड आनन्द की प्राप्ति—यजुर्वेद में केवल भगवान् शकर को गिरि पर स्थित होकर प्राणियो को सुख देने वाले तथा गिरि पर शयन करने वाले कहा है।[1] परन्तु पुराणो मे उस गिरि का नाम कैलाश दिया है और उसे हिमालय के मध्य-पृष्ठ भाग में स्थित बतलाते हुए वहाँ पर एक सुन्दर एव दिव्य मानसरोवर का उल्लेख किया है। इतना ही नही उस कैलाश पर्वत की अनुपम शोभा का वर्णन भी पुराणो मे स्थान-स्थान पर मिलता है।[2] इसके अतिरिक्त महाभारत में शिव-सहस्र-नाम-स्तोत्र मिलता है, जिसमें शिव को सर्वोपरि, सर्वनियता, सर्वान्तर्यामी आदि बतलाते हुए विश्व को आनन्द देने वाले भी सिद्ध किया है। इस स्तोत्र की परम्परा का उल्लेख करते हुए महाभारत मे लिखा है कि यह शिव-सहस्र-नाम-स्तोत्र ब्रह्माजी ने इद्र को, इन्द्र ने मृत्यु को, मृत्यु ने रुद्रो को, रुद्रो ने तण्डि को, तण्डि ने शुक्र को, शुक्र ने गौतम को और गौतम ऋषि ने वैवस्वत मनु को बतलाया था।[3] इस प्रकार शिव-भक्तो एवम् शिव-स्तोत्र के ज्ञाताओ की परम्परा में कामायनी के चरित्रनायक वैवस्वत मनु का भी वर्णन मिलता है। सम्भवत इसी आधार पर प्रसादजी ने मनु को अन्त में नटराज शिव के चरणो मे अखण्ड आनन्द उपलब्ध करते हुए दिखलाया है। इसके अतिरिक्त कामायनी के अन्त मे जिस अविनाशी योग का साधन करते हुए मनु को चित्रित किया गया है, उसकी परम्परा भी श्रीमद्भगवद्गीता में मिलती है। वहाँ पर लिखा है कि इस अविनाशी योग की क्रियाओ का ज्ञान कल्प के आरम्भ में स्वय ब्रह्मा ने सूर्य को दिया, सूर्य ने अपने पुत्र वैवस्वत मनु को बतलाया, मनु ने अपने पुत्र राजा इक्ष्वाकु को समझाया और अन्त में यही योग परम्परा से अन्य राजर्षियो को भी प्राप्त हुआ।[4] इस परम्परा में वैवस्वत मनु का नाम होने के कारण

१—शुक्लयजुर्वेद १६।२ तथा १६।२६

२—देखिए मत्स्यपुराण अध्याय १२१, वायुपुराण अध्याय ४१ तथा मार्कंडेय-पुराण ५४–२४।

३—महाभारत, अनुशासनपर्व, अध्याय १६०–१६१।

४—श्रीमद्भगवद्गीता ४।१–२

प्रसादजी ने सम्भवत उन्हे कर्म-योग के रहस्य को जानने वाला तथा अपने पुत्र मानव एवम् इडा आदि के सम्मुख उसका निरूपण करने वाला अंकित किया है। इसके अतिरिक्त कैलाशपर्वत पर जिस प्रकार दिव्य मानसरोवर आदि की स्थिति बतलाकर वहाँ की अलौकिक एवम् पावन शोभा का वर्णन पुराणो मे मिलता है, उसी आधार पर प्रसादजी ने भी कामायनी में कैलाशगिरि एव मानसरोवर की दिव्य झाँकी प्रस्तुत की है तथा वहाँ अखण्ड आनन्द का साम्राज्य बतलाया है।[1]

इस आनन्द के भिन्न-भिन्न रूपो का वर्णन तैत्तिरीयोपनिषद् मे मिलता है। उसके आधार पर पता चलता है कि एक मानव के लिए युवा, दृढ, बलिष्ट, धनी, स्वामी आदि होना महान् आनन्द को प्राप्त करना है। परन्तु सर्वश्रेष्ठ आनन्द ब्रह्मानद है।[2] वह आनन्द सर्वोपरि है, क्योकि उसीसे समस्त प्राणी उत्पन्न होते हैं, उसी मे जीवित रहते हैं और अन्त मे उसी के अन्दर विलीन हो जाते हैं।[3] परन्तु यह ब्रह्मानद प्राप्त कैसे हो ? इसके लिए त्रिपुरारहस्य मे लिखा है कि मनुष्य श्रद्धा को प्राप्त होकर ही इस आत्यतिक सुख या आनन्द को प्राप्त करता है।[4] इसी तरह श्रीमद्भगवद्गीता मे भी लिखा है कि श्रद्धावान् व्यक्ति ही सयतेन्द्रिय होकर ज्ञान प्राप्त करता है और उस ज्ञान के प्राप्त होने पर ही उसे शीघ्र परमशान्ति या अखड आनन्द की प्राप्ति होती है।[5] इसके अतिरिक्त प्रत्यभिज्ञादर्शन भी यही कहता है कि जबतक मनुष्य को ससार की वास्तविकता का ज्ञान नही होता, तबतक वह मुग्ध बना रहता है और ससार के भोगो मे लीन रहता है, परन्तु जैसे ही उसे वास्तविकता का ज्ञान होजाता है, वैसे ही वह ससारी जीव चिन्मयी पराभूमि पर पहुँच कर चिदानन्द को प्राप्त कर लेता है।[6]

प्रसादजी ने उक्त आधारो पर ही इस अन्तिम कथा-भाग की पूर्ति की है और श्रद्धा के द्वारा मनु को ससार की वास्तविकता का ज्ञान करा कर उन्हे कैलाश के उस शिखर पर पहुँचाया है, जहाँ शीतल एवम् अत्यत शान्त तपोवन है, जहाँ निर्झर उछलते हुए बहा करते हैं, जहाँ दिव्य एवम् निर्मल मानसरोवर है, जो मन की प्यास बुझाया करता है, जहाँ अखड महिमा से मडित पार्वतीय शोभा सदैव विद्यमान रहती है, जहाँ किन्नरियाँ एवम् अप्सराये मागलिक नृत्य करती रहती हैं, जहाँ जीवन की मुरली से मनोहर सगीत की ध्वनि निकलती रहती है, जहाँ समस्त भेद-भाव दूर

१—कामायनी, पृ० २८७–२८९।

२—तैत्तिरीय उपनिषद् ३।८

३—तैत्तिरीय उपनिषद् ३।६

४—त्रिपुरारहस्य, ज्ञानखंड, अध्याय ६।

५—श्रीमद्भगवद्गीता ४।३९

होकर सभी अपने प्रतीत होते है, जहाँ जड-चेतन समरस होकर एक चेतनता से ही परिपूर्ण दिखाई देते हैं और जहाँ पर अखण्ड आनन्द छाया रहता है।[1]

निष्कर्ष यह है कि प्रसादजी ने, वैदिक, लौकिक, तान्त्रिक आदि ग्रथो में बिखरी हुई कथा-सामग्री को लेकर अपनी उर्वर कल्पना द्वारा कामायनी की कथा-वस्तु रूपी भवन का निर्माण किया है, जिसमें अन्य ग्रथो का आधार तो मिट्टी के रूप में ही है उसे कल्पना के साँचे में ढालकर एक काव्य-रूप देने का कार्य उनकी प्रतिभा ने किया है। इसी कारण दूर से देखने पर कामायनी की सारी कथा कल्पना-प्रसून ही ज्ञात होती है, परन्तु जैसा कि ऊपर सिद्ध किया गया है, इसका ऐतिहासिक आधार भी है। फिर भी वह ऐतिहासिक आधार इतना अपर्याप्त है कि कामायनी की कथा को प्रसादजी की कल्पना का सहारा अधिक लेना पडा है और इसी कारण यहाँ ऐतिहासिक तत्त्व की अपेक्षा कल्पना-तत्त्व का प्राधान्य हो गया है।

वैदिक काल से 'कामायनी' तक वस्तु के रूपान्तर—कामायनी के वस्तु-स्रोतो की विवेचना करने के उपरान्त यह स्पष्ट रूप से ज्ञात होता है कि ऋग्वेद सहिता में तो कामायनी की कथा का केवल धुँधला सा आभास ही मिलता है, क्योंकि वहाँ पर केवल मनु, श्रद्धा, इडा, मानव, आकुलि-किलात आदि के नाम ही आये हैं और उन नामो को पढकर इनके पारस्पारिक सम्बन्ध का कोई निश्चित रूप नही मिलता। केवल इडा का मनु से कुछ सम्बन्ध अवश्य दिखाई देता है, क्योंकि उसे ऋग्वेद में मनु या मानवो पर शासन करने वाली कहा है। ऐसे ही ऋग्वेद काल मे प्रलय का तो कोई चिह्न ही नही मिलता, केवल सृष्टि के आरम्भ में सर्वत्र जल ही जल होने के सकेत मात्र मिलते हैं। यजुर्वेद में भी न इस प्रलय का सकेत मिलता है और न श्रद्धा, मनु, असुर-पुरोहितो आदि के सम्बन्ध का उल्लेख हुआ है। वहाँ भी इडा तथा मनु के सम्बन्ध का ही क्षीण आभास मिलता है। अथर्ववेद में आकर अवश्य प्रलय का सकेत मिलता है, परन्तु शेष बाते अन्य वेदो के समान ही हैं। इस प्रकार सहिता-काल में कामायनी की कथावस्तु का भ्रूण रूप ही विद्यमान है और उसमें कोई अन्विति नही मिलती।

ब्राह्मण-काल में आकर ऋषियो ने वेदो के अर्थ को समझने और समझाने का अत्यधिक प्रयत्न किया और इसी प्रयत्न के परिणामस्वरूप प्रत्येक वेद-सहिता के कितने ही ब्राह्मण-ग्रन्थ बने। वेदो का अर्थ बताने के लिए ऋषियो ने लोक-प्रचलित आख्यानो को भी उदाहरण के रूप में उद्घृत किया, जिससे कितनी ही बातें जो वेदो में अस्पष्ट थी, यहाँ आकर स्पष्ट होने लगी। लगभग सभी वेदो के ब्राह्मण-ग्रथ

१—कामायनी, पृ० २८०-२८४।

बने। इन समस्त ब्राह्मण-ग्रंथो मे वेदो के अर्थ को समझाने का स्तुत्य प्रयत्न हुआ, परन्तु सभी ब्राह्मण-ग्रंथ उतने लोक-प्रिय न हो सके, जितना कि शुक्ल यजुर्वेद का शतपथब्राह्मण हुआ। विद्वानो के विचार से समस्त वैदिक साहित्य में ऋग्वेद के उपरान्त इसी ग्रंथ की प्रतिष्ठा है। इसी शतपथब्राह्मण में हमे सर्वप्रथम कामायनी की सक्षिप्त मूल-कथा मिलती है। यहाँ भी यद्यपि कथा यत्र-तत्र उदाहरणो के रूप में बिखरी हुई है, फिर भी लगभग कथा का यत्किंचित् आभास मिल जाता है। संहिता-काल मे मनु, श्रद्धा आदि का जो सम्बन्ध हमे ज्ञात नही होता था, वह इस ग्रंथ मे आकर स्पष्ट होने लगता है और मनु को 'श्रद्धादेव' कहकर तथा आकुलि-किलात द्वारा मनु को यज्ञ की ओर प्रेरित करने के कारण हमें मनु, श्रद्धा तथा असुर-पुरोहितो के सम्बन्ध के विषय मे कोई सन्देह नही रहता। प्रलय अथवा जलप्लावन की कथा तो पूर्ण रूप से ही इसी ग्रंथ मे मिल जाती है। इसके अतिरिक्त वेद-संहिताओ में मनु और इडा के सम्बन्ध का भी कोई विशेष स्पष्टीकरण नही हुआ था। शतपथब्राह्मण मे आकर इड़ा को मनु की दुहिता कहा है, उसका जन्म मनु द्वारा किये गये मैत्रावरुणी यज्ञ से होता है और मनु द्वारा हविरूप मे घृत, दधि आदि दिये जाने पर उनसे ही इडा का पालन होता है। अत वह मनु से सम्बन्धित प्रतीत होती है। इतना ही नही इस ग्रंथ में प्रजापति द्वारा अपनी दुहिता पर किये गये अनैतिक व्यवहार का भी उल्लेख मिलता है तथा इस अनैतिक व्यवहार के कारण देवताओ के रुष्ट होने एव रुद्र के द्वारा बाण-सधान करने की भी चर्चा यहाँ मिल जाती है। इसके साथ ही मनु ने आगामी सृष्टि का विकास श्रद्धा द्वारा न करके इडा के द्वारा किया है ऐसा उल्लेख भी शतपथब्राह्मण मे मिलता है। इस प्रकार कामायनी से कुछ भिन्न कथा का रूप ब्राह्मण-ग्रंथो मे मिलता है। परन्तु कवि प्रसाद ने कामायनी मे उस कथा को फिर अपनी इच्छा के अनुसार अधिक सरस और उपयुक्त बनाने के लिए कुछ परिवर्तन किये हैं जिनका उल्लेख आगे किया गया है। फिर भी अधिकाश कथा शतपथब्राह्मण से ही ली गई है।

रामायण तथा महाभारत-काल मे आकर इस कथा का कुछ भाग तो लुप्तप्राय-सा दिखाई देता है, परन्तु जो कुछ भाग मिलता है, उसमे पर्याप्त परिवर्तन एव परिवर्द्धन मिलते हैं। वाल्मीकि रामायण मे इडा का आख्यान आया है, जिसमे उसे कर्दम प्रजापति का पुत्र कहा गया है और वही पुत्र पुनः शिवजी के विहार वन में प्रविष्ट होने के कारण शाप से स्त्री रूप मे परिणत होकर इड़ा रूप धारण करता हुआ बतलाया है।[1] इस प्रकार वहाँ इड़ा की स्त्री एवम् पुरुष दोनो रूपो में चर्चा

मिलती है। साथ ही उसका वैवस्वत मनु से कोई सम्बन्ध नही दिखाई देता। इसके अतिरिक्त अन्य सभी घटनायें रामायण में कही नही मिलतीं। महाभारत में जलप्लावन की कथा तो विस्तार के साथ मिलती है, उस पर शतपथब्राह्मण का पूर्ण प्रभाव भी ज्ञात होता है और श्रद्धा एव मनु के सम्बन्ध का भी पता 'श्रद्धादेव' शब्द से चल जाता है, परन्तु इडा और मनु तथा असुर-पुरोहितो के सम्बन्ध की चर्चा यहाँ नही मिलती। महाभारत से सम्बन्धित 'हरिवश' में अवश्य मनु और इडा के सम्बन्ध की चर्चा मिल जाती है, परन्तु वहाँ पर पुन इडा को वैवस्वत मनु की ही पुत्री बतलाया गया है। इतना ही नही उसे वाल्मीकि रामायण की ही भाँति स्त्री तथा पुरुष दोनो रूप धारण करते हुए लिखा है। 'हरिवश' मे श्रद्धा तथा मनु के सम्बन्ध की चर्चा नही मिलती। इतना ही नही यहाँ पर हमें सर्वप्रथम मनु के दस पुत्रो का भी उल्लेख मिल जाता है। परन्तु यह ज्ञात नही होता कि इन दस पुत्रो की माता अथवा मनु-पत्नी कौन है।[1]

पुराण-काल मे आकर ये वैदिक कथायें पूर्णतया नया रूप धारण कर लेती हैं। यद्यपि इन कथाओ का आधार हमारे वैदिक ग्रथ ही हैं, तथापि पुराणकारो ने कुछ अपनी ओर से भी मिलाकर उन कथाओ को अतिशयोक्तिपूर्ण ढग से प्रस्तुत किया है। वैदिक ग्रथो एवम् रामायण-महाभारत में जलप्लावन, इडा, मनु, श्रद्धा आदि की कथाओ का जो अत्यन्त सूक्ष्म रूप मिलता था, पुराणो मे आकर उन सभी कथाओ ने विस्तृत रूप धारण कर लिया है। कही-कही तो दस-दस और बारह-बारह अध्यायो मे वही छोटी सी कथा प्रस्तुत की गई है। जैसे त्रिपुर-दाह का वर्णन शिव-पुराण में दस अध्यायो के अन्तर्गत दिया गया है और मत्स्यपुराण मे यही कथा बारह अध्यायो में आई है। पुराणो मे जलप्लावन तथा मनु-इडा सम्बन्धी कथायें तो ब्राह्मण-ग्रथो एव रामायण-महाभारत के समान ही दी गई हैं, परन्तु श्रद्धा तथा मनु के सम्बन्ध का यहाँ अधिक स्पष्टीकरण हुआ है। अभी तक मनु को 'श्रद्धादेव' कहकर केवल यही बतलाया गया था कि वे श्रद्धा से सम्बन्धित तो हैं, परन्तु क्या श्रद्धा अपना पार्थिव रूप भी रखती है अथवा क्या वह मनु की पत्नी भी है, इन बातो का कुछ ज्ञान नही होता था। पुराणकाल में आकर श्रीमद्भागवतपुराण मे श्रद्धा को स्पष्ट ही मनु की पत्नी घोषित कर दिया गया और श्रद्धा से ही मनु को दस पुत्रो की प्राप्ति बतलाई गई। इसके साथ ही पुराणो मे मन्वन्तरो की गणना करके क्रमश सभी मन्वन्तरो का इतिहास भी दिया गया है, जिससे यह स्पष्ट पता चल जाता है

१—हरिवशपुराण, अध्याय १०।

कि इस आधुनिक मानव-सृष्टि के प्रारम्भकर्ता हमारे कथा-नायक वैवस्वत मनु ही हैं और इनसे ही मानव-सभ्यता का विकास हुआ है।

पुराण-काल के उपरान्त श्रद्धा-मनु एवम् इडा-सम्बन्धी कथा के प्रति पूर्णतः उदासीनता मिलती है। संस्कृत तथा अन्य भाषाओं के सभी कवि राम, कृष्ण, शिव तथा रामायण, महाभारत के अन्य आख्यानों को लेकर ही ग्रंथ-रचना करते रहे और किसी ने भी मानव-सृष्टि के इस धुँधले प्रभात की ओर ध्यान नहीं दिया। भारतीय साहित्य-स्रष्टाओं में प्रसादजी ही ऐसे प्रथम कवि हैं, जिन्होंने आधुनिक कविता के ब्राह्म-मुहूर्त में उठकर मानव-सभ्यता के इस भव्य एवम् दिव्य विहान के दर्शन किए और इस धुँधले प्रकाश में ही अपने आदि-मानव की दिव्य झाँकी देखी। साथ ही उसमें से एक ज्योतिर्मयी किरण लेकर उसे अपनी उर्वर कल्पना द्वारा ऐसा आलोक-पूर्ण काव्य-रूप दिया जो वर्तमान मानव के लिए ही नहीं, अपितु भविष्य में भूले-भटकों के लिए भी प्रकाश-स्तम्भ की भाँति पथ-प्रदर्शक बना रहेगा।

प्रसादजी द्वारा कथावस्तु में परिवर्तन और उसके कारण—अब प्रश्न यह उठता है कि प्रसादजी ने कथा में कहाँ-कहाँ परिवर्तन किया है और उस परिवर्तन का क्या संभव कारण हो सकता है। इस प्रश्न के उत्तर के लिए भारतीय धार्मिक एवम् ऐतिहासिक ग्रंथों का अध्ययन करने के उपरान्त यह पता चलता है कि प्रसादजी ने अपनी कामायनी में कथा-शृंखला मिलाने के लिए निम्नलिखित परिवर्तन किए हैं और उनके कारण भी क्रमशः इस प्रकार हैं :—

(१) कामायनी में सर्वप्रथम जलप्लावन का वर्णन आता है। यह कथा इतनी प्रसिद्ध है कि भारतीय तथा ईसाई, इस्लामी, यूनानी आदि विश्व के सभी प्राचीन साहित्यों में इसका उल्लेख मिलता है। अतः प्रसादजी ने इतनी विश्व-विश्रुत कथा को विस्तारपूर्वक अपने ग्रंथ में देकर व्यर्थ काव्य-कलेवर को विस्तीर्ण करना उपयुक्त नहीं समझा, किन्तु उसे एक सिद्ध घटना मानकर केवल संक्षेप में उसका विवरण दे दिया है। भारतीय ग्रंथों में प्रायः मनु की नौका मत्स्य के सींग में बाँधी जाकर अन्त में उसी के द्वारा हिमालय पर्वत पर पहुँचती है, परन्तु प्रसादजी ने मत्स्य के सींग तथा उससे नाव के बाँधने का उल्लेख नहीं किया है। इसका कारण यह जान पड़ता है कि प्रसादजी ने स्वाभाविकता की रक्षा करने के लिए उपर्युक्त सभी बातें छोड़ दी हैं, क्योंकि एक तो मत्स्य के सींग नहीं होता, दूसरे ऐसे भयंकर जलप्लावन के समय यह कहाँ संभव था कि मनु नाववालों के साथ नौका को मत्स्य के सींग से बाँधने के लिए तैयार बैठे रहते और उस महामत्स्य के आते ही उसके सींग से उसे बाँध देते। वह स्थिति तो बड़ी ही भयंकर रही होगी। दूसरे इस वैज्ञानिक युग में मनु और मत्स्य के वार्तालाप आदि में कौन विश्वास कर सकता है। यह सब

अस्वाभाविक ही है। इसी कारण कथा के पूर्व भाग अर्थात् मनु-मत्स्य के वार्त्तालाप तथा नौका के श्रृग से बाँधने आदि का परित्याग करके प्रसादजी ने सीधी-साधी तर्क-सगत कथा को अपनाया है और मनु की नौका को महामत्स्य के चपेटे द्वारा हिमालय की उन्नत चोटी पर पहुँचा दिया है।

(२) भारतीय ग्रथो मे मनु द्वारा किये गये मैत्रावरुण यज्ञ से इडा की उत्पत्ति बतलाई गई है। साथ ही वह मनु की दुहिता भी मानी गई है। वह मनु को उनके निवास-स्थान पर ही मिलती है और उसके द्वारा ही मनु अपनी मानव-सृष्टि का विकास करते हैं। परन्तु प्रसादजी ने मनु की भेंट पहले इडा से न कराकर श्रद्धा से कराई है, इडा तो उन्हे हिमगिरि से दूर सारस्वत नगर में मिलती है। दूसरे, इडा को मनु की पुत्री न कहकर मनु की 'आत्मजा प्रजा' तथा सारस्वत प्रदेश की रानी बतलाया है। तीसरे, प्रसादजी मैत्रावरुण यज्ञ से उत्पन्न होने वाली इडा की घटना के बारे में पूर्णतया मौन हैं। इन तीनो परिवर्तनो के ये कारण जान पडते हैं कि सर्वप्रथम तो मनु के लिए शतपथब्राह्मण में ही 'श्रद्धादेव' शब्द मिल जाता है और श्रीमद्भागवतपुराण में श्रद्धा को स्पष्ट ही मनु की पत्नी मान लिया है। अत इडा को मनु की पत्नी बनाना या उससे ही मानव-सृष्टि का विकास दिखाना उपयुक्त नही दिखाई देता। श्रीमद्भागवतपुराण में श्रद्धा द्वारा ही मनु को दस पुत्रों की उपलब्धि होती है, इडा मे मनु को कोई पुत्र प्राप्त नही होता। अत मनु और श्रद्धा का मिलन एव दोनो को पति-पत्नी रूप मे दिखाना उचित जान पडता है। दूसरे, इडा को मनु-पुत्री न बताकर प्रसादजी ने अपने काव्य को अस्वाभाविकता से भी बचाया है, क्योंकि मनु इडा के साथ जो अनैतिक व्यवहार करते हैं, वह कामायनी में आपत्ति-जनक एव अस्वाभाविक प्रतीत नही होता। यदि इडा को मनु-पुत्री बताकर पुन ऐसे अनैतिक व्यवहार का वर्णन किया जाता, तो वह अत्यन्त अस्वाभाविक एव अशोभनीय होता। परन्तु वासना से कलुषित मनु का हृदय एक दिव्य सौन्दर्य-सम्पन्न युवती को देखकर मचल जाना अत्यन्त स्वाभाविक है। ऐसा करके प्रसादजी ने मनु को घोर नैतिक पतन मे भी बचा लिया है। तीसरे, मैत्रावरुण यज्ञ का वर्णन भी फिर इसी-लिए नही किया, क्योंकि इडा को जब मनु की दुहिता के रूप में स्वीकार ही नही किया गया है, तो फिर वह सब वर्णन व्यर्थ है। केवल इडा को हिमगिरि से दूर एक स्वतन्त्र प्रदेश की रानी बतलाकर उनकी ओर मनु को आकृष्ट होता हुआ बतला दिया है, जिससे प्रसादजी को अपनी कथा मे रूपक का निर्वाह करने मे भी सफलता मिली है।

(३) भारतीय ग्रथो मे मनु जलप्लावन के उपरान्त सृष्टि की कामना से मैत्रावरुण यज्ञ करते हुए दिखलाये गये है, परन्तु कामायनी मे वे पहले पाक-यज्ञ

करते हैं जिससे वे अपनी तथा अन्य प्राणियो की क्षुधा का निवारण करते हैं। इस परिवर्तन का कारण यह प्रतीत होता है कि प्रसादजी यहाँ निष्काम कर्म की सफलता दिखलाना चाहते हैं, क्योंकि मनु किसी कामना से पाक-यज्ञ नही करते और उस यज्ञ के उपरान्त ही उन्हे श्रद्धा जैसी जीवन-सगिनी प्राप्त होती है, जैसे मानो मनु को अपनी खोई हुई शक्ति मिल गई हो। दूसरे, प्रलय से बचकर एकदम मनु को पुत्रेष्टि-यज्ञ करना अस्वाभाविक भी रहता, इसी कारण पहले वे निष्काम पाक-यज्ञ करते हैं, परन्तु श्रद्धा के मिल जाने के उपरान्त वे आकुलि-किलात की प्रेरणा से मैत्रावरुण यज्ञ भी करते हैं। ऐसा वर्णन करके प्रसादजी ने अपनी कथा को मूल-कथा से भी सम्बद्ध कर दिया है और उसमे उचित सतुलन भी स्थापित किया है।

(४) भारतीय साहित्य मे श्रद्धा एव इडा दोनो नारियो के महान् व्यक्तित्व की झाँकी मिलती है। फिर भी प्रसादजी का यह कैसा पक्षपात है कि वे श्रद्धा का अत्यन्त दिव्य एव असाधारण चरित्र अकित करते हैं और इड़ा को श्रद्धा की अपेक्षा तुच्छ ठहराते हैं। इसका पहला कारण तो यह प्रतीत होता है कि केवल श्रद्धा मे ही प्रसादजी को भारतीय नारी की पूर्णता के दर्शन हुए हैं। दूसरे, 'कामायनी' का चरम लक्ष्य बुद्धि (इडा) के वशीभूत मन (मनु) को हृदय (श्रद्धा) के सहयोग से अखड आनन्द की प्राप्ति कराना है और उसकी पूर्ति श्रद्धा जैसी पतिव्रता एव सच्चरित्र नारी से ही हो सकती है। तीसरे, इडा के चरित्र में कही-कही दोष भी मिलते हैं, जैसे उसे कभी बुध के साथ,[1] कभी मनु के साथ और कभी मैत्रावरुण के साथ[2] समागम करते हुए बतलाया गया है, जबकि श्रद्धा के चरित्र में कही भी कोई दोष किसी भी ग्रथ में नही मिलता तथा सर्वत्र उसकी महानता के ही दर्शन होते हैं।

(५) सभी भारतीय ग्रथो मे प्रजापति द्वारा अपनी दुहिता के साथ अनैतिक व्यवहार की चर्चा मिलती है और कही भी न तो प्रजापति का नाम वैवस्वत मनु दिया है और न दुहिता का नाम इडा मिलता है। फिर प्रसादजी ने कैसे इसे मनु-इडा से सम्बद्ध कर दिया है? इसका प्रथम कारण तो यह जान पडता है कि शतपथ-ब्राह्मण मे मनु को भी प्रजापति माना गया है और इडा को स्पष्ट ही मनु के पाक-यज्ञ से उत्पन्न होने के कारण उनकी दुहिता बतलाया है। अत इस घटना का सम्बन्ध मनु एवम् इडा से हो सकता है। दूसरे, रूपक का निर्वाह करने के लिए भी ऐसा परिवर्तन किया गया जान पडता है, क्योंकि बौद्धिक जगत मे भ्रमण करने वाले मन

१—देखिए क्रमशः हरिवशपुराण अध्याय १०, वाल्मीकि रामायण, उत्तर-काण्ड, सर्ग २७-२९।

२—शतपथब्राह्मण १।८।१।११ व १।८।१।२७

(मनु) का ऐसा अतिचार दिखाने के लिए प्रसादजी ने इस भिन्न कथा से भी मनु क
सम्बन्ध जोड दिया है।

(६) यदि प्रजापति और मनु को एक मान लें तो दुहिता के साथ अनैति
आचरण करने पर देवताओ के रुष्ट होने का उल्लेख तो शतपथ आदि ब्राह्मण-ग्रथ
में मिल जाता है, परन्तु प्रसादजी ने कामायनी में केवल देवताओ को ही रुष्ट होते हु
नही दिखलाया, अपितु एक जन-क्रान्ति दिखाकर उसका नेतृत्व आकुलि-किलात नाम
असुर-पुरोहितो से कराया है। इस परिवर्तन का कारण यह प्रतीत होता है कि
प्रसादजी आसुरी प्रवृत्तियो को सभी सघर्षो का मूल बताना चाहते हैं, फि
विलासी मन के लिए तो आसुरी भावनायें ही नेतृत्व करके हलचल उत्पन्न किय
करती हैं। इसीलिए आकुलि-किलात को क्रान्ति का नेतृत्व करने वाला लिखा है
गीता मे भी आसुरी प्रवृत्ति वाले को द्वेष करने वाला, पापाचारी, क्रूरकर्मी, नराध
तथा बारम्बार जन्म लेने वाला बतलाया है।[1] दूसरे, जन-क्रान्ति आदि दिखाने क
मूल कारण शासक एवम् शासित वर्ग के सघर्ष का प्रदर्शन करना है। प्रसादजी क
यह धारणा सर्वत्र दिखाई देती है कि वे अतीत के विस्मृत कथानक में वर्तमा
घटनाओ को दिखाकर उसके परिणाम से पाठको को परिचित कराया करते हैं।

(७) अन्य भारतीय ग्रथो में मनु के दस पुत्रो का उल्लेख मिलता है, परन्त
प्रसादजी ने कामायनी में केवल एक ही पुत्र 'मानव' या 'कुमार' का उल्लेख किय
है। इसका कारण यह है कि कामायनी एक प्रबन्ध-काव्य है, इतिहास-ग्रथ नही
प्रबन्ध के लिए अनावश्यक विस्तार अपेक्षित नही। अत केवल एक पुत्र का उल्ले
करके प्रसादजी ने शेष पुत्रो का विवरण नही दिया है।

(८) सारस्वत नगर में वैवस्वत मनु एक स्मृतिकार के रूप मे प्रसादजी
चित्रित किए हैं, परन्तु भारतीय परम्परा के आधार पर मनु-स्मृति के प्रणेत
स्वायम्भुव मनु माने जाते हैं[2] और वैवस्वत मनु तो उनके उपरान्त ६ मन्वतरो
बीत जाने पर सातवें मनु के रूप में आते हैं। इस परिवर्तन का कारण यह है कि
यह मन्वन्तर की कल्पना पौराणिक है। ऋग्वेद तथा ब्राह्मण-ग्रथो में इसका उल्ले
नही मिलता। अत यह कहना सर्वथा कठिन है कि स्वायम्भुव मनु ने ही मनुस्मृति
बनाई थी। वैसे मानव-सृष्टि के विकास के साथ-साथ ही उसके नियन्त्रण के लि
नियमादि की स्थापना का होना सर्वथा स्वाभाविक जान पडता है। यही सोचक
सभवत प्रसादजी ने मनु को प्रजापति एवम् स्मृतिकार दोनो रूपो में चित्रित किय
है। दूसरे, जलप्लावन में पहली सभी बातें नष्ट हो चुकी थीं, तो नयी व्यवस्थ

१—श्रीमद्भगवद्गीता १६।१९ २—हिन्दुत्व, पृ० ४४६।

स्थापित करने के लिए स्मृति-ग्रंथो का बनाना वैवस्वत मनु द्वारा ही संभव हो सकता है।

वस्तु में नवीन उद्भावनाएँ—इसके साथ ही प्रसादजी ने कथावस्तु की क्रमबद्धता को अक्षुण्ण बनाये रखने के लिए कामायनी में कितनी ही मौलिक एवम् नवीन उद्भावनाएँ की हैं, जो सक्षेप मे इस प्रकार हैं :—

(१) प्रसादजी ने देवताओ के निर्वाध विलास के कारण ही जलप्लावन द्वारा देव-सृष्टि का विनाश बतलाया है। यह कल्पना सभवत. महाकाव्य को एक नैतिक रूप प्रदान करने के लिए की गई है।

(२) प्रकृति के अनुपम सौन्दर्य का वर्णन करके मनु के हृदय मे जीवन-सगिनी के प्रति भावो को उद्दीप्त किया गया है। प्रसादजी की यह कल्पना उनके प्रगाढ प्रकृति-प्रेम की द्योतक है, साथ ही इस कल्पना द्वारा शृंगार के उद्दीपनो को भी प्रस्तुत किया गया है।

(३) निराश मनु को कर्मण्य बनाने के लिए श्रद्धा के एक ओजस्वी भाषण एवम् मानवता के सन्देश की उद्भावना की गई है। इस उद्भावना का कारण यह जान पडता है कि प्रसादजी निवृत्ति मार्ग की अपेक्षा प्रवृत्ति मार्ग को अच्छा समझते हैं, इसी से यहाँ पलायनवाद के विरुद्ध श्रद्धा द्वारा मनु को प्रवृत्ति मार्ग पर लेजाकर उसमे लोकमगल के दर्शन करने की प्रेरणा प्रदान की गई है।

(४) श्रद्धा के प्रणय-सूत्र में बँधने से पूर्व काम-सदेश की कल्पना की गई है। इस कल्पना का प्रथम कारण तो यह है कि प्रसादजी प्रकृति के मूल में व्याप्त काम के विशुद्ध रूप का आभास देना चाहते हैं। दूसरे, पिता ही अपनी पुत्री को एक योग्य वर के हाथ में सौपा करता है, इस भारतीय परम्परा को दिखाने के लिए भी इनकी कल्पना की गई है। तीसरे, सृष्टि-कार्य में काम का महत्व स्थापित करने एव दाम्पत्य प्रेम में परस्पर अनुकूलता सिद्ध करने के लिए इस काम-संदेश की अवतारणा हुई है।

(५) प्रसादजी ने श्रद्धा के हृदय में स्त्रियोचित स्वाभाविक लज्जा के उदय का उल्लेख बडी ही सजीवता के साथ किया है। इस कल्पना मे प्रसादजी का सौंदर्य-प्रेम हिलोरे ले रहा है। साथ ही यह एक मनोवैज्ञानिक सत्य भी है, किन्तु अबाधित विलास से बचाने के लिए तथा सयम का पाठ पढाने के लिए भी इसकी कल्पना की गई जान पडती है।

(६) श्रद्धा का अहिंसा-प्रेम, वात्सल्य भाव, गृह-निर्माण तथा ईर्ष्यावश मनु का श्रद्धा से दूर भाग जाना आदि भी प्रसादजी की मौलिक कल्पना के अतर्गत आते है। इनका कारण यह है कि यहाँ प्रसादजी ने गाधीवादी भावनाओ से प्रेरित होकर

श्रद्धा के चरित्र का निर्माण किया है। दूसरे, श्रद्धा नामक भाव को अपने यहाँ समस्त भारतीय ग्रन्थो मे अधिक महत्व प्रदान किया गया है। अत उसी भावना की मूर्त्तिमती देवी में उन सभी उदात्त भावनाओं को भरने का प्रयत्न हुआ है। मनु के भागने में मानव-दुर्बलता को चित्रित किया गया है। साथ ही मनोवैज्ञानिकता का पुट देने के लिए भी मनु को पुत्र के प्रति ईर्ष्याभाव रखते हुए दिखाया है।

(७) मनु के शासन में जन-क्रान्ति का उल्लेख पूर्णतया कल्पना-प्रसूत है। इसमें प्रसादजी ने आधुनिक राजनीति का रूप प्रस्तुत किया है और यन्त्रवाद एव भौतिक उन्नति की विफलता का चित्र अंकित करने के लिए ऐसी कल्पना की है।

(८) श्रद्धा के स्वप्न की घटना, उसका अपने पुत्र के साथ सारस्वत नगर में आना और वहाँ आकर इडा के साथ वार्त्तालाप करने आदि का वर्णन भी पूर्णतया काल्पनिक है। यहाँ पर प्रसादजी ने भारतीय परम्परा की दृष्टि से पातिव्रत धर्म एव नारी की सहज उदारता का चित्र अंकित करने के लिए ऐसी कल्पना की है।

(९) इडा तथा मनु-पुत्र मानव का मिलन पूर्णतया काल्पनिक है। इस कल्पना के द्वारा एक ओर तो प्रसादजी ने रूपक का निर्वाह किया है, क्योंकि बुद्धि और हृदय का सामजस्य इन दोनो के मिलन द्वारा दिखाया है। दूसरे, शासन के लिए केवल कठोर राजनीति ही अपेक्षित नही, उदात्त भावनाओ से सम्पन्न हृदय की भी आवश्यकता होती है, यह भी बतलाने की चेष्टा की है।

(१०) मनु का त्रिपुर-दर्शन तथा कैलाश पर भगवान् शिव के नृत्य में लीन होने की भावना को भी प्रसादजी ने अपनी कल्पना के योग से ही काव्य में प्रस्तुत किया है। इन दोनो घटनाओ को अपने दार्शनिक पक्ष का समर्थन करने के लिए चित्रित किया है। एक ओर तो प्रसादजी शैव थे और शिव को ही अखड आनन्द के अधिष्ठाता मानते थे। दूसरे, ससार का वास्तविक चित्र प्रस्तुत करने के लिए त्रिपुर की कल्पना की है और उसके उपरान्त समरसता एव आनन्द का प्रचार करने के लिए मनु को कैलाश पर्वत पर शिव के चरणो मे पहुँचाया है। इस तरह इन घटनाओ का उल्लेख प्रसादजी ने अपने आनदवाद के समर्थन के लिए किया है।

(११) अन्त में इडा, मानव तथा समस्त सारस्वतनगर-निवासियों का कैलासगिरि की यात्रा करना भी पूर्णतया कल्पित है। इस कल्पना का कारण प्रसादजी की सास्कृतिक समन्वय की भावना है। इस समन्वय द्वारा उन्होंने समरसता के सिद्धान्त की प्रतिष्ठा की है और यह कार्य सभी पात्रो को एक स्थान पर एकत्रित किए बिना सम्पन्न नही हो सकता था। अत इसी सिद्धान्त की पुष्टि के लिए अन्तिम घटना की योजना की गई है, जिसके द्वारा सभी पात्र उन्नत हिमगिरि पर पहुँच कर पारस्परिक भेदभाव को भूल जाते हैं और अखड आनद का अनुभव करते हैं।

कामायनी की वस्तु का शास्त्रीय विधान

भारतीय साहित्यशास्त्रो मे कथावस्तु का जितना सूक्ष्म विवेचन मिलता है, उतना अन्यत्र कही भी दिखाई नही देता। यह विवेचन किसी सीमा तक वैज्ञानिक भी है, क्योकि यहां पर कथावस्तु कितने प्रकार की होती है, उसमें सन्धियाँ और सन्ध्यगो की योजना किस प्रकार की जाती है, कितनी अर्थप्रकृतियाँ एवम् कार्यावस्थायें होती हैं इत्यादि अनेक सूक्ष्मातिसूक्ष्म बातो का विवेचन भारतीय साहित्यशास्त्रियो ने किया है। भारत के साहित्यशास्त्रो मे भरतमुनि के नाट्यशास्त्र का सर्वप्रथम स्थान है। यद्यपि यह ग्रथ नाट्य के विषय को लेकर लिखा गया है, तथापि काव्योचित एवम् सगीत-विषयक अन्य बातो का समावेश भी प्रसगवश होगया है। नाट्य भी काव्य ही होता है और भरतमुनि ने काव्यमात्र के लिए पाँच सन्धियो से युक्त इतिवृत आवश्यक माना है।[1] इतना होने पर भी यह शका उत्पन्न हो सकती है कि इतिवृत्त का यह उल्लेख रूपक के प्रसग में होने के कारण क्या इसका सम्बन्ध केवल नाटक से ही है, प्रबन्धकाव्य से नही ? परन्तु इस शका का समाधान आनन्दवर्धनाचार्य ने कर दिया है, क्योकि उन्होने प्रबन्ध-काव्य की कथावस्तु का उल्लेख करते हुए बतलाया है कि उसमें केवल शास्त्रीय विधान के परिपालन की इच्छा से नही, अपितु रसाभिव्यक्ति की दृष्टि से भी सन्धि और संध्यगो की रचना आवश्यक होती है।[2] आगे चलकर साहित्यदर्पणकार आचार्य विश्वनाथ ने भी महाकाव्य के लक्षणो का उल्लेख करते हुए 'सर्वे नाटक सधय."[3] लिखकर उसके इतिवृत्त में नाटक की सभी सधियो का होना आवश्यक माना है।

साहित्यशास्त्रो मे कथावस्तु दो प्रकार की मानी गई है—आधिकारिक तथा प्रासगिक। मुख्य कथावस्तु आधिकारिक होती है और मुख्य कथावस्तु से ही जिसके स्वार्थ की सिद्धि हो वह प्रासगिक कहलाती है। यह प्रासगिक वस्तु पुनः दो प्रकार की मानी गई है—पताका और प्रकरी। जब कोई प्रासगिक कथा मध्य मे से प्रारम्भ होकर अत तक चले, तब वह पताका कहलाती है और बीच में ही समाप्त हो जाय तो उसे प्रकरी कहा जाता है। पुन. यह कथा यदि ऐतिहासिक होती है तब इसे

१—इतिवृत्तं तु काव्यस्य शरीरं परिकीर्तितम्।
पचभि. संधिभिस्तस्य विभागा. परिकीर्तित:॥ नाट्यशास्त्र २१।१

२—सधि संध्यंगघटनं रसाभिव्यक्त्यपेक्षया।
न तु केवलया शास्त्र-स्थिति-संपादनेच्छया॥ ध्वन्यालोक ३।१२

३—साहित्यदर्पण, ६।३०२

प्रख्यात कहते हैं, यदि कवि-कल्पित होती है तो उत्पाद्य कहलाती है और कुछ ऐतिहासिक और कुछ उत्पाद्य हो तो ऐसी कथा को मिश्र कहते हैं। इसके साथ ही दिव्य और मर्त्य के भेद से और भी कथावस्तु का विभाजन किया जाता है अर्थात् जिसमें देवताओ का वर्णन हो वह दिव्य और जिसमें साधारण मर्त्यलोक के पुरुषों का वर्णन हो वह मर्त्य कहलाती है।[1]

कामायनी की कथावस्तु का निरीक्षण करने पर ज्ञात होता है कि इस काव्य का फल 'आनन्द' की प्राप्ति है और उस फल को मनु प्राप्त करते है। अत मनु इस कथावस्तु के स्वामी हे। ये मनु ही अनेक कष्ट उठाने के उपरान्त श्रद्धा के सहयोग से 'आनन्द' को प्राप्त करते हैं। इसी कारण मनु एवम् श्रद्धा की कथा आधिकारिक वस्तु है। दूसरी प्रासगिक वस्तु में से 'पताका' नाम की कथावस्तु के अन्तर्गत इडा सम्बन्धी कथा आती है, क्योकि काव्य के मध्य में मनु को सारस्वत प्रदेश में इडा का साक्षात्कार होता है। इसके उपरान्त मनु की राज्य-व्यवस्था, सघर्ष, इडा तथा कुमार का राज्य सचालन और अन्त में समस्त सारस्वत प्रदेश के निवासियो सहित इडा एवम् मानव की कैलाश-यात्रा तक इडा का वर्णन चलता है। इस प्रकार यह कथा जहाँ से प्रारम्भ हुई है वहाँ से लेकर अन्त मे मनु एवम् श्रद्धा की कथा के साथ ही समाप्त होती है। तीसरी 'प्रकरी' कथा के अन्तर्गत आकुलि-किलात का पौरोहित्य कर्म तथा पशुयज्ञ आदि आते है, क्योकि ये प्रासगिक वृत्त काव्य के मध्य में उत्पन्न होकर मध्य में ही विलीन हो जाते हैं और इनका अपना स्वतन्त्र कोई उद्देश्य नही है।

इनके अतिरिक्त प्रख्यात, उत्पाद्य तथा मिश्र—इन तीनो भेदो में से कामायनी की आधिकारिक कथावस्तु तो प्रख्यात की ही कोटि मे आती है, क्योकि उसका ऐतिहासिक आधार उपस्थित है। शेप प्रासगिक कथाओ में से काम-सदेश तथा सारस्वत-निवासियो की कैलाश-यात्रा वाले प्रसग पूर्णत कवि-कल्पित हैं। अत उत्पाद्य है। परन्तु शेप सभी प्रसगो के ऐतिहासिक आधार उपस्थित होने के कारण वे प्रख्यात की ही कोटि में आते हैं। हाँ, इतना अवश्य है कि यत्र-तत्र कथा की सगति मिलाने के लिए कवि ने अपनी कल्पना का प्रयोग किया है और उसमें चमत्कार उत्पन्न करने वा प्रवाहिकता लाने का प्रयत्न किया है। दिव्य, मर्त्य आदि भेदो में से कामायनी की कथावस्तु दिव्य की कोटि में आती है, क्योकि इसमें आए हुए मनु, श्रद्धा, इडा आदि सभी प्रमुख पात्र देवता हैं।

पताकास्थानक—शास्त्रीय दृष्टि से वस्तु मे चमत्कार उत्पन्न करने के लिए तथा आगामी कथा की सूचना देने के लिए पताकास्थानको का प्रयोग किया जाता

1—दशरूपक १।१२–१६

है। मुख्यतया आगामी कथा की सूचना दो प्रकार से दी जाती है, या तो तुल्य-सविधान द्वारा या तुल्यविशेषणों द्वारा। जहाँ तुल्य-सविधान या समान इतिवृत्त द्वारा आगामी कथा सूचित की जाती है, वहाँ अन्योक्तिमूलक पताकास्थानक होता है और जहाँ तुल्य विशेषणों अथवा श्लिष्ट पदावली द्वारा आगामी कथा की सूचना दी जाती है, वहाँ पर समासोक्तिमूलक पताकास्थानक होता है। इस तरह प्रमुख रूप से दो प्रकार के पताकास्थानक होते हैं।[1] कुछ विद्वान् चार प्रकार के पताकास्थानकों का होना भी सिद्ध करते हैं।[2] परन्तु विचारपूर्वक देखने पर उक्त दोनों भेदों के अन्तर्गत अन्य सभी भेद आजाते हैं।

कामायनी की कथावस्तु में अधिक पताकास्थानकों का स्वरूप तो नहीं मिलता, क्योंकि इनका प्रयोग नाटकों में ही अधिक किया जाता है और वहाँ पर कथोपकथनों का प्राधान्य होने के कारण अनायास ही आगामी कथा सूचित भी करदी जाती है। परन्तु एक प्रबंध-काव्य में कवि को अपनी ओर से बहुत कुछ कहना पड़ता है तथा पात्रों के कथोपकथन कम होते हैं। अतः यहाँ पताकास्थानकों के लिए अधिक अवकाश नहीं होता। फिर भी जिन दो पताकास्थानकों का वर्णन ऊपर किया गया है, उनके कुछ उदाहरण कामायनी में भी मिल जाते हैं।

तुल्य सविधान या समान कथा की योजना वाले अन्योक्तिमूलक पताकास्थानक का रूप हमें कामायनी के 'आशा' सर्ग में आई हुई 'जब कामना सिंधु तट आई ले संध्या का तारा दीप' से लेकर 'तुहिन कणों, फेनिल लहरों में, मच जावेगी फिर अंधेर'[3] तक की पंक्तियों में मिलता है। क्योंकि यहाँ पहले तो कवि ने रजनी को संध्या सुन्दरी की स्वर्णिम साड़ी फाड़कर उसके विपरीत आचरण करने वाली बतलाया है। दूसरे, संध्या जब विश्व के काले शासन का इतिहास लिख रही थी, तब रजनी को उसकी उपेक्षा करके हँसने वाली कहा है। तीसरे, रजनी यहाँ विश्व-कमल पर मधुकरी के समान जादू डालने वाली बतलाई गई है। चौथे, अपने अभीष्ट सम्पादन के लिए रजनी को हांफती हुई आगे बढ़ने वाली कहा है। पांचवें, रजनी को खिलखिलाकर हँसने वाली बतलाया है तथा उसकी उन्मुक्त हँसी से प्रकृति में पुनः हलचल उत्पन्न होने की आशंका प्रकट की गई है। ये पांच बातें आगे चलकर हमें इड़ा की कथा में भी पूर्णतया मिल जाती हैं, क्योंकि मनु से मिलते ही इड़ा सचमुच श्रद्धा के विपरीत आचरण करती है। जैसे, वह मनु को विश्वास-हीन घोर

१—प्रस्तुतागन्तुभावस्य वस्तुतोऽन्योक्तिसूचकम्।
पताकास्थानकं तुल्यसंविधानविशेषणम्॥ दशरूपक १।१४

२—साहित्यदर्पण ६।२८-३१ ३—कामायनी, पृ० ३८-३९।

भौतिकवादी बना डालती है। दूसरे, रजनी की भाँति इडा भी इस विश्व-नियंता के सारे काले कारनामो पर हँसती हुई उसे निष्ठुर, दुखीजनो की पुकार न सुनने वाला, और किसी की भी सहायता न करने वाला बतलाती है तथा इस दैवी विश्वास से परे मनु को एकमात्र बुद्धि की शरण मे जाने का आग्रह करती है।[1] तीसरे, इडा 'नयन महोत्सव की प्रतीक' एव 'अम्लान कुसुम की नवमाला' जैसी परम सुन्दरी होने के कारण मधुकरी की गूँज के समान अपनी वाणी से मनु के हृदय पर जादू सा डाल देती है और मनु तुरत मत्रमुग्ध से होकर उसके बतलाए हुए मार्ग पर चल देते हैं। चौथे, रजनी की भाँति इडा भी अपनी अभीष्ट सिद्धि के लिए अर्थात् उजडे सारस्वत नगर को बसाने के लिए सदैव उल्लासपूर्वक आगे बढकर मनु का पथ आलोकित करती है।[2] पाँचवे, इडा के प्रथम दर्शन में मनु को जो मृदुल मुस्कान से भरा हुआ सुषमापूर्ण मुखमडल दिखाई दिया था[3] वही आगे चलकर मनु को अनैतिक आचरण करने के लिए बाध्य कर देता है, जिसके परिणामस्वरूप सारे सारस्वत नगर में फिर अधेर मच जाती है। इस तरह कामायनी के अतर्गत प्रथम पताकास्थानक के दर्शन 'आशा' सर्ग की उक्त पक्तियो मे होते हैं।

दूसरे श्लिष्टवचनयुक्त समासोक्तिमूलक पताकास्थानक का स्वरूप कामायनी के 'श्रद्धा' सर्ग मे आई हुई 'कौन हो तुम वसत के दूत' से लेकर 'कर रही मानस हलचल शान्त' तक की पक्तियो मे मिलता है।[4] क्योंकि वहाँ पर कवि ने श्रद्धा को क्रमश वसत की सूचना देने वाली कोकिल, नीरस पतझड में वसत की सुषमा का सचार करने वाली वासतिक छटा, घने अधकार में प्रकाश करने वाली विद्युत् रेखा, ग्रीष्म की भयकर गर्मी मे आनन्द देने वाली शीतल मद पवन, घोर निराशा के समय आशा प्रदान करने वाली नक्षत्र की आशाकिरण तथा मानस की हलचल को शान्त करने

१—उस निष्ठुर की रचना कठोर केवल विनाश की रही जीत,
तब मूर्ख आज तक क्यों समझे हैं सृष्टि उसे जो नाशमयी,
उसका अधिपति ! होगा कोई, जिस तक दुख की न पुकार गई ॥
कामायनी, पृ० १७० ।

२—इडा अग्नि ज्वाला सी आगे जलती है उल्लास भरी,
मनु का पथ आलोकित करती विपद-नदी में बनी तरी ।
—कामायनी, पृ० १८१ ।

३—सुषमा का मण्डल सुस्मित सा बिखराता ससृति पर सुराग ।

वाली कोमलकान्त कल्पना वाले कवि की लघु कल्पना-लहरी कहा है। ये सभी शब्द अपने लाक्षणिक प्रयोगो के साथ-साथ श्लिष्ट भी हैं क्योंकि वसत, पतझड़, तिमिर, नक्षत्र-किरण, दिव्य लहर आदि शब्द लाक्षणिक है और विरस, तपन, मानस, शान्त करना आदि शब्द श्लिष्ट है, इनके द्वारा एक ओर प्रकृति मे होने वाले ऋतु-परिवर्तन का उल्लेख किया जारहा है और दूसरी ओर मानव-जीवन मे उत्पन्न होने वाली स्थितियो का भी आभास मिल रहा है ; क्योकि आगे चलकर श्रद्धा ही मनु के नीरस अथवा राग-अनुराग-रहित जीवन को वासतिक छटा के तुल्य सुखमय बना देती है, सारस्वत प्रदेश मे अत्यत उष्णता अथवा क्रान्ति के कारण सतप्त मनु को शीतल और मंद पवन के तुल्य चेतना प्रदान करती है, ससार से दु खी, सतप्त और निराश मनु को त्रिपुर की वास्तविकता बतलाकर तथा अखण्ड-आनन्द-घन शिव के दर्शन कराकर उन्हे आनन्द की आशा बँधा देती है और अन्त में कैलाशगिरि पर लेजाकर उनकी मानसिक हलचल को पूर्णतया शान्त भी कर देती है। इस प्रकार मनु के प्रथम परिचयात्मक कथन मे कामायनी की अग्रिम कथा का स्पष्ट सकेत मिल जाता है, जो श्लिष्ट पदावली द्वारा प्रस्तुत किया गया है।

अर्थप्रकृतियाँ—कथावस्तु के प्रधान फल की प्राप्ति के लिए जो-जो उपाय दिखलाये जाते हैं, वे ही अर्थप्रकृतियाँ कहलाते हैं।[1] ये अर्थप्रकृतियाँ प्रयोजन की सिद्धि कराती हैं और इनकी सख्या पाँच मानी गई है—बीज, बिन्दु, पताका, प्रकरी और कार्य।[2] बीज अर्थप्रकृति वह है जिसका पहले अत्यत सूक्ष्म रूप मे कथन किया जाता है, किन्तु फल के अवसान तक वह क्रमश विस्तृत होती जाती है।[3] कामायनी में यह 'बीज' अर्थप्रकृति चिन्तासर्ग की 'बुद्धि, मनीषा, मति, आशा, चिन्ता' से लेकर 'आज शून्य मेरा भरदे'[4] तक की पक्तियो मे है, क्योकि यहाँ पर मनु बुद्धि या चिन्ता आदि को दूर भगाकर, विस्मृति एव जडता का आह्वान करते हुए अपने हृदय में शून्यता भरना चाहते हैं, जिसमे उनके हृदय की समस्त हलचल शान्त हो जाय और उन्हे चिरशान्ति या आनन्द प्राप्त हो सके। कामायनी का मुख्य कार्य भी अखंड आनन्द की प्राप्ति है और इन कथन के अनन्तर आगामी सर्गों मे मनु बराबर आनन्द की ही खोज में लीन रहते है तथा अन्त मे वे उन आनन्द या चिरशान्ति को प्राप्त भी कर लेते हैं, जिसके लिए उक्त पक्तियो में बेचैन हैं। अतः इन्ही पक्तियो में कथावस्तु का बीज दिखाई देता है।

दूसरी 'बिन्दु' अर्थप्रकृति निमित्त वनकर समाप्त होने वाली अवान्तर कथा को

१—रूपक-रहस्य, पृ० ५२। २—दशरूपक १।१८
३—नाट्यशास्त्र २१।२३ ४—कामायनी, पृ० ६।

आगे बढाया करती है।[1] यह बिन्दु अर्थप्रकृति कामायनी के 'काम' सर्ग में वर्णित 'प्यासा हूँ मै अब भी प्यासा' से लेकर 'जैसे मुरली चुप हो रहती'[2] तक की पक्तियो मे है, क्योकि इससे पूर्व मनु सोचते-सोचते यह निश्चय कर बैठे है कि अब मैं न तो श्रद्धा के साथ अपना कोई सबध स्थापित करूँगा और न जीवन के इस मधुर भार को ही उठाऊँगा। क्योकि इस भोगमय जीवन का दुखद परिणाम मै पहले ही देख चुका हूँ। ऐसा निश्चय करते-करते उन्हे नीद आजाती है और स्वप्न में उन्हें काम का सदेश सुनाई देता है। इस सदेश से पूर्व कथा समाप्त सी होरही थी, परन्तु काम का कथन उसमे पुन गति उत्पन्न कर देता है और काम के इस सदेश को सुनते ही मनु के हृदय में श्रद्धा को पाने की इच्छा उत्पन्न हो जाती है। अत उक्त पक्तियो मे बिन्दु अर्थप्रकृति है।

'पताका' और 'प्रकरी' अर्थप्रकृतियो का वर्णन कथावस्तु के प्रसग में पहले ही किया जा चुका है। इनके अतिरिक्त पाँचवी 'कार्य' अर्थप्रकृति वह कहलाती है, जिसके लिए समस्त उपायो का आरम्भ किया जाता है अथवा जिसकी सिद्धि के लिए समस्त सामग्री सकलित की जाती हे।[3] कामायनी मे इस अर्थप्रकृति का दर्शन तो हमे 'रहस्य' सर्ग मे ही होने लगता है, क्योकि त्रिपुर के रहस्योद्घाटन एव इच्छा-क्रिया-ज्ञान का समन्वय होजाने पर 'कार्य' आरभ हो गया हे, परन्तु स्पष्ट रूप मे इस अर्थप्रकृति का दर्शन 'मनु ने कुछ कुछ मुसक्या कर' से लेकर 'आनद अखड घना था'[4] तक की पक्तियो मे होता है क्योकि यहीं मनु जीवन में समरसता को अपनाते हुए अखड आनद की अनुभूति मे लीन दिखलाये गये है।

कार्यावस्थायें—प्रबन्ध काव्यो में प्राय यह देखा जाता है कि नायक धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष में से किसी एक फल की प्राप्ति को अपना लक्ष्य बनाया करता है और पुन उसकी समस्त चेष्टायें उस लक्ष्य प्राप्ति के लिए होती हैं। वह अपने निश्चय के अनुसार जैसे ही लक्ष्य की ओर अग्रसर होता है, वैसे ही मार्ग में अनेक बाधाये भी आती हैं और वह उनका प्रतिकार करता हुआ आगे बढने का प्रयत्न करता है। कभी-कभी वे बाधाये इतनी प्रबल हो जाती है, कि उनके कारण नायक को अपनी लक्ष्य-प्राप्ति मे सन्देह होने लगता है। परन्तु जैसे ही वह दृढता के साथ बाधाओं का सामना करता हुआ सतत आगे बढने की तैयारी करता है, वैसे ही उसकी दृढता के कारण बाधाये भी विलीन होने लगती हैं और वह अपने लक्ष्य के समीप पहुँच जाता है। अब उसे निश्चय भी होने लगता है कि मैं लक्ष्य को प्राप्त

१—नाट्यशास्त्र २१।२४ २—कामायनी, पृ० ७१-७७।
३—नाट्यशास्त्र २१।२७ ४—कामायनी, पृ० २८७-२९४।

कर लूँगा तथा अन्त मे लक्ष्य प्राप्ति होते ही कथा समाप्त हो जाती है। इस तरह औत्सुक्य बनाये रखने, संघर्ष द्वारा मानव-प्रयत्नो की सार्थकता दिखाने तथा इतिवृत्त को यथार्थ रूप देने के लिए उक्त ढग से कार्य या व्यापार की कुछ अवस्थाओ का चित्रण प्रत्येक प्रबन्ध-काव्य मे किया जाता है। पाश्चात्य विद्वानो ने उन अवस्थाओ को छै भागो मे विभक्त किया है—(१) आरम्भ या व्याख्या (Exposition), (२) प्रारम्भिक सघर्षमयी घटना (Incident), (३) कार्य का चरमसीमा की ओर वढना (Rising Action), (४) चरमसीमा (Crisis), (५) निगति या कार्य की ओर झुकाव (Denoument) और (६) अन्तिम फल (Catastrophe)।[1]

परन्तु भारतीय साहित्य-शास्त्रियो ने इन कार्यावस्थाओ को केवल पाँच भागो मे विभक्त किया है—(१) प्रारम्भ, (२) प्रयत्न, (३) प्राप्त्याशा, (४) नियताप्ति और (५) फलागम।[2] इन पाश्चात्य एव पौरस्त्य विभाजनो को देखने पर ज्ञात होता है कि उक्त दोनो विभाजनो में कोई विशेष अन्तर नही है। आचार्य गुलाबरायजी ने दोनो के अन्तर का स्पष्टीकरण करते हुए लिखा है कि "हमारे यहाँ भी कथावस्तु मे संघर्ष अवश्य दिखाया जाता था, परन्तु उसकी ओर कोई विशेष ध्यान नहीं दिया जाता था। पाश्चात्य कथानको में सघर्ष की ही प्रधानता रहती है और अन्तर्बाह्य दोनो प्रकार के सघर्षो को कथानक की आत्मा माना जाता है। हमारे यहाँ सघर्ष को केवल फल-सिद्धि मे बाधा के रूप मे स्वीकार किया जाता है। इसी कारण यहाँ के कथानको मे सघर्ष अनुमेय रहता है, स्पष्ट नही होता और फल भी लगभग निश्चित सा ही रहता है अर्थात् नेता की अभीष्ट सिद्धि ही यहाँ पर फल मानी जाती है। नाट्यशास्त्र में मानी हुई पाँच अवस्थाओ तथा पाश्चात्य छै अवस्थाओं में पूरी-पूरी समानता तो नही है। परन्तु वे इनसे मिलती जुलती अवश्य हैं। जैसे आरम्भ नाम की कार्यावस्था पहली अवस्था से मिलती है, प्रयत्न दूसरी से, प्राप्त्याशा में तीसरी और चौथी की कुछ झलक आजाती है, नियताप्ति पाँचवी अवस्था से मिल जाती है और फलागम छठी से"।[3]

कामायनी की कथावस्तु मे इन कार्यावस्थाओ का स्वरूप देखने पर ज्ञात होता है कि प्रथम 'आरम्भ' कार्यावस्था यहाँ 'चिन्ता', 'आशा' तथा 'श्रद्धा' सर्ग में विद्यमान है, क्योकि इन तीनो सर्गो मे से प्रथम 'चिन्ता' सर्ग में तो मनु ने स्मृति के रूप में प्रलय सम्बन्धी घटना का वर्णन किया है और दूसरे 'आशा' सर्ग में उनके चिंतित जीवन में प्राकृतिक विकास को देखकर कुछ आशा का सचार होता है, किन्तु तीसरे

१—काव्य के रूप, पृ० १७। २—नाट्यशास्त्र २१।६

३—काव्य के रूप, पृ० १७-१८।

'श्रद्धा' सर्ग मे श्रद्धा के मिलन से ही सचमुच कार्य का आरम्भ होता है। अत इन प्रारम्भिक तीन सर्गों में ही फल-प्राप्ति के लिए चिन्तित, व्यथित एवम् मननशील मनु में औत्सुक्य का प्राधान्य दिखाया गया है। दूसरी 'प्रयत्न' कार्यावस्था कामायनी के 'काम' सर्ग से लेकर 'स्वप्न' सर्ग तक सात सर्गों में फैली हुई है। इसका कारण यह है कि श्रद्धा से भेंट होने के उपरान्त ही मनु के आनन्द प्राप्ति सम्बन्धी प्रयत्न प्रारम्भ होते हैं, जिसके परिणामस्वरूप वे श्रद्धा-प्राप्ति, पशु-यज्ञ, सोमपान, आखेट, सारस्वत नगर की व्यवस्था, इडा-प्राप्ति की असफल चेष्टा आदि कार्यों में लीन दिखाये जाते हैं। तीसरी 'प्राप्त्याशा' कार्यावस्था का स्वरूप 'स्वप्न' सर्ग के अन्त से लेकर 'दर्शन' सर्ग के मध्य में मनु के सारस्वत नगर से भाग जाने पर पुन श्रद्धा और मनु के मिलन तक मिलता है,[1] क्योंकि इन सर्गों में मनु की सफलता एवम् विफलता का घोर सघर्ष दिखाया जाता है तथा भागे हुए मनु के समीप पुन श्रद्धा को भेजकर फल प्राप्ति की आशा भी बँधाई जाती है। चौथी 'नियताप्ति' नामक कार्यावस्था कामायनी के 'दर्शन' सर्ग के मध्य में 'बोले रमणी तुम नही आह'[2] पक्ति से लेकर 'रहस्य' सर्ग के अन्त तक मिलती है, क्योंकि इन दोनो सर्गो मे श्रद्धा जैसे ही मनु को पुन प्राप्त करती है, वैसे ही उन्हे श्रद्धा के गौरव का ज्ञान होता है, हृदय मे श्रद्धा की अधिकता होने के कारण नटराज शिव के दर्शन होते हैं और वे शिव के चरणो तक पहुँचने के लिए आतुर हो जाते हैं। फिर श्रद्धा मनु को भावलोक, कर्मलोक तथा ज्ञानलोक का दर्शन कराती हुई उनका समन्वय कर देती है, जिससे मनु की अखण्ड आनन्द की प्राप्ति पूर्णतया निश्चित हो जाती है। इसके अतिरिक्त पाँचवी 'फलागम' नामक कार्यावस्था कामायनी के अन्तिम 'आनन्द' सर्ग मे विद्यमान है, क्योंकि इसी सर्ग में आकर मनु को पूर्ण समरसता की अनुभूति होती है, इडा-मानव आदि भी उनके समीप आजाते हैं और वे सब भी मनु के अखण्ड आनन्द में लीन दिखाई देते हैं। कामायनी के कार्य की समाप्ति इसी अन्तिम सर्ग में होती है और यही मनु अपने अभीष्ट फल 'आनन्द' को प्राप्त करते हैं।

सधियाँ—प्राय प्रबन्ध काव्य की कथा कितने ही भागो मे विभक्त रहती है, परन्तु उन समस्त भागो को परस्पर अन्वित करके मुख्य कथा के प्रमुख प्रयोजन से उन्हे सम्बद्ध करने का कार्य सधियाँ किया करती हैं। ये सधियाँ पाँच बतलाई गई हैं—मुख, प्रतिमुख, गर्भ, विमर्श तथा निर्वहण या उपसहृति।[3] कामायनी मे प्रथम 'मुख' सधि की योजना 'चिन्ता', 'आशा' तथा 'श्रद्धा' सर्ग मे की गई है, क्योंकि इन

१—कामायनी, पृ० २४७। २—वही, पृ० २४८।
३—नाट्यशास्त्र २१।३७

तीनो सर्गों मे ही 'वीज' अर्थप्रकृति एवम् 'आरम्भ' नामक कार्यावस्था भी मिलती है। दूसरी 'प्रतिमुख' सधि का स्वरूप कामायनी के 'काम' सर्ग से लेकर 'सघर्ष' सर्ग तक मिलता है, क्योकि इन सर्गों मे ही 'विन्दु' अर्थप्रकृति और 'प्रयत्न' कार्यावस्था मिलती हैं। इसके साथ ही मनु के जीवन मे आने वाले उत्थान-पतनो में वीज का लक्षित एव अलक्षित होना भी दिखाई देता है। जैसे श्रद्धा द्वारा स्थापित गृहस्थ-जीवन की झाँकी मे न्यस्त वीज दिखाई देता रहता है, परन्तु उस गृहस्थ-जीवन को लात मार कर मनु के भाग जाने पर वह वीज अलक्षित हो जाता है। वीज की यही लक्षित-लक्षित दशा 'सघर्ष' सर्ग मे मनु के मूर्छित होने तक चलती है। तीसरी 'गर्भ' सधि कामायनी में 'स्वप्न' सर्ग के अन्त मे लेकर 'दर्शन' सर्ग के मध्य तक मिलती है, क्योकि यही पर 'प्राप्त्याशा' कार्यावस्था विद्यमान है। और इन सर्गो में इडा की कथा आजाने से 'पताका' अर्थप्रकृति भी मिल जाती है। चौथी 'अवमर्श' सधि का प्रारम्भ 'दर्शन' सर्ग के मध्य मे होता है और 'रहस्य' सर्ग के अत तक इस सधि की योजना मिलती है, क्योकि इन सर्गों मे 'नियताप्ति' कार्यावस्था विद्यमान है। नियमानुसार इसमे 'पताका' अर्थप्रकृति मिलनी चाहिए, परन्तु उसका होना कोई आवश्यक नही है।[१] इसके साथ ही तांडव मे लीन नटराज शिव के दर्शन, ऊर्ध्व देश की ऊँची चढाई, वात-चक्र की भयकरता, त्रिपुर की विषम स्थिति, महाकाल का विषम नृत्य आदि यहाँ भय, क्रोध, विपत्ति, विघ्न आदि को उपस्थित करते हैं। पाँचवी 'निर्वहण या उपसहृति' सधि का स्वरूप कामायनी के अन्तिम 'आनन्द' सर्ग मे दृष्टिगोचर होता है, क्योकि यही पर आकर मनु को समरसता द्वारा 'आनन्द' फल की प्राप्ति होती है और सारी कथा का समाहार भी यही होता है।

इस प्रकार कामायनी की कथावस्तु मे जहाँ-तहाँ, पताकास्थानक, कार्यावस्थायें, अर्थप्रकृतियाँ, सधियाँ आदि मिलती हैं। परन्तु इसका यह अर्थ नही है कि प्रसादजी ने शास्त्र को सम्मुख रखकर और उसके आधार पर 'कामायनी' की रचना की है। ये सभी बातें तो अनायास ही आगई हैं और बहुधा महाकवियो के काव्यों मे शास्त्र-सम्मत अनेक बाते विना प्रयत्न किए हुए ही आजाया करती हैं, क्योकि शास्त्रो मे जो नियम रहते हैं, वे सभी उत्कृष्ट रचनाओं को देखकर ही बनाये जाते हैं। अतः महाकवियो की अनेक बाते स्वभावत समान हो सकती हैं। कामायनी काव्य में भी यद्यपि वस्तु-सगठन किसी निश्चित शास्त्र के आधार पर नही हुआ है, तथापि जो शास्त्र-सम्मत बातें दिखाई देती है, वे अनायास ही अपरिहार्य होने के कारण आगई

१—रूपक-रहस्य, पृ० ६६।

हैं। वैसे तो कामायनी का निर्माण कवि की अपनी उर्वर कल्पना, अलौकिक प्रतिभा एवम् गहन अनुभूति के आधार पर हुआ है, परन्तु जो कुछ बातें शास्त्रानुकूल दिखाई देती हैं वे कवि की महानता एवम् श्रेष्ठता की परिचायक है।

दु खान्त काव्य के अनुसार कामायनी की वस्तु-योजना

साधारणतया कथा की अन्तिम घटना के आधार पर काव्य दो प्रकार का माना जाता है—सुखान्त और दुःखान्त अर्थात् जिसमें नायक-नायिका का मिलन या उनकी अभीष्ट सिद्धि दिखलाकर कथा की समाप्ति होती है वह सुखान्त तथा जिसमें किसी प्रमुख पात्र या नायक-नायिका के वध, मृत्यु आदि दिखलाकर कथा को समाप्त किया जाता है, वह काव्य दु खान्त कहलाता है। भारतीय प्रणाली के अनुसार प्राय काव्यो का अन्त सुखमय ही दिखाया जाता है और यहाँ काव्य के दु खद अन्त को महत्व नही दिया जाता। इसी कारण यहाँ न तो दु खान्त रचनाएँ ही अधिक मिलती हैं और न ऐसे काव्यो का विवेचन ही यहाँ के साहित्य-शास्त्रियो ने किया है। परन्तु पाश्चात्य देशो में उक्त दोनो प्रकार के काव्य लिखे जाते हैं और सुखान्त की अपेक्षा दु खान्त को अधिक महत्व दिया जाता है।

अग्रेजी में सुखान्त के लिए 'कामेडी' तथा दु खान्त के लिए 'ट्रेजडी' शब्द का व्यवहार होता है। अरस्तू ने कामेडी तथा ट्रेजडी का भेद करते हुए कामेडी काव्य को मनुष्य के वास्तविक जीवन की अपेक्षा निम्नतर जीवन को प्रस्तुत करने वाला और ट्रेजडी काव्य को मानव के उच्चतर जीवन की अभिव्यक्ति करने वाला वतलाया है।[1] उसका मत है कि ट्रेजडी के व्यापार में महानता, पूर्णता एव समुचित विस्तार होता है, उसकी भाषा हर प्रकार के कलात्मक अलकारो से सुसज्जित होती है, उसमें अनेक विभाषायें रहती हैं, उसकी शैली वर्णनात्मक न होकर अभिनयात्मक होती हैं और वह काव्य करुणा एव भय का प्रदर्शन करके हमारे मनोवेगो का परिष्कार एव परिमार्जन करता है।[2] अरस्तू ने ट्रेजडी को केवल दु.खान्त काव्य नही माना है, अपितु उसकी दृष्टि में ट्रेजडी काव्य दु खान्त एव सुखान्त दोनो प्रकार

1—Tragedy, also, and Comedy, are distinguished in the same manner, the aim of comedy being to exhibit men worse than we find them, that of tragedy, better
—Poetics I-III, p 7.

2—Tragedy, then, is an imitation of some action that is important, entire, and of a proper magnitude—by language, embellished and rendered pleasurable, but by different means in different parts—in the way, not of narration, but of action—effecting through pity and terror the correction and refinement of such passions
—Poetics II-I, p 14.

के व्यापारो से समन्वित रहता है।[1] परन्तु उनके परवर्ती आलोचको एव लेखको ने कामेडी को सुखान्त काव्य और ट्रेजडी को दु खान्त काव्य माना है। प्रो० निकोल ने उनके मतो को उद्धृत करते हुए बतलाया है कि ट्रेजडी मे साधारणतया किसी राजा या सम्राट् के दुर्भाग्यपूर्ण जीवन या सकटो का वर्णन होता है और अन्त मे उसकी मृत्यु दिखाई जाती है या किसी साम्राज्य का अन्त दिखाया जाता है, जबकि कामेडी में मध्यम श्रेणी के देहाती नागरिक जीवन का हास-विलास-पूर्ण चित्र अकित किया होता है। ट्रेजडी का प्रारम्भ कामेडी की अपेक्षा शान्ति एव गभीरता के साथ होता है, किन्तु इसका अन्त भयपूर्ण होता है। यह काव्य दर्शको एव पाठको पर अपना गहरा प्रभाव डालता है, उनके मर्म को स्पर्श करता है, सहानुभूति जाग्रत करता है, जबकि कामेडी में यह शक्ति नही होती।[2]

परवर्ती लेखको एव आलोचको ने 'ट्रेजडी' को जो एक दु खान्त काव्य माना है, उसका कारण यह जान पडता है कि अरस्तू ने जिन करुणा एव भय नामक मनोवेगो के प्रदर्शन का भार ट्रेजडी को सौंपा था, वह कार्य कथा को दु खान्त बनाये बिना नही हो सकता था। अत. अधिकाश लेखक दु.खान्त कथा लेकर ही ट्रेजडी की रचना करने लगे और अन्त में करुणा एव भय दिखाने के लिए प्रमुख पात्रो की मृत्यु या कोई अन्य दुर्घटना दिखाने लगे, जिसमे आगे चलकर ट्रेजडी का अर्थ ही करुण काव्य या दु खान्त काव्य होगया और उसमे प्राय किसी नायक या नायिका की मृत्यु, किसी राज्य का विध्वस आदि दुर्घटना के साथ ही काव्य का अन्त दिखाया जाने लगा।

अरस्तू ने 'ट्रेजडी' के छै अग बतलाये हैं—कथानक, चरित्र-चित्रण, शैली, रस, नाट्य-कौशल तथा सगीत। इनमे से कथानक को सबसे अधिक महत्व दिया

1—Tragedy is an imitation, not of men, but of action—of life, of happiness and unhappiness —Poetics II-III, p 15.

2—The one (tragedy), it was said, dealt with adversity and unhappiness, employing for that purpose exalted characters, the other (comedy) dealt with joyousness and mirth, making use of humbler figures . the tragic poets treat of the deaths of high kings and the ruins of great empires while comedy recognized the middle sections of society—common people of the city or the country . comedy introduces characters from rustic, or low city life Tragedy, on the contrary, introduces kings and princes A tragedy begins more tranquilly than a comedy, but the ending is full of horror in tragedy we are deeply moved and our sympathies profoundly stirred, in comedy the impression, because lighter, is less penetrating and our sympathies are not so freely called into play.

—The Theory of Drama by A. Nicoll, p 85-87.

है।[1] उसका मत है कि ट्रेजडी का कथानक एक हो, पूर्ण हो तथा उससे सम्बद्ध जितनी प्रासगिक कथाएँ हो, वे सभी सुसम्बद्ध हो। उसमे आदि, मध्य एव अवसान स्पष्ट लक्षित हो। उसका कथानक प्रख्यात एव उत्पाद्य दो प्रकार का हो अथवा दोनो का मिश्रित रूप भी हो सकता है और उसमें परिवर्तन (revolution), अनुसधान (discovery) और आपत्ति (disaster) नामक तो अग हो, साथ ही उसमें कल्पित घटनाएँ ऐसी दिखाई गई हो कि वे पूर्णत सत्य जान पड़ें। इसके अतिरिक्त उसका कथानक सदैव दुहरे परिणाम की अपेक्षा इकहरे परिणाम वाला हो, जि नायक का भाग्य दुर्भाग्य से सौभाग्य में परिणत होता हुआ न दिखाकर इसे विपरीत दिखाया गया हो तथा वह परिणाम किसी बुराई या पाप से उत्पन्न होने की अपेक्षा व्यक्ति की किसी महान् दुर्बलता से उत्पन्न हुआ हो।[2]

अरस्तू की कथानक सबधी ट्रेजडी की उक्त विशेपतायें उनके परवर्ती सभी लेखको ने स्वीकार की हैं। इसके साथ ही प्रो० ब्रेडले ने लिखा है कि ट्रेजडी के कथानक में सदैव सघर्ष की प्रधानता रहनी चाहिए। वह सघर्ष कभी भावो का, कभी विचारों, इच्छाओ, अभिलापाओ तथा प्रयोजनो का या कभी परस्पर व्यक्तियो का अथवा व्यक्तियो और परिस्थितियो आदि का होना चाहिए।[3] इसी तरह एवरक्रोम्बी का मत है कि ट्रेजडी मे किसी दुराचारी व्यक्ति के कष्टो का वर्णन न करके सदैव किसी सदाचारी या सज्जन व्यक्ति को अपनी भूलो के कारण कष्ट उठाते हुए दिखाना चाहिए।[4]

उक्त विवेचन के आधार पर जब कामायनी के कथानक का विश्लेपण किया जाता है, तो पता चलता है कि यह कथानक भी जीवन के सघर्षो से ही परिपूर्ण है, आरभ मे ही कष्ट एव विपदाओ की बाढ आती है और बहुत दूर तक चलती रहती है। इतना ही नही, उस बाढ में कथानायक मनु इतने व्यथित एव बेचैन दिखाये जाते है कि प्रलय मे तो उनकी रक्षा भी होगई थी, परन्तु यहाँ उनके बचने तक की आशा नही रहती। इस तरह कामायनी की कथा ट्रेजडी के अनुकूल दिखाई देती है।

1—Hence all tragedy necessarily contain six parts, which together constitutes its peculiar character or quality fable, manners, diction, sentiments, decoration and music But all these parts the most important is the combination of incidents or the fable —Poetics II-IV, p 15

2—Poetics II-VIII, IX, XII, XIV, p 17-30

3—It will be agreed, further that in all tragedy there is some sort of collision or conflict—conflict of feelings, modes of thoughts, desires, wills, purposes, conflict of persons with one another or with circumstances or with themselves —Oxford Lectures on Poetry, p 70-71.

4—The Idea of Great Poetry, p 168

अरस्तू ने तो ट्रेजडी का अंत सुखमय तथा दु:खमय दोनो प्रकार का स्वीकार किया है। उस दृष्टि से तो कामायनी का सुखमय अंत भी पाश्चात्य ट्रेजडी के कथानक से विरुद्ध ज्ञात नही होता, परन्तु परवर्ती आलोचको ने ट्रेजडी का अंत केवल दुखमय ही स्वीकार किया है। इस आधार पर केवल 'चिन्ता' सर्ग से लेकर 'संघर्ष' सर्ग तक की कथा पूर्णतया ट्रेजडी या दु:खान्त काव्य के अनुकूल ठहरती है, क्योकि 'संघर्ष' सर्ग मे ही विपदाओ की भयंकर बाढ से थका हुआ नायक विपत्तियो के विरुद्ध शस्त्र लेकर युद्ध करता है, उसके विरुद्ध जनता ही नही है, देव-शक्तियां भी कोप करती हैं और रुद्र अपने भयंकर बाण से उसे मूर्छित कर देते हैं।

ट्रेजडी के कथानक की विशेपताओ के आधार पर देखे तो 'चिन्ता' सर्ग से 'संघर्ष' सर्ग तक के इस कथानक में आदि, मध्य और अवसान के भी दर्शन होते हैं। 'चिन्ता' सर्ग से 'काम' सर्ग तक कथा का 'आदि' है, क्योकि अभी तक मानसिक संघर्ष की ही प्रबलता दिखलाई गई है और मनु ने श्रद्धा को पत्नी रूप में स्वीकार नही किया है। 'वासना' सर्ग से लेकर 'ईर्ष्या' सर्ग तक कथा का 'मध्य' है, क्योकि इस बीच में मनु एक छोटी सी गृहस्थी का निर्माण करते हैं, और जीवन को सुखमय बनाने का प्रयत्न करते हैं, परन्तु उनकी भूलो के कारण फिर नई-नई आपत्तियां उठ खड़ी होती हैं, जैसे असुर-पुरोहितो के बहकावे मे आकर वे पशु यज्ञ कर डालते हैं, शिकार खेलने लगते हैं, मादकता से मोह हो जाता है और ऐसी बातो में फँसे रहने से उनकी पत्नी उनसे विमुख बनी रहती है, जिसका परिणाम यह होता है कि दोनो में मेल नही रहता और एक दिन मनु घर छोडकर अन्य विपत्तियो का आह्वान करते हैं। इसके उपरान्त 'इडा' सर्ग से लेकर 'संघर्ष' सर्ग तक कथा का अवसान है क्योकि इन सर्गों में वे सारस्वत नगर के शासक बनते हैं, नये-नये अस्त्र-शस्त्र बनाते हैं और यह भूल जाते हैं कि वे एकमात्र शासक ही हैं, स्वामी नही हैं। इसी भूल के कारण वे उस देश की रानी इडा के साथ अनैतिक आचरण कर बैठते हैं, जिससे प्रजा क्षुब्ध हो जाती है और प्रजा ही नही उन्हें देवो के कोप का भी भाजन बनना पड़ता है।

इसके अतिरिक्त इस इतनी सी कथा में जलप्लावन, काम-संदेश, किलात-आकुलि का मिलन, पशुयज्ञ, इड़ा के राज्य की व्यवस्था, जनक्रान्ति आदि कई प्रासंगिक घटनाएँ आती हैं, जो मुख्य कथा से पूर्णतया सम्बद्ध है तथा जिनके निकाल देने मे मुख्य कथा विशृंखलित भी हो सकती है। साथ ही यह कथा भी मिश्रित है, जिनमें मनु के पशुयज्ञ, सुरापान, संतान के प्रति ईर्ष्या आदि में 'परिवर्तन' अंग है, सारस्वत नगर की व्यवस्था और इडा के साथ किये गये अनैतिक आचरण में 'अनुसंधान' अंग तथा मनु के घायल होकर मूर्छित गिरने मे 'आपत्ति' नामक अंग भी विद्यमान है। इसके अलावा इतने कथानक में मनु की दयनीय स्थिति, मानसिक संघर्ष

एव आपत्तियो की श्रृंखला भी ऐसी दिखाई गई है, जिससे करुणा एव भय का सचार होता है और मनु के सौभाग्य की दुर्भाग्य में परिणति देखकर कोई अस्वाभाविकता भी प्रतीत नही होती।

इस तरह 'चिन्ता' सर्ग से 'सघर्ष' सर्ग तक की कथा निस्सदेह दु:खान्त काव्य के अनुकूल दिखाई देती है, परन्तु इसके आगे कवि ने 'निर्वेद', 'दर्शन', 'रहस्य' और 'आनन्द' नामक चार सर्गों का निर्माण और किया है। इन आगामी चार सर्गों में कथा को इस तरह मोडा है कि वह दु खान्त न रहकर सुखान्त बन गई है और भारतीय काव्य-परम्परा का पालन करने के कारण उसका अत मगलमय हो गया है। इतना अवश्य है कि कथा का यह अन्त स्वाभाविक प्रतीत नही होता और केवल अपने सिद्धान्तो को दिखाने के लिए ही यह सब जोड-तोड किया गया जान पडता है, फिर भी कवि ने अपने लक्ष्य की पूर्ति के लिए तथा भारतीयता की रक्षा के लिए यह जो अप्रत्याशित परिवर्तन किया है, उसमे हमे उसके रचना-कौशल के दर्शन होते हैं। इसका कारण यह है कि कवि न तो कोरा यथार्थवादी है और न कोरा आदर्शवादी। उसे समाज की वास्तविक स्थिति क्या है, इसका चित्रण करके अन्त में उसमें आदर्शवाद का पुट देना अधिक प्रिय है, क्योंकि उसकी यह मान्यता है कि "दु खदग्ध जगत और आनन्द-पूर्ण स्वर्ग दोनो का एकीकरण ही साहित्य है।"[1] अपनी इसी मान्यता के आधार पर कवि ने कामायनी को दु खान्त न बनाकर सुखान्त बना दिया है, जिसे 'प्रसादान्त' कहना अधिक उपयुक्त है। भले ही उसका यह प्रयत्न कथानक की दृष्टि से असफल हो, परन्तु आधुनिक मानव के मार्गदर्शन तथा भारतीय सस्कृति की स्थापना की दृष्टि से वह सर्वथा सराहनीय है।

कामायनी की पात्र-कल्पना और उसका विकास

कामायनी की कथा-सृष्टि अत्यत अल्प पात्रो द्वारा हुई है। इसमे कुल मिलाकर सात पात्रो का प्रयोग हुआ है, जिनमें से मनु, श्रद्धा तथा इडा ये तीन प्रमुख पात्र हैं। मानव, आकुलि तथा किलात गौण पात्र हैं और काम एक अशरीरी पात्र है, जिसका प्रयोग केवल आकाशवाणी के रूप में हुआ है। इन पात्रो का उल्लेख सर्वप्रथम ऋग्वेदादि वेद-सहिताओ मे ही मिल जाता है, परन्तु ब्राह्मण-ग्रथो में कुछ स्पष्ट व्याख्यायें होने के कारण वहाँ इनके स्वरूप का विवेचन अच्छी तरह किया गया है। इनके अनन्तर उपनिषदो, इतिहास, पुराणो एव आगम-ग्रथो में गाथाओ के रूप में इनका चित्रण मिलता है। इस तरह उक्त पात्रो का स्वरूप एक ओर तो वैदिक

१—काव्य और कला तथा अन्य निबध, पृ० १२३।

ग्रथो में मिलता है और दूसरी ओर उसकी कुछ झाँकी इतिहास-पुराण अथवा आगम-ग्रंथो में भी मिल जाती है। इसी कारण कामायनी की पात्र-कल्पना का विकास वैदिक एव लौकिक ग्रथो के आधार पर हुआ है, जिनमें से प्रसादजी का झुकाव वैदिक ग्रंथों की ओर अधिक है। कामायनी की पात्र-कल्पना का विकास इस प्रकार हुआ है :—

मनु—कामायनी की कथा के केन्द्र मनु हैं। ये ही कथा-नायक हैं और सारी कथा इनके चारो ओर ही मकडी के जाल की भाँति फैली हुई है। इनका पूरा नाम वैवस्वत मनु है। ऋग्वेद में मनु को स्थान-स्थान पर पिता कहा गया है।[1] सायणाचार्य ने भाष्य करते समय मनु को प्रजापति कहा है तथा पाणिनि व्याकरण के अनुसार 'मन्' धातु से जानने के अर्थ मे 'उ' प्रत्यय लगाकर इस शब्द की व्युत्पत्ति की है। इसी 'मन्' धातु से मन शब्द भी बना है और निरुक्तकार ने 'मनन' से मनु शब्द का विकास बतलाया है।[2] अतः मन, मनन, ज्ञान आदि से मनु का सबध जुड जाता है। ऋग्वेद में वैवस्वत मनु को कुछ सूक्तो का देवता[3] तथा कुछ सूक्तो का मन्त्र-द्रष्टा ऋषि[4] बतलाया है। ऋषिरूप में मनु विश्वेदेवा की प्रार्थना करते हुए कभी यज्ञ-पशु, पृथ्वी, वनस्पति, औषधि आदि की याचना करते हैं, तो कभी वरुण, मित्र, अग्नि आदि की कृपा एव शरण प्राप्त करने की कामना करते हैं। साथ ही उन सूक्तो में वे ऐसे यजमान की प्रशंसा करते हैं, जो पुरोडाश, हवि, सोम आदि से देवो का यज्ञ करता है।[5] ऋग्वेद में कुछ स्थलो पर मनु को मानवो का प्रकृष्ट बुद्धि वाला पिता, मानवों मे अग्रगण्य, तथा उनमे सर्वप्रथम यज्ञकर्त्ता भी बतलाया गया है।[6] ऋग्वेद में एक स्थल पर किलाताकुलि असुर पुरोहित धान्य की हवि न देकर मांस की हवि देते हुए बतलाए गये हैं और उस सूक्त का देवता मनु को ही कहा गया है। अत. मनु का पशु-बलि से सबध ऋग्वेद मे ही दिखाई देता है।[7] अथर्ववेद में वैवस्वत मनु को मनुष्यो के लिए पृथ्वी रूपी पात्र में कृषि एव सस्य दुहने वाला विराजगाय का वत्स कहा गया है।[8] जिससे वे पृथ्वी पर प्रथम कृषि करने वाले एव मनुष्यो के रक्षक सिद्ध होते हैं। इसके साथ ही आगे चलकर वही पर मनु को मानवो के स्वभाव का

१—ऋग्वेद १।८०।१६, १।११४।२, २।३३।१३

२—ऋग्वेद १।१३।४, १।२६।४ की सायणकृत टीका तथा निरुक्त, दैवत-काड २।३४।

३—ऋग्वेद १०।५७ ४—वही, ८।२७-३१

५—वही, ८।२७।२, ८।२८।२-५ तथा ८।३१।१-४

६—वही, १०।६३।७, १०।१००।५ ७—वही, १०।५७

८—अथर्ववेद ८।१०।४

ज्ञाता, मनन-शील, पृथ्वी का विस्तारक, रक्षक अथवा शासक आदि भी बतलाया है।[1] शतपथब्राह्मण में वैवस्वत मनु को राजा तथा मनुष्यों को उसकी प्रजा कहा गया है।[2] इतना ही नही वे यहाँ पर पृथ्वीपति,[3] प्रजापति,[4] श्रद्धादेव,[5] प्रथम पाकयज्ञ-कर्त्ता,[6] आदि बतलाए गये हैं। तैत्तिरीयब्राह्मण में प्रजापति तथा श्रद्धा एव प्रजापति तथा काम के परस्पर वार्त्तालाप का भी उल्लेख मिलता है और श्रद्धा तथा काम दोनो ही अपने-अपने यज्ञ के लिए प्रजापति से आग्रह करते हुए दिखलाये गये हैं।[7] वैदिक ग्रथो मे सर्वत्र प्रजापति को सृष्टिकामना से पहले तपस्या या यज्ञ करते हुए अकित किया गया है और तपस्या या यज्ञ के उपरान्त उनके द्वारा प्रजा की सृष्टि बतलाई गई है।[8] इसके साथ ही उपनिषदो में तपस्या के उपरान्त प्रजापति को सृष्टि की इच्छा से जाया की कामना करते हुए भी अकित किया है।[9] इसके अतिरिक्त भारतीय ग्रथो मे मनु का सबध मन से स्थापित करते हुए उसे अत्यन्त चचल, वलिष्ठ, इन्द्रियो का स्वामी, ससार का प्रवर्त्तक, सकल्प-विकल्पशील, अभीष्ट कार्य का सम्पादक आदि बतलाया है।[10] इस तरह भारतीय ग्रथो में मनु देवता, मत्रद्रष्टा ऋषि, यज्ञकर्त्ता, मानवो के पिता, प्रजापति, पृथ्वीपति, मन्वन्तर के प्रवर्त्तक आदि बतलाये गये है। साथ ही मन से उनका सबध होने के कारण चचल स्वभाव वाले, मननशील, अस्थिर, सकल्प-विकल्पयुक्त, बुद्धिवादी आदि भी सिद्ध होते हैं। प्रसादजी ने भारतीय ग्रथो के आधार पर ही मनु-पात्र की कल्पना की है और उक्त सभी बातो को स्वीकार करते हुए एक नये रूप की ओर अवतारणा की है अर्थात् उक्त रूपो के अतिरिक्त मनु को आनद-पथ का पथिक और बनाया है। कामायनी मे मनु-पात्र का विकास इस प्रकार दिखलाया गया है —

देवता मनु—सर्वप्रथम कामायनी में देवता मनु के दर्शन होते हैं, जो अपनी

१—अथर्ववेद ८।१०।१० २—शतपथब्राह्मण १३।४।३।३

३—शतपथब्राह्मण १४।१।३।२५ ४—वही, ६।६।१।१९

५—वही, १।१।४।१५ ६—वही, १।८।१७

७—तैत्तिरीयब्राह्मण ३।१२।४।३, ३।११।२।३

८—शतपथब्राह्मण १।८।१।७, तैत्तिरीयब्राह्मण २।२।३।१, ऐतरेयब्राह्मण ५।५।३२ तथा तैत्तिरीयोपनिषद् २।६

९—बृहदारण्यक उपनिषद् १।४।१७

१०—कठोपनिषद् १।३।६–९, कल्याण उपनिषद् अक, पृ० १६४, श्रीमद्-भगवद्गीता ६।३४, ३५, ४०, ४३, योगवाशिष्ठ (हिन्दी), पृ० ११,३४,४४, १४७–१४८।

प्रवृत्ति के अनुकूल चिन्तन, मनन आदि मे लीन हैं। वे हिमगिरि के उच्च शिखर पर बैठे बैठे जलप्लावन के उतरने का दृश्य देख रहे हैं और देवो की पूर्व स्थिति पर विचार करते हुए उनकी विलास-भावना, मिथ्या गर्व आदि का स्मरण करते-करते व्यथित होरहे हैं। फिर भी वे एक तरुण तपस्वी से जान पडते हैं, उनका शरीर अत्यन्त दृढ मांस-पेशियो से बना हुआ है, जिसमे ऊर्जस्वित वीर्य अपार मात्रा में भरा है, जिसकी शिराये स्फीत हैं और जिनमें स्वस्थ रक्त का सचार होरहा हैं। अपार पौरुष एवम् यौवन से प्रदीप्त मनु का मुख चिन्ता-कातर बना हुआ है।[1] इस चिन्ता का प्रमुख कारण है अचानक ही जलप्लावन द्वारा विशाल शक्ति सम्पन्न देव-सृष्टि का विनाश। अत देवता के रूप मे मनु केवल अपनी जाति के विनाश एव उसके कारणो का चिन्तन करते हुए ही दृष्टिगोचर होते हैं।

ऋषि मनु—देवता मनु के उपरान्त कामायनी में ऋषि मनु के स्वरूप का दर्शन होता है। जलप्लावन के उपरान्त सृष्टि के नवीन विकास को देख कर मनु को अपनी जातिगत भूल प्रतीत होती है और मिथ्या गर्व, अहता की भावना, विलास-वैभव एवम् अमरता का स्वप्न विच्छिन्न होकर उनके मुख से सहसा यह निकल पडता है कि न तो हम ही देवता थे और न ये प्रकृति के चिह्न ही देवता हैं, सभी परिवर्तन के पुतले हैं।[2] अब उन्हें विराट शक्ति में भी विश्वास होने लगा है और वे यह जानने लगे हैं कि देवगण जो मिथ्या गर्व के कारण अपनी शक्ति के सम्मुख ससार में किसी और की सत्ता स्वीकार ही नही करते थे, यह एक भयकर भूल थी। अब उन्हें स्पष्ट ज्ञान होने लगता है कि कोई विराट् सत्ता अवश्य है जिसका शासन सभी प्राकृतिक शक्तियाँ मानती हैं। इसी कारण वैदिक ऋषि जिस तरह यह कहते हैं कि "कस्मै देवाय हविषा विधेम"[3] अर्थात् किस देवता के लिए हम अपनी हवि प्रदान करे उसी तरह मनु भी 'हे अनन्त रमणीय ! कौन तुम'[4] कहकर वैदिक ऋषियो की ही भाँति उस अज्ञात शक्ति का निरूपण करते हैं। उस शक्ति की प्रतीति होते ही मनु ऋषियो की तरह अग्निहोत्र पाकयज्ञ आदि मे लीन हो जाते है और एक तपस्वी का-सा जीवन व्यतीत करने लगते हैं।

ऋषि मनु के मन में वासना का प्रवेश—इस तरह तपश्चर्या करते हुए उन्हें कितने ही दिन व्यतीत हो जाते हैं, परन्तु एक रात्रि को अचानक चन्द्र-ज्योत्स्ना से धवलित निशीथ को देखकर उनका मन व्यथित हो उठता है और हृदय मे अनादि वासना जाग्रत हो जाती है, जिससे वे वेदना, पीडा, व्यथा आदि मे बेचैन दिखाई

१—कामायनी, पृ० ३–४।   २—वही पृ० २५।

३—ऋग्वेद १०।१२१।१   ४—कामायनी पृ० २६।

देते है ।[१] यहाँ मनु के रूप में मन की चचलता एव विवशता का भी चित्रण किया गया है, क्योकि अनन्त सौन्दर्य की गोद में पडे हुए मन के अन्तर्गत वासना का जाग्रत होना स्वाभाविक ही है । अत यहाँ आते-आते मनु देवता एव ऋषि रूप का परित्याग करके एक साधारण व्यक्ति की भाँति जीवन की कटुता से क्षुब्ध एव वासना से अभिभूत दिखाई देते हैं ।

जीवन-सगिनी के इच्छुक किन्तु काम से भयभीत मनु—वासना के उदय होते ही मनु के हृदय मे अत्यन्त सघर्ष चलता है । सहसा उनका साक्षात्कार दिव्य सौंदर्य-मयी श्रद्धा से होता है, जिसे देखते ही उनके हृदय में एक 'झिटका सा' लगता है और वे उसके अद्भुत रूप को लुटे हुए से देखने लगते हैं । परन्तु जब वह मनु से परिचय पूँछती है, तब वे अत्यन्त निराशापूर्ण शब्दो में अपनी दयनीय स्थिति, असहायावस्था, कातरता, जीवन की विषमता, ससार से विरक्ति आदि को प्रकट करते हैं । उनकी बातें सुनकर श्रद्धा मनु को सासारिक जीवन व्यतीत करने की प्रेरणा देती है तथा आत्म-समर्पण करती हुई मनु को भावी मानव-सृष्टि के प्रवर्तक होने का प्रलोभन देती है । परन्तु श्रद्धा की प्रेरणामयी वाणी भी मनु पर कुछ प्रभाव नही डालती और वे प्रथम तो यही निश्चय करते हैं कि इस गृहस्थी के भार को उठाना ठीक नही । ऐसा सोचते-सोचते उन्हे नीद आ जाती है, परन्तु स्वप्न में उन्हे काम का सदेश सुनाई पडता है । उसमे काम अपने उद्भव और विकास का रूप समझाते हुए श्रद्धा की विशेपताएँ एव सृष्टि के विकसित होने की बात कहता है । साथ ही वह मनु को वासनात्मक काम की अपेक्षा सृजनात्मक काम की प्रेरणा देता है, जिससे मनु पुन श्रद्धा को अपनी जीवन-सगिनी बनाने को तत्पर दिखाई देते हैं ।

मनु का गृहस्थ जीवन—श्रद्धा को पत्नी रूप में स्वीकार करने से पूर्व ही वह दिव्य बाला अन्न, पशु आदि का सग्रह करके मनु की गृहस्थी का निर्माण करने लगती है । उसकी इस कर्म-कुशलता एव सलग्नता के कारण मनु का उसके प्रति अधिकाधिक आकर्षण होता है और वे दोनो प्रणय-सूत्र में बँध जाते हैं । यहाँ से मनु के जीवन का वास्तविक स्वरूप आरम्भ होता है । अब वे एक गृहस्थ बनकर यज्ञादि मे लीन रहते हैं । परन्तु असुर पुरोहितो के मिल जाने पर उन्हे पशु-वध एव पशु-यज्ञ की प्रेरणा मिलती है, जिनसे वे मांस, सुरा, सोम आदि में लीन होकर अपने पुराने सस्कारो के जाग्रत हो जाने पर फिर कर्मकाड में लग जाते हैं । श्रद्धा को हिंसा सम्बन्धी बातें उचित नही जान पडती । वह इसका विरोध करती है ; परन्तु मनु

१—कामायनी पृ० ३५-३६ ।

को नित्य मृगया, पशु-वध, सुरापान आदि मे ही अधिक आनन्द आता है और श्रद्धा के बार-बार समझाने पर भी वे इन हिंसा के कार्यो से पराङ्मुख नही होते। इतना ही नही वे काम के वासनात्मक रूप मे रँग कर एक साधारण व्यक्ति की भाँति तृष्णा, इन्द्रियसुख, लालसा, अहकार, ईर्ष्या, आदि से भरे हुए जीवन को सुखकर मान बैठते हैं। जिसका परिणाम यह होता है कि सुन्दर गृहस्थी को लात मार कर अपनी अतृप्त विलास-भावना की पूर्ति के लिए उन्हे आसन्न-गर्भा श्रद्धा को छोडकर भाग जाना पड़ता है।

प्रजापति मनु—श्रद्धा से विमुख होकर मनु सारस्वत नगर मे आते हैं। यहाँ प्रथम तो उन्हे काम की शाप-ध्वनि सुनाई पडती है, जिसमें वह श्रद्धा-विहीन मनु को उनकी भूलो से अवगत कराता है तथा नाना सकटो से भरे हुए उनके अधकारपूर्ण भविष्य की ओर सकेत करता है। इसके अनन्तर उनकी भेंट 'नयन महोत्सव की प्रतीक' सुन्दरी इडा से होती है, जो अपने तर्क-पूर्ण विचारो से मनु को आकृष्ट कर अपने उजड़े हुए सारस्वत नगर की व्यवस्था का भार मनु को सौप देती है। मनु भी उसके आग्रह एव उसकी प्रेरणा से नगर की सुन्दर व्यवस्था करते हैं, वैज्ञानिक आधारो पर सभी क्षेत्रो में आशातीत सफलता प्राप्त करते है और नगर सुख-समृद्धि से पूर्ण हो जाता है, जिसमें यान्त्रिक सभ्यता अपनी चरम सीमा पर पहुँच जाती है। इतना होने पर भी मनु की अतृप्त आकाक्षा अथवा विलास-भावना पूर्ण नही होती और वे उस नगर की रानी अथवा राष्ट्र-स्वामिनी इडा पर भी अपना अधिकार करके वासना की पूर्ति करना चाहते हैं। यहाँ मनु की भौतिक लालसा, इन्द्रिय-लिप्सा तथा कामुकता अपनी चरम सीमा पर पहुँच जाती है, जिसका दुष्परिणाम यह होता है कि जन-समूह और दैवी शक्तियो के द्वारा प्रजापति अथवा शासक मनु के विरुद्ध हलचल मच जाती है, भयकर क्रान्ति होती है और मनु अपनी वासना के फलस्वरूप घायल होकर मुमूर्षु अवस्था को प्राप्त होते हैं। यहाँ पर मनु एक ओर तो प्रजापति, शासक एव पृथ्वीपति के रूप में चित्रित किए गये हैं और दूसरी ओर वे नियम-प्रणेता स्मृतिकार के रूप मे भी दिखाई देते हैं। यहाँ मनु मे कितने ही विरोधाभासो के दर्शन होते हैं, क्योकि वे एक सफल नियामक हैं, परन्तु अपना निर्वाधित एवं निरंकुश अधिकार भी चाहते हैं। वे एक विवेकशील स्मृतिकार हैं, परन्तु कामुकता एव अविवेक की पराकाष्ठा भी उनमें दिखाई देती है। वे एक वीर एव पराक्रमी योद्धा हैं, आकुलि-किलात आदि जनता के नेताओ को अपने धनुष-बाण से मार गिराते हैं और जनता का अकेले ही सामना करते हैं, परन्तु अन्त में वे पराजित भी दिखाये गये हैं। वे एक विज्ञान-वेत्ता एवं सफल शासक हैं, परन्तु अन्त में उनकी व्यवस्था एवं उनके अनुसधान उनकी ही असफलता के द्योतक बन जाते हैं।

आनन्द के अधिकारी मनु—यहाँ तक मनु के जीवन का विकास एक साधारण मानव की भाँति दिखलाया गया है, किन्तु मूर्छित होने के उपरान्त उनके जीवन मे असाधारण तत्त्वो का भी समावेश किया गया है। अब श्रद्धा आकर उन्हें सचेत करती है और स्वार्थी, लोभी, विलासी, इन्द्रिय-लिप्सु एव भौतिकता-प्रेमी मनु मे एक साथ परिवर्तन प्रस्तुत हो जाता है। वे श्रद्धा का पुन सम्पर्क पाते ही ससार से पराङ्मुख होकर निवृत्ति-मार्ग के अनुगामी हो जाते हैं और भौतिकता का आवरण दूर फेंककर आध्यात्मिक मार्ग को अपना लेते हैं। वे श्रद्धा के साथ जीवन की ऊँचाई पर चढने लगते हैं और उन्हे इच्छा, ज्ञान तथा क्रिया के रहस्य का ज्ञान होता है। इतना ही नही वे इनके पृथक् रहने पर जीवन की विडम्वना और समन्वय होने पर जीवन की सफलता का रहस्य भी जान जाते हैं। अन्त मे श्रद्धा इच्छा, ज्ञान और क्रिया का समन्वय करके मनु के जीवन में समरसता का सचार करती है और मनु अपने-पराये की भेद-बुद्धि से ऊपर उठकर जीवन-वसुधा की समतल आनद-भूमि में पहुँच जाते हैं। यहाँ उनके 'अहम्' का 'इदम्' में पूर्ण समावेश हो जाता है, चराचर जगत उनका अग हो जाता है, जड-चेतन में एक ही चेतनता विलास करती हुई प्रतीत होने लगती है और पूर्ण अद्वैत भाव को प्राप्त होकर इस ससार को ही विश्वात्मा का विराट् शरीर एव 'सत्य, सतत चिर सुन्दर' मानते हुए समस्त विश्व को अपना 'नीड' समझने लगते हैं। यही आकर मनु को अखड आनन्द का अनुभव होता है और उनका सारा परिवार भी उनके साथ आनन्द को प्राप्त होकर अपना जीवन सफल बनाता है।

मनु की ऐसी कल्पना में प्रसादजी का उद्देश्य—उपर्युक्त विवेचन के आधार पर प्रसादजी की मनु सम्बन्धी कल्पना का उद्देश्य अच्छी प्रकार समझा जा सकता है। इस पात्र के यथार्थवादी चित्रण द्वारा प्रसादजी ने साधारण मानव को अपने जीवन-यापन का ढग बतलाने का प्रयत्न किया है। वासना-पूर्ण जीवन व्यतीत करने वाला मनुष्य भले ही हृदय की विश्वासमयी उदारवृत्ति-सम्पन्न नारी (श्रद्धा) के समीप रहे, परन्तु उसकी इन्द्रिय-लिप्सा उसे कभी सुखी नही रहने देगी। यदि वह ऐसी उदारवृत्ति-पूर्ण पतिव्रता नारी का परित्याग करके किसी तर्क-शीला, आडम्बर-प्रिय एव बौद्धिक विलासमयी नारी (इडा) के सम्पर्क मे सुख की लालसा मे जायेगा और उसके साथ रहकर सुखी बनने का स्वप्न देखेगा तो वहाँ भी उसे निराशा ही हाथ लगेगी। सच्चा सुख तो हृदय की विश्वासमयी उदारवृत्तिपूर्ण पतिपरायणा नारी के साथ ही प्राप्त हो सकता है, परन्तु इन्द्रिय-लिप्सा, स्वार्थ एवम् ईर्ष्या आदि दुष्प्रवृत्तियो को दूर रखके ही उनके साथ सुख मिलेगा। इसी नैतिक एवम् मनोवैज्ञानिक तथ्य को दिखलाने के लिए प्रसादजी ने मनु मे मानव-दुर्बलताओं का समावेश किया है। मनु का यह चित्रण पूर्वोक्त ऐतिहासिक चित्रण की अपेक्षा बहुत कुछ बदला हुआ है। जैसे इतिहास

मे मनु के उदात्त रूप के ही दर्शन होते हैं, जबकि यहाँ मनु में मानवगत सभी दुर्बलताएँ दिखाई गई हैं। दूसरे, इतिहास मे किसी एक स्थान पर ही मनु के जीवन सम्बन्धी ऐसे उत्थान-पतन का चित्रण नही मिलता, जबकि कामायनी मे जीवन के विविध रूपो को एक ही स्थान पर लाकर चित्रित कर दिया गया है। यहाँ मनु एक सच्चे मानव की भाँति गिरे भी हैं और उठे भी है। मनु का यह पतन एवम् उत्थान विश्व-मानव के लिए एक आशाप्रद सदेश देता है तथा प्रवृत्ति-निवृत्ति का समन्वय करके एक संतुलित जीवन व्यतीत करने की शिक्षा देता है।

श्रद्धा—कामगोत्रजा कामायनी या श्रद्धा इस काव्य की नायिका है। वैदिक साहित्य मे उसके वैयक्तिक स्वरूप की अधिक चर्चा नही मिलती। सर्वत्र उसकी भावमूलक व्याख्या ही अधिक मिलती है। ऋग्वेद मे श्रद्धा को देवता तथा ऋषिका दोनो रूपो मे स्वीकार किया गया है। सायणाचार्य ने श्रद्धा शब्द की व्युत्पत्ति करते हुए उसे श्रत् शब्द के साथ 'धा' धातु के योग से अड् प्रत्यय लगाकर सिद्ध किया है और इसका अर्थ आस्तिक्य बुद्धि या विश्वास बतलाया है।[1] निरुक्तकार ने श्रद्धा शब्द की व्याख्या करते हुए उसे ऐसी सत्यबुद्धि बतलाया है, जो धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष प्रदान करने वाली तथा सत्य को धारण करने वाली होती है।[2] ऋग्वेद मे श्रद्धा की बडी प्रशसा की गई है और उसे अग्नि प्रज्वलित करने वाली, हवि प्रदान करने वाली, सौभाग्य देने वाली और यजमान को धन, प्रियपदार्थ, अभीष्ट वस्तु, प्रिय भोजन आदि देने वाली कहा है।[3] यजुर्वेद मे सत्य के अन्तर्गत श्रद्धा का निवास और असत्य के अन्तर्गत अश्रद्धा का निवास बतलाया है।[4] अथर्ववेद में श्रद्धावान् लोगो

१—ऋग्वेद १०।१५१ सायणकृत टीका।

२—श्रद्धा श्रद्धानात्। श्रद्धा—इत्येतत् पदम्। अत्र 'श्रत्' इति सत्यनाम पूर्व-पदम्, तत् सत्यमस्या धीयत इति श्रद्धा, धर्मार्थकाममोक्षेषु अविपर्ययेणैवमेतदिति या बुद्धिरुत्पद्यते, तदधिदेवताभावाख्या श्रद्धेत्युच्यते। —निरुक्त, दैवत कांड ६।३०।२

३—श्रद्धयाग्निः समिध्यते श्रद्धया हूयते हविः।
श्रद्धा भगस्य मूर्धनि वचसा वेदयामसि ॥
प्रियं श्रद्धे ददतः प्रिय श्रद्धे दिदासत.।
प्रिय भोगेषु यज्वस्विदं म उदित कृधि ॥
श्रद्धा देव यजमाना वायुगोपा उपासते।
श्रद्धा हृदय्ययाऽऽकूत्या श्रद्धया विन्दते वसु।
—ऋग्वेद १०।१५१।१–४

४—शुक्लयजुर्वेद १९।७७

को अच्छे लोको एवम् श्रेष्ठ पदो को प्राप्त करते हुए बतलाया है तथा श्रद्धा-विहीन लोगो को पराधीन एव निकृष्ट कहा है।[१] इतना ही नही वहाँ पर तप, पराक्रम, व्रत, ऋत् और ब्रह्म के साथ श्रद्धा की गणना करते हुए श्रद्धा का सम्बन्ध उक्त सभी बातो से जोडा गया है।[२] बृहद्देवता में श्रद्धा की गणना उपा आदि देवियो के साथ की गई है और उसे श्री, मेधा, वाक्, सूर्या, सावित्री आदि के साथ ऋषिका भी बतलाया है।[3] ऐतरेयब्राह्मण में श्रद्धा तथा सत्य के द्वारा यजमान को स्वर्गलोक को विजय करते हुए बतलाया है।[४] तैत्तिरीय ब्राह्मण में श्रद्धा की बडी विस्तृत प्रशसा मिलती है। वहाँ पर श्रद्धा को देवत्व प्रदान करने वाली, सम्पूर्ण मनोकामनाओ को पूर्ण करने वाली, समस्त जगत की प्रतिष्ठा, ससार का भरण-पोषण करने वाली, अमृत लोक दायिनी, समस्त ससार का शासन करने वाली, सम्पूर्ण भुवनो की अधिपत्नी आदि कहा है।[५]

मुडकोपनिषद् में श्रद्धा की गणना तप, सत्य तथा ब्रह्मचर्य के साथ की गई है,[६] जिससे तप आदि से श्रद्धा का सम्बन्ध दिखाई देता है। बृहदारण्यक उपनिषद् मे मन के अतर्गत श्रद्धा, अश्रद्धा, बुद्धि आदि का रहना बतलाया है,[७] जिससे मन या मनु तथा बुद्धि या इडा से भी श्रद्धा का सम्बन्ध दिखाई देता है। छादोग्य उपनिषद् में श्रद्धा को मनन कराने वाली तथा हृदय में निष्ठा उत्पन्न करने वाली सिद्ध किया है।[८] सौभाग्यलक्ष्मी उपनिषद् में शक्ति के अनेक नामो मे श्रद्धा का नाम भी मिलता है।[९] अत श्रद्धा शक्ति रूपा भी मानी गई है। तथा उसी शक्ति या देवी के बृहवचोपनिषद् मे महात्रिपुरसुन्दरी, सरस्वती, सावित्री, कामकला आदि नाम भी दिये गये हैं,[१०] जिनमे श्रद्धा महात्रिपुरसुन्दरी तथा कामकला भी प्रतीत होती है। मार्कंडेयपुराण मे देवी को समस्त प्राणियो मे श्रद्धा रूप से स्थित बतलाया है।[११]

१—अथर्ववेद १२।३।७, १२।२।५१ २—वही, १०।७।१—११

३—बृहद्देवता २।७४, २।८४

४—श्रद्धया सत्येन मिथुनेन स्वर्गा लोका जयतीति—ऐ० ब्रा० ७।२।१०

५—श्रद्धया देवो देवत्वमश्नुते। श्रद्धा प्रतिष्ठा लोकस्य देवी।... ईशाना देवी भुवनस्य अधिपत्नी"—तै० ब्रा० ३।१२।१-२

६—मुंडक २।१।७ ७—बृहदारण्यक १।५।३

८—छादोग्य ७।१९-२०

९—कल्याण, उपनिषद् अंक, पृ० ६५२।

१०—वही, पृ० ६४९।

११—मार्कंडेयपुराण ५।५०

इससे भी श्रद्धा अनन्त शक्तिशालिनी देवी सिद्ध होती है। त्रिपुरा-रहस्य में श्रद्धा को ऐसी माता कहा है जो सदैव पुत्रों पर वात्सल्य भाव रखती है, भयभीत प्राणियों की रक्षा करती है, सारे संसार की धात्री है, सबका जीवन है और समस्त प्राणियों को श्री, सुख तथा यश प्रदान करने वाली है। इसके साथ ही जो मनुष्य श्रद्धा-रहित होता है उस मूर्ख के श्री, सुख आदि नष्ट हो जाते हैं और वह सर्वत. हीन हो जाता है। इस श्रद्धा को वहाँ संग्रह, त्याग एव लोकप्रवृत्ति की प्रेरणा देने वाली वतलाया है तथा इसके अभाव मे ससार की स्थिति के नष्ट हो जाने की वात कही है।[1] इसके अतिरिक्त त्रिपुरा-रहस्य मे आगे चलकर सतर्कजन्य श्रद्धा से ही सफलता का प्राप्त होना वतलाया है, अन्धश्रद्धा द्वारा नही।[2] इसके साथ ही श्रीमद्भगवद्गीता मे श्रद्धा के तीन रूप स्वीकार किये हैं—सात्विक, राजस तथा तामस।[3] इनमें से सात्विक श्रद्धा द्वारा ही ज्ञान एव परम शान्ति का प्राप्त होना सिद्ध किया है।[4] साथ ही वहाँ श्रद्धा के द्वारा समस्त इच्छित पदार्थों का प्राप्त होना भी वतलाया है।[5]

१—श्रद्धा माता प्रपन्नं स वत्सलेव सुते सदा।
रक्षति प्रौढभीतिभ्यः सर्वथा न हि संशयः॥
आप्तेष्वश्रद्धितं मूढं जहाति श्री. सुखं यश।
स भवेत् सर्वतो हीनो यः श्रद्धारहितो नर.॥
श्रद्धा हि जगता धात्री श्रद्धा सर्वस्य जीवनम्।
अश्रद्धो मातृ विषये वालो जीवेत् कथं वद्॥
स भवेत सर्वतो हीनो य श्रद्धारहितो नर'।
श्रद्धा वैधुर्ययोगेन विनश्येज्जगतान् स्थितिः॥

—त्रिपुरा-रहस्य, ज्ञान खंड, ६।२३–२८

२—सत्तर्कसश्रयेणाशु साधनैकपरो भवेत्।
सत्तर्कजनिता श्रद्धा प्राप्येह फलभाङ् नरः॥

—त्रिपुरा-रहस्य, ज्ञान खंड, ७।७

३—त्रिविधा भवति श्रद्धा देहिनां सा स्वभावजा।
सात्त्विकी राजसी चैव तामसी चेति तां शृणु॥ गीता १७।२

४—श्रद्धावांल्लभते ज्ञानं तत्परः संयतेन्द्रियः।
ज्ञानं लब्ध्वा परां शान्तिमचिरेणाधिगच्छति॥ गीता ४।३९

५—स तया श्रद्धया युक्तस्तस्याराधनमीहते।
लभते च ततः कामान्मयैव विहितान्हि तान्॥ गीता ७।२२

सुख नही मिल सकता। सुख तो इसमे है कि 'औरो को हँसते देखो मनु, हँसो और सुख पाओ।'[1] इससे सभी सुखी होगे और तुम्हारे भी सुख का विस्तार होगा। इस तरह वह मनु को सुखी जीवन व्यतीत करने के लिए उचित सलाह देती है तथा उनके हिंसक एव पशुवत् जीवन को समुन्नत बनाने की भरपूर चेष्टा करती है।

आदर्श गृहिणी—श्रद्धा एक आदर्श गृहिणी है। वह मनु के समीप आते ही सर्वप्रथम नाना प्रकार के बीजों का सग्रह करके कृषि-कर्म में लीन दिखाई देती है। पशुपालन भी उसने प्रारम्भ कर दिया है। इसी बीच में वह गर्भवती हो जाती है। अब वह पशुओ की ऊन से वस्त्र बनाने के लिए तकली पर ऊन कातती रहती है। उसकी इच्छा है कि जो सन्तान अब उत्पन्न होगी, उसे कदापि पशु जैसा न रहने दिया जावेगा। अत वह उसके लिए ऊनी वस्त्र बनाना प्रारम्भ कर देती है। वह गृहस्थ कार्य में बडी ही निपुण है। भावी शिशु के लिए उसने सुन्दर कुटीर का निर्माण किया है, जिसमे पुआलो का छोटा सा छाजन और वेतसी लता का झूला डाला है तथा हवा एव प्रकाश का समुचित प्रबन्ध किया है। इतना ही नही वह भावी शिशु की क्रीडाओं का वर्णन करती हुई आनन्द विभोर हो जाती है और मनु के हृदय में भी सन्तान-प्रेम जाग्रत करती है।[2]

विरहिणी एव मातृत्व की विमल विभूति—मनु जब श्रद्धा को छोडकर चले जाते हैं, तब श्रद्धा पहले एक विरहिणी के रूप मे दिखाई देती है। वह विरह-व्यथा से व्यथित होकर एक मुरझाये हुए शतदल की भाँति पृथ्वी पर पडी रहती है। उसे चारो ओर सूना ही सूना दिखाई देता है। सध्या से अरुण का वियोग तथा 'क्षितिज-भाल से कुकुम का मिटना' देखकर उसकी बेचैनी और भी तीव्र हो जाती है। उस क्षण वह प्रभातकालीन शशि-कला के तुल्य दिखाई देती है, क्योकि उसमे भी न सौदर्य की किरणें रही हैं और न वह यौवन की ज्योत्स्ना। वेदना मौनरूप में बसी हुई है तथा स्मृतियाँ बिजली की भाँति चमक-चमक कर उसे हर घडी व्यथित बनाती रहती हैं। वह व्यग्र होकर कभी-कभी मन्दाकिनी से पूँछ उठती है कि 'जीवन मे सुख अधिक या कि दुख, मन्दाकिनि कुछ बोलोगी।'[3] परन्तु वहाँ कौन उत्तर देता है? उसे तो चारो ओर अधकार, पतझड और शून्य दिखाई देता है। यही स्थिति 'यशोधरा' काव्य में यशोधरा की भी जान पडती है। परन्तु वहाँ यशोधरा को तो यह सन्तोष है कि उनके पति एक निश्चित उद्देश्य लेकर गये हैं, परन्तु मनु का कोई निश्चित उद्देश्य नहीं। अत. यहाँ श्रद्धा में अधिक व्यग्रता दिखाई देती है।

१—कामायनी, पृ० १२९–१३२। २—वही पृ० १४९–१५०।
३—वही पृ० १७५–१७६।

परन्तु इस बेचैनी मे भी जब उसका पुत्र 'माँ' कहकर पुकारता हुआ उसके समीप आ जाता है, तो उसकी सूनी कुटिया गूँज उठती है। वह अपने नटखट बालक को खेलने से नही रोकती। उसे भय है कि कही पिता की भाँति यह भी न घर से निकल जाये।[1] अत. उसे पिता का प्रतिनिधि मानकर बडे लाड-चाव के साथ दुलार करती है और यही उस विरहिणी की व्यथा-भार को हलका बनाने के लिए एकमात्र सम्बल है। अत अपने मातृ-पद का उचित निर्वाह करती हुई विरह के भयानक कष्ट मे भी उस बालक का लालन-पालन दत्तचित्त होकर करती रहती है।

मनु की विपत्ति-सहचरी—इसके अनन्तर श्रद्धा स्वप्न मे अचानक मनु पर सकट आया हुआ देखती है। वह स्वप्न से क्षुभित होकर तुरन्त मनु की खोज में निकल पडती है। उसका पुत्र भी उसके साथ है और वह पति-परायणा सात्विकी नारी खोजते-खोजते सारस्वत नगर मे मूच्छित एव घायल मनु को प्राप्त करके उनका उचित उपचार करती है। यहाँ सचमुच श्रद्धा गोस्वामी तुलसीदासजी की कही हुई 'धीरज धर्म मित्र अरु नारी, आपद काल परिखिअहि चारी'[2] वाली उक्ति को चरितार्थ करती हुई दिखाई देती है। उसमे अपने परस्त्रीगामी एव आसन्न गर्भावस्था मे छोडकर भाग आने वाले पति के प्रति क्रोध एवं घृणा के भाव उदित नही होते, वरन् वह इतनी सहिष्णु है कि सब कुछ सुन और देखकर भी मनु को सात्वना प्रदान करती है तथा मनु जब कुछ स्वस्थ होकर वहाँ से भी दूर चलने का आग्रह करते हैं, तब श्रद्धा बड़ी नम्रता के साथ 'ठहरो कुछ तो बल आने दो लिवा चलूँगी तुरत तुम्हे'[3] कहकर उन्हें उचित सलाह देती है। श्रद्धा के इस विपत्ति-सहचरी रूप के सम्मुख मनु और इडा दोनो नतमस्तक हो जाते है और मनु उसे 'अजस्र वर्षा सुहाग की और स्नेह की मधु रजनी'[4] कहकर अपनी कृतज्ञता प्रकट करते हैं, तो इडा 'दो क्षमा, न दो अपना विराग'[5] कहकर क्षमा-याचना करती है।

'वसुधैव कुटुम्बकम्' एवं लोक-कल्याण की प्रचारिका—श्रद्धा का अब अत्यन्त भव्य चरित्र हमारे सम्मुख आता है। मनु जब दूसरी बार पुनः सारस्वत नगर से भी एक रात को चुपचाप कही चले जाते हैं, तब उस समय प्रभातकाल मे कुमार अपनी माता श्रद्धा को खिन्न देखकर उसकी उदासी का कारण पूँछता है। इतना ही नही, कुमार यहाँ तक भी कह डालता है कि इस निर्जन प्रदेश में अब क्या रखा है, चलो अपने पुराने घर को ही लौट चले,[6] तब श्रद्धा कुमार को यही समझाती है कि "यह

१—कामायनी, पृ० १७९। २—रामचरितमानस, अरण्यकाण्ड ४।७
३—कामायनी, पृ० २२०। ४—कामायनी, पृ० २२६।
५—वही, पृ० २४०। ६—वही, पृ० २३३।

सारा विश्व ही मेरा घर है, इस घर में उन्मुक्त अपार नीला आकाश छत के रूप में छाया हुआ है। यहाँ बादल जल से भरे घिरे रहते हैं। सुख-दुख प्रत्येक पल पर यहाँ आते-जाते रहते हैं। वायु भी बच्चे के समान खेलती हुई यहाँ बहती रहती है। अगणित नक्षत्र झिलमिल-झिलमिल करते हुए जुगनू की भाँति चमकते रहते हैं। यह विश्व कितना व्यापक और कितना उदार है। इसका द्वार सभी के लिए खुला हुआ है। अत यही मेरा घर है।"[1] इसके साथ ही जब इडा क्षमा-याचना करती हुई श्रद्धा के सम्मुख अपनी सारी दुर्बलता का प्रकाशन कर देती है, तब श्रद्धा उसे पहले सरल शब्दो में समझाती है और उसकी त्रुटियो का सकेत करके 'सिर चढी रही पाया न हृदय'[2] कहकर उसको आगे के लिए सावधान भी कर देती है। साथ ही जब इडा को अत्यन्त अधीर और बेचैन देखती है, तब अपने प्रिय पुत्र कुमार को इडा के समीप छोडकर उन दोनो को शासन-कार्य चलाने का आदेश देती है। यहाँ श्रद्धा मे हमें लोक-कल्याण के लिए अपने पुत्र को भी उत्सर्ग करने की उत्कट अभिलाषा दिखाई देती है और दोनो को समरसता का प्रचार करने के लिए दिया जाने वाला श्रद्धा का उपदेश उसकी लोक-कल्याण-भावना का उत्कृष्ट उदाहरण है। क्योकि "सबकी समरसता कर प्रचार, मेरे सुत ! सुन माँ की पुकार"[3] में न केवल कुमार के लिए ही उपदेश है, अपितु आधुनिक शासको के लिए भी जन-कल्याणकारी सदेश भरा हुआ है।

आनन्द की पथ-प्रदर्शिका—अत मे हमें श्रद्धा मनु के आनन्द-पथ की प्रदर्शिका के रूप में दिखाई देती है। श्रद्धा का यह रूप उपनिषद् एव गीता आदि के आधार पर चित्रित किया गया है। श्रद्धा को हम अब विश्व-मित्र, सर्वमगलकारिणी, क्षमानिलय, उदार, निर्विकार आदि गुणो से विभूषित पाते हैं।[4] अपने इन्ही गुणो के कारण वह मनु को भगवान् शिव के दर्शन कराती है और इच्छा, ज्ञान तथा क्रिया का समन्वय करती हुई उन्हे पूर्णत आनन्द का अधिकारी बना देती है। इस समन्वय के कारण मनु के हृदय में भी समरसता का सचार होता है, उनके राग-द्वेष नष्ट हो जाते हैं और वे एक सच्चे योगी की भाँति एकाग्र चित्त होकर शृग और डमरू के निनाद के साथ ही अनाहत नाद को भी सुनने लगते हैं। उनके स्वप्न, स्वाप, जागरण आदि भस्म हो जाते हैं और श्रद्धा के सात्विक भाव की प्रेरणा से मनु अखण्ड आनन्द को प्राप्त करते हैं। इतना ही नही अन्तिम 'आनन्द' सर्ग में इडा तथा उसकी समस्त प्रजा और मानव भी इस मगल एव आनन्द-प्रदायिनी कल्याण-

मूर्ति के दर्शन करने कैलाश पर्वत पर आते हैं और श्रद्धा के प्रबल प्रभाव से चतुर्दिक् फैले हुए आनन्द का अनुभव करते हैं। यह श्रद्धा के उदार चरित्र एव विश्व-प्रेम का ही प्रभाव है कि सारा विशृंखलित कुटुम्ब हिमगिरि की उच्च शिखर पर पुन· एकत्रित हो जाता है। अब उनमें से कोई भी पृथक् नही रहता। सभी उस 'प्रेम ज्योति विमला' से दिव्य ज्ञान-ज्योति प्राप्त करते हैं और सर्वत्र घना अखण्ड आनन्द व्याप्त हो जाता है।

श्रद्धा की कल्पना में प्रसादजी का उद्देश्य—प्रसादजी ने श्रद्धा को हृदय का प्रतीक माना है और वह यथार्थ मे हृदय के समस्त उच्च कोटि के गुणो से सम्पन्न है। उसके निश्छल प्रेम, निस्वार्थ त्याग, ध्रुव विश्वास, सहज कारुण्यभाव, सहिष्णुता, अपरिमित तितिक्षा, अतुल अनुराग आदि गुण उसे विशाल अतःकरण सम्पन्न नारी के रूप मे प्रतिष्ठित करते हैं। ऐसी 'हृदय-सत्ता के सुन्दर सत्य' को खोजने वाली आदर्श नारी से दूर रहकर कभी आनन्द की प्राप्ति सम्भव नही। वैसे श्रद्धा एक ऐसी भावना भी बतलाई गई है, जिसके बिना मनुष्य-जीवन निरर्थक है, क्योकि वही ज्ञान प्रदान करती है, वही विश्वास को उत्पन्न करती है, वही आस्तिक्य बुद्धि-स्वरूपा है और वही आनन्द की प्राप्ति कराती है। आगम तथा निगम सभी ग्रन्थों में इस श्रद्धा नामक भाव की भूरि-भूरि प्रशसा मिलती है। इन ग्रन्थो से ही प्रेरणा लेकर प्रसादजी ने मानव-जीवन में इसका सचार करने के लिए श्रद्धा की काव्यात्मक व्याख्या की है। इसके अतिरिक्त भारतेन्दु-युग से आरम्भ होने वाले नारी-जागरण सम्बन्धी आन्दोलन का चरम विकास दिखाने के लिए भी प्रसादजी ने श्रद्धा के रूप में नारी के लिए उचित गुणों की अवतारणा की है। श्रद्धा पात्र में निस्सन्देह हम प्रसादजी की नारी-सौन्दर्य सम्बन्धी भावना, आदर्श नारी सम्बन्धी विचार-धारा एव नारी सौन्दर्य के चित्रण की कला का स्वरूप देख सकते हैं।

इडा—कामायनी के प्रमुख पात्रो में इडा का भी महत्वपूर्ण स्थान है। इसका वर्णन ऋग्वेद में स्थान-स्थान पर मिलता है। वहाँ इसे देवी,[१] मानवो पर शासन करने वाली,[२] यूथमाता या राष्ट्र स्वामिनी,[३] मानवो को बुद्धि या चेतना प्रदान करने वाली,[४] घृतहस्ता,[५] प्रकर्ष हिंसाकारिणी, शोभनशील योद्धाओ वाली[६] आदि कहा

१—इडा ‥ देवीर्मयोभुव ॥ ऋग्वेद १।१३।९, ५।५।८

२—इडामकृण्वन् मनुषस्य शासनीम्। ऋग्वेद १।३१।११

३—अभि न इडा यूथस्य माता। ऋग्वेद ५।४१।१९

४—इडा मनुष्वदिह चेतयन्ती। ऋग्वेद १०।११०।८

५—इडा घृतहस्तादुरोण। ऋग्वेद ७।१६।८

६—तस्मा इडा सुवीरामा यजामहे सुप्रतूर्तिमनेहसम्। ऋग्वेद १।४०।४

है। यजुर्वेद में इडा को हविष्मतीदेवी,[1] वसुमती, गृहपालिनी,[2] सुवर्णमयी, अपार प्रभाव शालिनी, अनुपम तेजमयी,[3] समस्त साधनो से सम्पन्न, अभीष्ट फल देने वाली[4] आदि भी कहा है। अथर्ववेद में इडा को प्रजा के लिए सुख-देने-वाली तथा राष्ट्र की सरक्षिका भी बतलाया है।[5] ऐतरेय ब्राह्मण में इडा को अन्न-प्रदायिनी, पशु-वृद्धि करने वाली आदि कहा है।[6] तैत्तिरीय ब्राह्मण मे उसे मानवी, यज्ञों का अनुशासन करने वाली,[7] विश्वरूपिणी, अग्निस्वरूपा, दीप्तिवती,[8] प्रीति उत्पन्न करने वाली,[9] सुरा की तीव्र गध से युक्त मादक सोम का सम्पादन करने वाली[10] आदि भी बतलाया है। शतपथब्राह्मण में इडा पूर्णयोपिता, सृष्टि की उत्पादिका, मनुजाया, मानवी आदि भी बतलायी गई है।[11] पुराणो में इसे दिव्याभूषणो से अलकृत दिव्य रूप वाली बतलाया गया है।[12] प्रसादजी ने उक्त ग्रथो के आधार पर ही इडा-पात्र की कल्पना की है, जिसका विकास कामायनी में इस प्रकार मिलता है —

प्रारम्भिक व्यक्तित्व—कामायनी में इडा सर्वप्रथम एक अत्यन्त आकर्षक एवम् प्रभावशाली व्यक्तित्व लेकर अवतीर्ण होती है जो 'नयन महोत्सव की प्रतीक', 'अम्लान नलिन की नवमाला', अनन्त सुषमापूर्ण, सुन्दर बाला जान पडती है, जिसकी अलकें तर्कजाल के समान बिखरी हुई है, जिसका अर्धचन्द्र के तुल्य उज्वल मस्तक ससार के

१—इडा··· हविष्मतीर्व्यन्त्वाज्ज्यस्य होतर्य्यज। शुक्लयजुर्वेद २८।८

२—इडावसुमतीगृहान्वसुवनेध्वसुधेयस्य व्यन्तुयज। शुक्लयजुर्वेद २८।१८

३—होतायक्षत्पेशस्वती तिस्रोदेवीर्हिरण्यमयी। शुक्लयजुर्वेद २८।३१

४—अरुपस्तूपोरुशदस्यपाज ऽ इडायास्पुत्र। शुक्लयजुर्वेद ३४।१४

५—शर्म यच्छत प्रजायै (अथर्ववेद ५।३।७), राष्ट्रमेका रक्षति (अथर्ववेद ८।९।१३)

६—इडा' अन्नं यजमाने दधाति (ए० ब्रा० २।१।४), पशून् यजमाने दधाति (ए० ब्रा० २।१।१०)

७—इडा वै मानवी यज्ञानुकाशिन्यासीत्। तै० ब्रा० १।१।४।४

८—इहो इडा तिष्ठतु विश्वरूपी। मध्ये वसोर्दीदिहि जातवेद।

—तैतिरीय ब्राह्मण १।२।१।२१

९—तस्मा इडा पिन्वते विश्वदानी। तै० ब्रा० २।४।६।४

१०—इडा तीव्र परिस्रुतासोमम्। तै० ब्रा० २।६।१३।४

११—तन सवत्सरे योषित्सम्बभूव ता हैव प्रजाति प्रजायते या मनु' प्राजायत ·· मनुर्ह्यं तामग्रेऽजनयत तस्मादाह मानवीति। श० ब्रा० १।८।१।६–२६

१२—मत्स्यपुराण अध्याय ७, विष्णुपुराण अध्याय ४, मत्स्यपुराण अध्याय ११।

मुकुट तुल्य प्रतीत होता है, जिसके दोनो नेत्र पद्म-पत्र के चपक तुल्य हैं,- जिनसे अनुराग एवम् विराग दोनो ही छलक रहे हैं। एक खिली हुई ऐसी कलिका के समान उसका मुख है, जिस पर भ्रमर गूँज रहे हो। साथ ही उसकी मुख-मुद्रा से ऐसा प्रतीत होता है मानो उसमे अपार ज्ञान भरा हुआ है। इतना ही नही उसका वक्षस्थल ससार के समस्त ज्ञान-विज्ञान का आश्रय प्रतीत होता है। वह एक हाथ मे कर्म-कलश लिए है, जिसमें पृथ्वी के जीवन-रस का सार भरा हुआ है और उसका दूसरा हाथ विचारो के आकाश को अपना मधुर निर्भय अवलम्ब दे रहा है। उसकी नाभि के ऊपर तीन रेखायें त्रिगुणात्मक तरगो के तुल्य शोभायमान हैं। उसके शरीर मे एक श्वेत वस्त्र कुछ अस्तव्यस्त सा लिपटा हुआ है तथा उसके चरणो में तालयुक्त गति भरी हुई है।[1] इडा का यह वर्णन स्पष्ट ही उसे एक ज्ञान-विज्ञान सम्पन्न, सुसभ्य आधुनिक युवती के रूप मे प्रस्तुत करता है। इडा को प्रसादजी ने इस प्रकार एक बौद्धिक धरातल पर उन्नति प्राप्त सभ्यता की प्रेरक शक्ति के रूप मे रखा है, क्योकि यही इडा मनु मे अपने उजडे हुए प्रदेश को पुनः बसाने का आग्रह करती है तथा स्वय मार्ग-दर्शन करती हुई देश मे यान्त्रिक सभ्यता का विकास करती है।

बुद्धिवाद के अतिरेक की प्रतीक—इडा के रूप-चित्रण में ही उसे ज्ञान-विज्ञान सम्पन्न कहा गया है। परन्तु मनु से वार्त्तालाप करते हुए वह स्पष्ट कह देती है कि "मनुष्य को बुद्धि का कहना मानकर एकमात्र उसी के सहारे अपना विकास करना चाहिए। मनुष्य बुद्धि से जडता को भी चैतन्य बना सकता है। इसके लिए विज्ञान ही सहज साधन है और इस विज्ञान के सहारे उन्नति करके ही मानव अपना यश सारे विश्व मे फैला सकता है।"[2] इस प्रकार बौद्धिक उत्कर्ष की प्रेरणा प्रदान करने वाली इडा अपने सारस्वत प्रदेश का शासन-भार मनु को सौंप देती है तथा विज्ञान एव बुद्धि के सहारे उन्नति करने की सलाह देती है। यहाँ श्रद्धा तथा इडा में स्पष्ट अन्तर दिखाई देता है। वैसे दोनो ने मनु को उन्नति की ओर अग्रसर होने के लिए प्रेरणायें दी हैं, परन्तु इडा जहाँ मनु को अकेले ही कर्म करने तथा केवल अपनी क्षमता बढाने की प्रेरणा देती है, वहाँ श्रद्धा शक्ति के समस्त अवयवो का समन्वय करके 'शक्ति शाली हो, विजयी बनो'[3] का आदेश देती है। इडा जहाँ 'सबका नियमन शासन करते बस बढा चलो अपनी क्षमता'[4] कहकर मनु को एक निरकुश एवम् निर्मम शासक बनने की प्रेरणा देती है, साथ ही प्रजा को शक्तिशाली न होने देने एवम् उस पर कठोर शासन करने का उपदेश देती है, वहाँ पर श्रद्धा ने पहले ही

१—कामायनी, पृ० १६८। १७१ २—कामायनी, पृ० १७१। १७२
३—वही, पृ० ५७। ४—वही, पृ० १७१। १७२

'विश्व की दुर्बलता वल बने'[१] कहकर सभी प्राणियो को शक्तिशाली वनाने की प्रेरणा दी है। इडा जहाँ 'विज्ञान सहज साधन उपाय'[२] कहकर विज्ञान के आधार पर उन्नति करने की सलाह देती है वहाँ श्रद्धा ने 'समर्पण', 'सेवा' और समरसता' द्वारा सफलता प्राप्त करने की सलाह दी है।[३] इडा जहाँ 'तुम जडता को चैतन्य करो'[४] कहकर जडता को चेतनता में परिणत करने के लिए कहकर ससार में जडत्व का प्राधान्य स्वीकार करती है, वहाँ श्रद्धा सृष्टि के मूल में चिति शक्ति को मानती है और इस ससार को उस चेतन शक्ति की व्यक्त लीला कहकर इसे पूर्ण चैतन्य से भरा हुआ वतलाती है।[५] इस प्रकार दोनो विपरीत भावो का निदर्शन करती हुई दिखाई गई हैं। इन वातो के आधार पर श्रद्धा जहाँ हृदय की उदार वृत्ति की प्रतीक सिद्ध होती है, वहाँ इडा केवल वुद्धिवाद के अतिरेक की प्रतीक ठहरती है।

विलासिता की प्रेरक-शक्ति—मनु जब शासन-सूत्र अपने हाथ मे संभाल लेते हैं और वडी कुशलता से वैज्ञानिक आधार पर नगर की उन्नति के लिए दत्तचित्त दिखाई देते हैं, तब इडा उस 'क्रतुमय पुरुष' को अपने जीवनाकाश में उषा के तुल्य जान पडती है और अपने रूप-सौन्दर्य की मोहक किरणो द्वारा मनु के कर्मशील मन को सहसा आकृष्ट कर लेती है। इडा ने मनु को केवल नगर की भौतिक उन्नति की ही प्रेरणा नही दी है, अपितु मनु को मदिरा के चपक पर चषक पिलाकर विलासिता की ओर भी उन्मुख किया है।[६] उसका परिणाम यह निकलता है कि वह अतृप्त विलासी मनु अपनी तीव्र पिपासा शान्त करने के लिए इडा के साथ ही अनैतिक आचरण करने के लिए उद्यत हो जाता है और विलासिता का शिकार होकर देव सृष्टि के पूर्व-विनाश के तुल्य अपनी उन्नत वैज्ञानिक सभ्यता के विनाश की भी पृष्ठभूमि तैयार कर लेता है।

वैज्ञानिक युग की जनप्रिय रानी—श्रद्धा ने कृषि-प्रधान सभ्यता का विकास किया था, परन्तु मनु ने उसे सहयोग न दिया, वे निष्क्रिय वने रहे। अत उसका पूर्ण विकास नही हो सका। परन्तु इडा ने यहाँ विज्ञान के आधार पर यान्त्रिक सभ्यता की प्रेरणा दी है और मनु उसे सक्रिय सहयोग देते है, जिससे दृढ प्राचीर, मन्दिर, विशाल भवन, धातु शोधन, आभूषण एवम् अस्त्र-शस्त्र का निर्माण आदि कार्य होते हैं और जनता का श्रम-विभाजन करके उसे सुख-सतोष दिलाने का प्रयत्न होता है। जनता भी इस उन्नति की वडी सराहना करती है। इसी कारण जब मनु इडा के

१—कामायनी, पृ० ५६।
२—कामायनी, पृ० १७१।
३—वही, पृ० ५७, २४४।
४—वही, पृ० १७१।
५—वही, पृ० ५३।
६—वही, पृ० १८३।

साथ अनैतिक आचरण करते हैं, तो सारी जनता मनु के विरुद्ध खडी हो जाती है[1] और अपनी भौतिक सौख्य प्रदायिनी रानी की रक्षा के लिए मनु के साथ युद्ध करके उसे बचा भी लेती है। जनता की इस क्रान्ति के द्वारा इडा का जनप्रिय होना सिद्ध होता है।

मनु की निष्पक्ष सलाहकार—इडा को मनु का यह अनैतिक आचरण बुरा लगता है और वह मनु की निरकुशता एव निर्बाध अधिकार की लालसा को दूर करने के लिए बडे सुन्दर शब्दो मे मनु को समझाती है कि "यदि नियामक ही अपने बनाये हुए नियमो का उल्लघन करेगा, तो निस्सदेह सब कुछ नष्ट हो जायगा। ससार में ऐसा कभी नही होता और न कभी होगा कि कोई निर्बाधित अधिकार का उपभोग करे। नियामक को तो सदैव भेद-भाव भूलकर चलना चाहिए और कभी विवादी स्वर नही छेडना चाहिए।" वह आगे फिर कहती है, "तुम्हे मेरा सारा उपकार यो ही नही भुला देना चाहिए, क्योकि मैंने ही तुम्हे प्रकृति के साथ सघर्ष करना सिखाया हैं, मैंने ही शासन का केन्द्र बनाकर तुम्हे इस बिखरे हुए वैभव का स्वामी बनाया है। अत तुम्हे मेरी बाते माननी चाहिए। यदि तुम मुझ पर विश्वास करके मेरा कहना मानोगे, तो सारी भ्रान्ति दूर हो जायगी और सबकुछ ठीक हो जायगा।"[2] यहाँ इडा स्पष्ट ही एक निष्पक्ष सलाहकार के रूप मे दिखाई देती है।

कोमल एवं सहृदय नारी—सारस्वत नगर का विनाश एव मनु की मूर्च्छित अवस्था को देखकर इस ज्ञान-विज्ञान सम्पन्न निर्मम नारी को भी हम कोमलता एव सहृदयता से परिपूर्ण देखते हैं। वह मनु के विगत जीवन पर विचार करती हुई उनके अपराधो पर दृष्टि डालती है तथा मनु की निरीह एव असहाय अवस्था पर आठ-आठ आँसू रोती है। इतना ही नही जब श्रद्धा बावली सी अपने कुमार को साथ लिए हुए वहाँ मनु को ढूँढती हुई दिखाई देती है, तब श्रद्धा की करुण-पुकार इडा के कठोर हृदय को द्रवित कर देती है। इडा उस योगिनी की मार्मिक व्यथा बडी सहानुभूति के साथ सुनती है और उस समय उसके आश्चर्य का ठिकाना नही रहता, जब वह यह देखती है कि यह श्रद्धा तो मनु को ही खोज रही है। मनु को प्राप्त करके उसके उपचार में जुटी हुई श्रद्धा को देखकर तो इडा पानी-पानी हो जाती है।

१—किन्तु आज तुम बंदी हो मेरी बाहों में,
मेरी छाती में, फिर सब डूबा आहों में!
सिंह द्वार अरराया जनता भीतर आई,
"मेरी रानी" उसने जो चीत्कार मचाई। कामायनी, पृ० १६८।

२—कामायनी, पृ० १६२–१६३।

उस क्षण श्रद्धा के साथ इडा के भी आँसू टप-टप गिरने लगते हैं। यहाँ इडा की यह कोमलता इस बात की सूचक है कि नारी कितनी भी निर्मम एव अनुराग-शून्य क्यों न हो जाय और उसे ज्ञान-विज्ञान कितना ही कठोर बुद्धिवादी क्यो न बनादे, परन्तु उसमें भी स्त्रियोचित सहज गुण विद्यमान रहते है।

बुद्धिवाद के विपरीत हृदयवाद की अनुगामिनी—मनु के पुन चले जाने पर श्रद्धा तथा इडा का पारस्परिक वार्त्तालाप होता है। उसमें इडा अपनी हार्दिक दुर्बलताओं को निस्सकोच श्रद्धा के सामने रख देती है और बतला देती है कि "एक दिन मैं राष्ट्र-स्वामिनी के नाम से प्रसिद्ध थी और आज अवनति का कारण बनी हुई हूँ। मेरी समस्त योजनायें असफल सिद्ध हुई। मैं नितान्त भ्रम में थी। मुझे यान्त्रिक शक्ति में ही विश्वास हो गया था। परन्तु ये शक्ति-चिह्न सब व्यर्थ है। ये भय की उपासना स्वरूप हैं। दूसरे, मैंने तुम्हारा सुहाग भी छीना है। आज मैं स्वय को अच्छी नही लगती। इसलिए मैंने जो कुछ तुम्हारे साथ अपराध किया है उसके लिए क्षमा चाहती हूँ।" तब श्रद्धा उसे समझाती है कि "तू केवल सिर पर ही चढी रही, तूने कभी हृदय प्राप्त करने का प्रयत्न नही किया।"[1] श्रद्धा की इस बात को मानकर वह अपनी त्रुटि समझ लेती है और पीछे कुमार के साथ हृदयवादी पद्धति पर शासन-सूत्र सँभालती है, जिससे सारस्वत नगर की ऐसी श्री-वृद्धि होती है कि फिर कभी अनिष्ट की आशका नही होती।

आनन्द-पथ-गामिनी—अन्त में प्रसादजी ने इडा के जीवन मे भी परिवर्तन प्रस्तुत किया है। वह ज्ञान-विज्ञान-सम्पन्न निर्मम एवम् अनुराग-हीन नारी कुमार के साथ समरसता की पद्धति से शासन करती हुई सर्वत्र सुख शान्ति का सचार करती है और एक कुटुम्ब बनाकर कैलाश-गिरि की यात्रा करने चलती है। वह अपने साथ सोम-लता से आवृत धर्म के प्रतिनिधि वृषभ को भी ले जाती है, जिसको कैलाश पर जाकर चिर-मुक्ति प्रदान कर देती है और समस्त प्रजा को मनु-श्रद्धा द्वारा स्थापित शान्त तपोवन का दर्शन कराती हुई अखण्ड आनन्द की उपलब्धि कराती है। वहाँ पहुँच कर इडा श्रद्धा के सामने अपनी सभी त्रुटियाँ स्वीकार कर लेती है। आज उसे आध्यात्मिकता की इतनी ऊँचाई पर आकर यह ज्ञान हुआ है कि "मैं कितना बुद्धि-भ्रम उत्पन्न करके उत्पात मचाती रही हूँ तथा उन्नति एवम् सफलता की लालसा जगाकर मानवों को व्यर्थ ही सुख और आनन्द की मृग-मरीचिका में फँसाती रही हूँ।"[2] इस प्रकार यथार्थ ज्ञान होने के कारण इडा भी वहाँ इतनी ऊँचाई पर पहुँच कर अथवा

१—कामायनी, पृ० २३८—२४१। २—वही, पृ० २८७।

भौतिकता के सकुचित दायरे से ऊँचे उठ कर अपनी प्रजा-सहित अखण्ड आनन्द की अधिकारिणी बन जाती है।

प्रसादजी की इडा सम्बन्धी कल्पना का उद्देश्य—प्रसादजी ने मनु तथा श्रद्धा के रूप में जहाँ भारतीय आदि-पुरुष एवम् आद्या नारी का चित्र अंकित किया है, वहाँ इडा के रूप में आधुनिक पाश्चात्य सभ्यता एवम् संस्कृति मे निष्णात बुद्धि के अतिवाद का प्रचार करने वाली नारी का चित्रण किया है। उसके सारस्वत नगर के रूप में वर्त्तमान वैज्ञानिक जगत का पूर्णतः आभास मिलता है। इडा की प्रजा, उसका सघर्ष, श्रम-विभाजन, यत्र-आविष्कार आदि सभी बातें आधुनिक युग की वैज्ञानिक उन्नति की ओर सकेत कर रहे हैं। परन्तु श्रद्धा के सम्पर्क मे आकर इडा के अदर जो परिवर्त्तन दिखलाया गया है, उसकी प्रथम कल्पना 'तितली' उपन्यास मे ही विद्यमान है, क्योंकि वहाँ पर भी आधुनिक युग की पाश्चात्य सभ्यता की पुजारिन शैला का तितली के सम्पर्क मे आकर सुधार दिखलाया गया है। इन कल्पना मे प्रसादजी के समन्वयवाद की भी झलक मिलती है, जिसका अभिप्राय यह है कि श्रद्धा समन्वित बुद्धि ही सफलता एवम् आनन्द की विधायिनी होती है और श्रद्धा-रहित बुद्धि विनाश के पथ पर ले जाती है। इस तरह प्रसादजी ने यहाँ आधुनिक युग को समन्वय की भावना का महत्व बतलाने के लिए इडा की ऐसी कल्पना की है।

मानव—श्रद्धा एवम् मनु के पुत्र मानव का कामायनी मे अधिक विवरण नही मिलता, इसी कारण यह गौण पात्रों में रखा गया है। इसकी कल्पना का आधार भी ऋग्वेद है, क्योंकि वहाँ पर मनु को मानवों का पिता कहा गया है और इक्ष्वाकु, शर्याति, नहुष आदि को मानव कहकर सम्बोधन किया गया है।[१] इसके अतिरिक्त पुराणों में इक्ष्वाकु, शर्याति आदि मनु के दस पुत्र बतलाये गये हैं।[२] परन्तु प्रसादजी ने सबका उल्लेख न करके केवल एक पुत्र का उल्लेख किया है और उसको कुमार तथा मानव कह कर सम्बोधित किया है।[3] यहाँ पर प्रसादजी ने आगामी मानवता के विकास के लिए केवल दो पात्र चुने है—मानव तथा इडा। कुछ आलोचक मनु-पुत्र शर्याति को कामायनी का 'मानव' बतलाते हैं।[४] परन्तु शर्याति पुराणों मे मनु के सातवें पुत्र बतलाये गये है और इक्ष्वाकु को सभी पुराण मनु का

१—ऋग्वेद १०।५७, १०।६३।

२—श्रीमद्भागवतपुराण ६।१।११–१२।

३—कामायनी, पृ० २१५, २२८,२७७,२८६।

४—कामायनी और प्रसाद की कविता-गगा, पृ० ४३।

ज्येष्ठ पुत्र स्वीकार करते हैं।[1] इसके साथ ही राजा इक्ष्वाकु ही सूर्य-वंश के प्रवर्त्तक माने जाते हैं। दूसरी ओर पुराणों में इडा से बुध का सम्पर्क होने पर पुरुरवा की उत्पत्ति बतलाई गई है और राजा पुरुरवा को ही चन्द्र-वंश का प्रवर्त्तक कहा है।[2] इस तरह पौराणिक आधारों पर इक्ष्वाकु सूर्य-वंश के और पुरुरवा चन्द्रवंश के प्रवर्त्तक सिद्ध होते हैं। ये दो राज-वंश ही प्रजापति मनु के उपरान्त यहाँ विकसित हुए हैं। अत कामायनी में जिस मानव का वर्णन मिलता है, वह शर्याति न होकर इक्ष्वाकु ठहरता है। प्रसादजी ने इस मानव-पात्र का विकास कामायनी मे इस प्रकार दिखलाया है —

प्रारम्भिक व्यक्तित्व—कुमार के सर्वप्रथम दर्शन कामायनी में 'स्वप्न' सर्ग के अन्तर्गत होते हैं। उस समय यह इतना बडा हो चुका है कि अकेले वन में खेलने-कूदने जाने लगा है, यह बडा नटखट है, इसकी घुँघराली अलकें खुली रहती हैं और सारा शरीर धूल से धूसरित बना रहता है। यह चपल बालक सारे दिन वन में मृग की भाँति चौकडी भरता रहता है। इसे खाने-पीने की तनिक भी परवाह नही। खेल कूद में यह सबकुछ भूल जाता है और यदि भूख लगती है, तो वही वन के फल खाकर भूख शान्त कर लेता है। इसकी माता श्रद्धा उसे डाँटने तक का साहस नहीं करती, क्योंकि वह देख चुकी है कि तनिक कहने पर तो मनु रूठ कर चले गये, अब उनका पुत्र होने के कारण कही यह भी न रूठ कर चला जाय, इससे वह डरती रहती है। यह बालक वैसे श्रद्धा को अत्यन्त प्यार करता है और उसकी सूनी कुटिया को मुखरित बनाता रहता है।[3]

आत्मीयता का सचारक—जब श्रद्धा तथा कुमार दोनों मनु को खोजते खोजते सारस्वत नगर में पहुँचते हैं, तब इस वनवासी बालक को पहले तो हम 'अभिज्ञान शाकुतलम्' में वर्णित शार्ङ्गरव एव शारद्वत[4] की भाँति भव्य प्रासाद मन्दिर, मडप, वेदी आदि को देखकर आश्चर्य-चकित सा देखते हैं। किन्तु जब यह मनु के समीप आकर अपनी माँ से यह सुनता है कि ये ही तेरे पिता हैं और आज मूर्छित अवस्था मे पडे हुए हैं, तब इस चपल वनचारी बालक के हृदय मे भी पितृ-प्रेम जाग्रत हो उठता है, इसके रोंगटे खडे हो जाते हैं और यह तुरन्त आत्मीयता से विभोर होकर माँ से कह उठता है 'माँ यहाँ बैठी-बैठी क्या कर रही हो, ये प्यासे होंगे। इसलिए इन्हें शीघ्र पानी पिलाओ।'[5] वनवासी बालक यही उपचार जान

१—मत्स्यपुराण ११।४१ २—हरिवशपुराण, अध्याय १०।
३—कामायनी, पृ० १७६। ४—अभिज्ञान शाकुन्तलम्, ५।११-१२
५—कामायनी पृ० २१६।

सकता है। परन्तु इसके ये स्वाभाविक शब्द अन्तस्थल में छिपे हुए पितृ-प्रेम को व्यक्त करते हैं तथा इसके हृदय मे स्थित अचेतन आत्मीयता के परिचायक हैं। इन शब्दो का ऐसा असर होता है कि उस भीषण वेला में भी सबके हृदयो मे आत्मीयता का सचार हो जाता है तथा वहाँ एक छोटी सी गृहस्थी का स्वरूप बन जाता है। यह आत्मीयता आगे चलकर इतनी व्यापक हो जाती है कि पुत्र-ईर्ष्यालु मनु को भी यह कुमार अपने जीवन का उच्च अश, कल्याण-स्वरूप तथा हार्दिक स्नेह की आकार मूर्ति प्रतीत होता है।[1]

विपत्ति में माँ का अवलम्ब—सारस्वत नगर से मनु के पुनः चले जाने पर यह कुमार जब अपनी माँ को कुछ दुःखी देखता है, तब पहले तो इसे भी पितृ-वियोग का कष्ट होता है, परन्तु पीछे अपनी माँ से बडे साहस के साथ यही कहता है कि "माँ तू क्यो उदास होती है, क्या मैं तेरे पास नही हूँ, तू कई दिनो से चुपचाप कुछ सोचती रहती है, कुछ तो कह, यह तेरा दुसह दुख कैसा है, जो तेरा अन्तर्वह्नि जला रहा है, जिससे तू ढीली सी साँस भरा करती है और हताश सी बनी रहती है।"[2] कुमार की इन पक्तियो मे कितनी शक्ति एव दृढता भरी हुई है। किसी भी सकट-ग्रस्त माँ को इन्हे सुनकर अवलम्ब प्राप्त हो सकता है। स्पष्ट ही इन पक्तियो से मातृ प्रेम की दृढता एव मातृ-सकट को दूर करने की क्षमता प्रकट होती है। इतना ही नही यहाँ कुमार में हमे ओज, शक्ति, शौर्य एव पराक्रम के बीज भी दिखाई देते हैं।

माता का अनन्य भक्त—इड़ा के बहुत अनुरोध करने पर श्रद्धा जब द्रवित हो जाती है, तब वह मनु को पुन खोजने के लिए जाने से पूर्व अपने प्रिय पुत्र कुमार को इडा के समीप छोड जाती है। बालक कुमार माँ के इस कार्य से दुःखी होता है। वह तो माँ के साथ ही सदैव रहा है। अत माँ की शीतल गोद का परित्याग उसे असह्य हो उठता है। तब श्रद्धा उसे कोमल शब्दो मे यही समझाती है कि "हे सौम्य! तुम यही रह कर इडा के साथ राष्ट्रनीति देखो। इडा का शुचि दुलार तेरी व्यथा को दूर कर देगा। यह तर्कमयी है और तू श्रद्धामय है। इसके समस्त सताप को हर कर तुम समरसता का सचार करना, जिससे मानव का यश सर्वत्र फैले।"[3] माता का यह आदेश पुत्र को स्वीकार करना पडता है। कारण यही है कि माँ की आज्ञा का उल्लघन करना उसने सीखा ही नही। अत. यह माँ का अनन्य भक्त सारस्वत नगर की राष्ट्रनीति सँभालने को तैयार हो जाता है तथा माँ के निर्दिष्ट मार्ग पर चलता हुआ सारस्वत प्रदेश को पुन. श्री-सम्पन्न बना देता है।

१—कामायनी पृ० २२८। २—कामायनी, पृ० २३४।
३—वही, पृ० २४४।

आनन्द पथ का यात्री—अन्त मे इडा के साथ हम कुमार को भी अपनी प्रजा के साथ आनन्द-गिरि की यात्रा करते हुए देखते हैं। उस समय यह यौवन की सजल कान्ति से परिपूर्ण है। अपने दाँये हाथ में वृषभ की रज्जु तथा बाँये हाथ में त्रिशूल धारण किये हुए है। उस समय इसका स्वरूप कुमार कार्तिकेय से किसी प्रकार हीन नही दिखाई देता। इसका समस्त अग यौवन से विकसित होने के कारण केहरि किशोर के समान प्रतीत होता है।[१] अपने नीति-मार्ग पर चलता हुआ यह कुमार भी समस्त प्रजा के साथ माता-पिता की आनन्दमयी मूर्ति के दर्शन करता है और अन्त में श्रद्धा की चिरशान्तिदायिनी गोद में जा बैठता है, जहाँ इसे सार्वकालिक सुख एव अक्षय आनन्द की प्राप्ति होती है।

मानव की कल्पना में प्रसादजी का उद्देश्य—मानव के रूप में प्रसादजी ने समरसता एवम् मानवता के एक श्रेष्ठ प्रचारक का रूप प्रस्तुत किया है। यह मनु-पुत्र होने के कारण मननशील है, श्रद्धा पुत्र होने से हृदय की उदारवृत्तियो से सम्पन्न है और इडा के साथ रहने के कारण ज्ञान विज्ञान सम्बन्धी बौद्धिक गुणो से भी ओतप्रोत दिखलाया गया है। इस प्रकार समरसता के लिए उपर्युक्त तीनो गुणो का समन्वय कुमार के रूप मे होगया है। साथ ही मनु के कर्मशील जीवन के कारण कर्म का, इडा के विज्ञानमय जीवन द्वारा ज्ञान का और श्रद्धा के प्रेममय जीवन द्वारा इच्छा का समन्वय भी मानव के रूप मे प्रसादजी ने किया है, क्योकि मानव या कुमार में तीनो प्रमुख पात्रो के गुणो का समावेश मिलता है। कुमार अपने इन तीनो गुणो के समन्वित रूप मे ही सारस्वत नगर को पुनः समृद्धिशाली बनाता है और सारी प्रजा को अन्त में आनन्द-शिखर पर भी ले जाता है। इस प्रकार यहाँ कुमार या मानव के निर्माण द्वारा समन्वय-भावना, वैयक्तिकता के विपरीत सामूहिक विकास तथा सामरस्य का ज्वलन्त प्रमाण प्रस्तुत करने का प्रयत्न हुआ है।

आकुलि-किलात—ये दोनो असुर पुरोहित हैं। ऋग्वेद में इन्हें छल-कपट पूर्ण आचरण करने वाले, असुर, मायावी, आक्रमणकारी, मास की हवि द्वारा यज्ञ करने वाले, दूसरो का पराभव करने वाले आदि बतलाया है।[२] यजुर्वेद में केवल किरात या किलात का वर्णन मिलता है, जिसे मासभक्षी तथा गुफा मे रहने वाला कहा है।[3] शतपथब्राह्मण तथा ताड्यब्राह्मण में इन्हे स्पष्ट ही मनु को यज्ञ कराने

१—कामायनी, पृ० २७७।

२—ऋग्वेद १०।५७ की अनुक्रमणिका।

३—शुक्लयजुर्वेद ३०।१६

वाले असुर पुरोहितो के रूप मे स्वीकार किया गया है।[1] बृहद्देवता में इन्हे मायावी द्विज, पुरोहित, मायाबल से दूसरो को कष्ट पहुँचाने वाले एव मारने वाले कहा है।[2] इसके अतिरिक्त गीता में आसुरी प्रवृत्ति वाले पुरुष मे पाखण्ड, घमड, अभिमान, क्रोध, पापाचार, मिथ्याचरण, असत्यभाषण, क्रूरकर्म, हिंसा, ईश्वर मे अविश्वास, मिथ्या सिद्धान्त के प्रति आग्रह, विषयासक्ति आदि की प्रधानता बतलायी गई है।[3] इन सब आधारो पर ही प्रसादजी ने आकुलि-किलात की कल्पना की है, जिसका विकास कामायनी में इस प्रकार हुआ है —

प्रारम्भिक व्यक्तित्व—इन दोनो पुरोहितो का सर्वप्रथम वर्णन कामायनी में 'कर्म' सर्ग के अतर्गत हुआ है। ये भी मनु और श्रद्धा की भाँति जलप्लावन से बचकर इधर-उधर भटकते हुए दिखलाए गये हैं। इन्हे कही भी पशु-पक्षी दिखाई नही देते, इससे इनकी मास-लोलुप रसना को तनिक भी सतोष नही मिलता। इन्हे कद-मूल-फल खाना पसद नहीं। इसी समय इन्हे श्रद्धा का पालित पशु दिखायी दे जाता है। वह हृष्टपुष्ट तथा मासल है। उसे देखते ही इनकी उत्कट इच्छा उसे खाने के लिए जाग्रत हो उठती है। परन्तु श्रद्धा के भय से इनका साहस नहीं होता कि उस पशु का हरण कर सकें। इसी कारण ये अपनी माया द्वारा उसे प्राप्त करने की चेष्टा करते हैं और मनु के समीप आकर कहने लगते हैं कि "हम 'मित्रवरुण' की ओर से भेजे हुए आए हैं। क्या तुम उनका यज्ञ करना चाहते हो? यह तो बडा ही सुन्दर विचार है। सभवत तुम पुरोहित की खोज मे हो। हम तुम्हारा पौरोहित्य कर्म करेंगे और मित्रवरुण की कृपा से सभी कार्य पूरा होगा। तुम वेदी पर चलो, अग्नि प्रज्वलित करो और हम पशु-बलि देकर तुम्हारा कार्य सम्पन्न करेंगे।"[4] ऐसा कहकर और मनु को आकृष्ट करके पशु-यज्ञ कराते हैं तथा श्रद्धा के पालित पशु का वध करके उसका मास भक्षण करते हैं।

सारस्वत नगर की जनता का नेतृत्व—तदनन्तर कामायनी में इनकी कथा लुप्त हो जाती है और फिर इन दोनो के दर्शन 'सघर्ष' सर्ग में होते है। वहाँ पर ये जन-क्रान्ति का नेतृत्व करते हुए दिखाये गये हैं। मनु के अनैतिक आचरण के कारण जनता में जो रोष फैला हुआ है, उसमे सबसे बडा हाथ इन दोनो का ही है और

१—किलाताऽकुलीऽइति हाऽसुरब्रह्मावासतु । तौ होचतु । श्रद्धादेवो वै मनुराव नु वेदावेति तौ हागत्योचनुर्मनो याजयाव त्वेति ।

—श० ब्रा० १।१।४।१४–१५, तां० ब्रा० १३।७।१२

२—बृहद्देवता ७।८५–८८ ३—श्रीमद्भगवद्गीता १६।७–१९

४—कामायनी, पृ० ११४।

इनके कारण ही सारस्वत नगर में भयकर विप्लव, हलचल अथवा सघर्ष उठ खडा होता है। जब मनु जनता की इस क्रान्ति का सामना करने के लिए अपने दुर्लक्ष्यी धनुष को लेकर आगे बढते हैं, तब सर्वप्रथम मनु को किलाताकुलि ही दिखाई देते हैं। अत दोनों को ललकारते हुए मनु कहते हैं कि 'कायरो। तुम दोनों ने ही सारा उत्पात मचाया है। अरे! मैंने तो तुम्हे अपना समझ कर ही अपनाया था, परन्तु ध्यान रखो कि यह यज्ञ नहीं, रण है।'[1] इतना कहकर मनु अपने दुर्लक्ष्यी धनुष पर तीर चढाकर दोनो को धराशायी कर देते हैं। इस प्रकार मनु द्वारा इन दोनों की जीवन-लीला यहीं समाप्त हो जाती है।

पुरोहितों की कल्पना में प्रसादजी का उद्देश्य—प्रसादजी के ये दोनो गौण पात्र केवल आसुरी प्रवृत्तियो के प्रतीक हैं, क्योकि दोनो ही यहाँ असुर-सस्कृति के अवशिष्ट अश बतलाए गये हैं। जहाँ श्रद्धा, मनु, इडा देव-सस्कृति के प्रतिनिधि हैं, वहाँ ये दोनो असुर-सस्कृति का प्रतिनिधित्व करते हैं। असुरो के प्रमुख देवता वरुण माने गये हैं और ये दोनो मित्रवरुण के अनुयायी हैं। अत दोनो सस्कृतियो का स्वरूप दिखाने के लिए इनका चित्रण हुआ है। फिर मानव-सृष्टि के आरम्भ मे आदि-मानव के अतर्गत सात्विकी, राजसी एव तामसी प्रवृत्तियो का समावेश भी दिखाना प्रसादजी को अभीष्ट रहा है। इसलिए श्रद्धा द्वारा सात्विकी, इडा द्वारा राजसी तथा आकुलि-किलात द्वारा तामसी प्रवृत्ति का योग मनु के जीवन में दिखाया गया है। यही कारण है कि ये अपने ही यजमान मनु के विरुद्ध होकर सघर्ष की सृष्टि करते हैं और काम, क्रोध, लोभ, ईर्ष्या, मिथ्याहकार आदि मनोवृत्तियो को जन्म देकर मनु के सुख और शान्ति में बाधा उत्पन्न करते हैं। इस प्रकार इनका चित्रण पूर्णतया आसुरी-प्रवृत्ति के अनुकूल हुआ है।

साराश यह है कि 'कामायनी' मे पात्रो का चारित्रिक विकास अत्यत स्वाभाविक ढग से दिखाया गया है। इतना अवश्य है कि कामायनी के सभी पात्र अपना दुहरा व्यक्तित्व लेकर यहाँ अवतीर्ण हुए हैं, क्योकि वे ऐतिहासिक व्यक्ति होकर भी किसी न किसी मनोभाव के प्रतीक हैं। जैसे, मनु एक ओर तो इतिहास-सम्मत सातवें मन्वन्तर के प्रवर्त्तक वैवस्वत मनु हैं और दूसरी ओर मन के भी प्रतीक हैं। इसी तरह श्रद्धा एक ओर तो इतिहास-पुराणो में वर्णित मनु-पत्नी है और दूसरी ओर श्रद्धा नामक मनोभाव की भी प्रतीक है। ऐसे ही इडा एक ओर तो ऐतिहासिक सारस्वत प्रदेश की साम्राज्ञी है और दूसरी ओर बुद्धि या वाणी की भी प्रतीक है। इसी भाँति मानव मनु-पुत्र होने के कारण एक ओर तो इतिहास-प्रसिद्ध

१—कामायनी, पृ० २०१।

सूर्य-वश का राजा इक्ष्वाकु सिद्ध होता है और दूसरी ओर वह मन तथा हृदय के समन्वित रूप का भी प्रतीक है। यही दशा काम और रति की है, क्योंकि वे एक ओर तो इतिहास-सम्मत देव-जाति के व्यक्ति हैं और दूसरी ओर वासना के भी प्रतीक हैं। इसी प्रकार आकुलि-किलात भी एक ओर तो ऐतिहासिक असुर-पुरोहित हैं और दूसरी ओर आसुरी प्रवृत्तियो के भी प्रतीक हैं। अत. कामायनी की कथावस्तु का विकास जिन-जिन पात्रो के द्वारा हुआ है, वे सभी पात्र अपने दुहरे व्यक्तित्व से सम्पूर्ण कथा में व्याप्त हैं और प्रसादजी को भी उनके चरित्र का विकास दिखलाने मे दोनो ओर ध्यान देना पडा है। यही कारण है कि कामायनी के प्राय सभी पात्र शरीरी एव अशरीरी दोनो रूपो को लेकर यहाँ विद्यमान हैं, किन्तु प्रसादजी ने उनका ऐसा चित्रण किया है कि उनके अशरीरी रूप की अपेक्षा शरीरी रूप अधिक मुखरित हो गया है और पाठक के हृदय पर उनके मनोभावो के प्रतीकत्व के स्थान पर ऐतिहासिक व्यक्तित्व की छाप अधिक पड़ती है।

प्रकरण ३

कामायनी का काव्यत्व (१)

कामायनी में प्रबन्ध-काव्य का स्वरूप—आचार्य वामन ने रचना की दृष्टि से काव्य के मूलत दो भेद किए है—गद्य तथा पद्य। पद्य को पुन पूर्वापर-सम्बन्ध की दृष्टि से दो भागो में विभक्त किया है—अनिबद्ध काव्य तथा निबद्ध काव्य। साथ ही आचार्य वामन के टिप्पणीकार कामधेनु ने उपर्युक्त वर्गीकरण को स्पष्ट करते हुए लिखा है कि अनिबद्ध काव्य 'मुक्तक' कहलाता है तथा निबद्ध काव्य को 'प्रबन्ध' कहते हैं।[1] इसके अलावा आचार्य वामन ने प्रबन्ध तथा मुक्तक दोनो काव्यो को क्रमश 'स्रगुत्तंसवत्' अर्थात् माला और मुकुट के समान कहा है।[2] इससे यह स्पष्ट है कि प्रबन्ध काव्य में माला के समान सुसम्बद्धता एव सगठन रहता है तथा मुक्तक में मुकुट के समान स्वतन्त्रता एव विशृंखलता रहती है। आगामी आचार्यों ने भी निबन्ध की दृष्टि से काव्य के ये ही दो प्रमुख भेद स्वीकार किए हैं।[3] प्रबन्ध तथा मुक्तक के अन्तर का स्पष्टीकरण करते हुए आचार्य शुक्ल ने लिखा है कि 'यदि प्रबन्ध काव्य एक विस्तृत वनस्थली है, तो मुक्तक एक चुना हुआ गुलदस्ता।'[4] आचार्य गुलाबरायजी ने भी दोनों के पार्थक्य का उल्लेख करते हुए लिखा है कि 'प्रबन्ध काव्य मे तारतम्य और पूर्वापर सम्बन्ध रहता है तथा उसमें वर्णन, प्रकथन, पारस्परिक सम्बन्ध और सामूहिक प्रभाव का प्राधान्य रहता है, जबकि मुक्तक के समस्त छद स्वत पूर्ण होते हैं और वे एक दूसरे की अपेक्षा नहीं करते।'[5]

पाश्चात्य समालोचको ने भी काव्य के ये दो भेद स्वीकार किए हैं।

१—"अनिबद्ध मुक्तक निबद्ध प्रबन्धरूपमिति प्रसिद्धि।" काव्यालकारसूत्र वृत्ति १।३।२७ टिप्पणी।

२—काव्यालकारसूत्रवृत्ति १।३।२८ ३—काव्यमीमासा, अध्याय ६।

४—हिन्दी साहित्य का इतिहास, पृ० २४७।

५—सिद्धान्त और अध्ययन, पृ० १८४।

श्री विलियम हैनरी हडसन ने विषय एव कवि के प्राधान्य को ध्यान मे रखकर पहले काव्य के दो भेद किए है—विषयी-प्रधान काव्य (Subjective Poetry) तथा विषय-प्रधान काव्य (Objective Poetry)। पहले प्रकार के काव्य मे कवि अपने विचार, भावना तथा अनुभवो को स्वय वैयक्तिक रूप मे उपस्थित करता हैं तथा दूसरे मे वह अपने विचार, भावना आदि को ससार के अन्य पदार्थो एव व्यक्तियो के माध्यम मे प्रस्तुत करता है। इस प्रकार वैयक्तिकता का प्राधान्य रहने के कारण प्रथमकोटि की कविता के अन्तर्गत प्रगीत या मुक्तक (Lyric) काव्य आते हैं तथा विषय की प्रधानता रहने के कारण दूसरी कोटि में प्रबन्ध तथा रूपक काव्य आते हैं।[1]

प्रबध काव्य के लिए आवश्यक बाते—हमारे यहाँ सभी आचार्यो ने प्रबन्ध को अनुबंध युक्त माना है। श्री आनदवर्धनाचार्य ने प्रबन्ध के लिए जो आवश्यक तत्त्व बतलाये हैं उनके आधार पर एक काव्य में पाँच बाते आवश्यक ठहरती हैं—(१) ऐतिहासिक अथवा कल्पित इतिवृत्त, (२) प्रासगिक कथा-योजना, (३) नाटकीय सविधान द्वारा कथा का सम्बन्ध-निर्वाह, (४) रसात्मक वर्णनो का प्राधान्य और (५) अलकारो की रसानुरूप योजना।[2]

पश्चिमी आचार्य अरस्तू ने प्रबन्ध काव्य के लिए आवश्यक बातो का उल्लेख करते हुए लिखा है कि (१) उसका कथानक 'ट्रैजडी' की ही भांति नाटकीय ढग से निर्मित हो, (२) उसमें किसी एक पूर्ण 'कार्य' का उल्लेख हो, (३) कथा में प्रारम्भ, मध्य एवम् अवसान स्पष्ट हों, (४) उसका कथानक सरल या मिश्रित, नैतिक या कष्ट-

---

1—An Introduction to the Study of Literature, p 125-135

२—ध्वन्यालोककार ने प्रबन्धकाव्य की निम्नलिखित विशेषताएँ लिखी हैं :—

(१) विभाव, भाव, अनुभाव और सचारी भाव के औचित्य से सुन्दर ऐतिहासिक अथवा कल्पित कथा-शरीर का निर्माण।

(२ ऐतिहासिक क्रम से प्राप्त होने पर भी रस के प्रतिकूल स्थिति को छोड़कर, बीच मे अभीष्ट रस के अनुकूल नवीन कल्पना करके भी कथा का संस्करण।

(३) केवल शास्त्रीय विधान के परिपालन की इच्छा से नहीं, अपितु रसाभिव्यक्ति की दृष्टि से सधि और सध्यगो की रचना।

(४) यथावसर रस के उद्दीपन तथा प्रशमन की योजना और विश्रान्त होते हुए प्रधान रस का अनुसधान।

(५) अलंकारों के यथेच्छ प्रयोग की पूर्ण शक्ति होने पर भी रसानुरूप

पूर्ण हो, (५) 'ट्रेजडी' की ही भाँति उसमें भी परिवर्तन, अनुसधान तथा आपत्ति विद्यमान हो, (६) भावो का सुन्दर रूप प्रस्तुत करते हुए भव्य शैली हो तथा (७) उसमें कितनी ही प्रासगिक घटनायें हों, परन्तु वे सभी मुख्य कथा से सुसवद्ध हो।[१]

इसके अतिरिक्त हिन्दी-साहित्य के प्रसिद्ध आलोचक आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने जायसी की प्रवध-कल्पना पर विचार करते हुए उसमें दो बातें अत्यावश्यक वतलाई हैं—(१) इतिवृतात्मकता तथा (२) रसात्मकता। इतिवृत्तात्मकता से तात्पर्य एक ऐसी मुख्य कथा से हैं, जो आदि से अन्त तक चलती है तथा रसात्मकता से तात्पर्य उन प्रासगिक वस्तु-वर्णनो से है, जिनमे जीवन-दशा के मार्मिक चित्र प्रस्तुत किए जाते हैं और जो हृदय को रमाने में समर्थ होते हैं।[२]

इस प्रकार पौरस्त्य एवम् पाश्चात्य विद्वानो के आधार पर एक प्रवन्ध काव्य के लिए निम्नलिखित वातें आवश्यक ठहरती हैं कि उसमें :—

(१) एक सानुवध कथा हो, जिसमे प्रकथन की भी प्रधानता हो और आदि, मध्य, अवसान स्पष्ट हो।
(२) प्रासगिक कथाओ की सुसम्वद्ध योजना हो,
(३) वस्तु वर्णनो मे रसात्मकता का प्राधान्य हो,
(४) प्रासगिक कथाओ और वस्तु-वर्णनो का मुख्य कथा के साथ सम्वन्व-निर्वाह हो और
(५) 'कार्य' की दृष्टि से समस्त इतिवृत्त में एकरूपता हो।

प्रकथन-पूर्ण सानुबंध कथा—उपर्युक्त वातो के आधार पर जव हम कामायनी काव्य पर दृष्टि डालते हैं तो पता चलता है कि 'कामायनी' में भी 'चिन्ता' सर्ग से लेकर अन्तिम 'आनन्द' सर्ग तक श्रद्धा-मनु की एक मुख्य कथा है। खड प्रलय द्वारा देव-सृष्टि के विनष्ट हो जाने पर उसमें से वचे हुए वैवस्वत मनु श्रद्धा के सहयोग से इडा एवम् मानव द्वारा किस प्रकार मानव सृष्टि का विकास करते हैं और अन्त में फँसे भौतिक जीवन के नाना कष्टो से छूट कर आनन्द के अधिकारी होते हैं यही इस काव्य की कथा है, जो १५ सर्गों में विखरी हुई है। इतना अवश्य है कि इस काव्य में अन्य प्रवन्ध काव्यों की भाँति कोरी इतिवृत्तात्मकता की प्रवृत्ति नही मिलती औ लघु कथा को भावो का सम्मिश्रण करके विस्तार दिया गया है, इसमे भावात्मक पक्ष प्रवल हो गया है और कथा गौण हो गई है। फिर भी सभी स्थलों पर उखडी-उखड कथा को पूर्ण रूप मे एक सूत्र में पिरोने का कार्य प्रसादजी ने किया है। कवि ने

1—Poetics, p 46–48

२—जायसी-ग्रन्थावली—भूमिका, पृ० ६८।

जहाँ प्रकथन-प्रणाली को अपनाया है, वहाँ पर हमें कोरी इतिवृत्तात्मकता के भी दर्शन हो जाते हैं। जैसे, 'चिन्ता' सर्ग में मनु की नौका का वर्णन, 'आशा' सर्ग में मनु के पाक-यज्ञ का वर्णन, 'श्रद्धा' सर्ग मे श्रद्धा का अपना परिचय, 'काम' सर्ग में काम तथा रति का परिचय, 'कर्म' सर्ग मे आकुलि-किलात तथा पशु-यज्ञ का वर्णन, 'आनन्द' सर्ग मे सारस्वत नगर-निवासियो की यात्रा आदि के वर्णनो मे इतिवृत्तप्रधान प्रकथन-प्रणाली का रूप देखा जा सकता है। परन्तु सभी स्थानो पर इन वर्णनो का अवसान रसात्मक वर्णनो मे आकर हुआ है। ये सभी प्रसग मुख्य कथा को शृंखलाबद्ध करने के लिए ही आए हैं और सीधी-साधी पद्यात्मक शैली में न होकर रसात्मक हैं। इतना ही नही इन वर्णनो मे जहाँ-तहाँ आए हुए कथा सम्बन्धी विरामो में क्रमबद्धता स्थापित करने की भी पूर्ण क्षमता है। अत. कामायनी में एक प्रबध काव्य की भाँति कथा का क्रमिक स्वरूप मिलता है। इसकी कथा विशृखलित नही है। हाँ, इतना अवश्य है कि कथा-सूत्र कभी-कभी तनिक दूर पर जाकर मिलता है, परन्तु फिर भी यहाँ प्रकथन-पूर्ण एक सुसम्बद्ध कथा विद्यमान है।

प्रासंगिक कथा-योजना—कामायनी में कितनी ही प्रसगवश आई हुई कथायें मिलती हैं, जिनमे से कुछ तो स्मरण के रूप में उल्लिखित हैं और कुछ काव्य के विस्तृत प्रागण में स्वयं घटित होते हुए दिखलाई गई हैं। घटना एवम् व्यक्ति की प्रधानता की दृष्टि से शुक्ल जी ने सस्कृत-साहित्य में दो प्रकार के प्रबन्ध काव्य बतलाये हैं। प्रथम तो वे है जिनमें कवि की दृष्टि व्यक्ति पर रहती है और नायक की गौरव-वृद्धि या गौरव-रक्षा के लिए ही उसके जीवन की मुख्य-मुख्य घटनाएँ दी जाती हैं तथा दूसरे वे हैं जिनमें कवि की दृष्टि व्यक्ति पर न रह कर किसी मुख्य घटना पर रहती है और उसी घटना के उपक्रम के रूप में सारा वस्तु-विन्यास किया जाता है। प्रथम कोटि में रघुवश, बुद्धचरित, विक्रमाकदेवचरित आदि आते हैं और दूसरी कोटि मे कुमारसभव, किरातार्जुनीय, शिशुपाल-वध आदि आते हैं।[1] इस वर्गीकरण के आधार पर कामायनी को हम प्रथम कोटि के प्रबन्ध-काव्यो में रख सकते है; क्योकि यहाँ पर भी कवि का ध्यान किसी प्रमुख घटना की ओर न रह कर मनु के जीवन का क्रमिक विकास दिखलाने की ओर अधिक रहा है और उसी विकास से सम्बन्धित समस्त घटनाओ एवम् उपकथाओ की योजना की गई है। इतना अवश्य है कि कवि का ध्यान यहाँ नायक की गौरव-वृद्धि या गौरव-रक्षा की ओर नहीं है, उसने तो आधुनिक जीवन के अनुकूल अपने नायक के यथार्थ जीवन का चित्र अंकित किया है। यह दूसरी बात है कि यहाँ पर मनु को मन का प्रतीक मानकर उसके मनोवैज्ञानिक

१—जायसी-ग्रंथावली—भूमिका, पृ० ७१।

विश्लेषण की ओर भी कवि का ध्यान रहा है, परन्तु प्रबंध काव्य के लिए आवश्यक घटनाओं एवम् उपकथाओं की योजना में हम कवि को स्पष्ट दत्तचित्त देखते हैं। उसने उन घटनाओं को ही यहाँ स्थान दिया है, जो नायक के जीवन-चरित्र को अंकित करने में आवश्यक प्रतीत हुई हैं। इसके लिए कवि ने कुछ कल्पित घटनाओं एवम् उपकथाओं का भी निर्माण किया है, जैसे इडा को श्रद्धा से पीछे मनु से मिलाना कैलाश-यात्रा आदि। परन्तु समस्त घटनायें या उपकथायें मुख्य 'कार्य' की दृष्टि से ही सकलित की गई हैं।

इन प्रासंगिक घटनाओं एवं उपकथाओं में से प्रथम जलप्लावन वाली घटना का उल्लेख विलासिता के दुष्परिणाम को समझाने के लिए हुआ है। दूसरी काम-कथा की योजना काम के धर्मविरुद्ध रूप को समझाने के लिए की गई है तीसरी, आकुलि-किलात की कथा मनु की दुर्बलता एवं नवीनता-प्रेम की ओर संकेत करती है। इतना ही नहीं इस घटना के द्वारा श्रद्धा के उदात्त चरित्र को भी पाठकों के सम्मुख प्रस्तुत किया गया है। चौथी, इडा सम्बन्धी उपकथा में मनु की भौतिक लालसा एवं वासना लिप्सा का नग्न चित्र अंकित किया है। साथ ही वासनात्मक भौतिक जीवन के दुष्परिणाम की ओर भी संकेत किया गया है। पाँचवी, त्रिपुर-दाह वाली घटना द्वारा मानव-जीवन की यथार्थता का स्वरूप चित्रित किया है। अतः सर्वसाधारण को शिक्षा देने की दृष्टि से और 'आनन्द' प्राप्ति के लिए जीवन की यथार्थता का जानना भी आवश्यक है, इस बात को बताने की दृष्टि से इसकी योजना की गई है। छठी, सारस्वत नगरवासियों की कैलाश यात्रा वाली उपकथा द्वारा समस्त पात्रों को एकत्रित करके समन्वय एवं 'समरसता' का स्वरूप प्रस्तुत किया गया है। इस प्रकार भौतिक जीवन का चित्र दिखाकर आध्यात्मिक जीवन की ओर उन्मुख करने के लिए प्रसादजी ने समस्त उपकथाओं एवं घटनाओं को एक क्रमबद्ध रूप में प्रस्तुत किया है और वे सभी यहाँ मुख्य कथा के अंग के रूप में विद्यमान हैं।

रसात्मक वस्तु-वर्णन—प्रबंध काव्य के लिए तीसरी आवश्यक वस्तु 'रसात्मक वस्तु-वर्णन' मानी गई है। इन वस्तु-वर्णनों में मानव-जीवन की सुख-दुःख-पूर्ण अवस्थाओं के भव्य चित्र दिये जाते हैं, जिन्हें पढ़ते ही हमारी रागात्मिका-वृत्ति झंकृत हो उठती है तथा हम आनन्द-विभोर हो जाते हैं। इतिहास एवं प्रबंध काव्य में अन्तर उपस्थित करने वाली यही वस्तु-वर्णन-गत रसात्मकता है। इन रसात्मक वर्णनों की प्रशंसा करते हुए आचार्य शुक्ल लिखते हैं—'प्रबंध काव्य मानव-जीवन का एक पूर्ण दृश्य होता है। उसमें घटनाओं की सम्बद्ध शृंखला और स्वाभाविक क्रम के ठीक-ठीक निर्वाह के साथ-साथ हृदय को स्पर्श करने वाले—उसे नाना भावों का रसात्मक अनुभव कराने वाले प्रसंगों का समावेश होना चाहिए।

इतिवृत्त मात्र के निर्वाह से रसानुभव नही कराया जा सकता। उसके लिए घटना-चक्र के अन्तर्गत ऐसी वस्तुओ और व्यापारो का प्रतिबिम्बवत् चित्रण होना चाहिए, जो श्रोता के हृदय में रसात्मक तरगें उठाने में समर्थ हो।'[1] कहने की आवश्यकता नही कि कामायनी मे प्रसादजी ने ऐसे ही रसात्मक वर्णनो को अधिक अपनाया है, जो हमारे मनोभावो का सुन्दर रूप प्रस्तुत करते हैं तथा जो रसोद्बोधन में पूर्ण सहायक हैं। 'चिन्ता' सर्ग का चिन्ता नामक मनोभाव का वर्णन, देवो की विलास-वासना तथा जलप्लावन आदि के चित्रण, 'आशा' सर्ग के उषाकाल, हिमालय, चन्द्र-ज्योत्स्नापूर्ण रजनी आदि के साथ-साथ मनु के अन्तर्द्वन्द्व का वर्णन, 'श्रद्धा' सर्ग का श्रद्धा का रूप-चित्रण, मानवता का सदेश आदि और 'काम' सर्ग का यौवन एवं वसंत का मिला-जुला वर्णन अत्यन्त सरस एव मनोमोहक है। ऐसे ही 'लज्जा' सर्ग में लज्जा का चित्रण, 'कर्म' सर्ग का मानवती श्रद्धा का वर्णन, 'इडा' सर्ग का इडा-सौंदर्य-चित्रण, 'सघर्ष' सर्ग का क्रान्ति-वर्णन, 'दर्शन' सर्ग का ताडव नृत्य वर्णन, 'आनन्द' सर्ग का कैलाश-सुषमा-वर्णन आदि कितने ही ऐसे स्थल प्रसादजी ने चुने हैं, जहाँ जीवन की विविधता के साथ-साथ मनोभावो के सुन्दर चित्र अंकित किए गये हैं। उदाहरण के लिए नीचे 'काम' सर्ग का यौवन और वसत का आह्लादकारी वर्णन दिया जाता है :—

मधुमय वसत, जीवन वन के, वह अंतरिक्ष की लहरो में,
कब आये थे तुम चुपके से रजनी के पिछले पहरो में।
क्या तुम्हे देखकर आते यो, मतवाली कोयल बोली थी!
उस नीरवता मे अलसाई कलियो ने आँखें खोली थी।
जब लीला मे तुम सीख रहे कोरक कोने मे लुक रहना,
तब शिथिल सुरभि से धरणी मे बिछलन न हुई थी? सच कहना।
जब लिखते थे तुम सरस हँसी अपनी, फूलो के अचल में,
अपना कलकठ मिलाते थे झरनो के कोमल कल-कल में।
निश्चित आह! वह था कितना उल्लास, काकली के स्वर में!
आनद प्रतिध्वनि गूँज रही जीवन दिगन्त के अम्बर में।

ऐसे ही अनेक रसात्मक वर्णन कामायनी में मिलते हैं। शुक्लजी के कथनानुसार ये ऐसे विराम-स्थल हैं, जो मनुष्य की रागात्मिका प्रकृति का उद्बोधन कर सकते हैं, उसके हृदय को भावमग्न कर सकते हैं तथा जिनके परिणामस्वरूप सारे प्रबन्ध काव्य में रसात्मकता आजाती है।[2] इतना अवश्य है कि ये रसात्मक स्थल

१—जायसी-ग्रंथावली—भूमिका, पृ० ६६–६७। २—वही, पृ० ७३।

कामायनी में इतनी अधिक सख्या में मिलते हैं कि इनके कारण कथा में शिथिलता आ गई है, किन्तु ये विराम-स्थल विराम चिह्नो की भाँति आवश्यक भी हैं और कथा-प्रवाह में अधिक बाधक न होकर साधक ही सिद्ध हुए हैं।

सम्बन्ध-निर्वाह—यद्यपि कामायनी मे भावात्मक वर्णनो का ही प्राधान्य है और सर्वत्र मनोभावो के सूक्ष्मातिसूक्ष्म चित्र प्रस्तुत करने की ओर ही कवि का ध्यान अधिक गया है, तथापि कामायनी के कथा-सूत्रो को कवि ने ऐसे क्रम-बद्ध रूप में सगुम्फित करके प्रस्तुत किया है कि कथा विश्रृखलित नही हुई है। इतना अवश्य है कि कथा-सूत्र कुछ दूर जाकर जोडे गये हैं। जैसे 'लज्जा' सर्ग में कथा बिल्कुल टूटी हुई सी जान पडती है और वह सर्ग काव्य से पृथक् सा जान पडता है, परन्तु उस सर्ग का भी अपना महत्व है। उसमें लज्जा नाम के मनोभाव का काव्यमयी शैली मे दिग्दर्शन कराया गया है और अन्त मे जाकर कथा-सूत्र भी जोड दिया है। इसके अतिरिक्त अन्य प्रासगिक कथाओ के देखने पर भी यही जान पडता है कि उनमें विश्रृखलता नही दिखाई देती। रसात्मक एव भावात्मक वर्णनो का आधिक्य होने के कारण कामायनी में विराम-स्थल निस्सदेह अधिक आ गये है और कुछ तो अनावश्यक भी प्रतीत होते हैं, परन्तु सभी वर्णन अत्यधिक रसात्मक होने के कारण अरुचिकर नही जान पडते। इस आधिक्य का कारण यह है कि यहाँ पर प्रसादजी ने जायसी आदि पूर्ववर्ती कवियो की भाँति न तो पक्षियो, फलो, फूलो, घोडो, पकवानो आदि की लम्बी लम्बी सूचियाँ दी हैं और न सोलह शृगारो एव नख-शिख के पूर्व-कालीन विस्तृत वर्णन ही दिये हैं, अपितु उन्होने आधुनिक पाठक की रुचि को ध्यान में रखकर मानवीय भावनाओ के सक्षिप्त, किन्तु हृदयस्पर्शी वर्णन प्रस्तुत किए हैं, जिनमे यत्र-तत्र प्रकृति-चित्रण भी सजीवता के साथ आ गये हैं और जो किसी न किसी प्रकार से मुख्य कथा में गति एव मोड उत्पन्न करने में सहायक सिद्ध हुए हैं। उनके अधिकाश वर्णन तो भावनाओ पर ही आधारित हैं और वे प्रबन्ध काव्य के अभिन्न अग जान पडते हैं। जैसे चिन्ता, आशा, श्रद्धा, काम, वासना आदि के वर्णन सभी मनोभावो एव भावनाओ के चित्र प्रस्तुत करते हैं, जो मनोवैज्ञानिकता एव यथार्थता से ओतप्रोत हैं और जिनके पृथक् कर देने मे इस प्रबन्ध काव्य की धारा विच्छिन्न हो सकती है। इतना ही नहीं इनके द्वारा कवि ने अपने उद्देश्य का उद्घाटन करते हुए बडे सतुलन के साथ उसमें भावात्मकता का प्राधान्य दिखाया है। इसी कारण ये रसात्मक स्थल प्रसादजी के उद्देश्य की पूर्त्ति में सहायक सिद्ध हुए हैं और इनके द्वारा कथा-सम्बन्ध भी विश्रृखलित नही होने पाया है।

'कार्य' की दृष्टि से एकरूपता—प्रबन्ध काव्य में 'कार्य' की दृष्टि से समस्त इतिवृत्त की एकरूपता का होना अत्यावश्यक माना जाता है। इसी एकरूपता को लाने

के लिए भारतीय आचार्यो ने नाटकीय सधि आदि की योजना भी प्रवध काव्य के लिए आवश्यक बतलाई है। इसी एकरूपता के लिए पश्चिमी आचार्य अरस्तू ने भी आदि, मध्य और अवसान की स्फुट योजना द्वारा कार्य-सकलन पर जोर दिया है। साधारणतया जितना महान् 'कार्य' होता है, उसी के अनुरूप घटनाओ एव वर्णनो की भी योजना की जाती है। कहने की आवश्यकता नहीं कि जितना महान् 'कार्य' रामचरितमानस मे रावण का बध, तथा 'पद्मावत' मे पद्मिनी का सती होना है उतना ही महान् 'कार्य' कामायनी में 'मनु का आनन्द प्राप्त करना' है। इस आनन्द को हम धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष—इस चतुर्वर्ग में से मोक्ष के समकक्ष ठहरा सकते हैं, क्योकि एक मुमुक्षु की भांति मनु भी प्रारम्भ से ही उसके लिए प्रयत्नशील दिखाई देते हैं और अन्त में अनेक विघ्न-बाधाओ को पार करके अपने लक्ष्य को प्राप्त करते हैं। इसके अतिरिक्त इस 'कार्य' का प्रभाव नैतिक, सामाजिक एव धार्मिक दृष्टि से भी अत्यत महत्वपूर्ण है और इस प्रभाव को प्रदर्शित करने के लिए ही कामायनी की समस्त घटनायें नियोजित की गई हैं। प्रारम्भिक जलप्लावन वाली घटना से लेकर अन्तिम कैलाश-यात्रा तक की समस्त घटनाओ के विश्लेषण करने पर जान पडता है कि देव-सृष्टि का विनाश एव उसके परिणामस्वरूप मनु की चिन्ता ही इस 'कार्य' का 'बीज' है, जो क्रमशः श्रद्धा का सयोग पाकर अकुरित होता हुआ धीरे-धीरे एक लघु वृक्ष का रूप धारण कर लेता है। इडा के समीप मनु के आते-आते उस बीज का पूरा-पूरा विकास हो जाता है। 'सघर्ष' सर्ग से कथा 'कार्य' की ओर उन्मुख होने लगती है और अन्तिम 'आनन्द' सर्ग मे स्पष्ट ही हमे सर्वत्र आनन्द के दर्शन होने लगते हैं। इस प्रकार कार्य-सकलन द्वारा समस्त कामायनी की कथा एक प्रमुख उद्देश्य अथवा 'कार्य' की ओर उन्मुख दिखाई देती है, जिसमें उद्देश्य-पूर्ति के साथ-साथ कार्य सम्बन्धी एकरूपता के भी स्पष्ट दर्शन होते हैं।

प्रबंध-काव्य के भेद और कामायनी—भारतीय साहित्य-शास्त्रो में प्रवध-काव्य के दो भेद माने गये हैं—खडकाव्य तथा महाकाव्य। जिनमें से खंडकाव्य में किसी एक घटना को ही महत्व देकर जीवन के किसी एक पहलू की झाँकी प्रस्तुत की जाती है, जबकि महाकाव्य में आकार की विशालता के साथ-साथ भावो की उदारता रहती है और उसमें जीवन की अनेकरूपता के साथ-साथ जातीय जीवन की झलक दिखाई जाती है।[1] कालिदास का मेघदूत, गुप्तजी का अनघ और जयद्रथ-वध खडकाव्य की कोटि मे आते हैं और रामायण, रघुवश, साकेत आदि महाकाव्य कहलाते हैं। इस आधार पर विचार करें तो पता चलेगा कि कामायनी की कथा मे जीवन की कोई

१—काव्य के रूप, पृ० ७।

एक घटना ही सकलित नही है, अपितु जीवन की विविध घटनाओं को सकलित करके मानव-जीवन का पूरा चित्र प्रस्तुत किया गया है। अतः यह काव्य खड-काव्य नही, वरन् महाकाव्य की कोटि में ही आ सकता है।

पाश्चात्य विद्वानो ने प्रबध काव्य को विवरणात्मक काव्य (Narrative Poetry) कहा है और उसके चार भेद बतलाए हैं—ग्राम्य-गीत (Ballad), महाकाव्य (Epic), पद्यमय रोमास (Metrical Romance) और अभिनयात्मक काव्य (Dramatic Poetry)। इनमें से महाकाव्य के पुन दो भेद स्वीकार किए हैं—सचित महाकाव्य (Epic of Growth) तथा कलात्मक महाकाव्य (Epic of Art)।[1] इस पाश्चात्य विभाजन के आधार पर कामायनी का विचार करें तो पता चलेगा कि यह काव्य ग्राम्यगीत तो नही है, क्योकि न तो यह आकार में छोटा है, और न इसकी कथा में केवल ग्रामीण जीवन की ही झलक है, अपितु यहाँ तो ग्राम्य एवम् नागरिक दोनो जीवनो का विस्तृत वर्णन मिलता है। दूसरे, इसे पद्यमय रोमास भी नही कह सकते, क्योकि यहाँ पद्यमय रोमास की भाँति किसी एक वीर पुरुष की वीरता, साहस, पर्यटन, जादू आदि का ही एक-मात्र वर्णन नही है। तीसरे, न यह अभिनयात्मक काव्य ही हो सकता है, क्योकि सारा काव्य नाटक शैली में नहीं लिखा गया है, अपितु इसमें विश्लेषणात्मक शैली का ही प्राधान्य है और पात्रो के वार्त्तालाप की अपेक्षा कवि ने स्वय अधिक कहा है। अब केवल प्रवध काव्य का एक भेद महाकाव्य और रह जाता है, जिसके अनुकूल यह कामायनी काव्य दिखाई देता है। परन्तु उसके भेदो में से भी यह सचित महाकाव्य तो हो नही सकता, क्योकि यह भिन्न-भिन्न काल में सचय करने वाले भिन्न-भिन्न कवियो की रचना नही है, अपितु यह तो एक ही कवि द्वारा कलात्मक शैली मे लिखा हुआ काव्य है। अत पाश्चात्य दृष्टि मे इसे केवल कलात्मक महाकाव्य कह सकते हैं।

महाकाव्य का स्वरूप—भारतीय साहित्य-शास्त्रियो ने महाकाव्य की बडी विशद व्याख्या की है, जिनमे से आचार्य भामह का मत है कि महाकाव्य सर्ग-बद्ध हो, उसमें किसी महापुरुष के जीवन चरित्र का वर्णन हो, उसमें ग्राम्य शब्दों का प्रयोग न होकर उत्कृष्ट अर्थयुक्त अलकृत शब्दों का प्रयोग हो, उसमें विजय-यात्रा, दूत-प्रेषण, युद्ध-विजय आदि का वर्णन हो, उसमें चतुर्वर्ग तथा लौकिक अभ्युदय के साथ-साथ लोक-स्वभाव का वर्णन हो और उसमे नायक का वध नही दिखाया गया हो।[2] इसके अनन्तर आचार्य दडी ने उक्त लक्षणों के अतिरिक्त महाकाव्य की कुछ नई

1—An Introduction to the Study of Literature, p 136-145

२—काव्यालकार १।१६–२३

विशेषताओ का उल्लेख किया है और बतलाया है कि महाकाव्य के आरम्भ मे आशीर्वाद, नमस्कार अथवा वस्तु-निर्देश हो। वह धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष इन चारो फलो मे युक्त हो। उसका नायक चतुर और उदात्त स्वभाव वाला हो। उसके अन्तर्गत नगर, समुद्र, पर्वत, ऋतु, चन्द्रोदय, सूर्योदय, उद्यान, जल-क्रीडा, मद्यगोष्ठी, रतोत्सव, सयोग, वियोग, विवाह, पुत्रोत्पत्ति आदि के वर्णन हो। वह रस, भावादि से परिपूर्ण हो। उसका प्रत्येक सर्ग अति विस्तृत न हो। उसके छन्द श्रव्य हो और वे हतवृत्तादि दोष से रहित हो। उसमे समस्त नाटक-सधियाँ भी हो और वह सर्वत्र विलक्षण वर्णनीय वृत्तान्तो मे परिपूर्ण हो।[1] इसके अतिरिक्त आचार्य विश्वनाथ कविराज ने भी महाकाव्य की कुछ नई बातो की ओर सकेत किया है। उनका मत है कि महाकाव्य का नायक उच्च कुलोद्भव क्षत्रिय या कोई देवता हो, जिसमें धीरोदात्त गुण हो। साथ ही एक ही कुल के अनेक राजा भी इसके नायक हो सकते हैं। उसमे शृगार, वीर और शान्त इन तीन रसो मे से किसी एक रस की प्रधानता हो और शेष रस अग रूप से आये हो। दडी ने महाकाव्य में चारो फल—धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष का होना बतलाया है, परन्तु विश्वनाथ ने चारो फलो में से किसी एक फल की प्राप्ति का आग्रह किया है। साथ ही यहाँ महाकाव्य के आरम्भ मे आशीर्वाद आदि के साथ ही खल-निंदा और सज्जन-प्रशसा का होना भी आवश्यक बतलाया है। इसके अतिरिक्त उनका मत है कि प्रत्येक सर्ग मे एक छन्द हो, किन्तु अन्त मे वह बदल जाना चाहिए। सर्गो की सख्या कम से कम आठ हो और वे न अधिक विस्तृत हो और न अधिक सक्षिप्त। किसी एक सर्ग में अनेक छन्द भी हो सकते हैं। प्रत्येक सर्ग के अन्त मे आगामी सर्ग की कथा सूचित होनी चाहिए। उसमें मुनि, स्वर्ग, पुर, यज्ञ आदि का भी वर्णन हो और उसका नामकरण कवि, नायक, इतिवृत्त या अन्य किसी पात्र के आधार पर किया गया हो, परन्तु प्रत्येक सर्ग का नाम उसके वर्ण्य-विषय के आधार पर ही होना चाहिए।[2]

भारतीय विद्वानो के अतिरिक्त पाश्चात्य विद्वानो ने भी महाकाव्य सम्बन्धी अनेक मतो का प्रतिपादन किया है। जिनमे से आचार्य अरस्तू का मत है कि महाकाव्य विवरणात्मक हो, उसमें सर्वत्र एक ही छन्द का प्रयोग हो, उसकी कथावस्तु दुःखान्त काव्य की भाँति नाटकीय ढग से सयोजित हो और आरम्भ, मध्य एवम् अवसान से युक्त होकर एक प्राणी के अग की भाँति सर्वागपूर्ण हो, उसमे उचित रस और उचित शब्द-विधान हो, उसमें अनेक घटनाओ का वर्णन होकर भी कथानक सुसम्बद्ध हो, उसमें कौतूहल-वर्द्धक कुछ असभव एव आश्चर्यजनक घटनाओ का भी

१—काव्यादर्श १।१४–१६ २—साहित्यदर्पण, ६।३०२

वर्णन हो, उसकी कथा ऐतिहासिक हो, उसमे असभव बातो का वर्णन भी ऐसा हो कि वे सत्य जान पड़ें तथा वह उचित आनन्द प्रदान करने वाला हो।[1] अरस्तू के अतिरिक्त वाल्टर पेटर ने महाकाव्य के लक्षणो पर विचार करते हुए लिखा है कि महाकाव्य मे विस्तृत परिधि, विविधता, महान् उद्देश्यो के साथ मैत्री, विद्रोह के स्वर की गहनता, आशा की विशालता, जन-कल्याण की वृद्धि के प्रयत्न, सतप्त प्राणियो की विपत्ति को दूर करने की चेष्टा, पारस्परिक सहानुभूति सवर्द्धन की भावना, प्राचीन एवम् नवीन मानव-सत्यो का उद्घाटन, क्षणिक जीवन को सुखमय बनाने की योजना, मानवता की आत्मा, आदि का वर्णन होना चाहिए।[2] इसके अलावा एवरक्रोम्वी का मत है कि महाकाव्य में सुन्दर महान् कथा हो, जिसका आधार ऐतिहासिक हो और जिसमे जीवन का महत्व प्रदर्शित किया गया हो, उसमें जीवन के तथ्यो के साथ-साथ कवि की मान्यताओ का भी उल्लेख हो, उसमें ऐतिहासिक सत्य की अपेक्षा काव्य के सत्य की प्रधानता हो, उसमें सुन्दर कथा द्वारा नाटकीय ढग से अन्तिम कार्य का वर्णन हो, उसकी रचना शैली कलात्मक हो तथा वह सशक्त एवम् प्रवाहशील छन्दो से परिपूर्ण हो, वह विशाल हो, उसमे अप्राकृतिक तत्त्वो का भी वर्णन हो, उसमे व्यष्टिगत प्रतीकात्मकता न होकर समष्टिगत प्रतीकात्मकता हो तथा उसमें मानव-जीवन के महान् उद्देश्यो का उद्घाटन हो।[3]

इस प्रकार प्राच्य एव पाश्चात्य विद्वानो द्वारा प्रतिपादित महाकाव्य सम्बन्धी सिद्धान्तो का समन्वय करने पर महाकाव्य की कुछ सर्व-स्वीकृत विशेषताएँ ज्ञात होती हैं, जिनमें प्राचीन युग की मान्यताओ के साथ-साथ आधुनिक युग की मान्यताएँ भी आजाती हैं और जिनके आधार पर आधुनिक महाकाव्य के स्वरूप का भी निश्चय किया जा सकता है।

(क) वर्ण्य विषयगत विशेषताएँ—

(१) **कथानक**—महाकाव्य का कथानक इतिहास-सम्मत, विस्तृत एव श्रेष्ठ हो। उसमें अधिकाश यथार्थ घटनाओ का वर्णन हो और यदि कुछ कल्पित घटनाएँ भी हो, तो वे अस्वाभाविक न होकर सत्य सी प्रतीत हो। सभी प्रासगिक कथायें मुख्य कथा मे सुमबद्ध हो तथा उसमे लौकिक एवम् पारलौकिक सभी प्रकार की घटनाएँ दिखलाई गई हो।

(२) **नायक**—महाकाव्य का नायक देवता या उच्चकुलोद्भव हो। वह चतुर, उदात्त, वीर एव जातीय जीवन की विशेषताओ से परिपूर्ण हो, क्योंकि ऐसा होने से हृदय के साधारणीकरण में सहायता मिलती है।

1—Poetics, p 46-50 2—Appreciations by Walter Pater, p 36
3—The Epic by L Abercrombe, p 52-69

(३) चरित्र-चित्रण—उसमे प्रमुख पात्रो के चरित्र का विकास पूर्णरूप से दिखलाया गया हो।

(४) प्रकृति-चित्रण—उसमे उषा, सध्या, रजनी, ऋतु आदि के वर्णनो के साथ-साथ प्रकृति के रमणीक एव भयकर दोनो रूपो का विस्तृत वर्णन हो।

(५) सामाजिक चित्रण—उसमे समाजगत धर्म एव राजनीति का चित्रण करते हुए मानव-कल्याण के हेतु महान् उद्देश्यो, पारस्परिक सहानुभूति, आशा की विशालता, पीडितो के कष्ट-निवारण सम्बन्धी प्रयत्न, मानव-जीवन के सत्य, मानवता, विश्वबधुत्व, विद्रोह आदि का वर्णन हो। साथ ही दैवी और आसुरी प्रवृत्तियो के सघर्ष का भी विशद चित्रण हो।

(६) भाव और रस—उसमे मानव-मनोगत भावो एव नव-रसो का सुन्दर वर्णन हो, किन्तु शृगार, वीर तथा शान्त रस में से किसी एक रस की प्रधानता हो तथा अन्य सभी रस अग रूप मे आये हो।

(ख) कलागत विशेषताएँ—

(१) वह सर्गबद्ध हो। उसमे विस्तार के लिए आठ या आठ से अधिक सर्ग हो, किन्तु वे न अधिक लम्बे और न अधिक छोटे हो और प्रत्येक सर्ग के अन्त में आगामी सर्ग की कथा सूचित की गई हो।

(२) वह विवरणात्मक हो, उसकी कथा बडी गभीरता एव विस्तार के साथ कही गई हो तथा उसमे आरम्भ, मध्य एव अवसान स्पष्ट लक्षित हो।

(३) उसकी रचना नाटकीय ढग से की गई हो, परन्तु उसकी कथावस्तु मिश्रित एव सघर्षपूर्ण हो।

(४) उसकी शैली उत्कृष्ट एव कलात्मक हो, उसमे भाषा भव्य एव शब्द-विधान उच्च कोटि का हो तथा उसमे परम्परागत विशेषणो, मुहावरो, कथन-प्रणालियो, शब्द-शक्तियो आदि का प्रयोग हो।

(५) उसमे छन्दो या वृत्तो का प्रयोग सुन्दर हो, वे श्रव्य तथा हतवृत्तादि दोषो से रहित हो, उसके एक सर्ग मे एक ही छन्द हो अथवा किसी एक सर्ग मे विभिन्न-छन्दो का भी प्रयोग हो।

(६) उसमें प्रतीकात्मकता हो, किन्तु वह व्यष्टिगत न होकर समष्टिगत हो तथा उससे न तो मानव-अनुभूति की यथार्थता नष्ट हुई हो और न कथा के धारा-प्रवाह में ही कुछ बाधा हो।

(७) उसमें अलकारो का प्रयोग भी भावानुकूल एव भावोत्कर्ष विधायक हो।

(८) उसका नामकरण कवि, इतिवृत्त, नायक या किसी प्रमुख पात्र के आधार पर किया गया हो।

कामायनी का महाकाव्यत्व—कामायनी का निर्माण केवल भारतीय प्राचीन लक्षणो के आधार पर ही नही हुआ है, अपितु युग की परिवर्तनशील विचारधाराओ को अपनाते हुए आधुनिक मान्यताओ के आधार पर भी हुआ है। कामायनी से पूर्व आधुनिक युग में 'प्रियप्रवास' तथा 'साकेत' बहुत कुछ प्राचीन मान्यताओ को लेकर ही लिखे गये है, परन्तु उनमें भी युग के परिवर्तनशील विचारो की यत्किंचित् छाप विद्यमान है। जैसे 'प्रियप्रवास' में अन्य सभी प्राचीन मान्यताओ को अपनाते हुए भी न तो आरम्भ में मगलाचरण दिया है और न आशीर्वाद, नमस्कार आदि के द्वारा वस्तुनिर्देश ही किया है। इतना ही नही कथावस्तु की योजना में भी नवीनता लाते हुए उसे स्मृति के रूप मे अधिक प्रस्तुत किया है। ऐसे ही 'साकेत' में भी अन्य सभी प्राचीन मान्यताओ के होते हुए भी नवम सर्ग मे प्रगीत मुक्तक की नूतन प्रणाली को अपनाया गया है। इस तरह कामायनी से पूर्व ही परिवर्तन लक्षित होने लगा था, परन्तु 'कामायनी' के आते-आते प्राचीन-रूढियो एव मान्यताओ मे और भी अधिक परिवर्तन हुआ। यही कारण है कि कामायनी आधुनिक युग की परिवर्तित विचार-धारा के आधार पर निर्मित महाकाव्य है, जिसमें भारतीय एव पाश्चात्य दोनो देशो की अधिकाश प्राचीन और नवीन मान्यताओ के दर्शन होते हैं।

कथानक—कामायनी का कथानक इतिहास-सम्मत है तथा आदि-मानव की जीवन-गाथा से सम्बन्धित होने के कारण श्रेष्ठ भी है। परन्तु इतना अवश्य है कि यह कथानक अधिक विस्तृत नही है। श्रद्धा और मनु की जीवन-गाथा अत्यन्त लघु है, उसमे कथानक का उतना विस्तार नही है, जितना कि एक महाकाव्य के लिए होना चाहिए, परन्तु प्रसादजी ने उस लघु कथानक को भावो के वर्णन तथा आधुनिक मानव-जीवन की विषमताओ के वर्णन द्वारा विस्तृत कर दिया है। इसका मूल कारण यह है कि एक तो मनु और श्रद्धा की विस्तृत कथा मिलती नही, दूसरे प्रसादजी अन्तर्मुखी कवि हैं, अत उन्हें कथा कहने मे उतना रस नही मिलता, जितना भावना-व्यापार के विश्लेषण और जीवन-समस्याओ के सुलझाने मे मिलता है।[1] इसके साथ ही मनु, श्रद्धा तथा इडा के लौकिक जीवन का चित्रण करते हुए उसमे कुछ अलौकिक घटनाओ के वर्णन द्वारा चमत्कार भी उत्पन्न किया गया है। जैसे, देव-सृष्टि, प्रलय, रुद्र का कोप एव मनु पर बाण-सधान, ताडव नृत्य, त्रिपुर या त्रिकोण इत्यादि के वर्णन। इसके अतिरिक्त कथानक के ऐतिहासिक आधार, शास्त्रीय विधान आदि के बारे मे पिछले प्रकरण मे पर्याप्त कहा जा चुका है।[2] इन सभी आधारो पर यही ज्ञात होता है कि कामायनी का कथानक लघु होते हुए भी एक महाकाव्य के अनुकूल है,

---

१—कामायनी-दर्शन, पृ० १२२। २—देखिए प्रकरण २, पृ० ५३ तथा ८६।

उसने मनु और श्रद्धा की जीवन-गाथा के सहारे आधुनिक मानव के बौद्धिक एवं भावात्मक चित्र अंकित किये गये हैं जिनमें यथार्थवादी दृष्टिकोण अपनाया गया है और जो समग्र मानव-जीवन के अन्तर्बाह्य स्वरूप की झाँकी प्रस्तुत करते हैं।

नायक--कामायनी के कथा-नायक मनु हैं। वे देव-पुरुष हैं। अतः उच्च कुलोद्भव हैं। परन्तु अन्य आदर्शवादी काव्यों की भाँति उनमें धीरोदात्त रूप के दर्शन नहीं होते। इतना अवश्य है कि वे निश्चिन्त, सुखी, मृदुलस्वभाव एवं नये-नये प्रेम में लिप्त रहने वाले एक शासक होने के कारण धीरललित नायक हो सकते हैं। यहाँ पर मनु के जीवन में दुर्बलता-सबलता, निकृष्टता-उत्कृष्टता आदि का समावेश किया गया है। इसका मूल कारण यह है कि प्रसादजी अपने नायक को अति मानव बनाना नहीं चाहते, वे उसे जन-जीवन के अधिक निकट लाना चाहते हैं उन्हें आदर्शवादी महा-काव्यों की भाँति नायक में केवल गुण ही गुण दिखाना अभीष्ट नहीं, वे एक साधारण व्यक्ति की भाँति उसमें सात्विकी, राजसी एवं तामसी प्रवृत्तियों का रूप दिखाना अच्छा समझते हैं, दूसरे मनु मन के भी प्रतीक हैं। इसी रूपकत्व का निर्वाह करने के लिए भी इन दुर्बलताओं का दिखाना आवश्यक समझा है। और फिर किस प्रकार एक मानव अपनी तामसी एवं राजसी प्रवृत्तियों से ऊपर उठता हुआ सात्विक जीवन व्यतीत कर सकता है, वे इस भावना का प्रचार करना चाहते हैं। इसीलिए प्रसादजी ने कामायनी के नायक में उदात्त एवं अनुदात्त, साधारण और असाधारण, उत्कृष्ट और निकृष्ट सभी प्रकार की मनोवृत्तियाँ दिखलाई हैं और अन्त में सात्विकता की उन्नतावस्था में पहुँचाकर मानव-मात्र के सम्मुख यह आदर्श उपस्थित किया है कि मानव कितना ही पतित एवं निकृष्ट क्यों न होजाय, वह श्रद्धा-सहित इच्छा, ज्ञान और क्रिया के समन्वित स्वरूप को अपनाता हुआ पुनः एक महापुरुष बन सकता है, उसके जीवन में समरसता आ सकती है, वह सन्तुलित जीवन व्यतीत कर सकता है और अन्त में जीवन का परमानन्द भी प्राप्त कर सकता है। अत कामायनी के नायक में जातीय गुणों का समावेश अधिक है और उसे आदि-मानव या किसी काल-विशेष का पुरुष न बनाकर सार्वदेशिक एवं सार्वकालिक नायक बनाने का प्रयत्न किया गया है। प्रसादजी का यह प्रयत्न आदर्शोन्मुख यथार्थवाद के अनुकूल ठहरता है, जो आधुनिक युग की एक विशिष्ट प्रवृत्ति है। परन्तु 'कामायनी' नायक-प्रधान-काव्य न होकर नायिका-प्रधान-काव्य है और इस काव्य की नायिका श्रद्धा है। उसमें कवि ने लगभग उन सभी गुणों का समावेश किया है, जिनका लक्षण शास्त्रों में मिलता है तथा जिनका काव्य के 'नेता' में होना सर्वथा अपेक्षित है। इसी कारण कामायनी की नायिका में हमें शास्त्रानुकूल नेता की विशेषताएँ दिखाई देती हैं, किन्तु यहाँ नायक सर्वथा आधुनिक विचारधारा के अनुकूल रखा गया है।

चरित्र-चित्रण—आधुनिक काव्यो एव नाटको की सबसे बडी विशेषता ही यह है कि उनमें रस अथवा कथा-सकलन की ओर अधिक ध्यान न देकर चरित्र-चित्रण की ओर ही अधिक ध्यान दिया जाता है। परन्तु कामायनी में ऐसा नही है। यहाँ पर रस की ओर ध्यान देते हुए ही पात्रो के चारित्रिक विकास को दिखाने का प्रयत्न हुआ है। इतना अवश्य है कि इस काव्य में पात्रो की सख्या अधिक नही है और थोडे से पात्रो का ही चरित्र-चित्रण मिलता है। कामायनी के इन पात्रो के चारित्रिक विकास का विस्तृत विवेचन पिछले प्रकरण में किया जा चुका है।[1] यहाँ इतना बतला देना ही अभीष्ट है कि कामायनी के ये पात्र सम्पूर्ण मानव-जगत की चित्त-वृत्तियो एव स्त्री-पुरुषो का प्रतिनिधित्व करते हैं और प्रसादजी ने इन अल्प पात्रो के चरित्र-चित्रण द्वारा ही मानव-मात्र की चारित्रिक विशेषताओ, बारीकियो, उत्थान-पतन मे सहायक प्रवृत्तियो आदि का सुन्दर विवेचन किया है। अत उनका यह चरित्र-चित्रण भी महाकाव्य के सर्वथा अनुकूल है।

प्रकृति-चित्रण—भारतवर्ष प्राकृतिक सौंदर्य का अक्षय भडार है। यहाँ के वन, पर्वत, नदी, नद, पशु-पक्षी, ऋतुयें आदि सभी प्रकृति की अनन्त रमणीयता की झाँकी उपस्थित करते हैं और इसी अनन्त रमणीय प्रकृति की सौदर्यशालिनी गोद मे भारतीय कविता का जन्म हुआ है। यही कारण है कि भारतीय कविता में प्रारम्भ से ही प्रकृति अपने पूर्ण वैभव के साथ विद्यमान है। परन्तु हिन्दी कविता के आरम्भिक कालो मे प्रकृति-चित्रण के प्रति कुछ उदासीनता ही अधिक रही है। वहाँ प्रकृति के स्वतन्त्र एव उन्मुक्त चित्रो की अपेक्षा उसके उद्दीपन रूप की ही चर्चा अधिक मिलती है, क्योकि अधिकाश स्थलो पर प्रकृति का प्रयोग वियोग वर्णन में हुआ है और वहाँ पर प्रकृति नायिका या नायक को सतप्त, व्यथित एव उत्तेजित करती हुई दिखलाई गई है। इधर आधुनिक युग मे आकर प्रकृति-चित्रण की प्रणाली मे पर्याप्त परिवर्तन हुआ है और उसमें सजीवता, चेतनता, मार्मिकता आदि के दर्शन करके कवियो ने प्राकृतिक जगत के सूक्ष्मातिसूक्ष्म व्यापारो का अत्यन्त विशद एव विस्तृत वर्णन किया है। प्रकृति-चित्रण की साधारणतया नौ प्रणालियाँ प्रचलित है—(१) आलम्बन रूप में, (२) उद्दीपन रूप मे, (३) सवेदनात्मक रूप में, (४) वातावरण-निर्माण के रूप में, (५) रहस्यात्मक रूप में, (६) प्रतीकात्मक रूप में, (७) अलकार-रूप में, (८) लोकशिक्षा के रूप में और (९) दूती-रूप में।

आलम्बन रूप में प्रकृति-चित्रण करने की दो प्रणालियाँ प्रचलित है—बिम्ब-ग्रहण-प्रणाली तथा नाम-परिगणन-प्रणाली। प्रथम के द्वारा प्रकृति का एक ऐसा

१—देखिए प्रकरण २, पृ० १०२–१२९।

संश्लिष्ट चित्र प्रस्तुत किया जाता है, जिसमे कवि कल्पना का पूरा-पूरा प्रयोग करता हुआ अपनी अनुभूति की व्यापकता के कारण प्रकृति के रम्य एवं भयानक रूप की झाँकी दिखाता है, किन्तु दूसरी प्रणाली के अनुसार प्रकृति के वन, पर्वत, नदी, निर्झर आदि के केवल नाम ही गिना दिये जाते हैं और कोई सामूहिक प्रभाव उपस्थित करने का प्रयत्न नही किया जाता है।[1] कहने की आवश्यकता नही कि कामायनी मे उक्त प्रणालियो मे से प्रथम 'बिम्बग्रहण-प्रणाली' का ही प्रयोग अधिक हुआ है, जिसमे प्रकृति के भयानक एव रमणीक दोनो रूपो के संश्लिष्ट चित्र प्रस्तुत किए गये हैं। 'चिन्ता' सर्ग का प्रलय वर्णन प्रकृति के भयानक रूप का उत्कृष्ट उदाहरण है, जिसमे प्राकृतिक शक्तियो के आकुचन-विकुचन, प्रकृतिक पदार्थो के आलोडन-विलोडन, भयकर मेघो के गर्जन-तर्जन, करका-क्रदन, पचभूत के भैरव मिश्रण, जलधि-लहरियो के आरोहण-अवरोहण आदि का ऐसा चित्र अंकित किया गया है, जिसमें भयानक रूपों के दर्शन के साथ-साथ उनकी हृदय को कँपा देने वाली ध्वनियो को भी स्पष्ट सुना जा सकता है।[2] ऐसा ही भयकर रूप नटराज के ताडव नृत्य का वर्णन करते हुए अकित किया गया है, जिसमे अलौकिक प्रकाश के अविरल कल्लोल के साथ-साथ तारागण, हिमकर, दिनकर, भूधर आदि का धूल के कणो के तुल्य उडना, असंख्य गोल ब्रह्माडो का बिखरना, संसृति का काँपना, चेतन परमाणुओ का बिखरना, बनना और विलीन होना, प्रकृतिका गल-गल कर कान्ति-सिन्धु मे मिलना आदि दिखलाया गया है।[3] इन भयानक रूपो का यहाँ ऐसा संश्लिष्ट वर्णन मिलता है कि जिनके पढ़ने या सुनने से अनायास ही पाठक या श्रोता के मस्तिष्क मे प्राकृतिक हलचल का एक सजीव चित्र खडा हो जाता है और वह बिना देखे हुए भी उनका प्रभाव ग्रहण कर सकता है।

१—चिन्तामणि, भाग २, पृ० ३।

२—हाहाकार हुआ क्रंदन मय कठिन कुलिश होते थे चूर,
हुए दिगन्त बधिर, भीषण रव बार-बार होता था क्रूर।
दिग्दाहो से धूम उठे, या जलधर उठे क्षितिज तट के,
सघन गगन में भीम प्रकम्पन झंझा के चलते झटके।
× × × ×
करका क्रदन करती गिरती और कुचलना था सबका,
पंचभूत का यह ताण्डवमय नृत्य हो रहा था कबका।
—चिन्ता सर्ग, पृ० १३-१५।

३—कामायनी, पृ० २५२-२५४।

इन भयानक रूपो के अतिरिक्त प्रकृति के रमणीक रूपो की झाँकी भी कामायनी में कितने ही स्थलो पर मिलती है, जिनमे प्रकृति के अनन्त सौंदर्य के साथ-साथ उसके मनोरम व्यापारो का भी सूक्ष्म विवेचन किया गया है। उदाहरण के लिए 'आशा' सर्ग का प्रभात, हिमालय एव चन्द्र-ज्योत्स्ना पूर्ण रजनी का वर्णन, 'वासना' सर्ग का सध्या-काल का वर्णन, 'इडा' सर्ग का सरस्वती नदी का वर्णन, 'रहस्य' सर्ग तथा 'आनन्द' सर्ग का कैलाश शिखर का विस्तृत वर्णन आदि। कामायनी के इन रम्य चित्रणो मे सर्वत्र चेतन-प्रकृति के सजीव व्यापारो का उल्लेख हुआ है, जिनमें कही प्रकृति हँसती, इठलाती, क्रीडा करती, प्रवुद्ध होती, अँगडाइयाँ लेती सकुचित होकर मान करती दिखलाई गई है,[1] तो कही अनन्त ज्योत्स्ना से सुसज्जित होकर अभिसार के लिए जाती हुई, खिलखिलाकर हँसती हुई, घूँघट उठाकर मुस्कराती हुई, मदोन्मत्त होकर रूपगर्विता की भाँति मतवाली चाल से चलती हुई चित्रित की गई है।[2] इसी तरह कही प्रकृति के हास-विलास का ऐसा सजीव चित्रण है कि जिसमें मधुर गधवह के मगल गान करने, वल्लरियो के नाचने, मदमाते मधुकरो के नूपुर सदृश गूँजने, मलयानिल के वहने, सुमनो के झडने, रश्मियो के अप्सरा तुल्य नृत्य करने आदि का वर्णन मिलता है।[3] प्रकृति के इन सजीव चित्रो मे सर्वत्र चेतनता का प्राधान्य है और वह मानव-जगत के तुल्य ही हास-विलास, आनन्द-उल्लास आदि से परिपूर्ण चित्रित की गई है। हिमालय के वर्णन में स्पष्ट ही एक अत्यत शोभाशाली, स्वस्थ एव निश्चित राजा का सा चित्र अकित किया गया है, जिनका ऐश्वर्य सर्वत्र व्याप्त है, जो सदैव सुख-स्वप्न देखता रहता है, झरनो के रूप मे जिसकी हँसी प्रगट होती है और पवन शिला-सधियो से टकरा कर गूँजता हुआ

१—वह विवर्ण मुख त्रस्त प्रकृति का आज लगा हँसने फिर से,

× × × ×

नेत्र निमीलन करती मानो प्रकृति प्रवुद्ध लगी होने।

—आशा सर्ग, पृ० २३–२४।

२—किन दिगन्त रेखा में इतनी सचित कर सिसकी सी सांस,
यों समीर मिस हांफ रही सी चली जा रही किसके पास।

× × × ×

घूँघट उठा देख मुसक्याती किसे ठिठकती सी आती,
विजन गगन में किसी भूल सी किस को स्मृति पथ में लाती।

—आशा सर्ग, पृ० ३६–४०।

३—कामायनी, आनन्द सर्ग पृ० २६१–२६४।

जिसकी दुर्भेद्य अचल दृढता का प्रचार एक चारण के रूप मे किया करता है।[1] इन चित्रणों में सर्वत्र मानवीकरण का रूप अपनाया गया है और प्रकृति के सजीव व्यापारो का चित्रण करते हुए उन की जडता का सर्वथा निराकरण करके सर्वत्र एक व्यापक चेतनता को विलास करते हुए सिद्ध किया है।

कामायनी में प्रकृति के उद्दीपन रूप की झाँकी भी मिलती है। यहाँ पर भी वह संयोग के अवसर पर हर्ष एव उल्लास को द्विगुणित करती हुई तथा वियोग के अवसर पर सतप्त एव व्यथित बनाती हुई चित्रित की गई है। श्रद्धा एव मनु के मिलन के समय का प्रकृति-चित्रण अत्यंत भावोत्पादक है, जिसमें ऊँची-ऊँची शिखरो का व्योम को चुम्बन करना, सृष्टि का मद-मद मुस्कराना, उसकी आँखो मे अनुराग का खिलना, चद्रिका का राग-रजित होना, देवदारु-निकुजो का सुधा में स्नान करके रात्रि-जागरण के उत्सव का मनाना, भीनी-भीनी मदिर माधवी गध का आना, मधु अध पवन का बहना, निशा की कान्त छाया का शिथिल होकर अलसाते हुए शिशिर कण की सेज पर सोना आदि का वर्णन किया गया है।[2] प्रकृति का यह राग-रजित रूप मनु एव श्रद्धा दोनो के हृदय में अनुराग एव उल्लास को उद्दीप्त कर देता है और वे प्रणय-सूत्र मे बँध जाते हैं। इसी तरह वियोग के अवसर पर प्रकृति विरही जनो को सतप्त करती हुई भी चित्रित की गई है। जैसे, चन्द्र-ज्योत्स्ना मे पूर्ण निशीथ में जब एकाकी जीवन व्यतीत करने वाले मनु की आँखें खुलती है, तब वह धवल मनोहर चन्द्रबिम्ब से अकित रात्रि उनके हृदय को आकर्षित करके अनादि वासना को जगा देती है, जिससे उनका सयमित जीवन तृषित एव व्याकुल हो उठता है, वह शून्यता उनके रिक्त जीवन पर अट्टहास करने लगती है, 'धीर समीर परस' से उनका श्रान्त शरीर पुलकित होकर विकल हो उठता है और मनु का मन संवेदन से चोट खाकर बेचैन हो जाता है।[3]

यहाँ प्रकृति के संवेदनात्मक रूप का चित्रण भी पर्याप्त मात्रा में मिलता है। प्रसाद प्रकृति के सजीव व्यापारो का कुशलता के साथ चित्रण करते हैं। यही कारण है कि वे उसे मानव-जीवन के अत्यन्त निकट लाते हुए मानव के साथ-साथ रोते एव हँसते हुए दिखाना नही भूलते। कामायनी के कितने ही स्थलो पर प्रकृति मानव के रुदन के साथ रोती हुई और हास के साथ हँसती हुई चित्रित की गई है। उदाहरण के लिए 'स्वप्न' सर्ग में आया हुआ श्रद्धा का वियोग-वर्णन लिया जा सकता है, जिसमें वियोगिनी श्रद्धा को व्यथित एव बेचैन देखकर सध्या भी अनुराग

१—कामायनी, पृ० २६। २—वही, पृ० ८८।
३—कामायनी, पृ० ३४-३६।

जलज-केसर से मन बहलाना बद कर देती है, क्षितिज के भाल से भी कुकुम मिट जाता है और वह भी श्रद्धा की भाँति शृंगार-हीन बन जाती है, श्रद्धा की दु:खभरी गाथा को सुनते-सुनते पर्वत भी तृण-गुल्मो के रूप में रोमाचित हो जाते है और उसकी सूनी आहों के साथ-साथ वे भी आह भरते हुए दिखाई देते है।[1] इसी तरह 'आनन्द' सर्ग में जिस समय मनु का सारा परिवार कैलाशगिरि पर आ एकत्रित होता है और सभी आनन्द एव उल्लास से परिपूर्ण दिखाई देते हैं, उस समय प्रकृति में भी आनन्द एव उल्लास की एक ऐसी लहर दौड जाती है, जिसमे मधुर मिलन के उच्छ्वास गगन के आँगन में अभिनव मगल गीत गाने लगते हैं, बल्लरियाँ नाचने लगती हैं, मधुप गूँजते हुए वीणा सी बजाने लगते हैं, हिमशिलाओ से टकराता हुआ समीर अत्यत मधुर मृदग बजाने लगता है और प्रकृति में गीत, नृत्य, वाद्य आदि के कारण एक मनोहर सगीत की सृष्टि हो जाती है।[2] इस प्रकार प्रकृति के भावाक्षिप्त रूप की झाँकियो द्वारा कामायनी में स्थल-स्थल पर उसके सवेदनात्मक चित्रण किये गये है।

कामायनी में प्रकृति का प्रयोग वातावरण निर्माण के लिए भी हुआ है। वातावरण निर्माण के लिए प्रसादजी ने प्रकृति को इस तरह चित्रित किया है कि उसके द्वारा अनायास ही आगामी गभीरता एव प्रसन्नता का पता पाठक या श्रोता को चल जाता है। बहुधा निर्जन, एकान्त एव शोकपूर्ण वातावरण के निर्माण के लिए गभीर प्रकृति का स्वरूप अकित किया जाता है और आनन्द, उल्लास एव उमग का वातावरण दिखलाने के लिए प्रसन्न एव प्रफुल्ल प्रकृति का रूप चित्रित किया जाता है। कामायनी में दोनो प्रकार से वातावरणो की सृष्टि में प्रकृति का उपयोग हुआ है। जैसे, कामायनी के आरम्भ में नीरव, शान्त एव गभीर वातावरण का निर्माण करने के लिए दूर-दूर तक विस्तृत हिम का स्तब्ध होना, नीरवता तुल्य शिला-चरण से पवन का टकराते फिरना, प्रलय सिंधु की लहरियो का सकरुण श्रवमान होना, ठिठुरे हुए दो चार देवदारु के वृक्षो का शान्त खडे रहना आदि चित्रित किया है।[3] जिसमे स्पष्ट ही एक शान्त, गभीर एव निर्जन प्रदेश का आभास मिल जाता है। इसी तरह उल्लास एव उमग का वातावरण निर्माण करने के लिए 'आशा' सर्ग में प्रारम्भ से ही उषा को सुनहले तीर बरसाती हुई जयलक्ष्मी के समान उदित होते हुए, ग्रस्त प्रकृति को फिर से हँसते हुए, नवीन कोमल आलोक को हिम समूह पर बिखरते हुए, अलसाई वनस्पतियो को जगते हुए तथा पवन को निश्चिंतता

१—कामायनी, पृ० १७६। २—वही, पृ० २९२-२९३।
३—वही पृ० ३।

के साथ मृदु साँस लेते हुए दिखलाया गया है।[1] कामायनी में प्रकृति के द्वारा ऐसे ही वातावरणों की सृष्टि अन्य सर्गों में भी हुई है, जैसे 'काम' सर्ग का वसन्त-वर्णन काम की प्रवृत्ति के वातावरण का,[2] 'वासना' सर्ग का राग-रंजित चन्द्रिका का वर्णन वासना के वातावरण का,[3] 'संघर्ष' सर्ग में प्रकृति के बंधन-विहीन परिवर्तन का वर्णन संघर्ष के वातावरण का,[4] और 'निर्वेद' सर्ग के आरम्भ में भटकते तारागणों एवं शून्य सरस्वती नदी का वर्णन वैराग्य के वातावरण का निर्माण कर रहा है।[5]

कामायनी में विश्वव्यापी रहस्यमयी सत्ता का वर्णन करने के लिए भी प्रकृति को माध्यम बनाया गया है और प्राकृतिक पदार्थों के रहस्यात्मक चित्रण द्वारा उस रहस्यमयी सत्ता की ओर संकेत किया है, जिसकी खोज में नील गगन के असंख्य ग्रह, नक्षत्र एवं विद्युत्कण छिपते और निकलते हुए चक्कर लगा रहे हैं, जिसके रस से सिंचित होकर तृण-वीरुध लहलहा रहे हैं। जिसकी सत्ता को सिर नीचा करके सभी स्वीकार करते हैं और मौन होकर जिसका निरन्तर प्रवचन करते रहते हैं। परन्तु उस सत्ता का पता आज तक नहीं लगा है। प्रकृति के समस्त व्यापारों को देखकर केवल इतना ही भान होता है कि वह कुछ है।[6] इसके अतिरिक्त उसका कुछ पता नहीं लगता। इस तरह उस रहस्यमयी सत्ता का वर्णन प्रकृति के माध्यम से यहाँ बड़ी सजीवता के साथ किया गया है।

प्रकृति के प्रतीकात्मक रूप का चित्रण भी कामायनी में स्थान-स्थान पर मिलता है। इस प्रणाली द्वारा ऐसे अप्रस्तुतों अथवा उपमानों को अंकित किया जाता है, जो बाह्य साम्य की अपेक्षा आन्तरिक साम्य को लेकर उपस्थित होते हैं तथा अपने प्रभाव-साम्य के कारण किसी घटना या वस्तु के उपलक्षण या प्रतीक बन जाते हैं। आधुनिक कविता में ऐसे प्रतीकों की अत्यन्त भरमार मिलती है। जैसे, 'सुख, आनन्द, प्रफुल्लता, यौवनकाल आदि के लिए उनके द्योतक क्रमशः उषा, प्रभात, मधुकाल, प्रिया के स्थान पर मुकुल, प्रेमी के स्थान पर मधुप, विषाद के स्थान पर अंधकार या पतझड़, मानसिक आकुलता के स्थान पर झंझा, तूफान आदि का प्रयोग करना।'[7] प्रसादजी ने कामायनी में भी प्रकृति के ऐसे प्रतीकों का प्रयोग करते हुए कितने ही सजीव-वर्णन प्रस्तुत किये हैं, जिनमें से 'काम' सर्ग के प्रारम्भ का वसंत वर्णन पूर्णतया यौवन के प्रतीक के रूप में आया है, जिसमें किशोरावस्था की समाप्ति

१—कामायनी, पृ० २३–२४।
२—कामायनी, पृ० ६३।
३—वही, पृ० ८८।
४—वही, पृ० १६०।
५—वही, पृ० २०५।
६—वही, पृ० २६।
७—हिन्दी साहित्य का इतिहास, पृ० ६७०।

के लिए 'रजनी का पिछला पहर', रूप-सौन्दर्य के लिए 'कोकिल', प्रेम की उमगों के लिए 'कलियाँ', सकेत-स्थलो के लिए 'कोरक-कोना', भाव-प्रवाह के लिए 'काकली' आदि का प्रयोग किया है।[१] इसी तरह की प्रतीक पद्धति को अपनाते हुए कामायनी में 'श्रद्धा' तथा 'वासना' सर्गो मे श्रद्धा के अलौकिक रूप सौन्दर्य का वर्णन मिलता है, जिसमें उसे 'कुसुम-वैभव-सम्पन्न लता', 'चन्द्रिका से लिपटा हुआ घनश्याम', 'मधुपवन क्रीडित शिशु शाल',[२] 'वसन्त का दूत', 'चपला की रेखा', 'शीतल मन्द बयार', 'नखत की आशा किरण',[३] 'ज्योत्स्ना-निर्झर',[४] 'वासना की मधुर छाया',[५] 'विश्व-माया-कुहक'[६] आदि कहा है। इन सभी प्रतीको द्वारा श्रद्धा के हृदय एवं मस्तिष्क की समस्त विशेषताएँ उभर आई है और वह पात्र अपने दिव्य एव अलौकिक रूप में प्रतिष्ठित हो गया है।

इस प्रतीक-पद्धति के समान ही प्रकृति का प्रयोग अलकारो के लिए भी पर्याप्त मात्रा मे किया जाता है। प्रायः गुण, भाव एव आकृति का साम्य दिखाने के लिए कवि लोग प्रकृति से ऐसे ऐसे उपमान चुना करते है जिनसे उनके पात्रो के अगो एव उनकी प्रवृत्तियो का सम्यक् स्वरूप पाठकों के सामने आ जाता है। इसी आधार पर कामायनी में भी प्रकृति के उपमानो द्वारा अलकारो की योजना की गई है। उदाहरण के लिए श्रद्धा के रूप सौदर्य का चित्रण लिया जा सकता है, जिसमें उसे अत्यन्त तेज, अनुपम ओज एव दिव्य कान्ति से परिपूर्ण एक युवती सिद्ध करने के लिए उसके अगो को बिजली का फूल, मुख को सध्याकालीन अरुण तथा वसत कालीन लघु एव अचेत ज्वालामुखी, घुँघराले बालो को सुकुमार नील घन-शावक, मुस्कान को कोमल किशलय पर विश्राम करती हुई अरुण की एक अम्लान किरण, हँसी को नवल मधुराका, शरीर को कुसुम-कानन के अचल में मन्द पवन प्रेरित साकार सौरभ आदि के तुल्य बतलाया है।[७] इसी तरह इडा के दिव्य सौन्दर्य की झाँकी प्रस्तुत करते हुए उसे 'प्राची के रम्य फलक पर अकित नवल चित्र' तथा 'अम्लान नलिन की नवमाला' आदि कहकर उसकी आँखो को पद्म-पलाश, बिखरे बालो से युक्त मुख को गुजरित मधुपो से आवृत मुकुल आदि के समान बतलाया है।[८] प्रसादजी ने सर्वत्र प्रकृति के ऐसे उपमानो को चुना है, जो केवल बाह्य साम्य ही नही रखते, अपितु किसी न किसी प्रकार आन्तरिक भावो के प्रदर्शन में भी अधिक समर्थ

१—कामायनी, पृ० ६३।
२—कामायनी, पृ० ४६।
३—वही, पृ० ५०।
४—वही, ८६।
५—वही, पृ० ८७।
६—वही, ९०।
७—वही, पृ० ४६–४८।
८—वही, पृ० १६८।

होते हैं। जैसे, त्याग एव तितिक्षा मे परिपूर्ण इडा को 'गैरिक वसना सध्या'[1] कहकर अथवा लोक मगल एव विश्व चेतना से पुलकित श्रद्धा को 'विमल जल से परिपूर्ण गभीर महाह्लद'[2] कहकर प्रसादजी ने अपने अन्तर्बाह्य साम्य के उत्कृष्ट उदाहरण प्रस्तुत किये हैं।

काव्यो में प्रकृति का प्रयोग लोकशिक्षा के रूप में भी होता है। इस प्रणाली के द्वारा कविजन प्रकृति के ऐसे-ऐसे रहस्य पाठको के सम्मुख प्रस्तुत किया करते हैं, जिनसे सर्वसाधारण को अनेक शिक्षाप्रद बातें प्राप्त हो जाती हैं और उनके आधार पर सासारिक स्थिति का ज्ञान भी सुगमता से हो जाता है। रामचरितमानस मे गोस्वामी तुलसीदास ने वर्षा-वर्णन के समय प्रकृति चित्रण की इसी प्रणाली का उपयोग करते हुए जन-साधारण के लिए कितनी ही शिक्षाप्रद बाते बतलाई हैं।[3] कामायनी में प्रसाद ने भी कही-कहीं इस प्रणाली को अपनाया है। जैसे, 'चिन्ता' सर्ग में वे लिखते हैं कि जिस तरह मेघो के मध्य विद्युत-प्रकाश क्षणिक होता है वैसे ही यह मानव-जीवन भी क्षण-भगुर है।[4] 'श्रद्धा' सर्ग मे बतलाते हैं कि जगती मे दु ख और सुख का अनिवार्य सम्बन्ध है, जैसे रात्रि के उपरान्त नित्य नवल प्रभात के दर्शन होते हैं वैसे ही दु ख के उपरान्त सुख भी अवश्यमेव आता है।[5] अत दु ख से कभी घबडाना नही चाहिए। पुन आगे कहते है कि मानव को सदैव रूढि परम्परा या पुराननता की केचुली मे ही फँसा नही रहना चाहिए, अपितु उसे नूतनता को भी सहर्ष स्वीकार करना चाहिए, क्योकि ससार में देखा जाता है कि प्रकृति के यौवन का शृगार कभी बासी फूल नही करते, वे तो झडकर धूल में जा मिलते हैं और नित्य नये फूल खिल कर प्रकृति का शृगार किया करते हैं।[6] इसी तरह 'कर्म' सर्ग मे एकान्त स्वार्थ की निन्दा करते हुए कलियो के उदाहरण द्वारा यह समझाते हैं

१—कामायनी, पृ० २७७। २—कामायनी, पृ० २९०।

३—रामचरितमानस, किष्किधाकांड, १४।२–५

४—जीवन तेरा क्षुद्र अश है व्यक्त नील घनमाला में।
सौदामिनी सधि सा सुन्दर क्षण भर रहा उजाला में। चिन्ता, पृ० १९

५—दु.ख की पिछली रजनी बीच विकसता सुख का नवल प्रभात,
एक परदा यह झीना नील छिपाए है जिसमें सुख गात।
—श्रद्धा सर्ग, पृ० ५३

६—प्रकृति के यौवन का शृङ्गार करेंगे कभी न बासी फूल,
मिलेंगे वे जाकर अति शीघ्र आह उत्सुक है उनकी धूल।
— श्रद्धा सर्ग, पृ० ५५

कि यदि कलियाँ अपने सौरभ को अपने कोष में बन्द करके ही बैठी रहें, वे विकसित होकर मकरन्द की वृष्टि न करें और ऐसी ही दशा मे मुरझाकर झड जायें, तो मानव को फिर नित्य नवीन सौरभ नही मिल सकता उसे फिर कुचला हुआ एव अविकसित आमोद ही मिलेगा। अत मानव को कदापि सुख को अपने में ही सीमित नही करना चाहिए।[1] ऐसी ही लोक-शिक्षायें अन्य सर्गो में भी देखी जा सकती हैं।

इनके अतिरिक्त कामायनी मे प्रकृति के दूती रूप की झाँकी नही मिलती। कविवर कालिदास ने 'मेघदूत' मे मेघ को दूत बनाकर तथा हरिऔध ने 'प्रियप्रवास'[2] में पवन को दूत बनाकर जैसी सुन्दर कल्पनाएँ की हैं, दूत सम्बन्धी वैसी कल्पनाएँ तो यहाँ नही है, परन्तु 'आशा' सर्ग के अन्त में यौवनोन्मत्त रजनी को तीव्रगति से जाते हुए देखकर मनु जब उससे यह कहते है कि 'मुझे सुख देने वाली मेरी प्रेम-भावना, वेदना या भ्रान्ति यदि कही तुझे पडी मिल जाय, तो उसे भी लुटा मत देना और उसे भूल भी मत जाना। देख, तुझे भी तेरा भाग दूँगा।'[3] इस कथन मे अपनी विस्मृत प्रियतमा के लिए दूती रजनी द्वारा सदेश भेजने का क्षीण आभास मिल जाता है।

साराश यह है कि प्रसादजी ने प्रकृति के रम्य एव भयानक सभी रूपो की आकर्षक एव भव्य झाँकी प्रस्तुत करते हुए कामायनी मे जो प्रकृति-चित्रण किया है उसमे भावाक्षिप्त एव सश्लिष्ट चित्रो की ही प्रधानता है। उनकी दृष्टि मे प्रकृति के अन्तर्गत एक ऐसी चेतना-सम्पन्न विराट् सत्ता विराजमान है, जिसके उदर मे वन, गिरि, नदी, निर्झर आदि सभी समाये हुए हैं, जो समयानुकूल परिवर्तनो द्वारा अद्भुत छटा विकीर्ण किया करती है तथा जो अपने अद्भुत दृश्यो एव आश्चर्यजनक लीलाओ द्वारा अलौकिक आनन्द प्रदान करती है।[4] इसी कारण उन्होने प्रकृति के

१—ये मुद्रित कलियाँ दल में सब सौरभ बदी कर लें,
सरस न हो मकरन्द बिन्दु से खुलकर तो ये मर लें।
सूखें, झडें और तब कुचले सौरभ को पाओगे,
फिर आमोद कहाँ से मधुमय वसुधा पर लाओगे।
सुख अपने सतोष के लिए सग्रह मूल नहीं है,
उसमें एक प्रदर्शन जिसको देखें अन्य वही है।

—कर्म सर्ग, पृ० १३३।

२—प्रियप्रवास ६।२६–८३। ३—कामायनी, पृ० ४१।

४—इन्दु, कला १, किरण १, शुद्ध श्रावण शुक्ला २ स० १९६६, पृ० ८–११।

व्यापक रूप का चित्रण किया है और देशगत, समाजगत, कालगत तथा सास्कृतिक सभी विशेषताओ को अपनाते हुए प्रकृति-चित्रण की सकुचित प्रणाली को अधिकाधिक व्यापक बनाने का प्रयत्न किया है, जिसका अनुसरण करते हुए हिन्दी कविता में प्रकृति-चित्रण का मार्ग अत्यधिक प्रशस्त हुआ है।

सामाजिक चित्रण—महाकाव्यो मे तत्कालीन सामाजिक परिस्थिति का चित्रण भी विशदता के साथ किया जाता है। प्रत्येक महाकाव्य अपने युग की प्रतिनिधि रचना कहलाता है। अत उसमें युग की सामाजिक एव सास्कृतिक स्थिति का चित्र अकित होना अनिवार्य है। कामायनी भी आधुनिक युग का प्रतिनिधि काव्य है। अत इसमे भी तत्कालीन समाज की स्थिति का पूरा-पूरा चित्रण करते हुए उसके कल्याणार्थ अनेक समस्याओ का समाधान प्रस्तुत किया है। जैसे, कवि ने सबमे पहले विदेशियो के प्रभाव से तत्कालीन समाज मे फैली हुई निर्बाध विलासिता का चित्रण देवो की विलासिता के रूप में किया है[1] और उसके दुष्परिणाम को दिखाकर समाज को सदैव दुष्प्रवृत्तियो के अतिरेक से बचने की सलाह दी है साथ ही यह बताया है कि जिस तरह देवगणो के अनन्त शक्ति-सम्पन्न होने पर भी उनकी अबाध विलासिता ने उनका सर्वनाश कर दिया, वैसे ही कोई भी समाज या राष्ट्र अपनी शक्ति का दुरुपयोग करता हुआ उसे केवल विलास-सामग्री के सकलित करने में ही लीन रखेगा तो उसका भी विनाश अवश्यम्भावी है। इसके अतिरिक्त प्रसादजी ने समाज मे फैली हुई विषमता का चित्र अकित करते हुए यहाँ की वर्ण व्यवस्था, वर्ग-भेद, ऊँच-नीच, छोटे-बडे, शासक-शासित आदि की भावना से उत्पन्न होने वाली विषम परिस्थिति का दिग्दर्शन कराया है और अन्त में पारस्परिक सौहार्द से युक्त जीवन व्यतीत करने, सामाजिक नियमो का समान रूप मे पालन करने एव समरसता के साथ व्यवहार करने की सलाह दी है।[2]

प्रसाद-युग मे ब्राह्मसमाज, आर्यसमाज, थियोसफीकल सोसाइटी, प्रार्थना समाज आदि सामाजिक संस्थाओ ने धार्मिक सकीर्णता का परित्याग करके सभी धर्मो के प्रति सहिष्णुता, मानवता-प्रेम, विश्व-बधुत्व, सेवा, ईश्वर के प्रति आस्तिक्य भाव आदि की जिन भावनाओ का प्रचार किया था, कामायनी में वे सभी भावनाएँ विद्यमान हैं। जैसे, 'आनन्द' सर्ग में धर्म के प्रतिनिधि वृषभ का कैलाश शिखर पर उत्सर्ग करा कर धार्मिक संकीर्णता का परित्याग करने की ओर सकेत किया है वही पर मनु के द्वारा यह कहला कर कि हम सब एक ही कुटुम्ब के व्यक्ति हैं, कोई भी अन्य नही है, न कोई यहाँ शापित है और न तापित, सबकी सेवा पराई नही

१—कामायनी, पृ० ६–१५। २—कामायनी, पृ० १८६–२०२

वह अपनी ही सुख-ससुखि है तथा यह सारा ससार एक नीड है।[1] और इसी प्रकार श्रद्धा का यह कथन कि 'यह उदार विश्व ही मेरा गृह है, जिसका द्वार सर्वदा सभी के लिए उन्मुक्त रहता है।'[2] इन सभी कथनो मे मानवता-प्रेम-विश्व-बधुत्व आदि की उक्त सभी भावनाएँ विद्यमान है। इसके साथ ही यहाँ ईश्वर की विराट् सत्ता या उसकी चिति शक्ति को सर्वव्यापी बतलाते हुए[3] ईश्वर में आस्तिक्य भाव -रखने की ओर भी सकेत किया है।

प्रसाद-युग नारी-आन्दोलन का युग है। इस युग मे नारी-स्वातन्त्र्य, नारी-शिक्षा, नारी के महत्व आदि के लिए पर्याप्त प्रचार हुआ है। कामायनी में उक्त विचारो की भी अभिव्यक्ति हुई है। यहाँ पुरुष की अपेक्षा नारी को महत्व देते हुए उसे सेवा, त्याग, दया, माया, ममता, मधुरिमा, अगाध विश्वास आदि से परिपूर्ण बतलाया है।[4] इतना ही नहीं उसे उदार एव निर्विकार मातृमूर्ति, सर्व मगलकारिणी, सबका दु ख सहने वाली, कल्याणमयी वाणी कहने वाली, क्षमा-निलय मे रहने वाली आदि कहा है।[5] इसके साथ ही उसे श्रद्धा एव विश्वासरूपिणी बतलाते हुए मानव जीवन में सदैव पीयूष-स्रोत के समान बहते रहने की सलाह दी है।[6] इससे स्पष्ट ही यह आभास मिल जाता है कि प्रसादजी नारी-पुरुष की समानता के पक्षपाती नही हैं। वे नारी को पुरुष से कही अधिक श्रेष्ठ एव महान् मानते है। उसके इसी महत्व का प्रतिपादन उन्होने श्रद्धा के रूप में किया है और उसे पुरुष के पथ-प्रदर्शक के रूप मे दिखलाया है।

प्रसाद युग मे समाज के अन्तर्गत वैज्ञानिक अनुसधानो के प्रभाव से भौतिक वाद की जो लहर तीव्रता से दौड रही थी, उसका प्रसादजी ने भली भाँति अध्ययन किया और वे इस निष्कर्ष पर पहुँचे कि मानवता के विकास के लिए भौतिकवाद एव वैज्ञानिक यान्त्रिक सभ्यता कदापि श्रेयस्कर नही हो सकती। कामायनी में सारस्वत नगर के उत्कर्ष एव उसके अपकर्ष द्वारा प्रसादजी ने यही दिखलाया है कि यन्त्रो के आविष्कार द्वारा आज जो प्रकृति से सघर्ष करते हुए सभ्यता की चरम सीमा पर पहुँचने का प्रयत्न हो रहा है, वह सब व्यर्थ है उससे कदापि उन्नति नही हो सकती, उसके द्वारा समाज की प्राकृतिक शक्ति का दिन-रात अपहरण हो रहा है और समाज शक्तिशाली न होकर नित्यप्रति दुर्बल बनता चला जा रहा है।[7] समाज की वास्तविक

१—कामायनी, पृ० २८३, २८७–२८९। २—कामायनी, पृ० २३४।
३—वही, पृ० १६, ५३। ४—वही, पृ० ५७।
५—वही, पृ० २५६। ६—वही, पृ० १०६।
७—वही, पृ० १९९।

उन्नति भौतिकवाद मे नही हो सकती, इसमे भारतीय अध्यात्मवाद को और अपनाना चाहिए और दोनो के समन्वय से ही पुन- सारस्वत नगर की भाँति समुचित व्यवस्था हो सकती है, शान्ति स्थापित हो सकती है, सामूहिक उन्नति हो सकती है और सारा समाज सशक्त होकर कल्याण के मार्ग पर भी चल सकता है।

इसके अतिरिक्त सामाजिक जीवन मे गाधीवाद ने सत्य, अहिंसा, सेवा, सर्वोदय, ग्राम-सुधार, समन्वय आदि की जिन भावनाओ का प्रचार किया है, कामायनी मे उनकी भी अभिव्यक्ति हुई है। 'कर्म' सर्ग मे मनु के पशु-यज्ञ का विरोध करते हुए श्रद्धा ने अपने जो विचार व्यक्त किए है, उनमे सत्य, अहिंसा, सेवा-भाव आदि का रूप विद्यमान है।[१] इसी तरह 'ईर्ष्या' सर्ग मे श्रद्धा द्वारा बीजो का सग्रह करना, सुन्दर शालियाँ बीन कर अन्न इकट्ठा करना, तकली कातना, कुटीर निर्माण करना, वस्त्र बनाना इत्यादि जो कार्य दिखलाये गये है वे गाँधीवादी सर्वोदय एव ग्राम-सुधार की भावना का सुन्दर एव सक्रिय चित्र प्रस्तुत करते है।[२] अन्तिम 'आनन्द' सर्ग मे श्रद्धा, इडा, मानव, सारस्वत नगर निवासी एव मनु को जो एक समन्वित कुटुम्ब के रूप मे आनन्द मग्न दिखलाया गया है वहाँ समन्वय के सुन्दर स्वरूप की झाँकी प्रस्तुत की है, जिसमें कोई भी किसी से न ऊँचा है न नीचा, न कोई छूत है न अछूत, न कोई श्रेष्ठ है न निकृष्ट, सभी जीवन की समरस एवम् समतल भूमि पर स्थित है और किसी में भी तनिक सा भी भेद-भाव नही है।[३]

इसके साथ ही कामायनी में समाज के कुछ प्रगतिशील विचारो की भी झलक विद्यमान है और उनके आधार पर प्रसादजी ने समाज के शोषित एव शोषक वर्ग का भी एक चित्र प्रस्तुत किया है, जिसमे यह दिखाया है कि शोषक वर्ग केवल अपने स्वार्थ के लिए वर्ग-भेद को जन्म देता है, समाज के अन्तर्गत महत्वाकाक्षा को उत्पन्न करता है, अधिकारो की सृष्टि करता है[४] और फिर समाज का सब प्रकार से शोषण करता हुआ उसके जीवन को जर्जर एव झीना बना देता है।[५] इसके अनन्तर प्रसादजी ने शोषित समाज की प्रतिक्रिया का रूप भी दिखलाया है और यह सिद्ध किया है कि शोषित वर्ग गाधीवाद की भाति निष्क्रिय प्रतिरोध को नही अपनाता,

---

१—कामायनी, पृ० १३२–१३४। २—कामायनी, पृ०१४१, १४६–१५१।
३—वही, पृ० २८७–२८६।
४—अधिकारों की सृष्टि और उनकी यह मोहमयी माया,
वर्गों की खाई बन फैली कभी नहीं जो जुड़ने की।
—स्वप्न सर्ग, पृ० १८६।
५—शोषण कर जीवनी बनादी जर्जर झीनी। सघर्ष सर्ग, पृ० १६६।

अपितु वह क्रान्तिकारी मार्ग का अनुसरण करता हुआ सक्रिय प्रतिरोध के सिद्धान्त को अपनाता है तथा शस्त्र उठाकर यायावर आततायियो का डटकर विरोध करता है। इसी कारण कामायनी में उन्होने राजा-प्रजा के रक्तमय संघर्ष का चित्र अंकित किया है और अन्त में शोषक राजा को शोषित प्रजा द्वारा पराजित होते हुए भी दिखलाया है।[1] यद्यपि यहाँ जनता की तात्कालिक विजय दिखलाई है, फिर भी यान्त्रिक सभ्यता का जो विरोध किया है तथा नर-संहार पर जो पश्चाताप प्रकट किया है उनमें गांधीवादी प्रेरणा विद्यमान है। इसके उपरान्त आगे चलकर एक वर्गहीन समाज की भी कल्पना की है, जिसमें सभी लोग एक कुटुम्बी की तरह रहते हैं, शासक और शासित का भेद नही रहता और सभी आनन्दमग्न दिखाई देते हैं।[2]

भाव और रस—कामायनी में भावो का अत्यन्त सजीव चित्रण मिलता है। कहीं-कहीं तो कवि भाव-वर्णन मे इतना लीन होगया है कि वह कथा-भाग की उपेक्षा कर बैठा है और भाव-निरूपण में ही पूरा का पूरा सर्ग लिख गया है। कामायनी का 'लज्जा' सर्ग इसका ज्वलंत प्रमाण है जिसमें लज्जा भाव का अत्यन्त सजीव वर्णन मिलता है, जैसे —

'छूने मे हिचक, देखने में पलकें आँखो पर झुकती हैं,
कलरव परिहास भरी गूँजे, अधरो तक सहसा रुकती हैं।

यहाँ पर लज्जा या व्रीडा के उत्पन्न होने पर हिचकना, पलको का झुकना, संकुचित होना आदि अनुभावो का सुन्दर चित्रण किया गया है। शेष सर्गों में से 'चिन्ता', 'आशा', 'काम', 'वासना' आदि अधिकांश सर्गों में तत्तद्भावो का सुन्दर निरूपण हुआ है, जिनमें भाव-शान्ति, भावोदय, भाव-संधि और भाव-शबलता के सुन्दर उदाहरण मिलते हैं। कामायनी के 'कर्म' सर्ग मे जहाँ श्रद्धा मनु के हिंसा कर्म से रूठ कर क्रोध करती हुई जब अपनी गुफा के एक कोने में जा सोती है और मनु सोमपात्र लेकर उसके समीप आते हैं, तथा श्रद्धा मनु को हिंसा-कर्म मे दूर रहने का आग्रह करती है और मनु के हिंसा-कार्य पर अपना रोष एवं क्षोभ प्रगट करती है। परन्तु जैसे ही मनु यह कहते हैं कि अच्छा, तुम जो कुछ कहती हो, मैं वही करूँगा, वैसे ही श्रद्धा का सारा कोप दूर होजाता है और वे दोनो सोम-पान करके काल्पनिक विजय में आनंदित दिखाई देते हैं।[3] यहाँ पर कोप की शान्ति दिखाकर जो चमत्कार उत्पन्न किया है, उनमें भाव-शान्ति का सुन्दर उदाहरण मिलता है। दूसरे, भावोदय का सुन्दर वर्णन कामायनी के 'काम' सर्ग में मिलता है, जहाँ मनु पहले तो श्रद्धा के आत्म-

---

१—लोकजीवन और साहित्य, पृ० ४५।

२—कामायनी, पृ० २८७–२८८। ३—कामायनी पृ० १३४–१३५।

समर्पण पर सकल्प-विकल्प युक्त दिखाई देते हैं, परन्तु स्वप्न मे जैसे ही वे काम का सन्देश तथा श्रद्धा के गुणो की प्रशसा सुनते हैं, तो वे तुरन्त श्रद्धा को अपनाने के लिए तैयार हो जाते हैं। यहाँ पर उनके हृदय मे निर्वेद के स्थान पर जो आवेग एव औत्सुक्य दिखलाया गया है, वह भावोदय का सुन्दर उदाहरण है।[1] तीसरे, भाव-सधि का वर्णन 'निर्वेद' सर्ग मे मिलता है। जब मनु घायल होकर मूर्छित हो जाते हैं और श्रद्धा उन्हे ढूंढती हुई उनके पास आ पहुँचती है, तब मनु के हृदय में दो प्रबल भावो की सधि दिखाई गई है, एक तो श्रद्धा के आगमन एव उसके शीतल स्पर्शादि से मनु में प्रबल हर्ष का भाव दिखाई देता है और दूसरे अपनी इस स्थिति पर तथा इडा को पुनः अपने समीप देखकर उनमें घृणा का भाव भी प्रबलता के साथ दिखाई देता है।[2] चौथे, भाव-शबलता का सुन्दर स्वरूप कामायनी के 'ईर्ष्या' सर्ग के अन्त में मिलता है, जहाँ श्रद्धा को अपने गर्भस्थ शिशु के प्रति अधिक स्नेह-भाव में लीन देखकर पहले तो मनु के हृदय में गर्भस्थ शिशु के लिए ईर्ष्या दिखलाई गई है और उसके उपरान्त जब श्रद्धा मनु को सुन्दर कुटीर एव अपने शिशु के लिए बनाए हुए वस्त्र आदि दिखाती है, तब वे उत्तेजित होकर श्रद्धा के इस स्नेह-भाव को अपने प्रेम को बाँटने वाला बतलाते हैं तथा श्रद्धा के इन सभी कार्यो की कटु आलोचना करते हुए गुफा से भाग खडे होते हैं, वहाँ पर असूया, आवेग, गर्व, अमर्ष, उग्रता आदि सचारी भावो का एक साथ चित्रण करके जो चमत्कार उत्पन्न किया है, उसमे भाव-शबलता के सुन्दर दर्शन होते हैं।[3] परन्तु कामायनी मे केवल भावो का ही वर्णन नही है, उनको स्थायित्व प्रदान करके रस की कोटि में भी पहुँचाने का प्रयत्न हुआ है। इसलिए कामायनी में अधिकाश रसो के पूर्ण-परिपाक के भी दर्शन होते हैं।

शृगार—समस्त रसो मे शृगार रस रसराज कहलाता है, क्योकि इसके सयोग एव वियोग दो भेद होते हैं और उन दोनों भेदो में लगभग सभी सचारी भावो का समावेश होजाता है। इसके अतिरिक्त अन्य किसी भी रस मे इतने अधिक सचारी भाव नही आते। इसी कारण प्राय. सभी कवि शृगार रस का वर्णन बडे मनोयोग के साथ करते हैं। प्रसादजी ने भी कामायनी मे शृगार के दोनों भेदो का अत्यन्त सजीवता के साथ चित्रण किया है। जैसे, संयोग या सभोग शृगार :—

मनु निरखने लगे ज्यो-ज्यो यामिनी का रूप,
वह अनन्त प्रगाढ छाया फैलती अपरूप।

१—कामायनी, पृ० ७७। २—कामायनी, पृ० २१८–२१९।
३—वही, पृ० १५३–१५४।

बरसता था मदिर कण-सा स्वच्छ सतत अनन्त,
मिलन का संगीत होने लगा था श्रीमन्त।
छूटती चिनगारियाँ उत्तेजना उद्भ्रान्त,
धधकती ज्वाला मधुर, था वक्ष विकल अशान्त।
वात चक्र समान कुछ था बाँधता आवेश,
धैर्य्य का कुछ भी न मनु के हृदय में था लेश। (वासना सर्ग)

यहाँ पर श्रद्धा आलम्बन है। ज्योत्स्नापूर्ण रात्रि तथा श्रद्धा का सौंदर्य उद्दीपन है। चिनगारियाँ छूटना, हृदय में मधुर ज्वाला धधकना, मनु का विकल, अशान्त एवं अधीर होना अनुभाव हैं। आवेग, चंचलता, औत्सुक्य, उग्रता, उन्माद, आदि संचारी भाव हैं और इन सबसे पुष्ट रति स्थायीभाव है।

दूसरे, वियोग या विप्रलम्भ शृंगार को चार प्रकार का बतलाया गया है— पूर्वराग, मान, प्रवास और करुण।[1] इनमें से पूर्वराग तथा करुण विप्रलम्भ के दर्शन कामायनी में नहीं होते। शेष दोनों भेदों में से मान विप्रलम्भ का चित्रण निम्नलिखित पंक्तियों में हुआ है —

श्रद्धा अपनी शयन गुहा में दुखी लौट कर आयी,
एक विरक्ति बोझ सी ढोती मन ही मन बिलखायी।
+ + + +
मधुर विरक्ति भरी आकुलता घिरती हृदय गगन में,
अन्तर्दाह स्नेह का तब भी होता था उस मन में। (कर्म सर्ग)

यहाँ पर मनु आलम्बन हैं। पशु-वध उद्दीपन है। दुखी लौट आना, मन में बिलखना, आकुल होना, मन में स्नेह का अन्तर्दाह होना अनुभाव हैं। अमर्ष, आवेग, विषाद आदि संचारी भाव हैं और इन सबसे पुष्ट रति स्थायीभाव है, क्योंकि यह प्रणयमान है। इसके साथ ही प्रवास विप्रलम्भ का वर्णन 'स्वप्न' सर्ग के आरम्भ में बड़ी मार्मिकता के साथ किया गया है। जैसे,

वन बालाओं के निकुंज सब भरे वेणु के मधु स्वर से,
लौट चुके थे आने वाले सुन पुकार अपने घर से।
किन्तु न आया वह परदेशी युग छिप गया प्रतीक्षा में,
रजनी की भीगी पलकों से तुहिन बिंदु कण कण बरसे। (स्वप्न सर्ग)

यहाँ पर मनु आलम्बन विभाव हैं। वन बालाओं के निकुंजों में वेणु स्वर का गूँजना तथा अन्य सभी का लौट आना उद्दीपन विभाव है। श्रद्धा का मनु की

१—साहित्यदर्पण, पृ० २३५।

प्रतीक्षा करना, उनके लौटने के बारे में सोचना आदि अनुभाव हैं और स्मृति, दैन्य, चिन्ता, विषाद, वितर्क आदि संचारी भाव हैं। इन सभी भावों से पुष्ट रति स्थायीभाव यहाँ प्रवास-जन्य विप्रलम्भ शृंगार के रूप में ध्वनित है।

वीर—कामायनी में दो-एक स्थलों पर वीर रस की भी सुन्दर अभिव्यक्ति मिलती है। जैसे, सारस्वत नगर की जनक्रान्ति के समय जनता का नेतृत्व करने वाले आकुलि-किलात नामक असुर पुरोहितों को जब मनु ललकारते हैं, तब उनके निम्नलिखित शब्दों में वीर रस का वर्णन मिलता है :—

कायर तुम दोनों ने ही उत्पात मचाया,
अरे, समझ कर जिनको अपना था अपनाया।
तो फिर आओ देखो कैसे होती है बलि,
रण यह, यज्ञ पुरोहित ! ओ किलात औ आकुलि। (संघर्ष सर्ग)

यहाँ किलाताकुलि आलम्बन हैं। उनका उत्पात मचाना उद्दीपन है। मनु का ललकारना, युद्ध करना आदि अनुभाव है। गर्व, आवेग, औत्सुक्य, चपलता, अमर्ष आदि संचारी भाव हैं और इन सभी भावों से पुष्ट उत्साह स्थायीभाव द्वारा यहाँ वीर रस की अभिव्यंजना हुई है।

रौद्र—कामायनी में 'संघर्ष' सर्ग के अन्तर्गत रौद्र रस के भी दर्शन होते हैं। देव शक्तियों एवं प्रजाजनों के साथ मनु के युद्ध का वर्णन करते हुए कवि प्रसाद ने रौद्र रस की अभिव्यक्ति भी इस प्रकार की है :—

'अन्धड था बढ़ रहा, प्रजा दल था झुँझलाता,
रण वर्षा में शस्त्रों सा बिजली चमकाता।
किन्तु क्रूर मनु वारण करते उन बाणों को,
बढ़े कुचलते हुए खड्ग से जन प्राणों को। (संघर्ष सर्ग)

यहाँ पर प्रजा आलम्बन विभाव, प्रजादल का झुँझलाना तथा शस्त्रों से प्रहार करना उद्दीपन विभाव, मनु का खड्ग से प्रजा-जनों का कुचलना, युद्ध में बाण-वर्षा करते हुए आगे बढ़ना आदि अनुभाव और आवेग, उग्रता, असूया, मद आदि संचारी भाव हैं, जिनसे पुष्ट होकर क्रोध स्थायी भाव रौद्र रस के रूप में ध्वनित हो रहा है।

भयानक—कामायनी में कुछ स्थलों पर भयानक रस की भी अभिव्यक्ति हुई है। मनु के अनैतिक आचरण के कारण अचानक प्राकृतिक शक्तियों के क्षुब्ध हो जाने पर 'स्वप्न' सर्ग में भयानक रस का वर्णन किया गया है। जैसे :—

'प्रकृति त्रस्त थी भूतनाथ ने नृत्य विकम्पित पद अपना,
उधर उठाया, भूत सृष्टि सब होने जाती थी सपना।

आश्रय पाने को सब व्याकुल, स्वय कलुष में मनु सदिग्ध,
फिर कुछ होगा यही समझ कर वसुधा का थर-थर कँपना ।' (स्वप्न सर्ग)

यहाँ पर क्रुद्ध होकर भूतनाथ का नृत्य विकम्पित पद उठाना आलम्बन है। प्रकृति का त्रास, प्रजा का व्याकुल होकर आश्रय पाने के लिए आना, पृथ्वी का थर-थर काँपना उद्दीपन विभाव है। मनु का सदिग्ध होना, फिर कुछ होने की आशका करना अनुभाव है और शका, त्रास, चिन्ता आदि सचारी भाव है। इनसे पुष्ट भय स्थायीभाव भयानक रस के रूप में व्यजित है।

अद्भुत—कामायनी में दो-एक स्थलो पर अद्भुत रस की व्यजना भी हुई है। तपस्या में निरत मनु जिस समय भगवान् भूतनाथ के अलौकिक ताडव नृत्य का दर्शन करते हैं, उस समय अद्भुत रस की अभिव्यक्ति मिलती है। जैसे :—

देखा मनु ने नर्तित नटेश, हत चेत पुकार उठे विशेष,
'यह क्या ! श्रद्धे ! बस तू ले चल, उन चरणों तक, दे निज सम्बल ।'
(दर्शन सर्ग)

यहाँ पर नर्तित नटेश आलम्बन, उनका अद्भुत ताडव नृत्य उद्दीपन, मनु का साश्चर्य देखना, हतचेत पुकार उठना, वहाँ तक चलने की इच्छा प्रकट करना आदि अनुभाव हैं और औत्सुक्य, चपलता, आवेग आदि सचारी हैं। इन सभी से पुष्ट आश्चर्य स्थायीभाव यहाँ अद्भुत रस के रूप में अभिव्यजित हुआ है।

करुण—कामायनी के प्रारम्भिक 'चिन्ता' सर्ग मे अपने प्रियजनो का व्यापक विनाश देखकर मनु को जो शोक उत्पन्न हुआ है, वहाँ करुण रस की अभिव्यक्ति हुई है। जैसे :—

प्रकृति रही दुर्जेय, पराजित हम सब थे भूले मद में,
भोले थे, हाँ तिरते केवल सब विलासिता के नद में।
वे सब डूबे, डूबा उनका विभव, बन गया पारावार,
उमड रहा है देव सुखो पर दुःख जलधि का नाद अपार। (चिन्ता सर्ग)

यहाँ पर देवों का विनाश आलम्बन है, उनके वैभव, विलासिता, प्रकृति को जीतने की शक्ति आदि का स्मरण उद्दीपन विभाव है। मनु का आहे भरना, चिन्ता करना आदि अनुभाव है। चिन्ता, ग्लानि, विषाद, स्मृति, दैन्य आदि सचारी भाव हैं और स्थायीभाव शोक है, जिससे करुण रस की पुष्टि हुई है।

बीभत्स—कामायनी में बीभत्स का वर्णन भी मिल जाता है। मनु द्वारा किए गए पशु-यज्ञ के अवसर पर घृणास्पद वस्तुओं का वर्णन करते हुए इस रस की अभिव्यक्ति इस प्रकार हुई है —

'यज्ञ समाप्त हो चुका तो भी धधक रही थी ज्वाला,
दारुण दृश्य रुधिर के छींटे ! अस्थि खण्ड की माला।
वेदी की निर्मम प्रसन्नता, पशु की कातर वाणी,
मिलकर वातावरण बना था कोई कुत्सित प्राणी। (कर्म सर्ग)

यहाँ पर पशु-यज्ञ आलम्बन है। रुधिर के छींटे, अस्थि खंड की माला आदि उद्दीपन विभाव हैं। पशु का कातर वाणी से चिल्लाना, वेदी पर निर्ममता से उसका वध करना आदि अनुभाव हैं, और निर्वेद, ग्लानि, आवेग, वैवर्ण्य आदि संचारी भाव हैं, जिनसे पुष्ट जुगुप्सा स्थायीभाव वीभत्स रस के रूप में यहाँ अभिव्यंजित है।

शान्त—कामायनी के अन्तिम चार सर्गों मे शान्त रस की सुन्दर अभिव्यक्ति हुई है, क्योंकि 'निर्वेद' सर्ग मे मनु को ससार से विरक्त दिखलाया गया है, 'दर्शन' सर्ग मे उन्हे नटराज शिव के दर्शन कराये हैं, 'रहस्य' सर्ग मे ससार की वास्तविकता एवं तत्वज्ञान का परिचय कराया है और अन्तिम 'आनन्द' सर्ग में तत्वज्ञान की प्राप्ति दिखलाई है। नीचे शान्तरस से सम्बन्धित कुछ पंक्तियाँ दी जाती हैं:—

सोच रहे थे, 'जीवन सुख है ? ना, यह विकट पहेली है,
भाग अरे मनु ! इन्द्रजाल मे कितनी व्यथा न झेली है ?

\+ \+ \+

श्रद्धा के रहते यह सम्भव नही कि कुछ कर पाऊँगा,
तो फिर शान्ति मिलेगी मुझको जहाँ, खोजता जाऊँगा। (निर्वेद सर्ग)

यहाँ पर इन्द्रजाल रूपी संसार आलम्बन है। जीवन का विकट पहेली बन जाना, सुख का न होना उद्दीपन विभाव हैं। मनु का भागने का विचार करना, शान्ति की खोज के लिए उत्सुक होना आदि अनुभाव हैं और मति, ग्लानि, दैन्य, निर्वेद आदि सचारी भाव हैं। इन सभी मे पुष्ट शम स्थायीभाव यहाँ शान्त रस के रूप में अभिव्यक्त हुआ है।

वात्सल्य—कामायनी में दो-एक स्थलों पर वात्सल्य रस के भी दर्शन हो जाते हैं। 'स्वप्न' सर्ग के अन्तर्गत श्रद्धा के पुत्र 'कुमार' की किलक-भरी गूँज के वर्णन के अवसर पर वात्सल्य रस की अभिव्यक्ति हुई है। जैसे:—

'माँ—फिर एक किलक दूरागत गूँज उठी कुटिया सूनी,
माँ उठ दौड़ी भरे हृदय में लेकर उत्कंठा दूनी।
लुटरी खुली अलक, रज धूसर बाँहें आकर लिपट गईं,
निशा तापसी की जलने को धधक उठी बुझती धूनी।' (स्वप्न सर्ग)

यहाँ पर कुमार आलम्बन है। उसकी किलकारी, लुटरी खुली अलक तथा धूल-धूसरित बाहें आदि उद्दीपन विभाव हैं। माँ का उठकर पुत्र को गोद में लेने के लिए दौडना, दूनी उत्कठा से भर जाना आदि अनुभाव है और हर्ष, आवेग, गर्व, औत्सुक्य आदि सचारी भाव है। इन सभी से पुष्ट वत्सलतापूर्ण स्नेह ही यहाँ वात्सल्य रस के रूप में अभिव्यजित है।

साराश यह है कि कामायनी में एक हास्य रस को छोडकर शेष सभी रसो का चित्रण सफलता के साथ मिलता है। वैसे सयोग एव वियोग शृगार की यहाँ प्रधानता है, किन्तु कामायनी का मुख्य रस शान्त है और सभी रस उसके अगरूप मे आए हैं। हास्य रस के अभाव का कारण प्रसादजी का गम्भीर एव चिन्तनशील स्वभाव है। दूसरे, आदि पुरुष की कथा भी इतने गम्भीर वातावरण मे होकर चलती है कि उसमे हास्य के लिए कही भी अवकाश नही मिला है। शेष सभी रसो का यहाँ पूर्ण परिपाक हुआ है और सर्वत्र औचित्य का निर्वाह करते हुए रसाभास से बचने की चेष्टा की गई है। जैसे, यदि इडा को प्रसादजी मनु-पुत्री मानकर चलते, और मनु का उसके प्रति प्रेम तथा आकर्षण दिखलाते तो रसाभास की स्थिति उत्पन्न हो सकती थी, परन्तु प्रसादजी ने रस की ओर ध्यान देने के कारण ही इस तरह के अनौचित्य से कामायनी को बचाया है। अतः कामायनी मे एक महाकाव्य की भाँति भाव एव रसो का भी उच्च कोटि का वर्णन मिलता है।

कलागत विशेषताएँ—'कामायनी' एक सर्ग-बद्ध काव्य है, जिसका नाम श्रद्धा या कामायनी नामक काव्य की नायिका के आधार पर रखा गया है, जिसमें 'चिन्ता', 'आशा', 'श्रद्धा' आदि पन्द्रह सर्ग है और प्रत्येक सर्ग का नामकरण उसमें वर्णित मुख्य मनोभाव या घटना के आधार पर किया गया है। ये सर्ग न तो अधिक विस्तृत हैं और न अधिक लघु, अपितु वर्णन के अनुसार उचित एव सम्यक् विस्तार के साथ समाप्त हुए हैं। कई सर्गो के अन्त मे आगामी कथा का सकेत भी विद्यमान है। जैसे, 'चिन्ता', 'आशा', 'काम', 'वासना' आदि सर्गो की अन्तिम पक्तियाँ देखी जा सकती हैं, जिनमे उनमे आगे आने वाली कथा का स्पष्ट सकेत विद्यमान है। प्रत्येक सर्ग में लगभग एक ही छन्द अपनाया गया है, समस्त छन्द-विधान शास्त्रानुकूल है और 'इडा' सर्ग मे नवीन प्रगीत-प्रणाली के आधार पर नवीन छन्दो का भी प्रयोग हुआ है।

कामायनी की भाषा शुद्ध खडी बोली है। उसमें शब्दों का चुनाव भावानुकूल हुआ है तथा शब्द-विधान उच्च कोटि का है। कहीं-कही कुछ व्याकरणगत अशुद्धियाँ अवश्य मिलती हैं, परन्तु ऐसी अशुद्धियाँ कम हैं। इनके साथ ही उपमा, उत्प्रेक्षा, रूपक, [illegible] आदि साम्यमूलक प्राचीन अलकारो के साथ-साथ मानवी-

विशेषण-विपर्यय, ध्वन्यर्थव्यंजना आदि नवीन अलंकारों का ही प्रयोग अधिक । परन्तु अलंकार सर्वत्र भावों के उत्कर्ष विधायक के रूप में ही चित्रित किए । इसकी रचना-शैली में कलात्मकता का प्राधान्य है और सर्वत्र लाक्षणिकता, र-वक्रता, व्यंग्य आदि की ही अधिकता है, जिससे कहीं-कहीं अर्थ-क्लिष्टता भी है। परन्तु काव्य-सौष्ठव, उसकी सरसता एवं उत्कृष्टता में कोई बाधा उत्पन्न होती और सर्वत्र एक भव्य एवं प्रौढ साहित्यिक शैली के दर्शन होते हैं, जिसमें त्मकता, सरसता, माधुर्य आदि के साथ-साथ गवेषणापूर्ण रचना-कौशल विद्यमान कामायनी के रचना-कौशल एवं उसकी कलात्मकता का विशद विवेचन चौथे रण में किया गया है।

निष्कर्ष यह है कि कामायनी महाकाव्य का निर्माण एक ऐसी स्वतन्त्र पद्धति हुआ है, जिसमें भारतीय एवं पाश्चात्य दोनों प्रणालियों के समन्वित स्वरूप के न होते हैं और जिसमें उन प्रणालियों की आवश्यक एवं उपयुक्त बातों को ही हण किया गया है। कुछ विद्वानों ने इसे प्राचीन भारतीय प्रणाली के अनुकूल सिद्ध रने के लिए व्यर्थ प्रयत्न किए हैं और उसमें हठात् मंगलाचरण आदि के दिखलाने ा कष्ट उठाया है।[1] परन्तु यह सब बुद्धि-विलास मात्र है, क्योंकि प्रसादजी ने जब पने अन्तिम नाटकों में प्राचीन रूढिवादिता का विरोध करते हुए मंगलाचरण, स्तावना आदि का प्रयोग नहीं किया है तब उनके अन्तिम महाकाव्य में यह सब हाँ सम्भव है कि वे प्राचीनता के ही पुजारी बने रहते। वे तो निश्चित रूप से 'समय की बदली हुई प्रवृत्तियों, नैतिक मापदंडों, मानव के बहुरूप मानसिक उद्वेगों और आकांक्षाओं को लेकर चले हैं',[2] जो उनके नवीनतम प्रयोगों के उपकरण बन गये हैं और जिनके आधार पर उन्होंने उच्च से उच्च कृति का निर्माण किया है। कहने की आवश्यकता नहीं कि इस महाकाव्य में अधिक विस्तार न होते हुए भी अपनी लघु सीमा में ही मानवता के समग्र रूप, उसकी समस्याओं एवम् उनके समाधानों को एक उत्कृष्ट एवम् भव्य साहित्यिक शैली में चित्रित करने का जो प्रयत्न हुआ है, वह सर्वथा सराहनीय है और इन सभी विशेषताओं के आधार पर 'कामायनी' को आधुनिक युग का एक प्रतिनिधि महाकाव्य कहा जा सकता है।

कामायनी में रूपक-काव्यत्व

रूपक-काव्य—'कामायनी' महाकाव्य होते हुए भी उसमें कुछ ऐसे सांकेतिक अर्थ की अभिव्यक्ति करने वाले प्रतीकात्मक पात्रों एवम् घटनाओं के उल्लेख मिलते

१—कामायनी दर्शन, पृ० १०२। २—जयशंकरप्रसाद, पृ० ७०।

है, जिनके आधार पर वह रूपक-काव्य कहलाता है। अतः अब देखना यह है कि उसमे इस रूपकत्व की सार्थकता कहाँ तक विद्यमान है। साधारणतया भारतीय साहित्य-शास्त्र मे 'रूपक' शब्द का प्रयोग दो बातो के लिए मिलता है—एक तो 'रूपक' एक प्रकार का अलकार माना गया है, जिसमे प्रस्तुत पर अप्रस्तुत का निषेध रहित आरोप किया जाता है।[1] दूसरे नाट्य को भी 'रूपक' कहते हैं, जिसके नाटकादि दस भेद माने गये हैं और जिनमें अभिनेता किसी न किसी व्यक्ति की अवस्था का आरोप करके अभिनय प्रस्तुत किया करता है।[2] रूपक की उक्त दो व्याख्याओ के आधार पर यही ज्ञात होता है कि एक रुपक-काव्य से तात्पर्य ऐसे काव्य से है, जिसमे प्रस्तुत पात्रो या प्रस्तुत कथा पर किसी अप्रस्तुत बातो का निषेध रहित आरोप किया गया हो और एक अभिनेता भी भाँति वे पात्र या कथा अन्त तक उसका पूरा-पूरा निर्वाह करते हो। कुछ विद्वानो की राय में हमारे यहाँ ऋग्वेदादि वैदिक ग्रथो में भी इसी रूपक-प्रणाली का प्राधान्य है।[3] आचार्य शुक्ल ने ऐसी गूढार्थ-रचना को 'अन्योक्ति' बतलाया है और इसी आधार पर उन्होने 'पदमावत' प्रबध काव्य को 'अन्योक्ति' काव्य सिद्ध किया है।[4]

पाश्चात्य देशो मे ऐसे प्रतीकात्मक एव अन्योक्तिमूलक रूपक-काव्य को 'एलिगरी' (Allegory) कहा गया है। एबरक्रोम्बी ने रूपक-काव्य की विशेषताओं का उल्लेख करते हुए लिखा है कि ऐसा काव्य महाकाव्य न होकर महाकाव्य की सी विशेषताएँ लेकर लिखा जाता है। उसके पात्र पूर्णतया निर्जीव एव अमूर्त भावो के प्रतीक होते हैं। उसमें सर्वत्र एक आध्यात्मिक तथ्य की ही प्रधानता रहती है और उसी का सर्वत्र निर्देश किया जाता है। वह काव्य हमे एक ऐसे क्षेत्र में ले जाता है, जहाँ कुछ भी घटित नही होता अथवा जहाँ कुछ भी महत्वशाली नही होता। उसमें रूपक या सांकेतिकता का निर्वाह अन्त तक रहता है। उसका कथानक पूर्णतया कवि-कल्पित होता है और वह महाकाव्य के सदृश्य ठोस यथार्थता से सर्वथा दूर होता है। उसमें जीवन की कुछ महत्वपूर्ण बातो पर ही जोर दिया जाता है और उसमें उनके समझाने का ही सुन्दर प्रयत्न किया जाता है।[5] इसके अतिरिक्त श्री डवल्यू० पी०

१—काव्यदर्पण, पृ० ४६५। २—दशरूपक १।७–८

३—भारतीय साहित्य-शास्त्र, पृ० २६७।

४—जायसी-ग्रथावली, भूमिका, पृ० ५६।

5—(Allegories) may have epical qualities without being an epic They take us into a region in which nothing happens that is not deeply significant, a dominant, noticeably symbolic purpose presides over each poem, moulds it greatly and informs it throughout Allegory requires material ingeniously manipulated

केर ने रूपक-काव्य की कुछ अन्य विशेषताओं का उल्लेख किया है। उनका मत है कि अंग्रेजी साहित्य के मध्य-युग में ऐसे एलिगरी या रूपक-काव्यों की प्रधानता मिलती है और वे सब धार्मिक बातों का उल्लेख करने के लिए ही लिखे गये हैं। उन्होंने दो प्रकार के रूपक-काव्यों का उल्लेख किया है—पहले तो वे काव्य हैं जिनमें वास्तविक एवं सांकेतिक दोनों अर्थों का प्रकाशन पृथक्-पृथक् किया जाता है, जैसे बेस्टिअरी (Bestiary) काव्य, जिसमें पहले शेर, चींटी आदि का प्राकृतिक इतिहास दिया गया है और अन्त में उनके आध्यात्मिक रहस्य का उद्घाटन किया गया है। दूसरे वे काव्य हैं, जिनमें दोनों बातें साथ ही रहती हैं और उनमें सांकेतिक बातों का निर्देश पृथक् नहीं किया जाता। जैसे, पिलग्रिम्स प्रोग्रेस (Pilgrim's Progress)। इसके साथ ही समस्त रूपक-काव्यों में द्व्यर्थक कथा रहती है, जिसमें मूर्त्त एवं अमूर्त्त तथा सिंह, चीता आदि प्राकृतिक पात्रों का भी प्रयोग किया जाता है, परन्तु वे सभी अमूर्त्त भावनाओं के प्रतीक होते हैं। ऐसे काव्यों का निर्माण परोक्ष रूप से केवल सामाजिक बुराइयों को दूर करने के लिए होता है। अतः इनमें उपदेश की ही प्रधानता रहती है।[1]

कामायनी में रूपकत्व का आभास—रूपक-काव्य के प्राच्य एवं पाश्चात्य आधारों पर कामायनी का अनुशीलन करने पर ज्ञात होता है कि यहाँ पर भी रूपक-काव्य की सी विशेषताएँ विद्यमान हैं। जैसे, कामायनी की कथा भी द्व्यर्थक है, क्योंकि एक ओर तो इसमें श्रद्धा एवं मनु का ऐतिहासिक उपाख्यान है और दूसरी ओर मन, बुद्धि और हृदय के क्रमिक विकास का रूप दिखलाते हुए मानवता के विकास का भी निरूपण किया गया है।[2] साथ ही इसके अधिकांश पात्र सांकेतिक हैं, क्योंकि मनु तो स्पष्ट ही मननशील, सकल्प-विकल्प युक्त एवं अहंभाव में लीन रहने के कारण अहंभावयुक्त मन या चेतना के प्रतीक हैं। श्रद्धा हार्दिक विश्वास एवं आस्तिक्य भाव से परिपूर्ण होने के कारण हृदय की प्रतीक है। इसे शुक्लजी ने विश्वासमयी रागात्मिका वृत्ति कहा है।[3] परन्तु विश्वास एवं राग-वृत्ति का सम्बन्ध भी हृदय से होने के कारण वह हृदय की ही प्रतीक सिद्ध होती है। इडा को प्रसादजी

---

and fantastic what is more important, it requires material invented by the poet himself. That is a long way from the solid reality of material which epic requires Allegory is a beautiful way of inculcating and asserting some special significance in life —The Epic by L. Abercrombe, p. 52–54.

1—Medieval English Literature by W. P. Ker, p 137-139

२—कामायनी, आमुख, पृ० ७।

३—हिन्दी साहित्य का इतिहास, पृ० ६६०।

ने मस्तिष्क या बुद्धि का प्रतीक बतलाया है। परन्तु कुछ विद्वान् इडा को बुद्धि का प्रतीक मानने मे विरोध करते हैं।[1] क्योकि जिस बुद्धि के वैभव द्वारा मनुष्य अपनी उन्नति करता है और यहाँ मनु भी उन्नति करते हुए दिखलाये गये हैं, उसकी ऐसी विगर्हणा करना कहाँ तक उपयुक्त है? इसके बारे में श्री नन्ददुलारे वाजपेयी का मत है कि प्रसादजी ने बुद्धि का विरोध न करके बुद्धिवाद की अति का विरोध किया है।[2] अत इडा बुद्धिवाद की अति को जन्म देने वाली 'तर्कशीला बुद्धि' का प्रतीक है।

इसके अतिरिक्त गौण पात्रो एव घटनाओ में से मनु-पुत्र कुमार नव मान(का प्रतीक है, क्योकि वही मानवता का यथार्थ रूप में प्रचार करता है। किलात और आकुलि अपनी तामसी प्रवृत्तियो की प्रबलता के कारण आसुरी प्रवृत्तियो वे प्रतीक हैं। श्रद्धा का पशु एक निरीह और शोषित प्राणी के रूप में चित्रित किय गया है, जिसका कि असुर पुरोहितो द्वारा वध कराया जाता है। अत वह सहज जी‹ या आधुनिक अर्थो में गाधीवादी अहिंसा का प्रतीक है। सारस्वत नगर प्राणम कोश का प्रतीक है तथा सारस्वत नगर निवासी मनु के सहयोगी होते हुए भी तनि‹ से मनु के अतिचार पर क्रान्ति मचा देते हैं। अत वे मन की सहागामिनी अन इन्द्रियो के प्रतीक हैं। सोमलता भोगो की प्रेरणा देती है और मनु की विलास-वासन को उत्तेजित करती है। अतः वह भोग का प्रतीक है। जलप्लावन को माया य वासनापूर्ण अन्नमय कोश का प्रतीक माना जा सकता है, क्योकि उसमे पथ-भ्रष्ट ए इन्द्रिय-लिप्सा मे लीन देवो के विलीन होने का वर्णन किया है। पशु-यज्ञ मे पापाचा एव कपट व्यवहार की प्रधानता होने के कारण वह पाप का प्रतीक है। त्रिकोर या त्रिपुर भाव (इच्छा), ज्ञान और क्रियावृत्ति के प्रतीक हैं। सोमलता से आवृ वृषभ स्पष्ट ही भोगो से युक्त धर्म का प्रतीक है, जिसका उत्सर्ग करके मानव अख आनन्द को प्राप्त करना है। सरोवर समरसता का प्रतीक है, क्योकि यहाँ पहुँचते ह मन की प्यास मिट जाती है और सभी को सुख मिलता है।[3] कैलाश शिख आनन्दमय कोश का प्रतीक है, क्योकि इसी स्थान पर पहुँच कर कामायनी के समस पात्रो को अखण्ड आनन्द की प्राप्ति होती है।

कामायनी में प्रतीको का निर्वाह—कामायनी के प्रतीको को स्पष्ट करने उपरान्त अब यह जानना भी आवश्यक होजाता है कि इन समस्त प्रतीको का निर्वा कामायनी की कथा में किस प्रकार हुआ है? इस प्रश्न के बारे में विचार करने प

१—जयशकरप्रसाद—जीवन-दर्शन, कला और कृतित्व, पृ० २०३–२०७।
२—जयशकरप्रसाद, पृ० ८६-८५। ३—कामायनी, पृ० २८२।

पता चलता है कि तैत्तिरीय उपनिषद् मे आध्यात्मिक साधना के लिए पंच कोशो की की कल्पना की गई है। वे क्रमश. अन्नमय, प्राणमय, मनोमय, विज्ञानमय तथा आनन्दमय कहे गये हैं।[1] सर्वप्रथम जीव अन्नमय कोश में उत्पन्न होता है और क्रमश उन्नति करता हुआ अपनी सतत साधना से आनन्दमय कोश तक पहुँच सकता है। कामायनी मे प्रसादजी ने भी अहभावयुक्त मन को नाना कोशो मे विचरण करने के उपरान्त अन्त में आनन्दमय कोश मे पहुँचाने का प्रयत्न किया है।

सर्वप्रथम यह मन इधर-उधर भटकता हुआ प्रलय से व्यथित एव बेचैन दिखलाया गया है, जिसे न तो जीवन-यापन के साधना ही कुछ ज्ञात हैं और न यह इतनी सामर्थ्य ही रखता है कि स्वय अपना मार्ग निश्चित कर सके। यह अन्न से उत्पन्न और अन्नमय कोश मे पडे हुए प्राणी की भाँति केवल अन्न को ही प्रमुख मानता हुआ केवल पाकयज्ञ आदि मे लीन रहता है और चिंतन-मनन आदि अपने स्वाभाविक व्यापारो में सलग्न होकर 'अह' भावना से ओत-प्रोत होजाता है। इसी क्षण इसका परिचय पहले हृदय से होता है। चेतन जीव की दो शक्तियाँ मानी गई हैं—हृदय और बुद्धि। हृदय रागात्मिक शक्ति है और मन मे राग की प्रधानता रहती है। अत इससे चेतन जीव या मन का पहले सम्बन्ध होता है। इसका कारण यहाँ भी यही दिया गया है कि प्रकृति का सुरम्य वातावरण मन के अतर्गत अनादि वासना को जाग्रत कर देता है और वासना के जाग्रत होने पर फिर रागात्मिका शक्ति या हृदय से उसका सम्बन्ध होना स्वाभाविक है। यह हृदय तत्त्व उसे कर्मण्यता का पाठ पढाता हुआ सासारिक उन्नति के लिए प्रेरणा प्रदान करता है, किन्तु इतने ही में सोम-लता आदि भोगो के प्रभाव से उसे आसुरी प्रवृत्तियाँ आकर दबा लेती है और मन पापमय जीवन व्यतीत करने के लिए बाध्य होजाता है, जिसके परिणामस्वरूप वह अहिंसा, सत्य, ब्रह्मचर्य आदि का विरोध करता हुआ हिंसायुक्त वासना-प्रधान जीवन को महत्व देने लगता है। इन सब बातो के कारण अब उसका सम्बन्ध हृदय की राग-वृत्ति से नही रहता और वह हृदय-शक्ति के क्षेत्र से दूर भागकर जीव की दूसरी बुद्धि-शक्ति के क्षेत्र में पदार्पण करता है। परन्तु भोग एव वासना-प्रधान जीवन व्यतीत करने के कारण उसे बुद्धिवाद के अतिरेक से युक्त तर्कशीला बुद्धि ही अधिक प्रिय जान पडती है, उसी मे अनुरक्त होकर वह बुद्धि का सदुपयोग न करके उसे अपनी वासना-पूर्ति का साधन बना लेता है और अपनी अतृप्त वासना की पूर्ति करना चाहता है। इसके लिए मन उस तर्कशीला बुद्धि पर भी अपना अधिकार जमाने का प्रयत्न करता है, परन्तु वह बुद्धि इस बात को स्वीकार नही करती।

१—तैत्तिरीयोपनिषद् २।८

ने मस्तिष्क या बुद्धि का प्रतीक बतलाया है। परन्तु कुछ विद्वान् इडा को बुद्धि का प्रतीक मानने में विरोध करते हैं।[1] क्योंकि जिस बुद्धि के वैभव द्वारा मनुष्य अपनी उन्नति करता है और यहाँ मनु भी उन्नति करते हुए दिखलाये गये हैं, उसकी ऐसी विगर्हणा करना कहाँ तक उपयुक्त है? इसके बारे में श्री नन्ददुलारे वाजपेयी का मत है कि प्रसादजी ने बुद्धि का विरोध न करके बुद्धिवाद की अति का विरोध किया है।[2] अत इडा बुद्धिवाद की अति को जन्म देने वाली 'तर्कशीला बुद्धि' का प्रतीक है।

इसके अतिरिक्त गौण पात्रो एव घटनाओ मे से मनु-पुत्र कुमार नव मानव का प्रतीक है, क्योंकि वही मानवता का यथार्थ रूप मे प्रचार करता है। किलात और आकुलि अपनी तामसी प्रवृत्तियो की प्रबलता के कारण आसुरी प्रवृत्तियो के प्रतीक हैं। श्रद्धा का पशु एक निरीह और शोषित प्राणी के रूप में चित्रित किया गया है, जिसका कि असुर पुरोहितो द्वारा वध कराया जाता है। अत वह सहज जीव या आधुनिक अर्थो मे गाधीवादी अहिंसा का प्रतीक है। सारस्वत नगर प्राणमय कोश का प्रतीक है तथा सारस्वत नगर निवासी मनु के सहयोगी होते हुए भी तनिक से मनु के अतिचार पर क्रान्ति मचा देते हैं। अत वे मन की महागामिनी अन्य इन्द्रियो के प्रतीक हैं। सोमलता भोगो की प्रेरणा देती है और मनु की विलास-वासना को उत्तेजित करती है। अत. वह भोग का प्रतीक है। जलप्लावन को माया या वासनापूर्ण अन्नमय कोश का प्रतीक माना जा सकता है, क्योंकि उसमे पथ-भ्रष्ट एव इन्द्रिय-लिप्सा में लीन देवो के विलीन होने का वर्णन किया है। पशु-यज्ञ में पापाचार एव कपट व्यवहार की प्रधानता होने के कारण वह पाप का प्रतीक है। त्रिकोण या त्रिपुर भाव (इच्छा), ज्ञान और क्रियावृत्ति के प्रतीक हैं। सोमलता से आवृत वृषभ स्पष्ट ही भोगो से युक्त धर्म का प्रतीक है, जिसका उत्सर्ग करके मानव अखण्ड आनन्द को प्राप्त करता है। सरोवर समरसता का प्रतीक है, क्योंकि यहाँ पहुँचते ही मन की प्यास मिट जाती है और सभी को सुख मिलता है।[3] कैलाश शिखर आनन्दमय कोश का प्रतीक है, क्योंकि इसी स्थान पर पहुँच कर कामायनी के समस्त पात्रो को अखण्ड आनन्द की प्राप्ति होती है।

कामायनी में प्रतीको का निर्वाह—कामायनी के प्रतीको को स्पष्ट करने के उपरान्त अब यह जानना भी आवश्यक होजाता है कि इन समस्त प्रतीको का निर्वाह कामायनी की कथा में किस प्रकार हुआ है? इस प्रश्न के बारे में विचार करने प

१—जयशकरप्रसाद—जीवन-दर्शन, कला और कृतित्व, पृ० २०३—२०७।
२—जयशकरप्रसाद, पृ० ८६-८५। ३—कामायनी, पृ० २८२।

पता चलता है कि तैत्तिरीय उपनिषद् मे आध्यात्मिक साधना के लिए पच कोशो की की कल्पना की गई है। वे क्रमश. अन्नमय, प्राणमय, मनोमय, विज्ञानमय तथा आनन्दमय कहे गये हैं।[1] सर्वप्रथम जीव अन्नमय कोश मे उत्पन्न होता है और क्रमश उन्नति करता हुआ अपनी सतत साधना से आनन्दमय कोश तक पहुँच सकता है। कामायनी मे प्रसादजी ने भी अहभावयुक्त मन को नाना कोशो में विचरण करने के उपरान्त अन्त मे आनन्दमय कोश में पहुँचाने का प्रयत्न किया है।

सर्वप्रथम यह मन इधर-उधर भटकता हुआ प्रलय से व्यथित एव बेचैन दिखलाया गया है, जिसे न तो जीवन-यापन के साधना ही कुछ ज्ञात हैं और न यह इतनी सामर्थ्य ही रखता है कि स्वय अपना मार्ग निश्चित कर सके। यह अन्न से उत्पन्न और अन्नमय कोश में पडे हुए प्राणी की भाँति केवल अन्न को ही प्रमुख मानता हुआ केवल पाकयज्ञ आदि में लीन रहता है और चिंतन-मनन आदि अपने स्वाभाविक व्यापारो मे सलग्न होकर 'अह' भावना से ओत-प्रोत होजाता है। इसी क्षण इसका परिचय पहले हृदय से होता है। चेतन जीव की दो शक्तियाँ मानी गई हैं—हृदय और बुद्धि। हृदय रागात्मिक शक्ति है और मन में राग की प्रधानता रहती है। अत इससे चेतन जीव या मन का पहले सम्बन्ध होता है। इसका कारण यहाँ भी यही दिया गया है कि प्रकृति का सुरम्य वातावरण मन के अतर्गत अनादि वासना को जाग्रत कर देता है और वासना के जाग्रत होने पर फिर रागात्मिका शक्ति या हृदय से उसका सम्बन्ध होना स्वाभाविक है। यह हृदय तत्त्व उसे कर्मण्यता का पाठ पढाता हुआ ससारिक उन्नति के लिए प्रेरणा प्रदान करता है, किन्तु इतने ही में सोम-लता आदि भोगो के प्रभाव से उसे आसुरी प्रवृत्तियाँ आकर दबा लेती है और मन पापमय जीवन व्यतीत करने के लिए बाध्य होजाता है, जिसके परिणामस्वरूप वह अहिंसा, सत्य, ब्रह्मचर्य आदि का विरोध करता हुआ हिंसायुक्त वासना-प्रधान जीवन को महत्त्व देने लगता है। इन सब बातो के कारण अब उसका सम्बन्ध हृदय की राग-वृत्ति से नहीं रहता और वह हृदय-शक्ति के क्षेत्र से दूर भागकर जीव की दूसरी बुद्धि-शक्ति के क्षेत्र में पदार्पण करता है। परन्तु भोग एव वासना-प्रधान जीवन व्यतीत करने के कारण उसे बुद्धिवाद के अतिरेक से युक्त तर्कशीला बुद्धि ही अधिक प्रिय जान पडती है, इसी मे अनुरक्त होकर वह बुद्धि का सदुपयोग न करके उसे अपनी वासना-पूर्ति का साधन बना लेता है और अपनी अतृप्त वासना की पूर्ति करना चाहता है। इसके लिए मन उस तर्कशीला बुद्धि पर भी अपना अधिकार जमाने का प्रयत्न करता है, परन्तु वह बुद्धि इस बात को स्वीकार नहीं करती।

१ —तैत्तिरीयोपनिषद् २।८

शतपथब्राह्मण में भी मन और वाक् या बुद्धि के संघर्ष की कथा मिलती है। वहाँ दोनों अपने-अपने महत्व के लिए झगड़ते हुए बतलाये गये हैं और अंत में प्रजापति ने बुद्धि की अपेक्षा मन की श्रेष्ठता सिद्ध की है।[1] यहाँ पर भी संघर्ष उठ खड़ा होता है, जिसमे समस्त इन्द्रियो में हलचल मच जाती है और जिसका परिणाम यह होता है कि मन चेतना-शून्य हो जाता है। अब उसका विश्वास इस तर्क-शीला बुद्धि पर से भी उठ जाता है और पुन अपनी रागात्मिका शक्ति हृदय की शरण मे आता है। यहाँ आते ही अब मन को इस पार्थिव जगत के प्रपच से वैराग्य होने लगता है और वह मनोमय कोश मे पहुँच जाता है। यहाँ से अब हृदय की चेतना-शक्ति उसे ऊँचे उठाती है, जिससे मन को इच्छा, ज्ञान और क्रिया के त्रिकोण या त्रिपुर की वास्तविकताओ का ज्ञान होता है। ये तीनो पुर या तीनो लोक उस हृदय या चेतना शक्ति के ही पृथक्-पृथक् तीन रूप हैं, जिनकी वास्तविकता का ज्ञान होते ही तीनो का समन्वय होजाता है और मन विज्ञानमय कोश में पहुँच जाता है। यहाँ आते ही उसके स्वप्न, जागरण आदि सभी नष्ट हो जाते हैं और अब वह एक अनुत्तरावस्था मे पहुँच जाता है, जहाँ उसे नानात्व में एकत्व की प्रतीति होने लगती है। यही उन्नतावस्था कैलाशगिरि या आनन्दमय कोश है, जहाँ उसे सर्वत्र समरसता के दर्शन होते हैं, उसकी अन्य इन्द्रियाँ भी उसका अनुसरण करने लगती हैं और वे सब श्रद्धा या हृदय के शासन में आजाती हैं। कही भी भेद-भाव नही रहता, धार्मिक संकीर्णता भी जाती रहती है, क्योंकि धर्म-प्रतिनिधि वृषभ को यही उत्सर्ग किया जाता है और विश्व-बधुत्व की भावना से ओतप्रोत होकर यह मन सर्वत्र जड-चेतन में एक चेतनता को व्याप्त देखता है तथा अखड आनन्द में मग्न होजाता है।

६-कामायनी के रूपकत्व की समीक्षा—इस प्रकार प्रतीकों के निर्वाह की ओर दृष्टिपात करने पर ऐसा ज्ञात होता है कि कवि ने रूपक का निर्वाह बडे मनोवेग से किया है और सर्वत्र रूपक-गाथा के सतुलन की ओर ध्यान दिया है। परन्तु तनिक गहराई के साथ विचार करने पर यही ज्ञात होता है कि यहाँ रूपक-काव्य की सभी विशेषताएँ प्राप्त नहीं होतीं। प्रथम तो मनु, श्रद्धा आदि सभी पात्र ऐतिहासिक होने के कारण कल्पित नहीं हैं और दूसरे कामायनी का समस्त चित्रण भी किसी काल्पनिक जगत का नही है, वह तो ठोस यथार्थता के आधार पर स्थित है। रूपक काव्य के लिए तो सभी पात्र तथा सभी घटनाएँ कल्पित होनी चाहिए, ऐसा कामायनी में नही है। इसके अतिरिक्त कामायनी के कथानक मे यदि थोड़ी-बहुत प्रतीकात्मकता के दर्शन होते है, तो यह प्रतीकात्मकता तो आधुनिक महाकाव्य की एक विशेषता

१—शतपथब्राह्मण १।४।५।८–११

मानी गई है। इसके आधार पर उसे रूपक-काव्य कहना ठीक नही। साथ ही रूपक-काव्य के समस्त प्रतीको का पूरा-पूरा निर्वाह भी कहाँ हुआ है ? जैसे, पच कोशो की कल्पना के अन्तर्गत अन्नमय, प्राणमय तथा आनन्दमय कोश के प्रतीक तो क्रमशः जलप्लावन, सारस्वत नगर तथा कैलाश पर्वत मिल जाते हैं, परन्तु शेष मनोमय एव विज्ञानमय कोशो के प्रतीक नही मिलते। इसके साथ ही जलप्लावन को अन्नमय कोश तथा सारस्वत नगर को प्राणमय कोश का प्रतीक कहना भी उचित नही जान पडता, क्योकि दोनो स्थानो पर समान घटनाओ का ही वर्णन है, एक में देवो के विलास का वर्णन है तो दूसरे में मनु के विलास का। अत ये दोनो एक ही कोश के प्रतीक जान पडते हैं। इससे कोश सम्बन्धी कल्पना का भी यहाँ पूरा-पूरा समाहार नहीं होता।

इसके अतिरिक्त नव मानव के प्रतीक कुमार की इस रूपक-कथा से कोई सगति ठीक नही बैठती, क्योकि मनु जब मानव-मन के प्रतीक हैं, तो कुमार भी उनसे भिन्न नही ज्ञात होता और इस तरह दोनो में लगभग एक ही प्रतीकार्थ की पुनरावृत्ति हो जाती है।[1] इसके साथ ही कवि गेटे का कथन है कि 'रूपक-काव्य में सदैव समष्टि के लिए व्यष्टि का अन्वेषण करते हुए कथा प्रस्तुत की जाती है और वह सच्ची कविता नही होती।'[2] इस आधार पर भी कामायनी रूपक-काव्य नही ठहरती, क्योकि यहाँ पर प्रसादजी ने समस्त पात्रो में समष्टिगत विशेषताओ का ही उल्लेख किया है, कोई भी पात्र व्यष्टि का द्योतक नही है। सभी के अन्तर्गत जातीय जीवन एव मानव-समूह की भावनाओ का समावेश हुआ है। इस कारण यह काव्य एक सच्ची कविता के रूप को प्रस्तुत करता है, रूपक-काव्य को नही।

साराश यह है कि कामायनी की कथा का निर्माण पुष्ट ऐतिहासिक आधारो पर हुआ है, जिसमें कवि ने अपने कौशल से भावनाओ को ऐतिहासिक व्यक्तियो से सम्बद्ध करके चित्रित किया है। जिस प्रकार प्रसादजी ने अपने नाटको में प्राचीन कथानको के सहारे आधुनिक जीवन की समस्याओ को सुलझाने का प्रयत्न किया है, उसी प्रकार कामायनी में भी प्राचीन कथानक द्वारा आधुनिक मानव के भावो एव विचारो को अंकित किया है, उनकी समस्याओ को उठाया है और उनका समाधान करने का भी प्रयत्न किया है। अत यहाँ साकेतिकता के रहते हुए भी कामायनी को एक रूपक-काव्य नहीं कहा जा सकता, क्योकि इसकी कथा द्वयर्थक नही है। दूसरी

१—कामायनी-दर्शन, पृ० १४१।

2—There is a great difference between a poet who seeks the particular for the sake of the universal and one who seeks the universal in the particular The former method breeds Allegory but the latter in the true method of poetry

—Countries of the Mind Second Series, p, 54

कथा की सगति के लिए व्यर्थ बुद्धि-व्यायाम करना पडता है। इसकी प्रमुख कथा तो श्रद्धा और मनु द्वारा मानवता के विकास की कथा है, जिसमें थोडी बहुत साकेतिकता अवश्य है, परन्तु उससे किसी पुष्ट अप्रस्तुत कथा का निर्माण नही होता। इसी कारण इसे रूपक-काव्य की अपेक्षा महाकाव्य ही कहना अधिक न्यायसगत है और साकेतिकता को इसकी एक विशिष्टता माना जा सकता है।

छायावाद तथा रहस्यवाद का स्वरूप और कामायनी मे उनका उन्मेष

छायावाद—हिन्दी साहित्य का आधुनिक युग अत्यन्त वैचित्र्य पूर्ण है यहा साहित्य की जितनी विधाओ का जन्म इस युग में हुआ है, उतनी विधाये अन्य किसी भी युग में दिखाई नही देती। इसके साथ ही इस युग में काव्य की विभिन्न धाराये भी प्रवाहित हुई हैं, जो अद्यावधि किसी न किसी रूप मे विद्यमान हैं। यहाँ पर द्विवेदी युग मे प्रवाहित इतिवृत्तात्मक एव उपदेशात्मक स्थूल-भाव-निरूपिणी कविता के विरुद्ध एक ऐसी स्वानुभूति-निरूपिणी तथा सूक्ष्म भावानुगामिनी कविता-धारा प्रवाहित हुई जिसमें विद्रोह का तीव्र स्वर भरा हुआ था और जो अपनी रहस्यमयी भावनाओ लाक्षणिक एव प्रतीकात्मक पदावलियो, चित्रमयी भाषा एव मधुमयी कल्पना आदि के कारण एक नवीन धारा के रूप में दिखाई देती थी। यद्यपि इसमें नैतिकता की भी कही-कही अवहेलना की गई थी, फिर भी इसमे शृगार के अतीन्द्रिय एव मानसिक पक्ष की प्रबलता थी और साम्प्रदायिक रूढियो से ग्रस्त धार्मिकता का तिरस्कार करके विश्व-बधुत्व, मानवता, 'वसुधैव कुटुम्बकम्' आदि की भावनाओ को ही अधिक महत्व दिया गया था। ऐसी कविता को पहले अस्पष्ट,[1] गुप्त, गूढ छायामयी,[2] शुष्क विचारो का विजृम्भण,[3] नीरस, अमानवीय सतरें[4] आदि कहकर पुकारा गया। परन्तु धीरे-धीरे पाठको का दृष्टिकोण बदला और जनता में ऐसी कविताओं को सुनने और पढने की रुचि जाग्रत हुई। इस प्रकार स्वतन्त्र एव सूक्ष्म भावो से सम्पृक्त, प्रकृति की मनोरम झाँकी से ओतप्रोत, मानवीय प्रेम एव विश्वव्यापी सौन्दर्य मे परिपूर्ण कोमल-पदावली मे जिस नवीन कविता-धारा का विकास हुआ वही छायावाद एव रहस्यवाद की कविता कहलाई। पहले आलोचको की दृष्टि में छायावाद एव रहस्यवाद दोनो एक ही थे। शुक्लजी जैसे काव्य-मर्मज्ञ भी रहस्यवाद को काव्यवस्तु और छायावाद को शैली-विशेष कहकर दोनो की एकरूपता का निरूपण करते रहे।[5] परन्तु परवर्ती आलोचको का दृष्टिकोण बदला और आ

१—सचयन, पृ० १०२। २—वही, पृ० ८७।
३—वही, पृ० १००। ४—वही, पृ० १०७।
५—हिन्दी साहित्य का इतिहास, पृ० ६६९।

छायावाद तथा रहस्यवाद दोनो को पृथक्-पृथक् कविता-धारा के रूप में स्वीकार किया जाता है।

कविता की इस नई धारा का जन्म द्विवेदी-युग में हुआ था। उस युग मे इसका कोई स्पष्ट रूप आलोचको के सम्मुख न था, क्योकि स्वय आचार्य द्विवेदी ने इस प्रकार की कविता के बारे मे लिखा था, 'इसे कोई रहस्यमय कहता है, कोई गूढार्थबोधक कहता है और कोई छायावाद की अनुगामिनी कहता है। छायावाद से लोगो का क्या मतलब है, कुछ समझ में नही आता। शायद उनका मतलब किसी कविता के भावो की छाया यदि कही अन्यत्र जाकर पडे तो उसे छायावाद-कविता कहना चाहिए।'[1] द्विवेदीजी के उपरान्त भी कुछ दिनो तक इस कविता का रूप स्पष्ट नही हुआ। इसी कारण आचार्य शुक्ल ने इसे एकमात्र 'प्रस्तुत के स्थान पर उसकी व्यजना करने वाली छाया के रूप मे अप्रस्तुत का कथन' बतलाया तथा इसे योरोप के रूपकात्मक आभास या छाया (Phantasmata) के अनुकरण पर लिखी हुई बगला कविताओ का नवीन हिन्दी-सस्करण सिद्ध किया।[2] परन्तु उक्त दोनो प्रसिद्ध आलोचको का विरोध करते हुए प्रसादजी ने इस छायावाद को भारतीय परम्परा मे विकसित काव्य की एक नूतन प्रणाली सिद्ध किया और उसकी रूपरेखा को इस तरह समझाया कि 'मोती के भीतर छाया की जैसी तरलता होती है वैसी ही कान्ति की तरलता अग मे लावण्य कही जाती है। इस लावण्य को सस्कृत-साहित्य में छाया और विच्छित्ति के द्वारा कुछ लोगो ने निरूपित किया था। अत सौंदर्य के इसी सूक्ष्म रूप को अपनाते हुए पौराणिक कथाओ एव नारी के बाह्य सौन्दर्य के वर्णन मे भिन्न 'जिन कविताओ में वेदना के आधार पर स्वानुभूतिमयी अभिव्यक्ति हुई वही छायावाद है।'[3] इसे पूर्ववर्ती आलोचको ने अस्पष्ट, छायामात्र, अवास्तविक तथा रहस्यवादी बतलाया था इस पर प्रसादजी ने कहा कि "हो सकता है, जहाँ कवि ने अनुभूति का पूर्ण तादात्म्य नही कर पाया हो, वहाँ अभिव्यक्ति विशृंखल होगई हो, शब्दो का चुनाव ठीक न हुआ हो, हृदय से उसका स्पर्श न होकर मस्तिष्क से ही मेल होगया हो, परन्तु सिद्धान्त में ऐसा रूप छायावाद का ठीक नही कि जो कुछ अस्पष्ट, छायामात्र हो, वास्तविकता का स्पर्श न हो, वही छायावाद है। हाँ, मूल मे वह रहस्यवाद भी नही है। यद्यपि प्रकृति का आलम्बन, स्वानुभूति का प्रकृति मे तादात्म्य नवीन काव्य-धारा मे होने लगा है, किन्तु प्रकृति से सम्बन्ध रखने

१—संचयन, पृ० ८८।

२—हिन्दी साहित्य का इतिहास, पृ० ६६८।

३—काव्य और कला तथा अन्य निबन्ध, पृ० १२३–१२४।

वाली कविता को ही छायावाद नही कहा जा सकता। छायावाद से तात्पर्य कविता की एक ऐसी नई प्रणाली से है जो भारतीय दृष्टि से अनुभूति और अभिव्यक्ति की भगिमा पर अधिक निर्भर करती है, जिसमें ध्वन्यात्मकता, लाक्षणिकता, सौन्दर्यमय प्रतीक-विधान तथा उपचार-वक्रता के साथ-साथ स्वानुभूति की विवृत्ति रहती है और जिसमें अपने भीतर से मोती के पानी की तरह अन्तर स्पर्श करके भाव समर्पण करने वाली अभिव्यक्ति को महत्व दिया जाता है।"[1]

प्रसादजी की उक्त विवेचना से छायावाद की रूप-रेखा बहुत कुछ स्पष्ट हुई। परन्तु फिर भी उनके परवर्ती आलोचको मे तीन वर्ग बन गये। कुछ ने छायावाद को आध्यात्मिक रूप प्रदान किया, कुछ ने इसे आध्यात्मिक क्षेत्र से सर्वथा परे विशुद्ध लौकिक-जीवन के आधार पर स्थित सिद्ध किया और कुछ आलोचको ने इसे आध्यात्मिक एव लौकिक दोनो के समन्वित रूप मे देखा। इनमे से प्रथम आध्यात्मिक रूप देने वालो मे महादेवी वर्मा, रामकुमार वर्मा, हरिऔध, नन्ददुलारे वाजपेयी, गगाप्रसाद पाँडेय, इलाचन्द्र जोशी आदि आते हैं। दूसरे विशुद्ध मानवीय आधार पर स्थित मानने वालो मे डा० नगेन्द्र, डा० रामविलास शर्मा, डा० देवराज, शिवदानसिंह चौहान आदि प्रसिद्ध हैं। इनके अतिरिक्त लौकिकता एव आध्यात्मिकता दोनो का समन्वय स्वीकार करने वालो मे सुमित्रानन्दन पत, शान्तिप्रिय द्विवेदी, विनयमोहन शर्मा, डा० गुलाबराय, डा० प्रेमनारायण, डा० भोलानाथ प्रभृति आते हैं।

उक्त तीनो वर्गों में से प्रथम आध्यात्मिक रूप देने वालो का कथन है कि छायावाद मे प्रकृति के अन्दर बिखरी हुई सौंदर्य-सत्ता की रहस्यमयी अनुभूति को स्वानुभूत सुख-दुखो मे मिलाकर[2] एक ऐसा काव्य रूप दिया गया है, जिसमें ब्रह्म के विराट् रूप के दर्शन होते है और सूक्ष्म सौंदर्यानुभूति के साथ-साथ सर्ववाद, जड-चेतन की अभिन्नता, व्यष्टिगत चेतना मे व्यापक चेतना की एकता, भावात्मक दर्शन आदि का निरूपण किया जाता है।[3] इसके साथ ही इस कविता में जीवात्मा-परमात्मा के दिव्य, अलौकिक एव निश्छल सम्बन्ध का वर्णन किया जाता है[4] और उस व्यक्त जगत से परे अव्यक्त सत्ता की झिलमिलाती हुई छाया का दर्शन करते हुए उसको अभिव्यक्ति प्रदान की जाती है।"[5] अत इन सभी आलोचकों की दृष्टि में

१—काव्य और कला तथा अन्य निबन्ध, पृ० १२७–१२८।

२—महादेवी का विवेचनात्मक गद्य, पृ० ६१।

३—वही, पृ० ८६। ४—साहित्य समालोचना, पृ० ५।

५—हिन्दी भाषा और उसके साहित्य का विकास, पृ० ५८३–५८४ तथा चिन्तयनी की भूमिका, पृ० ८।

मानव अथवा प्रकृति के सूक्ष्म किन्तु व्यक्त सौंदर्य मे किसी अज्ञात, सप्राण एव आध्यात्मिक छाया का भान होना ही छायावाद है ।[1]

दूसरा वर्ग उक्त विचारो से सहमत नही है। इस वर्ग के आलोचक छायावाद मे किसी आध्यात्मिक पूर्णता या अव्यक्त सत्ता का निरूपण नही मानते। इनके मत से यहाँ केवल प्रेम और सौन्दर्य की लौकिक वासना का ही निरूपण किया जाता है और वास्तव पर अन्तर्मुखी दृष्टि डालते हुए उसको वायवी अथवा अतीन्द्रिय रूप [illegible]ान करने की चेष्टा की जाती है। यह कविता मूलत शृगारिक है, जिसका जन्म व्यक्तिगत कुण्ठाओ से हुआ है और मन की वे ही कुण्ठित वासनाये प्राकृतिक प्रतीको द्वारा यहाँ प्रकट की जाती हैं।[2] परन्तु इस वर्ग के कुछ आलोचको का मत है कि छायावाद मे केवल अतृप्त एव कुण्ठित वासनाओ के ही चित्रण नही हैं, अपितु उसमे साम्राज्यवाद के विरुद्ध भारतीय जनता के सघर्ष, देश की स्वाधीनता एवम् जनतन्त्र प्राप्त करने की आकाक्षा आदि का सशक्त स्वर भी सुनाई देता है।[3] साथ ही सामन्ती युग की समाज-शृखलाओ और रूढियो की दासता के विरुद्ध सघर्ष करके, जिसके कारण मनुष्य के व्यक्तिगत विकास के समस्त द्वार बद हो चुके थे, इसमें व्यक्ति की श्रेष्ठता का भी प्रतिपादन किया गया है।[4] अतः इन समालोचको के मतानुसार छायावादी कविता मे लौकिक प्रेरणा की ही प्रधानता है और मानव के स्थूल शृगार का वर्णन अधिक किया गया है।[5]

तीसरे वर्ग के आलोचको ने उक्त दोनो वर्गों का समन्वय करते हुए छायावाद मे एक ओर तो ऐहिक जीवन की आकाक्षा सम्बन्धी स्वप्नो, निराशाओ, संवेदनाओ, कठिनाइयो आदि के वर्णन की प्रधानता स्वीकार की है और दूसरी ओर निगूढ रहस्यात्मक सकेतो एवम् किसी अलौकिक सत्ता के वर्णन सम्बन्धी आध्यात्मिक भावनाओं की अभिव्यक्ति का होना भी स्वीकार किया है।[6] इन आलोचकों का मत

१—हिन्दी साहित्य—बीसवीं शताब्दी, पृ० १६३ तथा छायावाद-रहस्यवाद, पृ० २०।

२—आधुनिक हिन्दी कविता की मुख्य प्रवृत्तियां, पृ० १०-१२ तथा छायावाद का पतन, पृ० ६।

३—लोक जीवन और साहित्य, पृ० ८६।   ४—प्रगतिवाद, पृ० ३३।

५—आलोचना, वर्ष २, अक २, पूर्णांक ६, जनवरी १९५३, पृ० ७८।

६—आधुनिक कवि, भाग २, पृ० १२, कवि और काव्य, पृ० १४८–१४९ तथा हिन्दी-काव्य विमर्श, पृ० २२९।

है कि आध्यात्मिकता की प्रेरणा या रहस्यवाद का स्पर्श छायावाद में अवश्य होता है, परन्तु उस अध्यात्म की व्यजना में मानव की अभिव्यक्ति ही प्रधान होती है।[1]

उक्त तीनो वर्गो के समालोचको का अनुशीलन करने के उपरान्त यही निष्कर्ष निकलता है कि छायावाद में आध्यात्मिक सकेत अवश्य रहते हैं, परन्तु उसे आध्यात्मिक कविता कहना उचित नही, उसमें मानव-जीवन का ही यथार्थ चित्रण होता है, उसकी आशा-निराशा, सवेदना, जीवन-सघर्प, शृगार-भावना आदि के सजीव चित्र अकित किए जाते हैं, किन्तु उसमे कोरी इतिवृत्तात्मकता नही होती, वह इससे कुछ ऊँचा उठकर वायवीपन की ओर जाता दिखाई देता है और उसमें प्रकृति की रमणीय छटा का दर्शन करते हुए मानव के सूक्ष्म एवम् अतीन्द्रिय सौन्दर्य की झाँकी प्रस्तुत की जाती है। समस्त गण्यमान आलोचको के मतानुसार छायावाद मे अनुभूति एव अभिव्यक्ति सम्बन्धी निम्नलिखित विशेपताएँ ज्ञात होती हैं :—

(१) सौदर्य-दर्शन।
(२) शृ गारिकता।
(३) स्वानुभूत सुख-दु ख की विवृति।
(४) प्रकृति पर चेतनता का आरोप।
(५) आध्यात्मिकता।
(६) नारी की महत्ता।
(७) मानवता की विवृति।
(८) अभिव्यजना की अनूठी पद्धति—लाक्षणिकना, प्रतीकात्मकता, उपचार-वक्रता, ध्वन्यात्मकता, चित्र-भापा, नये-नये अलकारो के प्रयोग इत्यादि।

कामायनी मे छायावाद का स्वरूप

सौन्दर्य-दर्शन—कामायनी का निर्माण छायावाद की प्रौढ वेला में हुआ है। अत इसमें छायावाद की समस्त प्रवृत्तियो का होना स्वाभाविक है। जहाँ तक सौन्दर्य-दर्शन का प्रश्न है, प्रत्येक छायावादी कवि विश्व के प्रत्येक अवयव में अनन्त सौन्दर्य के दर्शन करता है। जो पदार्थ अन्य लोगो की दृष्टि में भीपण एव कुरूप हैं, वे छायावादी कवियो की दृष्टि में कमनीय एव मनोहर हैं। उनकी दृष्टि इतनी सौम्य, उदार एव सौन्दर्योपासक है कि उन्हे प्रकृति के समस्त जड-चेतन पदार्थो एव स्थूल जगत के अग-अग में एक अनन्त व्यापक सौन्दर्य का साक्षात्कार होता है। अन्य

२—जयशंकर प्रसाद—आंसू तथा अन्य कृतियां, पृ० २१, हिन्दी साहित्य में विविधवाद, पृ०४६१ और हिन्दी साहित्य, पृ० ३२५–३२८।

छायावादी कवियो की भाँति प्रसादजी भी कामायनी मे ऐसे ही व्यापक सौन्दर्य के उपासक है। इसी कारण उन्हे सर्वत्र 'सौन्दर्यमयी चचल कृतियाँ' रहस्य बनकर नाचती हुई प्रतीत होती हैं।[१] सभी स्थानो पर 'अपनी मधुरिमा मे मौन रूप से एक सोया हुआ महान सदेश' सुनाई पडता है।[२] और तारागण, चन्द्र-ज्योत्स्ना, रजनी, उषा आदि सभी उन्हे मधुमय सदेश देते हैं।[३] अपनी इसी सौन्दर्योपासना के कारण उन्हे प्रलय की भीषण वेला मे भी 'तरल तिमिर' एव 'प्रलय पवन' आलिगन करते प्रतीत होते हैं[४] और शिव का विनाशकारी भीषणतर ताडव नृत्य भी कमनीय दिखाई देता है।[५] इसके साथ ही उन्हे प्रकृति मे वल्लरियो के मादक नृत्य,[६] मधुपो की वीणा-ध्वनि के तुल्य मदमाती गूँज, मलयानिल का सुख-स्पर्श, पवन का मधुर मृदग-वादन, रश्मियो के अप्सरा तुल्य मनोहर नृत्य आदि के दर्शन होते हैं।[७]

शृंगारिकता—द्विवेदी युग मे शृगार के प्रति जो कटु एव तीव्र घृणा दिखाई देती है, छायावादी युग मे आकर उसकी घोर प्रतिक्रिया हुई और अधिकाश कवि शृगारमयी रचनाएँ करने मे ही प्रवृत्त हुए। परन्तु इस युग के शृगार-वर्णन में रीतिकाल की सी स्थूलता, बाह्य व्यापारो की प्रधानता, नख-शिख वर्णन की रुचि, कामुकता आदि न होकर उनके स्थान पर सूक्ष्मता, हार्दिक मनोभावो के उद्घाटन की प्रबलता, अशरीरी सौन्दर्य के प्रति प्रेम, विशुद्ध प्रेम की तीव्रता आदि के दर्शन होते है। प्रसादजी की कामायनी में भी द्विवेदी-युग की इसी स्थूल शृगार के प्रति उत्पन्न घृणा की प्रतिक्रिया दिखाई देती है। इसी कारण वे श्रद्धा के द्वारा काम को अपनाने का सन्देश देते हैं, उस काम को मगल मे मडित बतलाते हैं और काम को ही स्रष्टा की इच्छा का स्वरूप बतलाते हुए उससे ही सृष्टि का विकास सिद्ध करते है।[८] इसके साथ ही स्थूल नख-शिख का वर्णन न करके वे श्रद्धा के सौन्दर्य का वर्णन करते हुए उसे 'नित्य यौवन की छवि से दीप्त', 'विश्व की करुण कामना मूर्ति',[९] 'ज्योत्स्ना निर्झर',[१०] 'हृदय की सौन्दर्य प्रतिमा',[११] 'वासना की मधुर छाया',[१२] 'पूर्ण काम की प्रतिमा'[१३] आदि कहते है। इन वर्णनो में कहीं भी

१—कामायनी, पृ० ६६।
२—कामायनी, पृ० ५१।
३—वही, पृ० ३८।
४—वही, पृ० १५।
५—वही, पृ० २५४।
६—वही, पृ० २६२।
७—वही, पृ० २६३-२६४।
८—वही, पृ० ५३।
९—वही पृ० ४७।
१०—वही, पृ० ८६।
११—वही, पृ० ८७।
१२—वही, पृ० ८७।
१३—वही, पृ० २६०।

स्थूल एव पार्थिव शृगार के साथ-साथ कामुकता या विलासिता के दर्शन नही होते। इसके अतिरिक्त 'वासना' सर्ग में उन्होने शृगार के जिस सयोग पक्ष का वर्णन किया है और उसमे जिस तल्लीनता, मादकता, भाव-प्रवणता, दीप्ति आदि को अकित किया है,[१] उसमें भी सूफी कवियो एव रीतिकालीन कवियो से कही अधिक पवित्रता, शुद्धता, सुकुमारता, सूक्ष्मता आदि के दर्शन होते है। इस तरह प्रसादजी ने जिस शृगारिकता को कामायनी मे अपनाया है, वह विशुद्ध प्रेम की प्रतीक है। क्योकि उन्होने देव-सृष्टि का विनाश एव मनु का पतन दिखाकर यह स्पष्ट घोषित किया है कि शृगार को वासना या कामुकता से सयुक्त करके यदि अपनाया जायेगा, तो उनकी देवो या मनु जैसी ही दशा होगी। अत कामायनी में स्थूल एव कामुकता सम्पृक्त शृगारिकता के स्थान पर सूक्ष्म, अतीन्द्रिय, विशुद्ध, सात्विक एव पवित्र शृगारिकता के दर्शन होते है।

स्वानुभूत सुख-दुख की विवृति—छायावादी कविता मे सबसे अधिक स्वानुभूति निरूपण की ओर ही आग्रह रहता है। प्रत्येक कवि अपने अनुभूत सुख-दुखो को अवसर पाकर स्थान-स्थान पर चित्रित करने का प्रयत्न करता है और उनके सहारे समष्टिगत भावनाओ का भी निरूपण करता है। इसका कारण यह है कि छायावादी कवि अन्तर्मुखी प्रवृत्ति वाले होते है और उनकी यह प्रवृत्ति दो रूपो में व्यक्त होती है, या तो वे 'विषय पर विषयी की मनसा का आरोप करके अथवा वस्तु को व्यक्तिगत भावनाओ में रंगकर देखते हैं, या समष्टि से निरपेक्ष होकर व्यष्टि में लीन रहना अधिक अच्छा समझते है।[२] कामायनी मे प्रसादजी उक्त दोनो रूपो में से केवल प्रथम रूप को ही अपनाकर चले हैं। इसका कारण यह है कि कामायनी एक प्रबन्ध काव्य है और दूसरे रूप की अभिव्यक्ति अधिकाश फुटकल मुक्तक कविताओ में होती है। अत यहाँ पर सभी स्वानुभूत विचार मनु, श्रद्धा, काम आदि की उक्तियो के रूप में ही व्यक्त हुए हैं। उदाहरण के लिए प्रसादजी की दुख-सुख सम्बन्धी स्वानुभूति के दर्शन 'चिन्ता' तथा 'आशा' सर्ग मे मनु के द्वारा वर्णित जीवन की विषमता एव कटुता के चित्रण मे,[३] 'श्रद्धा' सर्ग में मनु की व्यथापूर्ण निराशा की स्थिति तथा श्रद्धा के आशा-पूर्ण सन्देश के वर्णन में[४], 'इडा' सर्ग में मनु के निज दुख

१—कामायनी, पृ० ८६-६४।

२—आधुनिक हिन्दी कविता की मुख्य प्रवृत्तियां, पृ० १०।

३—कामायनी, पृ० ५-६, १८-१६, ३६-३७।

४—कामायनी, पृ० ४८-४६।

पूर्ण जीवन के कथन तथा काम की शाप-ध्वनि के रूप मे,[१] 'निर्वेद' सर्ग में श्रद्धा-मनु के वार्तालाप के रूप में,[२] एव 'आनन्द' सर्ग मे मनु द्वारा वर्णित आनन्द की स्थिति के रूप मे होते हैं।[३] इन सभी स्थलो पर प्रसादजी ने अपनी गहन अनुभूति का चित्रण करते हुए व्यष्टिगत भावनाओ को समष्टिगत भावनाओ के रूप मे अकित किया है।

प्रकृति पर चेतनता का आरोप—छायावादी कवि प्रकृति मे एक सजीव सत्ता के दर्शन करते हैं और उन्हे मानव-व्यापारो की ही भाँति प्रकृति भी जडता से सर्वथा परे चेतन-व्यापारो से सम्पृक्त दिखाई देती है। इसी कारण वे मानव-जगत की भाँति प्रकृति मे भी हास-विलास, रुदन-शोक, आनन्द-उल्लास आदि के सजीव चित्र अकित किया करते हैं। प्रसादजी ने भी कामायनी में प्रकृति के ऐसे ही सजीव एव चेतना-सम्पृक्त चित्र अकित किए है और सर्वत्र उस पर चेतनता का आरोप करते हुए कभी उसे रजनी के रूप मे विकल, खिलखिलाती हुई, घूँघट उठा मुसक्याती हुई, बेसुध होकर चचलता के साथ अचल छोडकर भागती हुई तथा तारो की मणिराजी को बिखेरते हुए बैठा देखा है,[४] तो कभी तारो से अलक गूँथकर एव कदम्ब की रसना पहनकर वल्कल-वसना सध्या नारी के रूप में सरोवर के समीप आते हुए देखा है।[५] इसी तरह कभी उसे उषाकाल मे नेत्र-निमीलन करते हुए वनस्पतियो के रूप मे प्रबुद्ध होते हुए देखा है, तो कभी सिन्धु की शैया पर धरा-वधू के रूप मे मान करते हुए एव ऐठते हुए देखा है।[६] इसके अतिरिक्त कभी उसे सध्यारानी के रूप में अरुण जलज-केसर लेकर मन बहलाते हुए देखा है, तो कभी मदाकिनी के रूप में अपने प्रिय सिन्धु से मिलने के लिए तीव्रगति से जाते हुए देखा है।[७] इस तरह प्रसादजी ने कामायनी में प्रकृति पर चेतनता का आरोप करते हुए उसे विभिन्न मानवीय व्यापारो से सयुक्त करके चित्रित किया है।

आध्यात्मिकता—छायावादी कवि सर्ववाद अथवा पूर्ण अद्वैतवाद का पुजारी है। इसी कारण वह सर्वत्र एक ऐसी अज्ञात शक्ति के दर्शन करता है, जो उससे अभिन्न होकर सारे विश्व मे व्याप्त है और जो निरतर उसके कार्य-कलापो में भाग लेती रहती है। वह कभी उससे प्रश्न करता, कभी उसे जिज्ञासा भरे नेत्रो से निहारता, कभी उसके वियोग का अनुभव करके आँसू बहाना अथवा कभी उसके

१—कामायनी, पृ० १५७–१६६। २—वही, पृ० २१६–२३०।
३—वही, पृ० २८७–२९४। ४—वही, पृ० ३६–४०।
५—वही, पृ० २८५। ६—वही, पृ० २३–२४।
७—वही, पृ० १७५–१७६।

सौन्दर्य का सृजन करने वाली चराचर में व्याप्त परमात्म-शक्ति, जो साम्प्रदायिकता की रूढियों से सर्वथा परे थी। अत सरकार और समाज से तिरस्कृत होने के कारण उनकी वैयक्तिकता उभार मे आई, जिससे स्वातन्त्र्य भावना जाग्रत हुई और उनके भावोद्‌गार गीत-लहरी मे बह उठे। उन गीतो मे जहाँ उन्होने उस अव्यक्त, अगोचर एव असीम सत्ता के प्रति अपने भाव प्रकट किये है, वे ही गीत रहस्यवाद के नाम से अभिहित किये जाते है।[१]

रहस्यवाद के बारे में भिन्न-भिन्न विद्वानो ने विभिन्न प्रकार से अपने-अपने विचार व्यक्त किये है। जैसे आचार्य शुक्ल का कथन है कि 'जहाँ कवि उस अनन्त और अज्ञात प्रियतम को आलम्बन बनाकर अत्यन्त चित्रमयी भाषा में प्रेम की अनेक प्रकार से व्यजना करता है' उसे रहस्यवाद कहते हैं।[२] डा० श्यामसुन्दरदास का कथन है कि 'चिन्तन के क्षेत्र का ब्रह्मवाद कविता के क्षेत्र में जाकर कल्पना और भावुकता का आधार पाकर रहस्यवाद का रूप पकडता है।'[३] डा० रामकुमार वर्मा का मत है कि 'रहस्यवाद जीवात्मा की उस अन्तर्हित प्रवृत्ति का प्रकाशन है जिसमे वह दिव्य और अलौकिक शक्ति से अपना शान्त और निश्छल सम्बन्ध जोडना चाहती है और यह सम्बन्ध यहाँ तक बढ जाता है कि दोनो मे कुछ भी अन्तर नही रह जाता।'[४] इसी तरह प्रसादजी ने यदि 'अपरोक्ष अनुभूति, समरसता तथा प्राकृतिक सौन्दर्य के द्वारा अहं का इदम् से समन्वय कर देने' को रहस्यवाद कहा है,[५] तो महादेवीजी ने 'अपनी सीमा को असीम तत्त्व मे खो देने' को रहस्यवाद बतलाया है।[६] साराश यह है कि सभी विद्वान् इस दृश्य जगत मे व्याप्त उस अज्ञात एव अगोचर सत्ता से अपना रागात्मक सम्बन्ध स्थापित करने को रहस्यवाद कहते हैं। इसी कारण एक रहस्यवादी कवि कभी उस अव्यक्त सत्ता को जानने की जिज्ञासा प्रकट करता है, कभी उनसे सम्बन्ध स्थापित करके उसके साथ आनन्दपूर्वक आँख-मिचौनी खेलता है और कभी उससे वियुक्त होकर बेचैन एव व्यथित होता हुआ इधर-उधर मारा-मारा फिरता है। इस तरह रहस्यवाद के अन्तर्गत एक कवि उस अज्ञात एव विराट् सत्ता के प्रति अपने ऐसे भावोद्‌गार व्यक्त करता है, जिनमें सुख-

१—हिन्दी काव्य-विमर्श, पृ० २२७।
२—हिन्दी साहित्य का इतिहास, पृ० ६६८।
३—कबीर ग्रन्थावली, भूमिका, पृ० ५६।
४—कबीर का रहस्यवाद, पृ० ७।
५—काव्य और कला तथा अन्य निबन्ध, पृ० ६६।
६—महादेवी का विवेचनात्मक गद्य, पृ० १३२।

दु:ख, आनन्द-विषाद, हास-परिहास, संयोग-वियोग आदि घुले-मिले रहते हैं और वह अपनी ससीमता को अव्यक्त शक्ति की असीमता मे लीन करके एक व्यापक आनन्द का अनुभव किया करता है।

इस रहस्यवाद की भावना का मूल उद्गम ऋग्वेद मे मिलता है, क्योंकि वहाँ पर परमात्मा के साथ अपना सम्बन्ध स्थापित करते हुए उसे माता, पिता, भ्राता आदि रूपो मे स्मरण किया गया है।[१] साथ ही उपनिषद् तो रहस्यात्मक उक्तियों के भडार हैं, जिनमें स्थान-स्थान पर आत्मा का साक्षात्कार करने के लिए रहस्यात्मक संकेत भरे पडे हैं।[२] इसी कारण 'रहस्यानुभूति का जैसा क्रमबद्ध इतिहास हमारा प्राचीनतम काव्य देता है, वैसा अन्यत्र मिलना कठिन है।[३] परन्तु आचार्य रामचन्द्र शुक्ल का मत है कि आधुनिक कविता मे जिस रहस्यवाद के दर्शन होते हैं वह पूर्णतया विदेशी है, उस पर यहूदियो और पुराने ईसाईयो की धर्म-भावना का प्रभाव है, उसकी उत्पत्ति पैगम्बरी (सेमेटिक) मतो के भीतर हुई है और वह भारत की अपनी वस्तु न होकर पूर्णतया विलायत की नकल पर विकसित हुआ है।[४] इसका उचित उत्तर प्रसादजी ने अपने 'रहस्यवाद' नामक विस्तृत लेख मे दिया है। उन्होंने लिखा है कि 'भारतीय रहस्यवाद ठीक मेसोपोटोमिया से आया है, यह कहना वैसा ही है जैसा वेदो को सुमेरियन डॉक्रुमेण्ट सिद्ध करने का प्रयास करना।'[५] इतना ही नही रहस्यवाद के क्रमिक इतिहास का उल्लेख करते हुए उन्होने यह सिद्ध किया है कि इस रहस्यवाद के मूल मे आनन्दवाद की धारा अविरल गति से प्रवाहित हो रही है और वह ऋग्वेद से लेकर आरण्यको, ब्राह्मण-ग्रथो, उपनिषदो, आगमो आदि में होती हुई बौद्धो के महायान सम्प्रदाय मे भी दिखाई देती है। तदनन्तर वही धारा सूफियो, पौराणिक धर्म-भावना मे विकसित हिन्दी के सगुण-धारा के कवियो और कबीर आदि निर्गुणमार्गी कवियो मे लक्षित होती है, उसी का विकास आगे चलकर रसखान, देव, घनानन्द आदि मे हुआ है और यही रहस्यवाद की आनन्दमयी धारा आधुनिक कविता में भी विकसित हुई है। इस तरह प्रसादजी ने अन्त मे यह सिद्ध किया है कि 'वर्त्तमान रहस्यवाद की धारा भारत की निजी सम्पत्ति है, इसमें सन्देह नहीं।'[६]

१—कबीर ग्रन्थावली, भूमिका, पृ० ५५।
2—A Constructive Survey of Upnisadic Philosophy, p 326
३—महादेवी का विवेचनात्मक गद्य, पृ० ११४।
४—चिन्तामणि, भाग २, पृ० १५१, १५५, १६२।
५—काव्य और कला तथा अन्य निबन्ध, पृ० ४८।
६—वही, पृ० ६६।

विद्वानो ने रहस्यवाद की विभिन्न स्थितियो का उल्लेख किया है। कुमारी अडरहिल ने ईसाई सतों के रहस्यवाद की छै अवस्थाओ का वर्णन किया है। पहली जाग्रति (Awakening of the soul) अवस्था है, जिसमे आत्मा परमात्मा के वारे में सुनकर सचेत हो जाती है। दूसरी आत्मशुद्धि (Purgation) की अवस्था है, जिसमें आत्मा अपनी असीमता और अपूर्णता को पहचानती है और योग आदि के द्वारा स्वय पर नियन्त्रण करती है। तीसरी अवस्था आत्म-प्रकाश (Illumination) कहलाती है, जिसमें आत्मा एक विचारावस्था में होती है और उसमे हर्षातिरेक की भावना भी देखी जाती है। चौथी अधकारमयी स्थिति (Dark night of the soul) कहलाती है, जिसमे आत्मा विघ्नों का सामना करती है और परमात्मा के वियोग में दुःख, वेदना आदि का अनुभव करती है। पाँचवी, अन्तर्मुखी प्रवृत्ति (Introspection) की स्थिति है, जिसमें वह अन्तर्मुखी होकर परमात्मा से मिलने के लिए तैयार हो जाती है और छठी दैवी दृश्य (Vision) या मिलन की स्थिति है, जिसमें आत्मा और परमात्मा का पूर्णतया मिलन हो जाता है।[1] डा० रामकुमार वर्मा ने रहस्यवाद की केवल तीन स्थितियो का उल्लेख किया है। उनके मत से प्रथम मे आत्मा का परमात्मा से सम्बन्ध जोडने के लिए अग्रसर होना, दूसरी स्थिति में आत्मा का परमात्मा से प्रेम करने लगना और तीसरी स्थिति में आत्मा-परमात्मा का पूर्ण मिलन या एकीकरण होना आता है।[2] डा० प्रेमनारायण शुक्ल ने रहस्यवाद की पाँच स्थितियो की ओर सकेत किया है—(१) प्रभु के प्रति जिज्ञासा, कुतूहल अथवा विस्मय की भावना, (२) प्रभु का महत्व और उसकी अनिर्वचनीयता, (३) प्रभु के दर्शन का प्रयत्न, (४) प्रभु के प्रति विभिन्न सम्बन्धो की उद्भावना और (५) प्रभु से एकाकारिता।[3]

रहस्यवाद की जिन विभिन्न स्थितियो का ऊपर उल्लेख किया गया है और जिनके आधार पर रहस्यवादी कवि अपने-अपने काव्यो मे रहस्यवाद की प्रवृत्तियो का उल्लेख करते हैं, उन सबका समीकरण करने पर कुछ सर्वसामान्य रहस्यवादी प्रवृत्तियाँ दिखाई देती है, जिन्हें निम्नलिखित शीर्षको में बाँटा जा सकता है —

(१) विश्व-व्यापी अज्ञात शक्ति के प्रति जिज्ञासा की भावना।
(२) उस सत्ता के महत्व का प्रदर्शन।
(३) दर्शन या मिलन का प्रयत्न।

१—रहस्यवाद और हिन्दी कविता, पृ० १३६–१३७।
२—कबीर का रहस्यवाद, पृ० १२–१४।
३—हिन्दी साहित्य में विविधवाद, पृ० ४४२।

(४) भौतिक विघ्न एव वेदना की विवृति ।
(५) उस अव्यक्त सत्ता का आभास या दर्शन ।
(६) ससार की वास्तविकता का ज्ञान अथवा अपरोक्ष अनुभूति, और
(७) चिरमिलन ।

कामायनी मे रहस्यवाद का स्वरूप

जिज्ञासा की भावना—एक रहस्यवादी कवि जब प्रभात के समय प्राची दिशा राग-रजित उषा को अनुराग की भावना फैलाते हुए, पक्षियो को उद्बोधन गीत गाते हुए, दिवस की आलोक-श्री को ससार मे चेतना का सचार करते हुए और सध्या की लालिमा को मधुर मिलन का सदेश देते हुए देखता है, तब उसके हृदय में अनायास उस विराट् शक्ति को जानने की इच्छा उत्पन्न होती है, जिसका सकेत पाकर उषा का आगमन होता है, सूर्य उदय और अस्त होता है, तारे निकलते और छिपते हैं तथा संसार के अन्य सभी क्रिया-कलाप समयानुसार यथा-क्रम चलते रहते हैं। कामायनी के कवि ने भी अपनी इसी जिज्ञासा की भावना को 'आशा' सर्ग में व्यक्त किया है और कहा है कि उस शक्ति का अस्तित्व कहाँ है, जिसे ज्योतिर्मान ग्रह, नक्षत्र, विद्युत्कण आदि छिपते-निकलते हुए नित्य खोजा करते हैं, जिसके रस से सिंचित होकर तृण और वीरुध लहलहाते हुए दिखाई देते हैं, जिसकी सत्ता को सभी सिर नीचा करके स्वीकार करते हैं और जिसके विषय मे ससार के ये सभी पदार्थ सदैव मौन होकर प्रवचन किया करते हैं।[1]

महत्व प्रदर्शन—विचार करते-करते रहस्यवादी कवि को धीरे-धीरे यह ज्ञात होने लगता है, कि यह विश्व की नियामिका शक्ति गुप्त एव अलक्षित रहने पर भी कुछ है अवश्य। ऐसा नही है कि वह पूर्णतया नकारात्मक हो। उसका अस्तित्व अवश्य है, क्योकि उसके अनन्त सौन्दर्य की झाँकी प्रकृति के अणु-अणु एवं कण-कण में मिल रही है, उसका अपरिमित तेज एव अनन्त शक्ति जगत में व्याप्त है और उसी की प्रेरणा से ससार का सारा कार्य होता है। कामायनी में प्रसादजी ने उसे 'नियति' कहकर सम्बोधित किया है और सर्वत्र उसके एकान्त शासन को स्वीकार किया है। साथ ही उस शक्ति को अनन्त रमणीय, विराट, भूमा, विश्वदेव, चिति आदि कहकर उसे सजग होकर सदैव व्यक्त रूप में यहाँ लीलामय आनन्द करते हुए

१—सिर नीचा कर किसकी सत्ता सब करते स्वीकार यहाँ,
सदा मौन हो प्रवचन करते जिसका, वह अस्तित्व कहाँ ?
—आशा सर्ग, पृ० २६ ।

बतलाया है।[१] इसके साथ ही उसे अनन्त शक्ति-सम्पन्न बतलाते हुए उसके तनिक से 'भ्रू-भग' से ही प्रलय का होना सिद्ध किया है।[२]

दर्शन या मिलन का प्रयत्न—सभी रहस्यवादी कवि उस अनन्त शक्ति के बारे में किंचित् ज्ञान प्राप्त करके उसके दर्शन करने या उससे मिलने का प्रयत्न करते हुए दिखाई देते हैं। हिन्दी के रहस्यवादी कवियो में कबीर, जायसी, मीरा, महादेवी आदि सभी ने उस अज्ञात शक्ति से मिलने के लिए बडी तत्परता के साथ अपने-अपने काव्यो मे उल्लेख किया है।[३] कामायनी में भी मिलन के इस प्रयत्न का वर्णन मिलता है। कवि की आत्मा उस अनन्त सौंदर्य-शालिनी शक्ति का साक्षात्कार करनी चाहती है, परन्तु पहले तो अन्य 'सौंदर्यमयी चचल कृतियाँ' ही उसकी दृष्टि को अपनी ओर आकृष्ट कर लेती हैं और उसे आगे बढने नही देती।[४] यदि वह आगे बढती भी है, तो उस शक्ति के दर्शन के लिए इतनी भीड लगी हुई है कि सभी उस जीवन-धन की छवि को देखने के लिए आकुल होकर उसके द्वार पर 'खोलो-खोलो' चिल्ला रहे हैं और परस्पर एक दूसरे का आवरण बनते जा रहे हैं।[५] फिर भी कवि उस अज्ञातशक्ति से मिलने के लिए उत्सुक है और उसकी आत्मा ससार के पार्थिव सौंदर्य मे लीन होकर भी बार-बार उससे दूर भाग कर अनन्त सौन्दर्य की खोज मे आगे बढती हुई दिखाई देती है और मनु के शब्दो में कवि यही कहता है "तो फिर शान्ति मिलेगी मुझको जहाँ, खोजता जाऊँगा।"[६]

भौतिक विघ्न एव वेदना की विवृति—किसी भी व्यक्ति को सुगमता से उस अव्यक्त एव अगोचर सत्ता का साक्षात्कार नही होता। उसे पाने के लिए जैसे-जैसे वह आगे बढता है, वैसे ही वैसे मार्ग मे अनेक कठिनाइयाँ एव विघ्न आते हैं। ससार के दभ और अहकार उसे छलते हैं, मिथ्या प्रेम एव असत् व्यवहार उसे ठुकराते हैं, माया उसे अपने क्रूर शासन में रगीन दृश्य दिखाकर अत में कठोर दड देती है और

१—कर रही लीलामय आनन्द महाचिति सजग हुई सी व्यक्त।

—श्रद्धा सर्ग, पृ० ५३।

२—किसका था भ्रू-भग प्रलय सा जिसमें ये सब विकल रहे।

—आशा सर्ग, पृ० २५।

३—देखिए कबीर-ग्रथावली, पृ० ८, जायसी-ग्रथावली पृ० ४९–५२, मीराबाई की पदावली, पृ० २७, २८, ३५–३९ तथा आधुनिक कवि—भाग १, पृ० २८–३०, ५८–५९।

४—कामायनी, पृ० ६६। ५—कामायनी, पृ० ६८।

६—वही, पृ० २३०।

वह शापित सा होकर अपने खोखलेपन मे जीवन का ककाल लेकर भटकता हुआ सा दिखाई देता है। ऐसी स्थिति मे उसकी खीझ भी बढ जाती है और वह सभी पर क्या अपने पर भी झुँझलाने लगता है। प्रसादजी ने साधक की इन कठिनाइयो का उल्लेख मनु के सघर्षमय जीवन द्वारा किया है।[1]

दर्शन या सत्ता का आभास—जब साधक ससार के प्रपचो से ऊपर उठ जाता है, तब उसे यहाँ के माया-मोह नही सताते, उसके हृदय में ज्ञान-ज्योति का प्रकाश होने लगता है और वह इस अधकार से दूर उस अनन्त आलोकमयी शक्ति का स्पष्ट दर्शन करने लगता है। कामायनी में इस स्थिति का वर्णन 'दर्शन' सर्ग के अन्तर्गत मिलता है, जहाँ पर ससार के पचडो से दूर होकर आत्म-चिंतन करते हुए मनु को नटराज के दर्शन होते हैं। उस समय हृदय की समस्त ग्रथियाँ खुल जाती हैं, अज्ञानाधकार ज्योत्स्ना में परिणत हो जाता है और सर्वत्र एक अनन्त आलोकमयी मगल-चेतना-शक्ति के दर्शन होने लगते हैं।[2]

ससार का ज्ञान एव अपरोक्ष अनुभूति—जैसे ही साधक को उस अव्यक्त शक्ति का आभास मिलता है, वैसे ही वह हृदय मे ज्ञान के उदय होते ही ससार की वास्तविकता को भी भली भाँति समझने लगता है। अब उसे यह पूर्णतया ज्ञान हो जाता है कि जीवन मे कौन-कौन से ऐसे अभाव हैं, जिनके कारण पूर्णता की प्राप्ति नही होती, अव्यक्त सत्ता का साक्षात्कार नही होता और मानव अखड आनन्द की प्राप्ति से वचित रहता है। प्रसादजी ने कामायनी के 'रहस्य' सर्ग में ससार के इसी रहस्य का उद्घाटन किया है और बतलाया है कि आज मानव केवल इसलिए जीवन की विडम्बना मे फँसा हुआ है कि उसकी इच्छाशक्ति, ज्ञानशक्ति और क्रियाशक्ति तीनो पृथक्-पृथक् दिशा मे कार्य कर रही है। यदि वह इन तीनो का समन्वय करके जीवन व्यतीत करने की चेष्टा करे तो उसे अखड आनन्द का साक्षात्कार हो सकता है।[3]

चिरमिलन या समरसता—अन्त मे जब एक रहस्यवादी को ससार का वास्तविक ज्ञान हो जाता है, तब उसके समस्त स्वप्न, स्वाप, जागरण आदि नष्ट हो जाते है। इच्छा, ज्ञान और क्रिया का समन्वय हो जाता है। उसे सर्वत्र दिव्य अनाहत नाद सुनाई पडता है और वह अत्यन्त श्रद्धा के साथ उस नाद में लीन होकर तन्मयी अवस्था को प्राप्त हो जाता है।[4] यहाँ आते-आते उसकी आत्मा परमात्मा में पूर्णतया समरस हो जाती है, अहं का इदम् में समावेश हो जाता है और वह चिर-मिलन के

१—कामायनी, पृ० २२०-२२७। २—वही पृ० २५२।
३—वही, पृ० २७२। ४—वही, पृ० २७३।

आनन्द का अनुभव करता हुआ जीव और जगत तथा जीव, जगत और ब्रह्म इनमें से किसी को भी अपने से पृथक् नहीं समझता। उसे यह जगत भी उस चेतना-शक्ति का विराट् वपु प्रतीत होने लगता है, उसकी अपने-पराये की भावना नष्ट हो जाती है और वह पूर्ण अद्वैतभाव को प्राप्त होकर जड-चेतन मे सर्वत्र एक ही अखड आनन्दमयी चेतनता को विलास करते हुए देखता है।[१] कामायनी में इस चिर-मिलन की स्थिति को 'समरसता' कहकर उसका चित्रण अत्यन्त सजीवता के साथ 'आनन्द' सर्ग में किया है।

इस प्रकार कामायनी मे चित्रित रहस्यवादी प्रवृत्तियो का अनुशीलन करने के उपरान्त यही ज्ञात होता है कि प्रसादजी ने अपनी आनन्दवादी धारा के अनुसार ही यहाँ पर रहस्यवाद का चित्रण किया है। उनकी यह रहस्यानुभूति सूफी कवियो एव कबीर की रहस्यमयी उक्तियो से सर्वथा भिन्न है, क्योकि न तो सूफियो की भाँति यहाँ अलौकिक प्रेम की व्यजना के लिए लौकिक प्रेम का राग ही अलापा गया है और न कबीर की भाँति कोरी आध्यात्मिकता को ही चित्रित किया गया है। इसी कारण प्रसादजी की रहस्यानुभूति में जिज्ञासा की भावना ही अधिक है, यहाँ मिलन-विरह की उत्कट व्यजना नहीं है। वह तो शुद्ध मानवीय आधार पर स्थित है, जिसमें प्रकृति के सहयोग से उस व्यापक सत्ता का दर्शन कराया है, जो असाधारण सौंदर्य एवम् लौकिक प्रेम मे युक्त है।

साराश यह है कि कामायनी मूलत· छायावाद की प्रवृत्तियो के आधार पर रचा गया महाकाव्य है। उसमें जो रहस्यवाद के सकेत मिलते हैं, वे प्रसादजी की दार्शनिक मनोवृत्ति, अलौकिक सौंदर्य-चित्रण की भावना एव असाधारण प्रेम की सहज परिणति हैं। उन्होंने अपनी इन्ही प्रवृत्तियो का उद्घाटन करने के लिए उस अव्यक्त एव अज्ञात सत्ता को व्यक्त एव अपरोक्ष रूप में चित्रित किया है, उसे सर्वत्र व्याप्त बतलाया है और इसी कारण विश्व को 'सत्य सतत चिर सुन्दर' कहा है। प्रसादजी ने अपनी रहस्यानुभूति द्वारा जिस अद्वैतवाद का उल्लेख किया है, वह भी वेदान्त का अद्वैतवाद नही है, अपितु उसका सम्बन्ध शैवागमो के ईश्वराद्वयवाद से है, जिसमें ब्रह्म अपनी शक्ति के साथ इसी विश्व में व्याप्त होकर सदैव आनन्द की वृष्टि करता है। अत प्रसादजी ने अपने रहस्यवाद द्वारा संसार की सत्यता, नित्यता एवम् अनन्त रमणीयता सिद्ध की है और इस जगत को ब्रह्म की मूर्ति बतलाकर ससार से पलायन नहीं, अपितु ससार में ही निरन्तर कर्म करते हुए अखड आनन्द प्राप्त करने का सदेश दिया है।

१—समरस थे जड या चेतन सुन्दर साकार बना था,
चेतनता एक विलसती आनन्द अखड घना था। आनन्द सर्ग, पृ० २९४।

कामायनी का अनुभूति-पक्ष

सौन्दर्यानुभूति—यह समस्त विश्व अनन्त सौंदर्य का भंडार है। उस सौंदर्य-स्रष्टा ने विश्व मे ऐसे दिव्य सौंदर्य की सृष्टि की है, जिसका आभास मानव को वन, पर्वत, नदी, निर्भर, पशु-पक्षी आदि में आदि काल से ही मिलता चला आरहा है। इसी कारण वह कभी उषा की रागरंजित छवि में अनुरक्त हुआ है, तो कभी संध्या की नील-पीत मिश्रित अरुणिमा में आत्म-विभोर हो उठा है। कभी वह शरद् के स्मित हास में मग्न हुआ है, तो कभी वसंत-श्री की सुषमा में अपनी सुधबुध गँवा बैठा है। इसी तरह मानव ने नाना प्रकार के रंग-बिरंगे पुष्पों, चित्र-विचित्र पशु-पक्षियों आदि में भी सौंदर्य के दर्शन किए हैं। सृष्टि के इस अनन्त सौंदर्य ने उसके हृदय को आन्दोलित किया है और उसमें अनेकानेक भाव-लहरियां उठाई हैं। मानव-हृदय को ये ही भाव-लहरियां सौन्दर्यानुभूति की जननी हैं, क्योंकि सौंदर्य-स्रष्टा की इस अदभुत एवं अनुपम रचना को देखकर कौन ऐसा हृदयहीन व्यक्ति होगा, जिसके हृदय में उसके प्रति आकर्षण न हो। सौंदर्य अपनी ओर हठात् आकर्षित करता है। हाँ, इतना अवश्य है कि उस आकर्षण मे द्रष्टा की ग्राहकता के अनुकूल मात्रा-भेद रहता है। कोई सौंदर्य का चाक्षुष प्रत्यक्ष होते ही अपना सर्वस्व खो बैठता है और कोई उसे देखकर किंचित् स्पंदन का ही अनुभव करके शान्त होजाता है। जिस प्रकार आकर्षण में मात्रा-भेद है, उसी प्रकार सौंदर्य की अनुभूति में भी मात्रा-भेद रहता है।[१] क्योंकि सभी पदार्थ सभी व्यक्तियों को प्रत्येक समय सुन्दर प्रतीत नहीं होते। अपनी-अपनी रुचि के अनुसार प्रत्येक पदार्थ सुन्दर जान पड़ता है।[२] अतः सौंदर्यानुभूति में रुचि का बड़ा महत्व है।

परन्तु यह रुचि हमारी परम्परागत संस्कृति की देन है, क्योंकि हमारे आचार-विचार एवम् हमारी इच्छा का निर्माण हमारी सांस्कृतिक परम्परा द्वारा होता है। इसी कारण प्रसादजी ने भी लिखा है कि सौंदर्यानुभूति में जो मात्रा-भेद पाया जाता है, उसका मूल कारण हमारी संस्कृति है, क्योंकि संस्कृति ही हमारे सजातीय विचारों, रहन-सहन एवं मनोभावों को विकासोन्मुख बनाती है।[३] इसी कारण भावों एवं विचारों के विकास द्वारा ही सौंदर्यानुभूति में भेद पाया जाता है। नहीं तो सौंदर्य-बोध एवं सौंदर्यानुभूति विश्व व्यापी वस्तुयें हैं। सभी प्राणी सौंदर्य को

१—चिन्तामणि भाग १, पृ० २२५।

२—समै समै सुन्दर सबै, रूप कुरूप न कोइ।
मन की रुचि जेती जितै, तित तेती रुचि होइ॥ बिहारी-रत्नाकर ४३२

३—काव्य और कला तथा अन्य निबंध, पृ० २७–२८।

देखकर आकृष्ट होते हैं और सभी के हृदय में सौंदर्य अपना घर कर लेता है। परन्तु इस सांस्कृतिक परम्परा के कारण ही प्रत्येक देश मे सौंदर्य की भावना भिन्न-भिन्न रूपो में देखी जाती है। जैसे पश्चिमी देशो में लिली पुष्प को अधिक सुन्दर मानते हैं, जबकि भारत में कमल को। वहाँ स्वर्णिम केशो में अद्भुत सौंदर्य के दर्शन होते हैं, तो यहाँ श्याम सचिक्कण केशो में। इसी तरह अन्य पदार्थो के बारे में भी सौंदर्य-भावना में भिन्नता पायी जाती है।

इस सौंदर्य-बोध या सौंदर्यानुभूति की जितनी चर्चा पाश्चात्य देशो मे मिलती है, उतनी भारत में नही। इसके कारण का स्पष्टीकरण करते हुए प्रसादजी ने लिखा है कि 'उनके पास अरस्तू से लेकर वर्तमान काल तक की सौंदर्यानुभूति सम्बन्धिनी विचारधारा का क्रम-विकास और प्रतीकों के साथ-साथ उनका इतिहास तो है ही, सबसे अच्छा साधन उनकी अविच्छिन्न सांस्कृतिक एकता है। हमारी भाषा के साहित्य मे वैसा सामंजस्य नही है। बीच-बीच में इतने अभाव या अंधकार-काल हैं कि उनमें कितनी ही विरुद्ध संस्कृतियाँ भारतीय रंगस्थल पर अवतीर्ण और लोप होती दिखाई देती हैं, जिन्होने हमारी सौंदर्यानुभूति के प्रतीको को अनेक प्रकार से विकृत करने का ही उद्योग किया है।'[1] इतना होने पर भी जितना वाङ्मय आज उपलब्ध है उसी के आधार पर भारतीय सांस्कृतिक परम्परा मे विकसित सौंदर्यानुभूति का ज्ञान प्राप्त किया जा सकता है।

कामायनी में सौंदर्यानुभूति—उक्त विवेचन से यह स्पष्ट है कि सौंदर्य में आकर्षण होता है, वह आकर्षण ही सौंदर्यानुभूति का उत्पादक है, और उस सौंदर्यानुभूति पर रुचि शासन करती है तथा उस रुचि का सम्बन्ध सांस्कृतिक परम्परा से होता है। अब अब देखना यह है कि कामायनी मे जिस सौंदर्यानुभूति के दर्शन होते हैं, उनका विकास किस देश की सांस्कृतिक परम्परा के अन्तर्गत हुआ है? कहने की आवश्यकता नही कि प्रसादजी तो पूर्णतया भारतीय हैं और उनकी सुरुचि एवं तज्जन्य सौंदर्यानुभूति भारतीय संस्कृति की छत्र-छाया में पल्लवित होने के अतिरिक्त अन्य किसी देश का प्रभाव ग्रहण नही कर सकती। यही कारण है कि कामायनी में उन्होंने जिस प्राकृतिक एवं मानवीय सौंदर्य का चित्रण किया है, उसपर भारतीय संस्कृति की गहरी छाप है। उदाहरण के लिए मनु के सौंदर्य का चित्र ले सकते हैं। ऋग्वेद में इन्द्र के शारीरिक सौंदर्य का चित्रण करते हुए उसे ओजपूर्ण, वृषभ हृदाग, वज्रबाहु आदि कहा है,[2] और महाकवि कालिदास ने राजा दिलीप का विशाल वक्षस्थल,

---

१—काव्य और कला तथा अन्य निबन्ध, पृ० ३२।

२—ओजायमान यो अहि जघान ... य सोमपा निचितो वज्रबाहु र्यो वज्रहस्त स जनास इन्द्र ॥ ऋग्वेद २।१२।१२-१३

वृषभस्कध, उन्नत-शाल तुल्य प्रलम्ब भुजाओ से युक्त, आदि बतलाया है।[1] सुदृढ मानव-शरीर के सौंदर्य की यही परम्परागत अनुभूति कामायनी में भी दिखाई देती है —

'अवयव की दृढ माम पेशियाँ ऊर्जस्वित था वीर्य अपार,
स्फीत शिराये स्वस्थ रक्त का होता था जिनमे सचार। (चिता सर्ग)

मानवीय सौंदर्य की यही झलक श्रद्धा, इडा, मानव आदि के चित्रण मे भी मिलती है, जिसका उल्लेख आगे किया गया है। इसके अतिरिक्त प्राकृतिक सौंदर्य के चित्रण मे भी प्रसादजी ने भारतीय परम्परा का ही अनुसरण किया है। जैसे ऋग्वेद मे उषा के सौंदर्य का चित्रण करते हुए उसे प्राची दिशा में अन्धकार को दूर करके एक देदीप्यमान देवी की भाँति ज्योतिपूर्ण आभा के साथ उदित होते हुए बतलाया है।[2] कामायनी मे भी प्रसादजी ने इसी तरह उषा का उल्लेख किया है —

'उषा सुनहले तीर बरसती जयलक्ष्मी सी उदित हुई,
उधर पराजित काल रात्रि भी जल मे अंतर्निहित हुई।' (आशा सर्ग)

इसी तरह ऋग्वेद मे रात्रि को चारो ओर दृष्टिपात करती हुई एक नायिका के तुल्य अत्यन्त वैभव के साथ आगे बढने वाली, उच्चावच स्थानो में प्रवेश करने वाली, अपनी ज्योत्स्ना से अंधकार का अपहरण करने वाली, अपनी भगिनि सध्या को अपने आगमन से भगाने वाली आदि कहा है।[3] कामायनी मे प्रसादजी ने भी रात्रि का एक नायिका की भाँति ऐसा ही वर्णन किया है —

१—व्यूढोरस्को वृषस्कन्ध शालप्राशुर्महाभुज.।
आत्मकर्मक्षमं देहं क्षात्रो धर्म इवाश्रितः॥ रघुवंश १।१३

२—इदमु त्यत्पुरुतम पुरस्ताज् ज्योतिस्तमसो वयुनावदस्थात्।
नूनं दिवो दुहितरो विभातीर् गातु कृणवन्नुषसो जनाय॥
—ऋग्वेद ४।५१।१

३—रात्री व्यख्यदायती पुरुत्रा देव्य१क्षभि। विश्वा अधि श्रियोऽधित॥
ओर्वप्रा अमर्त्या निवतो देव्यु१द्वत। ज्योतिषा बाधते तम.।
निरु स्वसारमस्कृतोषस देव्यायती। अपेदु हासते तम.॥
—ऋग्वेद १०।१२७।१-३

(Night approaching has looked forth in many places with her eyes she has put on all glories The immortal goddess has pervaded the wide space, the depths, and the heights with light she drives away the darkness The goddess approaching has turned out her sister Dawn, far away will go the darkness)
—Translated by Macdonell—A Vedic Reader, p 203-204.

विचार या भावो से होता है, क्योंकि वह हमारे विचारो का ही मूर्तिकरण है,[१] वह बिना किसी प्रयोजन के हमें आकृष्ट करता है,[२] सौन्दर्य ही सत्य है और सत्य ही सौन्दर्य है[3] इत्यादि। इस तरह इस वर्ग के विद्वानो का मत है कि सौन्दर्य वाह्य या भौतिक जगत की वस्तु नही, अपितु वह मानसिक या आध्यात्मिक जगत से सम्बन्धित है।

यद्यपि भारतीय विद्वानो ने सौन्दर्य के बारे मे वर्ग-विभाजन करके उसका दार्शनिक विवेचन तो नही किया है, किन्तु उनके सौन्दर्य-बोध सम्बन्धी विचार रूप मे व्यक्त हुए हैं, जिनसे उनकी दार्शनिक मान्यताओ की कुछ झलक मिल जाती है। भारत में वस्तुवादी तथा व्यक्तिवादी दोनो प्रकार के विचार स्फुट एव समन्वित रूपो में मिलते है। जैसे महाकवि कालिदास ने लिखा है कि सौन्दर्य प्राकृतिक होता है, उसके लिए वाह्य अलकरणो की आवश्यकता नही होती[४] तथा सौन्दर्य पाप-वृत्ति की ओर नही ले जाता।[५] अत आपके विचार से सौन्दर्य सुडौल एव सुगठित आकृति में है, जो सात्विक होने के कारण दैवीगुणो से युक्त होती है। इसी तरह महाकवि माघ ने लिखा है कि 'जो क्षण-क्षण में नवीनता धारण करे वही सौन्दर्य है।'[६] इस कथन में भी सौन्दर्य को वस्तुगत ही माना गया है। अत उक्त दोनो विद्वान् प्रथम वस्तुवादी या भौतिकवादी वर्ग मे ही आते है। परन्तु महाकवि बिहारी का विचार है कि 'ससार मे कोई भी पदार्थ सुन्दर अथवा असुन्दर नही होता, समय-समय पर सभी सुन्दर होते हैं। किन्तु जिसमे जिसकी जितनी रुचि होती है, वह उतना ही सुन्दर होता है।'[७] इस कथन द्वारा बिहारी दूसरे व्यक्तिवादी या अध्यात्मवादी वर्ग मे आते हैं।

1—The beautiful he (Hegel) defined as the sensible appearance of the Idea —Theory of Aesthetic, Historical Summary, p 306.

2—That is beautiful which pleases without interest.
—Theory of Aesthetic, Historical Summary, p 295

3—"Beauty is truth, truth Beauty"
—Ode on a Gracian Urn by Keats

४—किमिव हि मधुराणा मण्डन नाकृतीनाम्। अभिज्ञान शाकुतलम् १।२०

५—यदुच्यते पार्वति पापवृत्तये न रूपमित्यव्यभिचारि तद्वच.।
—कुमारसंभव ५।३६

६—क्षणे क्षणे यन्नवतामुपैति तदेव रूप रमणीयताया.। शिशुपाल-वध ४।१७

७—विहारी-रत्नाकर ८३२।

अत: उक्त दोनो प्रकार की सौन्दर्य सम्बन्धी विचारधाराओ का विवेचन करने के उपरान्त यही पता चलता है कि सौन्दर्य वस्तुगत एवं व्यक्तिगत दोनो प्रकार का होता है। वैसे भी यदि विचारपूर्वक देखा जाय तो सौन्दर्य मे दोनो पक्ष अन्तर्निहित है, क्योकि एक ओर तो ऐसे सुन्दर पदार्थ का होना आवश्यक है, जो सामान्य रूप मे सभी को आकर्षित करे और दूसरी ओर उस सौन्दर्य के द्रष्टा की भी आवश्यकता होती है। ससार के किसी भी सुन्दर पदार्थ मे उस समय तक कोई सौन्दर्य नहीं, जब तक कि उसका द्रष्टा नही है। उदाहरण के लिए जगल मे खिला हुआ कमल या गुलाब किसी ने न देखे जाने के कारण किसी के हृदय मे सौन्दर्यानुभूति उत्पन्न नही करता, जबकि एक असुन्दर पदार्थ द्रष्टा की रुचि के अनुकूल होने के कारण उसे पर्याप्त सौन्दर्य से ओत-प्रोत दिखाई देता है। महाकवि बिहारी ने इसी कारण आगे चलकर सौन्दर्य के उभय पक्ष का समर्थन करते हुए लिखा है कि 'रूप-सौन्दर्य रिझाने वाला होता है और नेत्र उस सौन्दर्य पर रीझने वाले होते हैं।'[1] बिना दोनो का सयोग हुए सौन्दर्य की सार्थकता सिद्ध नही होती। इसके साथ ही कवीन्द्र रवीन्द्र ने भी सौन्दर्य को उभय-पक्षी सिद्ध करते हुए लिखा है कि 'मनुष्य के मुख में केवल आकृति की सुन्दरता ही नही होती, उसमें चेतनता की दीप्ति, बुद्धि की स्फूर्ति और हृदय का लावण्य भी होता है।'[2] प्रायः यह देखा भी जाता है कि वे ही भौतिक पदार्थ मानव-मात्र को अधिक आकृष्ट करते हैं, जिनमे दिव्यता, सुडौलपन, व्यवस्थित क्रम, अगो की सुन्दर बनावट के साथ-साथ हमारी रुचि की अनुकूलता अथवा भावो की प्रतिच्छाया भी होती है। सारांश यह है कि सौन्दर्य उभय-पक्षी होता है और वे ही असाधारण कृतियाँ सौन्दर्यमयी मानी जाती है, जिनमें भौतिक एव आध्यात्मिक अथवा वस्तुगत एव व्यक्तिगत दोनो प्रकार के सौन्दर्य का एक स्थान पर ही समावेश होता है।

प्रसादजी भी उभयपक्षीय सौन्दर्य के समर्थक है और इसी कारण उन्होंने शिवसूत्र-विमर्शिनी के आधार पर आत्मा के स्वरूप का वस्तु में परिमित रूप से प्रकटीकरण अथवा स्व का सवित् वस्तुओ या प्रमाता में प्रक्षेपण को ही कला बतलाया है।[3] इसके साथ ही प्रसादजी का विचार है कि प्राय लोग चन्द्रमा को सौन्दर्य का

१—मोहि भरोसौ, रीझि है उझकि झाँकि इक बार।
रूप-रिझावनहार वह, ए नैना रिझवार॥
—बिहारी रत्नाकर ६८२।

२—साहित्य, पृ० ४८।

३—काव्य और कला तथा अन्य निबंध पृ०, ४२।

एक विन्दु होने के कारण प्रियदर्शन कहा करते हैं, परन्तु चन्द्रमा प्रियदर्शन नही है, स्वय सौन्दर्य ही प्रियदर्शन होता है।[१] इसके अतिरिक्त कामायनी में भी वे लिखते हैं कि सौन्दर्य चेतना का वह उज्ज्वल वरदान है, जिसमें अनन्त अभिलाषाओ के सभी स्वप्न जाग्रत रहते हैं।[२] इस परिभाषा में उन्होने स्पष्ट ही सौन्दर्य को विश्वव्यापी चेतना से सम्बद्ध करके देखा है और इसी कारण विश्व को 'उस चेतना का अभिराम उन्मीलन' अथवा 'चिति का विराट वपु मगल' आदि कहकर 'सत्य सतत चिर सुन्दर' वतलाया है।[३] प्रसादजी के सौन्दर्य-दर्शन में सबसे बडी विशेषता यह है (कि) वे सौन्दर्य को अत्यन्त व्यापक मानते हैं, उसे चेतनायुक्त कहकर ससार को 'सौन्दर्यमयी चचल कृतियो' का भडार कहते हैं और इसी कारण उन्हें मृत्यु में भी एक नित्य व्यापी सुन्दर रहस्य के दर्शन होते हैं एव ससार की भीषणता में भी कमयीनता दिखाई देती है।[४] इतना ही नही वे उस विराट् शक्ति को 'अनन्त रमणीय'[५] कहते हैं तथा उसकी छवि को देखने के लिए लालायित दिखाई देते है। उनका मत है आज अनन्त सौंदर्य के दर्शन सभी नही कर पाते। इसका कारण यह है कि उस सौन्दर्य पर अवगुठन पडा हुआ है, यदि वह अवगुठन चाँदनी के समान कही खुल जाय, तो फिर उस अनन्त कल्लोल से भरे हुए सौंदर्य-सागर के दर्शन होने लगेंगे, जो अपनी ऊँची-ऊँची लहरो के कारण एक सर्प की भाँति फेनिल फन पटक कर मणियो का जाल लुटाता हुआ सा तथा उन्निद्र होकर उन्मत्तता के साथ कुछ गाता हुआ सा दिखाई देता है।[६] वह अवगुठन या आवरण हमारे अपने कलुषित एव सकीर्ण विचारो का है। प्रसादजी के मत से द्रष्टा साम्यमयी स्थिति में पहुँच कर विश्वव्यापी सौन्दर्य से अपना तादात्म्य स्थापित कर लेता है तभी उसे सौन्दर्य के दर्शन होते हैं। इस तरह आपके सौन्दर्य-दर्शन में पार्थिव एवम् आध्यात्मिक अथवा वस्तुगत एव व्यक्तिगत दोनों प्रकार के विचारो का सुष्ठु समन्वय दिखाई देता है।

सौंदर्य-विधान—प्राय मानव-मात्र के हृदय में सौन्दर्य की अनुभूति होती है। परन्तु एक सहृदय कलाकार के हृदय में यह अनुभूति जितनी तीव्र होती है, उतनी ससार मे किसी भी व्यक्ति के अन्तर्गत नही देखी जाती। अब यदि वह कलाकार चित्र बनाना जानता है, तो अपनी उस सौन्दर्यानुभूति को चित्र के माध्यम से अभिव्यक्त करता है और यदि वह कवि होता है तो सुन्दर रसात्मक कविताओ द्वारा अपनी उस अनुभूति को अभिव्यक्त करता है। कलाकारो की इसी अभिव्यजना-पद्धति

१—कानन कुसुम, पृ० ५१।
२—कामायनी, पृ० १०२।
३—कामायनी, पृ० ५३, २८८।
४—वही, पृ० ६६, १६, २५४।
५—वही पृ०, २६।
६—वही, पृ० ६८।

को सौन्दर्य-विधान कहते हैं। इस सौन्दर्य-विधान के बारे में भारतवर्ष के अन्तर्गत उतने स्वतन्त्र ग्रन्थ नहीं मिलते, जितने कि पाश्चात्य देशों में मिलते हैं। फिर भी यहाँ पर साहित्य-ग्रन्थों मे थोड़ी-बहुत सौन्दर्य-विधान सम्बन्धी चर्चा मिल जाती है, जिनके आधार पर ज्ञात होता है कि एक नारी के सौन्दर्य-विधान के लिए शोभा, कान्ति, दीप्ति, माधुर्य, धैर्य, प्रगल्भता और औदार्य आवश्यक तत्त्व हैं तथा एक पुरुष के सौन्दर्य के लिए शोभा, विलास, माधुर्य, गाम्भीर्य-धैर्य, तेज, लालित्य और औदार्य ... गुणों को आवश्यक तत्त्वों के रूप में स्वीकार किया गया है।[1] इस भारतीय विवेचन मे सौन्दर्य-विधायक वाह्य तत्वों की ओर उतना ध्यान नहीं दिया गया है, जितना कि एक सौन्दर्यशाली व्यक्ति के आन्तरिक गुणों की चर्चा की गई है। वैसे भी हमारे यहाँ सौन्दर्य के वाह्य उपकरणों को उतना महत्व नहीं दिया गया है, जितना कि आन्तरिक गुणों को। पाश्चात्य देशों में सौन्दर्य के प्रायः वाह्य उपकरणों की ओर अधिक ध्यान दिया है। इसी कारण भारत मे पश्चिम के अनुकरण पर जिस कला का विकास हुआ है, उसमे नाप, तोल, अनुपात आदि का अधिक ध्यान रखा जाता है, जबकि भारत की प्राचीन अजन्ता आदि की चित्रकला मे भाव-विधान को ही अधिक महत्व दिया गया है। किन्तु ऐसी बात नहीं है कि यहाँ की प्राचीन कला में नाप, अनुपात आदि वाह्य उपकरणों का सर्वथा तिरस्कार किया गया हो। विष्णु-धर्मोत्तरपुराण में चित्रकला के नाम, परिमाण आदि वाह्य उपकरणों का विस्तृत वर्णन मिलता है,[2] परन्तु वहाँ पर भी आगे चलकर भाव-चित्रण पर ही बल दिया गया है और चित्रों मे भी नव रसों का होना सिद्ध किया है।[3] इसके अतिरिक्त काव्य में सौन्दर्य का विधान करते हुए भारतीय कवियों ने भी सुडौलपन, अंगों का सगठन, थोड़े में बहुत दिखाना आदि पर अधिक बल दिया है। जैसे विहारी ने एक नायिका का वर्णन करते हुए लिखा है :—

'अंग अंग छवि की लपट, उपटत जात अछेह।
खरी पातरीऊ तऊ, लगै भरी सी देह ॥[4]

इस कथन मे अनन्तता एव पूर्णता भी है और साथ ही थोड़े में ही बहुत कुछ भी कह दिया है। इतना होने पर भी भारत मे सौन्दर्य-विधान के लिए अधिक बल आन्तरिक उपकरणों पर ही दिया गया है।

१—दशरूपक २।३१, २।१०।

2—The Vishnudharmottar (Part III), Translated by Stella Kramrisch, p. 35–43

३—वहीं, पृ० ५६–६२।   ४—विहारी-रत्नाकर ६६१।

पाश्चात्य विद्वानो ने सौन्दर्य-विधान के लिए प्रायः जिन बाह्य उपकरणो को आवश्यक बतलाया है, उनमें से प्लेटो ने केवल माप (measure) तथा अनुपात (proportion) की ओर सकेत किया है।[1] अरस्तू ने क्रम (order), सुडौलपन (symmetry) तथा निश्चित बधान (definite limitation) को आवश्यक ठहराया है।[2] दान्ते ने अन्विति (unity) सुडौलपन को ही पर्याप्त माना है।[3] लैसिंग ने सामजस्य (harmony), विचित्रता (variety), क्रम, अनुपात आदि का होना उचित बतलाया है।[4] बर्क ने आकार-सूक्ष्मता (smallness of size), मसृणता (smoothness), क्रमिक विकार (gradual variation), कोमलता (delicacy), वर्ण-दीप्ति (lightness of colours) तथा शुद्धता (purity) को आवश्यक बतलाया है[5] और हेगेल ने नियमितता (regularity), नियमबद्धता (lawfulness), सुडौलपन तथा सामजस्य को आवश्यक उपकरण के रूप में स्वीकार किया है।[6]

इनके अतिरिक्त कुछ पाश्चात्य विद्वान् ऐसे भी हैं, जो सौन्दर्य-विधान के लिए बाह्य तत्त्वो को महत्त्व न देकर आन्तरिक या आध्यात्मिक तत्त्वो को महत्त्व देते हैं। जैसे, प्लोटीनस का मत है कि ईश्वर-प्रदत्त बुद्धि या विचारशक्ति ही सौन्दर्य-विधान के लिए आवश्यक होती है।[7] महाकवि गेटे का मत है कि कलाकार की विशिष्टता ही सौन्दर्य की जननी है। अत वैशिष्ट्य ही सौन्दर्य-विधान का प्रमुख तत्त्व है।[8] ऐसे ही क्रोचे का विचार है कि सफल अभिव्यजना ही सौन्दर्य-विधान करती है और इसके अतिरिक्त अन्य किसी बाह्य उपकरण से सौन्दर्य का विधान नहीं होता।[9]

साराश यह है कि प्राच्य एव पाश्चात्य विद्वानो के मतानुसार सौन्दर्य-विधान के लिए अन्तर्बाह्य दोनो प्रकार के उपकरण अपेक्षित हैं। न केवल बाह्य उपकरणो

1—History of Aesthetic by Bernard Bosanquet, p 33

२—वही, पृ० ३३। ३—वही, पृ० १५७।

4—Theory of Aesthetic, Historical Summary, p 290

५—साहित्य और सौन्दर्य, पृ० १०४।

6—History of Aesthetic, p 338

7—A beautiful material thing is produced by participation in reason issuing from the divine —History of Aesthetic, p 114

8—Thus for Goethe at his period, the characteristic was simply the starting point, or frame work, from which the beautiful arose through the power of the artist —Theory of Aesthetic, Historical Summary, p 291

9— We may define beauty as successful expression, or better, as expression and nothing more —Theory of Aesthetic, p 129

द्वारा ही सौन्दर्य-विधान हो सकता है और न केवल आन्तरिक उपकरणों के द्वारा ही। दोनों का समुचित सम्मिश्रण ही पूर्ण सौन्दर्य का विधायक होता है। इस दृष्टि से वाह्य उपकरणों के अंतर्गत प्रमुख रूप से अन्विति, सामंजस्य, सुडौलपन, अंगों का व्यवस्थित क्रम, अनुपात, वर्णदीप्ति, कोमलता आदि आते हैं और आन्तरिक उपकरणों में रस, भाव, बुद्धि, विशिष्टता, कल्पना, अभिव्यंजना आदि को लिया जाता है।

अब देखना यह है कि उक्त उपकरणों द्वारा सौन्दर्य का विधान किन-किन रूपों में होता है। साधारणतया कविजन तीन-प्रकार का सौन्दर्य-विधान करते हैं—(१) रूप-सौन्दर्य-विधान, (२) भाव-सौन्दर्य-विधान और (३) कर्म-सौन्दर्य-विधान। रूप-सौन्दर्य का विधान करते समय कवियों का ध्यान भाव के विषय या आलम्बन के वाह्य आकृति-सौन्दर्य की ओर ही अधिक रहता है। हिन्दी के रीतिकाल में इसी रूप-सौन्दर्य का वर्णन मिलता है। दूसरे, भाव-सौन्दर्य का विधान करने के लिए कवि किसी विषय या आलम्बन के वाह्य आकार-प्रकार की अपेक्षा आन्तरिक या हृदयगत सौन्दर्य की ओर अधिक उन्मुख होता है। ऐसे भाव-सौन्दर्य के चित्र छायावादी कवियों ने अधिक अंकित किये हैं। तीसरे, कर्म-सौन्दर्य का विधान करने के लिए कवि न तो व्यक्ति के वाह्य आकार-प्रकार का चित्रण करता है और न उसके हृदय का, वरन् उसके उदात्त कर्मों की ऐसी सुन्दर रूप-रेखा प्रस्तुत करता है, जिसमें उसके नाना क्षेत्रों में किए गये शारीरिक व्यापार होते हैं और उनके साथ ही नाना प्रकार के मनुष्यों, प्राणियों, प्राकृतिक दृश्यों और घटनाओं के प्रति उसकी जो-जो मानसिक प्रतिक्रियायें होती हैं, उनका भी प्रत्यक्षीकरण कराया जाता है। इस कर्म-सौन्दर्य के अन्तर्गत रूप एवं भाव-सौन्दर्य का भी समावेश हो सकता है। अतः कर्म-सौन्दर्य क्रियाशील अथवा गत्यात्मक होता है और इसमें वाह्य जगत के अतिरिक्त मानसिक जगत के अन्तर्द्वन्द्व आदि का समावेश हो जाता है। प्रायः प्रबंध काव्यों में उक्त दोनों सौन्दर्यों की अपेक्षा कर्म-सौन्दर्य का विधान ही अधिक मनोयोग के साथ किया जाता है।[1]

कामायनी में सौन्दर्य-विधान

मानवीय रूप-सौन्दर्य—उक्त विवेचन के आधार पर जब हम कामायनी का अनुशीलन करते हैं, तब पता चलता है कि सौन्दर्य-प्रेमी कवि प्रसाद ने 'कामायनी' में उक्त उपकरणों के आधार पर तीनों प्रकार के सौन्दर्य की सृष्टि की है। यद्यपि

१—छायावाद-युग, पृ० २८०।

प्रसादजी ने पाश्चात्य विद्वानों से प्रेरणा लेकर यहाँ सौन्दर्य का विधान नहीं किया है, फिर भी उनके अधिकांश सौन्दर्य-चित्रों में तथा-कथित अधिकांश उपकरणों का समावेश हो जाता है। प्रसादजी ने कामायनी में नारी और पुरुष दोनों के रूप-सौन्दर्य का चित्रण किया है, परन्तु उनकी दृष्टि में पुरुष की अपेक्षा नारी श्रेष्ठ है और इसी कारण नारी के रूप-सौन्दर्य का चित्रण करने में उन्होंने अपनी अद्भुत कला-कुशलता का परिचय दिया है। कामायनी के 'श्रद्धा' सर्ग में श्रद्धा के रूप-सौन्दर्य की विस्तृत झाँकी मिलती है। जहाँ पर लिखा है कि "हृदय की बाह्य उदार अनुकृति जैसी उसकी उन्मुक्त लम्बी काया मधु पवन-क्रीडित छोटे से साल-तरु के समान है। वह काया अत्यंत सुडौल तथा देदीप्यमान है और उसे नीले रोम वाले मेषों के कोमल चर्म ढके हुए हैं। उसका शुभ्र गौर वर्ण है और समस्त अंग अत्यंत मृदुल और सुकुमार हैं। नीले परिधान में से जो कुछ अधखुला अंग दिखाई देता है, वह अपनी प्रखर दीप्ति के कारण ऐसा जान पड़ता है, जैसे मानो नीले मेघ-वन के मध्य में बिजली के गुलाबी फूल खिले हुए हों। उसका मुख तेज-पूर्ण है, जो सन्ध्याकालीन बादलों में घिरे हुए अस्ताचलगामी सूर्य एवं माधवी रजनी में इन्द्रनीलमणि के लघु शृंग को फोड़कर निकलने वाले एक लघु ज्वालामुखी के तुल्य जान पड़ता है। उस देदीप्यमान मुख के आसपास कंधों तक पड़े हुए उसके कोमल सचिक्कण एवं सुकुमार घुँघराले बाल ऐसे बिखरे हुए हैं जैसे मानो नीले सुकुमार घन-शावक चन्द्रमा के समीप सुधा भरने के लिए आए हुए हों। उसकी मुसकान का तो कहना ही क्या! वह रक्तिम ओठों पर ऐसी प्रतीत होती है जैसे मानो सूर्य की एक अम्लान किरण रक्त किसलय पर विश्राम कर रही हो"[1] इत्यादि। कवि के इस रूप-सौन्दर्य-विधान में स्पष्ट ही अन्विति, सौष्ठव, सुडौलपन, शारीरिक अंगों का क्रम, विचित्रता आदि उपकरणों को देखा जा सकता है। इतना ही नहीं कवि का ध्यान यहाँ वर्ण-दीप्ति की ओर भी गया है, क्योंकि गौर वर्णवाली श्रद्धा को नीले रंग के परिधान से परिवेष्ठित दिखलाया है, जो सौन्दर्य-विधान की दृष्टि से अत्यंत उत्कृष्ट है, क्योंकि गोरे अंगों पर नीले रंग का वस्त्र अधिक शोभायमान लगता है। इस सौन्दर्य-चित्र में केवल बाह्य आकार-प्रकार ही नहीं है, अपितु रंग और भाव के रंग-विधान की परम्परा से भी सम्बन्ध दिखाई देता है, क्योंकि नीला वस्त्र चिरस्थायी प्रेम का प्रतीक होता है और बार-बार धोने से भी हलका नहीं पड़ता। साथ ही सूरदास ने भी राधा को नीली फरिया पहनाई है[2] और बिहारी ने भी अपनी नायिका को नीली साड़ी पहनकर अधिक रमणीक बतलाया

१—कामायनी, पृ० ४६-४७।
२—प्रसादजी की कला, पृ० ७८।

है।[1] ऐसे ही कवि प्रसाद ने श्रद्धा के दीप्ति-पूर्ण उज्ज्वल मुख को श्याम केशों से घिरा हुआ दिखाकर मुख के सौन्दर्य को द्विगुणित बनाने का प्रयत्न किया है।

इसके अनन्तर कवि ने श्रद्धा को एक अपार्थिव एवं आध्यात्मिक सौंदर्य से ओत-प्रोत सिद्ध करने के लिए उसके शरीर को एक ऐसी सुरभि की साकार प्रतिमा बतलाया है, जो कुसुम-कानन के अंचल में मंद-मंद पवन से प्रेरित होकर बह रही हो। श्रद्धा का वह शरीर पराग के परमाणुओं से ही बना हुआ तथा मधु का आश्रय लेकर खड़ा हुआ लिखा है। साथ ही उस अलौकिक शरीर वाली श्रद्धा के मुख पर जो मुस्कान छाई हुई थी वह पूर्णिमा की शुभ्र चन्द्र-ज्योत्स्ना के तुल्य मनमोहक एवं आनन्दमयी क्रीडा के तुल्य अबाधगति से ओठों पर छाई रहने वाली बतलाई है।[2] इस सौंदर्य-विधान में कवि का उद्देश्य है, श्रद्धा को अतीन्द्रिय सौंदर्य से युक्त बतलाना। इसी कारण जिस तरह चन्द्र-ज्योत्स्ना से वस्तुएँ जगमगा उठती हैं उसी तरह यहाँ मन की साध या अभिलाषा से दीप्त मुस्कान से उसके अंग का सौंदर्य निखर उठा है। अत. यहाँ उसके शरीर को पार्थिव हड्डी, मांस, मज्जा आदि से रचित न बतलाकर एक दिव्यगंध एवं प्रकृति के मनोरम एवं अपार्थिव पदार्थों से रचा हुआ सिद्ध किया है। और जिस तरह गोस्वामी तुलसीदास ने छवि रूपी अमृतसागर में उत्पन्न सौंदर्य-मूल लक्ष्मी से भी बढ़कर सीता को कहकर उनके अलौकिक सौंदर्य की कल्पना की है,[3] उसी तरह प्रसादजी ने भी श्रद्धा के सौंदर्य का काल्पनिक चित्र अंकित करते हुए उसमें रंग, सुगन्धि, मधु, दीप्ति, कान्ति आदि समस्त सुन्दर वस्तुओं को एक स्थान पर ही संकलित कर दिया है।

१—डारी सारी नील की ओट अचूक, चुकै न।
मो मन-मृगु करबर गहैं, अहे! अहेरी नैन॥ बिहारी-रत्नाकर ५०।

२—कुसुम कानन अंचल में मंद पवन प्रेरित सौरभ साकार,
रचित परमाणु पराग शरीर खड़ा हो ले मधु का आधार।
और पड़ती हो उस पर शुभ्र नवल मधु राका मन की साध,
हँसी का मद विह्वल प्रतिबिम्ब मधुरिमा खेला सदृश अबाध।
—श्रद्धा सर्ग, पृ० ४८।

३—जौं छबि सुधा पयोनिधि होई। परम रूपमय कच्छपु सोई।
सोभा रजु मंदरु सिंगारू। मथै पानि पंकज निज मारू॥
एहि बिधि उपजै लच्छि जब सुन्दरता सुख मूल।
तदपि सकोच समेत कवि कहहिं सीय समतूल॥
—रामचरितमानस, बालकांड २४७।

नारी के अतिरिक्त पुरुष के रूप-सौंदर्य का चित्रण भी कामायनी में बडी सजीवता के साथ अंकित किया गया है। मनु की शारीरिक गठन आदि का उल्लेख करते हुए यहाँ बतलाया है कि उनके शरीर का प्रत्येक अवयव दृढ मांसपेशियो से बना हुआ था, जिनमें से अपरिमित वीर्य झलकता था, शरीर की समस्त शिरायें अत्यन्त उभरी हुई थी, जिनमें शुद्ध रक्त का सचार हो रहा था, उनका मुख चिन्ता-कातर अवश्य था, परन्तु वह अपार पौरुष से देदीप्यमान था और हृदय में उपेक्षामय यौवन का मधुमय स्रोत प्रवाहित होरहा था।[1] ऐसे ही मनु-पुत्र मानव के शारीरिक सौंदर्य का चित्रण करते हुए उसके मुख पर अपरिमित तेज बतलाया है, उसके समस्त अभिनव अगो को केहरि-किशोर की भाँति प्रस्फुटित होते हुए कहा है तथा उसे एक ऐसे गभीर यौवन से युक्त बतलाया है, जिसमें कुछ नवीन भाव भी भरे हुए हो।[2] पुरुष के इन दोनो रूप-सौंदर्य के चित्रणो में एक ऐसे सुडौल एव सुगठित शरीर की कल्पना की गई है, जिसमें ओज, तेज, यौवन-दीप्ति, माधुर्य, गाभीर्य, तीव्रता, स्वस्थता आदि विद्यमान हो और जो अगो की अन्विति, सामजस्य, अनुपात, व्यवस्थित क्रम, सुडौलपन आदि से भी युक्त है। हिन्दी साहित्य में ऐसे वर्णन खोजने पर ही मिलेंगे।

इस तरह प्रसादजी ने मानवीय रूप-सौन्दर्य का चित्रण करने के लिए जिस प्रणाली को अपनाया है, उसमें भक्तिकाल या रीतिकाल की भाँति समस्त अगो का नख-शिख वर्णन तो नही है, अपितु कुछ विशिष्ट अवयवो का ऐसा सजीव वर्णन मिलता है कि उसमें अग-सौष्ठव के साथ-साथ उसके अन्तर्बाह्य सौन्दर्य की भी झाँकी मिल जाती है और पाठक उस सौन्दर्य के अपूर्व प्रभाव को ग्रहण करता हुआ एक अतीन्द्रिय सौन्दर्य की अनुभूति मे लीन हो जाता है। अत प्रसादजी ने एक कुशल चितेरे की भाँति थोडी सी रेखाओ, छाया या प्रकाश-किरणो अथवा किंचित् अगो

१—अवयव की दृढ मास पेशियाँ, ऊर्जस्वित था वीर्य अपार,
स्फीत शिरायें, स्वस्थ रक्त का होता था जिनमें सचार।
चिंता कातर वदन हो रहा पौरुष जिसमें ओतप्रोत,
उधर उपेक्षामय यौवन का बहता भीतर मधुमय स्रोत।
—चिंता सर्ग, पृ० ४।

२—मानव था साथ उसी के मुख पर था तेज अपरिमित।
केहरि किशोर से अभिनव अवयव प्रस्फुटित हुए थे,
यौवन गम्भीर हुआ था जिसमें कुछ भाव नये थे।
—आनन्द सर्ग, पृ० २७७।

के विवरण द्वारा रूप-सौन्दर्य का ऐसा विधान किया है, जिसमे पात्रो के पार्थिव एव अपार्थिव, लौकिक एव अलौकिक दोनो प्रकार के सौन्दर्य का अपूर्व आभास मिल जाता है।

प्राकृतिक रूप-सौन्दर्य—कामायनी में प्रसादजी ने जिस प्रकार नर-नारी के रूप-सौन्दर्य का विधान किया है, इसी प्रकार उन्होने प्रकृति के सौम्य एव भयानक अवयवो की भी झाँकी प्रस्तुत की है और सर्वत्र एक अद्वितीय सौन्दर्य के दर्शन किये है। उन्हे प्रकृति मे कही भी जडता एव निर्जीवता नही दिखाई देती, अपितु सर्वत्र एक चेतनता एव सजीवता विलास करती हुई प्रतीत होती है। अत यह कहना अनुचित नही कि उक्त दोनो प्रकार के रूप-सौन्दर्यो की अपेक्षा कामायनी मे प्रसादजी का झुकाव प्रकृति के अनिद्य रूप-सौन्दर्य की ओर अधिक है और ऐसा प्रतीत होता है कि कवि को प्रकृति के अतिरिक्त अन्यत्र कही भी ऐसे अनुपम सौन्दर्य की झलक नही दिखाई देती। इसी कारण कामायनी मे प्रकृति के अत्यन्त भव्य एव बिम्बग्राही चित्रो की भरमार है। उदाहरण के लिए पहले प्रलयकालीन समुद्र का रूप-चित्रण लिया जा सकता है। जिसमे कुटिल काल के जालो के समान गरजती हुई उन्नत लहरे ऐसी प्रतीत होती है, जैसे फेन उगलती हुई फनो को फैलाये अनेक व्यालियाँ चली आरही हो। विलास वेग की भाँति उसका भैरव जल-सघात बढता चला आरहा है, उसकी वेला क्षण-क्षण पर निकट आती जारही है, क्षितिज का अभी तक क्षीण आभास मिल रहा था, परन्तु अब वह भी पूर्णतया लीन हो चुका है और वह भयानक समुद्र अखिल धरा को डुबोकर बस मर्यादा-हीन हो जाता है।[1] समुद्र के इस रूप-चित्रण म प्रकृति के भयानक रूप की सुन्दर झाँकी प्रस्तुत की गई है, जिसमें विचित्रता के साथ-साथ उसके अलौकिक सौन्दर्य के दर्शन होते हैं।

दूसरा सश्लिष्ट चित्र हिमालय का लिया जा सकता है, जिसमें उसे विश्व-कल्पना के समान अत्यत उन्नत, सुख, शीतलता एव सतोष से परिपूर्ण, डूबती हुई अबला का अवलम्बन, मणिरत्नो का कोश आदि कहकर एक अत्यन्त शोभनतम शरीरधारी पर्वतो के सम्राट् के रूप में चित्रित किया है, जो लताओ मे आवेष्ठित होने के कारण ऐसा जान पडता है कि मानो निद्रा मे सुख-स्वप्न देख रहा हो। वहाँ पर सर्वत्र नीरवता के रहने के कारण ऐसा जान पडता है, मानो उसके चरणो में या उसके साम्राज्य में सर्वत्र नीरवता की विमल विभूति विराजमान है। शीतल जल से परिपूर्ण झरने उसके जीवन की अनुभूति को प्रकट कर रहे है और ऐसा मालूम होता है कि झरनो की कल-कल ध्वनि के रूप में हिमालय की मधुर हँसी ही फूट निकल

१—कामायनी, पृ० १४–१५।

है। इसकी शिला-सधियो से टकराकर पवन चारो ओर गुजार भर रहा है, जिससे ऐसा जान पडता है कि वह पवन चारण कवियो की भाँति पर्वतराज हिमालय की दुर्भेद्य अचल दृढता का सर्वत्र प्रचार कर रहा है। सध्याकालीन घनमालाओ के मध्य मे इसकी गगन-चुम्बिनी श्रेणियाँ ऐसी प्रतीत होती हैं मानो वे इस गिरिराज की रानियाँ है, जो तुषार का किरीट धारण करके, सध्याकालीन बादलो की रग-बिरगी छीट के उत्तरीय ओढे हुए हैं।[1] हिमालय के इस रूप-सौन्दर्य के चित्रण मे जहाँ एक सश्लिष्ट चित्र अकित करने का प्रयत्न किया गया है, वहाँ उसमे व्यवस्थित क्रम, सामजस्य, अन्विति, वर्ण-दीप्ति आदि के साथ-साथ एक दैवी सौदर्य की अनुपम झाँकी भी प्रस्तुत की गई है।

प्रसादजी ने ऐसा ही एक सश्लिष्ट चित्र सध्या-सुन्दरी का अकित किया है, जिसमे वह एक नायिका की भाँति सुसज्जित होकर अपने सरोवर रूपी घर मे आती है। वह गैरिक वस्त्र पहने हुए है, उसकी अलकें तारो से गुँथी हुई हैं और वह कदम्ब पुष्पो की सुरभित करधनी पहने हुए है। उसके आते ही उसके घर मे चहल-पहल मच जाती है, क्योकि सतान की तरह खग-समूह किलकारी भरने लगता है, कलहस कलरव करने लगते है और उनकी प्रतिध्वनियाँ ऐसी प्रतीत होती हैं मानो स्वर्ग की किन्नरियाँ अभिनव तानें ले रही हो।[2] सध्या के इस रूप-चित्रण में मानवीकरण का प्रयोग करते हुए उसमें एक सुन्दरी देवागना की सी पवित्रता, कोमलता, मसृणता आदि के दिखाने का प्रयत्न हुआ है।

निष्कर्ष यह है कि प्रसादजी ने मानवीय एव प्राकृतिक रूप-सौंदर्य के सजीव चित्र अकित किये हैं, जिनमें व्यवस्थित क्रम, पूर्णता, मधुरिमा एवं सक्षिप्तता के दर्शन होते हैं। इन चित्रो की सक्षिप्त-शैली इतनी मार्मिक है कि थोड़े विवरण से ही रूप-सौन्दय का प्रभावशाली चित्र पाठको के मानस-पटल पर उतर आता है और उसकी सुषमा का साक्षात्कार करता हुआ प्रत्येक सहृदय पाठक आनन्द-विभोर हो उठता है।

भाव-सौन्दर्य—जिस तरह प्रसादजी ने रूप-सौन्दर्य के सजीव चित्र अकित करके अपनी चित्रण कुशलता का परिचय दिया है, उसी तरह भाव-सौन्दर्य का चित्रण

१—कामायनी, पृ० २९–३०।

२—सध्या समीप आई थी उस सर के, वल्कल वसना,
तारों से अलक गुंथी थी पहने कदम्ब की रसना।
खग कुल किलकार रहे थे कलहस कर रहे कलरव,
किन्नरियाँ बनी प्रतिध्वनि लेती थीं तानें अभिनव।
—आनन्द सर्ग, पृ० २८५।

131-32

भी बड़ी निपुणता एव कलात्मकता के साथ किया है। देखा जाय तो सम्पूर्ण कामायनी भाव-सौन्दर्य के सजीव चित्रो से ही ओत-प्रोत है। स्थान-स्थान पर अमूर्त्त भावो को मूर्त्त रूप देकर प्रसादजी ने उन्हे जिस तरह सुसज्जित किया है, वैसा प्रयत्न अन्यत्र मिलना दुर्लभ है। उदाहरण के लिए प्रथम चिन्ता नामक मनोभाव का ही चित्र देखिए। इसमे चिन्ता को विश्व-वन की सर्पिणी, ज्वालामुखी पर्वत के भीषण स्फोट के प्रथम कम्पन के समान मतवाली, अभाव की चचल बालिका, ललाट की दुष्ट रेखा, हरीभरी सी दौड़-धूप, समस्त ग्रहो की हलचल आदि कहकर उसे हृदय की लहलहाती हुई खेती के ऊपर ओलो से भरे हुए बादलो के तुल्य छाई रहने वाली बतलाया है।[1] चिन्ता के इस चित्र द्वारा उसका स्वरूप पूर्णतया स्पष्ट होजाता है और प्रत्येक पाठक उसकी वस्तुस्थिति से भली प्रकार अवगत हो सकता है। चिन्ता के सम्यक् निरूपण मे उसकी अन्तर्बाह्य समस्त विशेषताओ के साथ-साथ उसके मूर्त्तरूप को भी सजीवता के साथ अंकित करने का प्रयत्न किया गया है।

ऐसा ही दूसरा चित्र वासना का है। जिसमे वासना के उदय होते ही सर्वत्र चन्द्रमा की सुकुमार किरणे मधु बरसाती हुई सी प्रतीत होती हैं, पवन पुलकित होकर मधु का भार लिए हुए मथर गति से चलता हुआ सा जान पडता है, प्राण अधीर हो उठते है, घ्राण किसी सुरभि से तृप्त होकर छका सा प्रतीत होता है, व्यर्थ ही प्रिया के रूठने का सा सन्देह होने लगता है और न जाने क्यो मनाने की सी इच्छा होती है तथा प्रेमी अपने को इस कार्य मे असमर्थ सा समझने लगता है। साथ ही वेदना के समान ही धमनियो में रक्त का संचार होने लगता है और लघुभार सा लेकर हृदय में धडकन भी कांपने लगती है।[2] यहां पर अमूर्त्त वासना का ऐसा ब्योरेवार चित्रण किया है कि उसका स्वरूप पूर्णतया स्पष्ट हो गया है।

इनसे भी अधिक सजीव एव मनोमोहक चित्र लज्जा नामक मनोभाव का अंकित किया है। कामायनी का लज्जा' सर्ग इसी मनोभाव के सजीव चित्रण के कारण सर्वश्रेष्ठ माना जाता है। प्रसादजी ने इस अमूर्त्त भाव का मूर्त्तीकरण करते हुए लिखा है कि एक नारी मे लज्जा मनोभाव के उदय होते ही उसे प्रेमी को छूने मे हिचक लगती है, देखने मे सहसा पलकें आँखो पर झुक जाती है, परिहास से भरी हुई मीठी वाणी अधरो तक आकर रुक जाती है, रोमाच हो जाता है और उसके अग की रोमावली खडी होकर चुपचाप उसे रोकने का सकेत करने लगती है। यद्यपि वह नारी अधरो से कुछ नही कहती, फिर भी उसकी भौंहो की काली-काली रेखायें मूक-

---

१—कामायनी, पृ० ५-६। २—वही, पृ० ८६।

है। इसकी शिला-संधियों से टकराकर पवन चारों ओर गुंजार भर रहा है, जिससे ऐसा जान पड़ता है कि वह पवन चारण कवियों की भाँति पर्वतराज हिमालय की दुर्भेद्य अचल दृढ़ता का सर्वत्र प्रचार कर रहा है। संध्याकालीन घनमालाओं के मध्य में इसकी गगन-चुम्बिनी श्रेणियाँ ऐसी प्रतीत होती हैं मानो वे इस गिरिराज की रानियाँ हैं, जो तुषार का किरीट धारण करके, मध्याकालीन बादलों की रंग-बिरंगी छींट के उत्तरीय ओढ़े हुए हैं।[1] हिमालय के इस रूप-सौन्दर्य के चित्रण में जहाँ एक संश्लिष्ट चित्र अंकित करने का प्रयत्न किया गया है, वहाँ उसमें व्यवस्थित क्रम, सामंजस्य, अन्विति, वर्ण-दीप्ति आदि के साथ-साथ एक दैवी सौंदर्य की अनुपम झाँकी भी प्रस्तुत की गई है।

प्रसादजी ने ऐसा ही एक संश्लिष्ट चित्र संध्या-सुन्दरी का अंकित किया है, जिसमें वह एक नायिका की भाँति सुसज्जित होकर अपने सरोवर रूपी घर में आती है। वह गैरिक वस्त्र पहने हुए है, उसकी अलकें तारों से गुँथी हुई हैं और वह कदम्ब पुष्पों की सुरभित करधनी पहने हुए है। उसके आते ही उसके घर में चहल-पहल मच जाती है, क्योंकि संतान की तरह खग-समूह किलकारी भरने लगता है, कलहंस कलरव करने लगते हैं और उनकी प्रतिध्वनियाँ ऐसी प्रतीत होती हैं मानो स्वर्ग की किन्नरियाँ अभिनव तानें ले रही हों।[2] संध्या के इस रूप-चित्रण में मानवीकरण का प्रयोग करते हुए उसमें एक सुन्दरी देवांगना की सी पवित्रता, कोमलता, मसृणता आदि के दिखाने का प्रयत्न हुआ है।

निष्कर्ष यह है कि प्रसादजी ने मानवीय एवं प्राकृतिक रूप-सौंदर्य के सजीव चित्र अंकित किये हैं, जिनमें व्यवस्थित क्रम, पूर्णता, मधुरिमा एवं संक्षिप्तता के दर्शन होते हैं। इन चित्रों की संक्षिप्त-शैली इतनी मार्मिक है कि थोड़े विवरण से ही रूप-सौन्दर्य का प्रभावशाली चित्र पाठकों के मानस-पटल पर उतर आता है और उसकी सुषमा का साक्षात्कार करता हुआ प्रत्येक सहृदय पाठक आनन्द-विभोर हो उठता है।

भाव-सौन्दर्य—जिस तरह प्रसादजी ने रूप-सौन्दर्य के सजीव चित्र अंकित करके अपनी चित्रण कुशलता का परिचय दिया है, उसी तरह भाव-सौन्दर्य का चित्रण

१—कामायनी, पृ० २६–३०।

२—संध्या समीप आई थी उस सर के, वल्कल वसना,
तारों से अलक गुंथी थी पहने कदम्ब की रसना।
खग कुल किलकार रहे थे कलहंस कर रहे कलरव,
किन्नरियाँ बनी प्रतिध्वनि लेती थीं तानें अभिनव।
—आनन्द सर्ग, पृ० २८५।

गिरते हैं तो ऐसा जान पडता है कि मानो वे सुमन बनकर पृथ्वी पर बरस रहे हैं और कोई महापर्व समीप ही आ गया है।[1]

नारी के कर्म-सौंदर्य का दूसरा चित्र वहाँ मिलता है, जहाँ श्रद्धा स्वप्न मे अनिष्टकारी घटनाएँ देखकर मनु को खोजने के लिए एक योगिनी की भाँति घर से निकल पडती है और ढूँढती-ढूँढती सारस्वत नगर मे जाकर अपने प्राणप्रिय को मुमूर्ष अवस्था मे देखती है। उस समय उसका हृदय घुलकर आँखो के मार्ग से बहने लगता है, वह अपने मधुर-स्पर्श के अनुलेप एव अपनी स्वर-लहरी के सजीवन-रस से मनु को सचेत कर देती है और आत्मीयता का सचार करती हुई अपने अपराधी पति को भी अवलम्ब देती है। इतना ही नही अपने रूठे हुए ईर्ष्यालु पति के हृदय में पुन. अनुराग उत्पन्न करके अपना महत्व स्थापित कर देती है।[2]

इतना ही नही अन्त मे वह पतिव्रता नारी अपने अथक् परिश्रम द्वारा जगती की ज्वाला से सतप्त एव पथ-भ्रष्ट पुरुष को उचित मार्ग पर लाकर एव उसके जीवन में समरसता का सचार करती हुई उसे महापुरुष बना देती है, जिससे फिर वे दोनो निरन्तर ससृति की सेवा में लीन रहते हैं, सतोष एव सुख देकर सबके दुःख को दूर करते हैं[3] और जगत का कल्याण करते हुए अखड आनन्द का अनुभव करते हैं।[4] इस तरह कामायनी मे नारी के कर्म-सौंदर्य की ऐसी मनोरम झाँकी प्रस्तुत की गई है कि सर्वत्र उसी का व्यक्तित्व महान् दिखाई देता है और वही मानव को पशुता से मानवता की ओर ले जाने वाली सिद्ध होती है।

साराश यह है कि प्रसादजी ने कामायनी मे रूप, भाव एव कर्म तीनो प्रकार के सौंदर्य का विधान किया है। इसके लिए उन्होने सौंदर्य के अन्तर्बाह्य सभी उपकरणो का प्रयोग किया है और उनके द्वारा सौंदर्य की एक ऐसी चित्रण-प्रणाली को जन्म दिया है, जो युग की एक विशिष्ट प्रणाली बन गई है। इसी प्रणाली के कारण आज छायावाद के युग को सौंदर्य-चित्रण का भी युग कह सकते है, क्योंकि मानव के अन्तर्बाह्य जीवन सम्बन्धी जितने सजीव चित्र इस युग में अकित हुए हैं, उतने हिन्दी-साहित्य के किसी भी युग में मिलना कठिन है। साथ ही जबकि कामायनी इस छायावादी युग की प्रतिनिधि रचना है, तो इसमें तत्कालीन पद्धति पर सौंदर्य-चित्रो की बहुलता का होना भी स्वाभाविक है। यही कारण है कि कामायनी मे सौंदर्य-चित्र अधिक मिलते हैं, जिनमे प्रसादजी के सौंदर्य-विधान की निपुणता एवं बारीकी के दर्शन होते हैं।

१—कामायनी, पृ० १४१, १४९—१५१। २—वही, पृ० १४३।
३—वही, पृ० २१४—२२२। ४—वही, पृ० २८२।

सौन्दर्य और रस—पाश्चात्य सौन्दर्य-शास्त्रियों ने सौन्दर्य में प्रसन्नता एवं आनन्दानुभूति का जैसा वर्णन किया है, वैसा ही वर्णन हमारे यहाँ रस के अन्तर्गत मिलता है और रस को यहाँ स्वयं आनन्द-स्वरूप ही माना है। इसके साथ ही क्रोचे ने सौन्दर्य जन्य आनन्द को दो भागों में विभक्त किया है—शुद्ध आनन्द और मिश्रित आनन्द। काव्य, चित्र आदि से शुद्ध आनन्द की प्राप्ति होती है और नाटकों से मिश्रित आनन्द मिलता है।[1] इससे सिद्ध है कि सौन्दर्य के आनन्द में कला का आनन्द भी सम्मिलित है। यह बात डा० वासुदेवशरण अग्रवाल ने भी स्वीकार की है कि 'चतुर शिल्पी जिस पाषाण-खंड को अपने कौशल से छू देता है वही सौन्दर्य का प्रतीक बन जाता है और उसी में से रस का अक्षय स्रोत फूट निकलता है।'[2] इस तरह सौन्दर्य-जन्य आनन्दानुभूति तथा कलागत आनन्दानुभूति या रस में समानता प्रतीत होती है। परन्तु सौन्दर्य और रस की एक सी प्रकृति होते हुए भी उनमें थोड़ा अन्तर है। रस अपनी विभाव, अनुभाव, सञ्चारी आदि सामग्री पर आधारित है, जिसमें विभाव-पक्ष मुख्य है। रस नौ माने गये हैं, जिनमें शृंगार को मुख्यता दी गई है, किन्तु अन्य रस भी अपना महत्त्व रखते हैं। सौन्दर्य का सम्बन्ध केवल शृंगार रस के आलम्बनों से ही है। शृंगार के आलम्बनों में तथा उनके वर्णन करने वाले काव्यों में माधुर्यगुण की प्रधानता रहती है। भारतीय दृष्टिकोण से माधुर्य को ही सौन्दर्य का परिचायक कहा जा सकता है। माधुर्य की परिभाषा में कहा गया है कि 'जो गुण चित्त को द्रवीभूत करके आह्लादमय बनाता है, उसे माधुर्य कहते हैं।'[3] सौन्दर्य में भी चित्त को द्रवीभूत करने का गुण होता है। साथ ही शृंगार रस के स्थायी भाव रति में भी मन को उसके अनुकूल अर्थ में प्रेमार्द्र या द्रवीभूत होना बतलाया गया है।[4] इस तरह मन की अनुकूलता या चित्त के द्रवीभूत होने का जो लक्षण रति में मिलता है वही सौन्दर्य या माधुर्य में भी प्राप्त हो जाता है। अतः अन्य सभी रसों की अपेक्षा केवल शृंगार रस और सौन्दर्य एक समान प्रतीत होते हैं।

शृंगार रस में भी सौन्दर्य का सम्बन्ध केवल उसके आलम्बन विभाव से होने के कारण सौन्दर्य कला का बाह्य पक्ष सिद्ध होता है। वैसे प्रत्येक कला का सम्बन्ध रस से है और जो बात कला के लिए कही जा सकती है वही बात व्यापक सौन्दर्य के लिए भी कही जा सकती है, जिसमें प्राकृतिक और मानसिक सौन्दर्य भी आ जाते हैं। इतना होने पर भी सौन्दर्य कला का बाह्य शरीर है और रस उसकी आत्मा है।

1—Theory of Aesthetic, p. 131   2—कला और संस्कृति, पृ० २१९।

3—चित्तद्रवीभावमयोऽह्लादो माधुर्यमुच्यते। साहित्यदर्पण ८।३

4—रतिर्मनोऽनुकूलेऽर्थे मनसः प्रवणायितम्। साहित्यदर्पण ३।१८५

सौन्दर्य में केवल नेत्रेन्द्रिय की सहायता ली जाती है, जबकि रस का सम्बन्ध हृदय से है। यदि सौन्दर्य पुष्प है तो रस उसका आह्लादमय सौरभ है। परन्तु पाश्चात्य विद्वानो की दृष्टि केवल कला के वाह्य पक्ष की ओर ही रही, जबकि भारतीय विद्वानो ने उसके अन्तस् मे प्रवेश करके कला के वास्तविक स्वरूप को जानने की भी चेष्टा की। यही कारण है कि पाश्चात्य सौन्दर्यानुभूति एव प्राच्य रसानुभूति मे एकता होने पर भी पर्याप्त अन्तर दिखाई देता है। पश्चिम की सौन्दर्यानुभूति में रजोगुण की प्रधानता है, जबकि रसानुभूति सत्वगुण-प्रधान है। एक मे आनन्द की अनुभूति आनुषंगिक है, परन्तु दूसरी स्वयं आनन्दस्वरूप ही है।[1] इतना ही नही पश्चिम मे सौन्दर्यानुभूति की भौतिक एवं आध्यात्मिक व्याख्या होने पर भी वह ब्रह्मानन्द के समकक्ष नही ठहराई जा सकी है, जबकि भारतीय विद्वानो ने "रसो वै स"[2] कहकर रस को ही ब्रह्म मान लिया है और इसी कारण रसानुभूति भी यहाँ ब्रह्मानन्द की अनुभूति के समकक्ष मानी जाती है।

वस्तु और रस का सतुलन—काव्य के कलेवर मे शब्द, अर्थ तथा रस तीनो सगुम्फित रहते हैं। राजशेखर ने ठीक ही लिखा है कि शब्द और अर्थ काव्य के शरीर हैं और रस उसकी आत्मा है।[3] शब्द और अर्थ का सम्बन्ध काव्य की वस्तु से होता है, क्योंकि सार्थक शब्दो के समूह से ही कविता की वस्तु का निर्माण होता है, निरर्थक शब्दो से नही। इसके साथ ही जब काव्य की आत्मा रस है, तब काव्य का सारा ढाँचा या वस्तु-विधान भी रस की दृष्टि से ही होना उचित है और उसमें आने वाले गुण, रीति, अलकारादि की योजना भी रसानुकूल ही उपयुक्त होती है। साहित्यदर्पणकार ने इसी कारण लिखा भी है कि 'रसात्मक वाक्य ही काव्य है, दोष उसका अपकर्ष करने वाले हैं तथा गुण, अलंकार एव रीति उसके उत्कर्ष विधायक होते हैं।'[4] इस प्रकार वस्तु में क्या गुण, क्या अलकार और क्या रीति एवं वक्रोक्ति सभी का विधान रस को ध्यान में रखकर होना ठीक है। इतना ही नही आचार्यो ने जिन दोषो की कल्पना की है उनमें भी रस का ध्यान रखा गया है और रस का अपकर्ष करने वाली या रस मे बाधक वस्तुओं को ही प्राय. दोष कहकर पुकारा गया है।[5]

१—वक्रोक्ति और अभिव्यंजना, पृ० १६७। २—तैत्तिरीयोपनिषद् २।७

३—काव्य-मीमांसा, पृ० १४।

४—वाक्यं रसात्मकं काव्यं दोषास्तस्यापकर्षका.।
उत्कर्ष हेतवः प्रोक्ता गुणालंकाररीतयः॥ साहित्यदर्पण १।३–५

५—रसापकर्षकाः दोषा। साहित्यदर्पण ७।१

अतः काव्य की वस्तु में संतुलन स्थापित करने के लिए अथवा उसका काव्य में उचित विधान करने के लिए कवि को रस पर ध्यान देना सर्वथा अपेक्षित है। जब रस काव्य की आत्मा है, तब आत्मा को छोड़कर यदि काव्य-वस्तु का विधान किया जायगा अथवा उस आत्मा की ओर ध्यान न देकर वाह्य आकार-प्रकार में ही केवल सौन्दर्य खोजने का प्रयत्न किया जावेगा तो वह रचना निर्जीव होगी, उसमें रस के बिना सजीवता नहीं आ सकती और वह सहृदयों के हृदय को भी अपनी ओर आकृष्ट करने में सफल नहीं हो सकती। हमारे यहाँ तो रस ही सौन्दर्यानुभूति का साधन माना गया है और रस-शून्य किसी भी रचना को काव्य कहने में भी संकोच रहा है।[1] अतः वस्तु के लिए रस की अत्यन्त आवश्यकता है, विशेषकर प्रबन्ध काव्य की वस्तु का विधान तो रस की नींव पर ही होता है, तभी वह रचना सरस और आह्लादकारिणी होती है। यह माना कि काव्य-वस्तु में एक कथा रहनी चाहिए, उसमें जहाँ-तहाँ आलंकारिक वर्णन भी होने चाहिए, वृत्तों की भी सुन्दर योजना होनी चाहिए, रीति एवं गुणों का भी उचित उपयोग होना चाहिए और उक्तियों का भी कौशल रहना चाहिए, परन्तु रस का ध्यान न रखकर यदि उपर्युक्त सभी बातों की योजना की जायगी, तो वह रचना चमत्कारिक भले ही हो जाय, सरस न होगी, कौतूहलवर्द्धक भले ही हो जाय, आह्लादकारिणी न होगी और शब्द-सौन्दर्य से ओत प्रोत भले ही हो, किन्तु अर्थ-सौन्दर्य से हीन होगी। इसलिए कथा-वस्तु की सफल योजना के लिए रस के संतुलित स्वरूप का होना अत्यन्त आवश्यक है। आचार्य शुक्ल ने भी काव्य और सूक्ति का भेद बतलाते हुए सरस और रसहीन काव्य-वस्तु की ओर स्पष्ट संकेत किया है। उनका कहना है कि "जो उक्ति हृदय में कोई भाव जागरित करदे या उस प्रस्तुत वस्तु या तथ्य की मार्मिक भावना में लीन करदे वह तो है काव्य और जो उक्ति केवल कथन के ढंग के अनूठेपन, रचना-वैचित्र्य, चमत्कार, कवि के श्रम या निपुणता के विचार में ही प्रवृत्त करे वह है सूक्ति।"[2] इस प्रकार वस्तु के सफल-विधान के लिए उसमें रस का संतुलित स्वरूप रहना अनिवार्य है। अलंकारादि से बाह्य सौन्दर्य की ही सृष्टि हो सकती है, किन्तु आन्तरिक सौन्दर्य का उद्घाटन रस द्वारा होता है और जिस रचना में रस की ओर कवि की संतुलित दृष्टि रहती है वही रचना सफल एवं उत्कृष्ट मानी जाती है।

नूतन काव्य-धारा में रस की स्थिति—काव्य में रस की अनिवार्य सत्ता का विवेचन करने के उपरान्त अब देखना यह है कि आधुनिक नूतन काव्य-धारा में रस

१—नहि तच्छून्यं काव्यं किञ्चिदस्ति। ध्वन्यालोक

२—चिन्तामणि, भाग १, पृ० २२८।

की क्या स्थिति है और आजकल के कवि कहाँ तक रस पर ध्यान देते हैं। कहने की आवश्यकता नही कि आजकल पाश्चात्य विचारो के प्रभाव से कवियो का ध्यान रस की ओर उतना नही है जितना कि स्वानुभूति-निरूपण, चरित्र-चित्रण, सौन्दर्य-वर्णन आदि की ओर दिखाई देता है। आजकल प्राय ऐसे विचार फैल रहे हैं कि 'रस-सिद्धान्त कोई अटल वस्तु नही है, जीवन की धाराएँ एक दूसरे से ऐसी मिली-जुली हैं कि नौ रसो की मेड बाँधकर उन्हे अपने मन के मुताविक नही बहाया जा सकता।' 'यह रस-परिपाटी जीवित कविता की गति में बाधक होती है। वह अवरोध है और एकमात्र राजाश्रित कवियो की बनाई हुई है। वह आदि-कवि के काव्य मे नही मिलती। नही बाद को मिलती। यदि रस काव्य की आत्मा होता, तो वह सबकी कविता में मिलता, इत्यादि।'[1] इन सभी आक्षेपो का उचित एव उपयुक्त उत्तर देते हुए प० रामदहिन मिश्र ने लिखा है कि 'रस की सख्या नौ होना ही आवश्यक नही है, अन्य भाव भी रस की कोटि तक पहुँच सकते हैं और वह स्वय नौ के स्थान पर ग्यारह रसो को मान कर चले हैं। साथ ही उनका मत है कि रस का सिद्धान्त राजाश्रित कवियो का बनाया हुआ नही है, वह दो हजार बरस से भी ऊपर की चीज है। रस कविता के लिए कभी बाधक नही होता, क्योकि यहाँ तो आचार्यो ने काव्य की तीन श्रेणियाँ मानी हैं—उत्तम, मध्यम और अधम। जो रसहीन रचनाएँ हैं, वे मध्यम तथा अधम कोटि मे आती हैं और सरस रचनाओ को उत्तम कहा जाता है। इतना ही नही सूक्तियाँ भी कविता ही मानी जाती हैं।'[2]

इनके अतिरिक्त श्री नंददुलारे वाजपेयी ने छायावादी युग की कविता का विश्लेषण करते हुए लिखा है कि इन कविता मे 'काव्य-कल्पना और शब्द-सकेतो में वास्तविक अनुभूति का योग रहता है। यह अनुभूति ही इस युग की प्रेरणा-शक्ति है। उसी अनुभूति के आधार पर रस-सिद्धान्त की सृष्टि हुई है और उसके उपादान—विभाव, अनुभाव, सचारी भाव आदि निश्चित किए गए है।'[3] यही बात डा० भगीरथ मिश्र ने भी स्वीकार की है कि आजकल का कवि जिस अनुभूति को कविता का अनिवार्य अग मानता है या उसे आत्मा कहता है वह भाव या रस-सम्प्रदाय की ही वस्तु है।[4] इतना अवश्य है कि आधुनिक कविता मे प्रगीत-मुक्तकों की प्रधानता है और उन

१—काव्यदर्पण, भूमिका, पृ० ४–१३।

२—काव्यदर्पण, भूमिका, पृ० ५–१४।

३—आधुनिक साहित्य, पृ० १२।

४—हिन्दी काव्य शास्त्र का इतिहास, पृ० ४१०।

मुस्कराते हुए[1] तथा नदियो और पर्वतो को परस्पर गलबाँही डालकर घूमते हुए लिखा है,[2] वहाँ पर शास्त्रीय दृष्टि से रसाभास सिद्ध होता है, क्योकि ऐसे स्थलो पर प्रकृति मे चेतनता का आरोप करके प्राकृतिक पदार्थो को रति-क्रीडा में निमग्न दिखाया है, जो कि अनौचित्य के अन्तर्गत आता है। परन्तु तनिक गहराई के साथ विचार किया जाय तो पता चलेगा कि उक्त औचित्य-अनौचित्य सम्बन्धी धारणा प्राचीन है। आधुनिक युग मे सामतयुगीन दृष्टि के बदल जाने और विज्ञान द्वारा नई दृष्टि मिल जाने से बहुत कुछ प्राचीन मान्यताएँ भी बदल चुकी हैं। अब प्रकृति में रति-क्रीडा का वर्णन करना अनुचित नही माना जाता और आधुनिक वैज्ञानिक तो पुष्पो एव पेड-पौधो में भी लिग-भेद मानने लगे हैं। साहित्य-शास्त्र में प्रकृति के इन व्यापारो को रसाभास सम्भवत. इसलिए कहा है कि ऐसे व्यापारो मे चेतना के कार्य की प्रतीति नहीं होती। परन्तु आधुनिक कवि की दृष्टि मे प्रकृति सजीव एवम् सचेतन है। अतः उसके व्यापार भी मानवोपम होते हैं, भले ही वे रस की कोटि में न आकर भावमात्र ही रहे।

निष्कर्ष यह है कि कामायनी में अपने युग के अन्तर्गत प्रचलित प्राचीन एव नवीन अधिकाश सौंदर्य एव रस सम्बन्धी मान्यताओ के दर्शन होते हैं और प्रसादजी ने काव्य के भाव एव विभाव दोनो पक्षो का बडी सफलता के साथ निरूपण किया है। भाव-पक्ष के अन्तर्गत कामायनी के भाव-सौंदर्य एवं रसादि-पूर्ण वर्णन आजाते हैं और विभाव-पक्ष में सौंदर्य-चित्रण आता है। इस तरह कामायनी मे आधुनिक युग की मान्यताओं का सुन्दर समन्वय मिलता है और कवि प्रसाद ने आदि मानव की कथा के सहारे अनुपम प्रेम एवम् अलौकिक सौंदर्य की जो रसात्मक झाँकी प्रस्तुत की है, उसी के आधार पर आज 'कामायनी' को अपने युग का प्रतिनिधि महाकाव्य कहा जा सकता है।

१—घूंघट उठा देख मुसक्याती किसे ठिठकती सी आती। आशा सर्ग, पृ० ३६।

२—भुज लता पड़ी सरिताओ की शैलों के गले सनाथ हुए।

—काम सर्ग, पृ० १०३।

प्रकरण ४

कामायनी का काव्यत्व (२)

कामायनी का कला-पक्ष

काव्य में शब्द-विधान सम्बन्धी विभिन्न मत—भाषा कवि की स्वानुभूति का सफलतापूर्वक अभिव्यक्त करने का सुन्दर माध्यम है, क्योकि भाषा ही भाव एव विचारो को वहन करके कवि की स्वानुभूति को उसके अन्तप्रदेश से बाह्य जगत मे लाती है और अपनी अपूर्व क्षमता द्वारा उन्हे सर्वजन-सुलभ बना देती है। इस भाषा का स्वरूप पद, पदाशो, वाक्य या वाक्याशो द्वारा निर्मित होता है और पद या वाक्य आदि का मूल आधार शब्द है। इस तरह भाषा के स्वरूप का निर्माण शब्द समुच्चय द्वारा होता है और ये शब्द ही भावाभिव्यक्ति के प्रमुख साधन हैं। इसी कारण काव्य को मुख्यत' शब्द की साधना कहा गया है।[1]

शब्द का धातुगत अर्थ आविष्कार करना या शब्द करना है।[2] यह शब्द अपनी साकेतिक ध्वनि द्वारा साधारणतया वस्तुओ का ज्ञान कराया करता है।[3] पतजलि ने कहा भी है कि 'लोक में पदार्थ की प्रतीति कराने वाली ध्वनि को शब्द कहते हैं।'[4] कुन्तक भी 'अन्य अनेक वाचको के रहते हुए भी विवक्षित अथवा अभिलषित अर्थ के एकमात्र वाचक को शब्द कहते हैं।'[5] आचार्य दडी का मत है कि 'सम्यक् प्रयोग होने से यह शब्द कामधेनु के समान हमारा सर्वार्थ सिद्ध करता है और दुष्प्रयुक्त होने से प्रयोक्ता की ही मूर्खता को प्रकट करता है।'[6]

अंग्रेजी के विद्वान् वाल्टर पेटर ने भी लिखा है कि 'अनेक शब्दो के रहते हुए भी एक वस्तु, एक विचार के लिए एक ही शब्द उपयुक्त होता है।[7] हर्बर्ट रीड का

१—साहित्यालोचन, पृ० ६३। २—सिद्धान्त-कौमुदी, पृ० ४०२।
३—काव्यदर्पण-भूमिका, पृ० ४७। ४—महाभाष्य १।१।१
५—वक्रोक्तिजीवितम् १।९ ६—काव्यादर्श १।६
7—Appreciation, p 27

भी यही विचार है कि 'कविता शब्दो में ही अभिव्यंजित होती है और काव्य में शब्द ही मूर्तियो एव विचारो का संकेत किया करते हैं'[1] और क्रोचे का मत है कि 'कविता एक ओर तो शब्द की मूर्ति है और दूसरी ओर वह शब्दो के अर्थ की भी मूर्ति है।'[2] भारतीय आचार्यो ने भी शब्द और अर्थ को काव्य का शरीर कहा है।[3] अतः अर्थयुक्त शब्दो द्वारा ही काव्य का विधान होता है।

साधारणतया साहित्य-ग्रथो मे शब्द तीन प्रकार के माने गये हैं—वाचक, लक्षक और व्यजक। जो साक्षात् सकेतित अर्थ के बोधक होते हैं वे वाचक कहलाते है, जो मुख्यार्थ के बाध होने पर उससे भिन्न किसी अन्य अर्थ को लक्षित करते हैं वे लक्षक होते हैं और व्यग्यार्थ के द्योतक शब्दो को व्यजक कहते हैं।[4] इन तीनो प्रकार के शब्दो द्वारा ही काव्य का निर्माण होता है।

परन्तु काव्य के लिए कैसा शब्द-विधान अपेक्षित है, इसके बारे में विद्वानो के भिन्न-भिन्न मत मिलते हैं। भरतमुनि का विचार है कि 'गूढ शब्दार्थ से रहित मृदुललित पदावली' ही सदैव काव्य के लिए शुभ होती है।[5] अग्निपुराण में लिखा है कि 'सक्षेप मे अपने अभीष्ट अर्थ को प्रकट करने वाले वाक्यो से युक्त पदावली' ही काव्य के लिए अपेक्षित है।[6] इसके अतिरिक्त अन्य सस्कृत के आचार्य सार्थक शब्दो एव रसात्मक वाक्यो द्वारा काव्य का निर्माण उचित बतलाते हैं।[7]

हिन्दी के आधुनिक आचार्यो मे मे प० महावीरप्रसाद द्विवेदी का मत है कि काव्य की भाषा सरल-सुबोध होनी चाहिए, शब्दो का रूप व्याकरण-समस्त अर्थात् शुद्ध होना चाहिए तथा रसानुरूप शब्दो का प्रयोग होना चाहिए।[8] आचार्य शुक्ल का विचार है कि कविता मे 'लाक्षणिक, विशेष रूप-व्यापार-सूचक, नाद-सौन्दर्य से परिपूर्ण तथा व्यक्तियो के नामो के स्थान पर उनके रूप-गुण या कार्य-बोधक शब्दो का व्यवहार होना उचित है।[9] आचार्य श्यामसुन्दरदास का कथन है कि शब्दों के आधार पर ही उत्तम काव्य-रचना हो सकती है। अत. उत्तम काव्य के लिए

1—Collective Essays in Literary Criticism, p 44
2—Theory of Aesthetic, p. 171,
३—काव्यालंकार १।१६, काव्यादर्श १।१०
४—काव्यदर्पण, पृ० २३, २७। ५—नाट्यशास्त्र १७।१२२
६—अग्निपुराण ३३७।६–७
७—काव्यालंकार १।१६, साहित्यदर्पण १।३
८—हिन्दी कविता मे युगान्तर, पृ० ७१।
९—चिंतामणि भाग १, पृ० २३८–२४६।

शब्दो का उपयुक्त प्रयोग, शब्द-सघटन, भाषा की प्रौढता, समीकृत वाक्य-रचना, अवधारणा का सस्थान आदि बातें अपेक्षित हैं।[१] साथ ही डा० भगीरथ मिश्र 'नवीन शब्दो, मुहावरो, प्रयोगो, लोकोक्तियो' आदि को कविता के लिए आवश्यक बतलाते है।[२]

पाश्चात्य विद्वानो मे से अरस्तू का विचार है कि शब्द आठ प्रकार के होते हैं—लोक प्रचलित (current), अपरिचित (strange), रूपकात्मक (metaphorical), आलकारिक (ornamental), नव-निर्मित (newly-coined), लम्बे (lengthened), सक्षिप्त (contracted) और परिवर्तित (altered) ।[३] इसके उपरान्त अरस्तू ने लिखा है कि वह रचना अत्यन्त स्पष्ट होती है, जिसमें लोक-प्रचलित या उपयुक्त शब्दो का प्रयोग किया जाता है। परन्तु जिसमें अपरिचित, आलकारिक, रूपकात्मक एव लम्बे-लम्बे शब्दो का प्रयोग किया जाता है, वह रचना सर्वसाधारण की समझ में न आने वाली, कुछ गूढ एव क्लिष्ट होती है। यदि औचित्य का ध्यान रख कर रूपकात्मक, लम्बे-लम्बे, अपरिचित आदि शब्दो का ही प्रयोग किया जाय तो इनसे भी रचना सुन्दर हो सकती है, परन्तु औचित्य का ध्यान न रखने पर ऐसे शब्दो का प्रयोग हास्यास्पद हो जाता है।[४] एवरक्रोम्बी ने तो कविता में प्रयुक्त सुन्दर शब्दो को जादू का सा प्रभाव डालने वाला बतलाया है और लिखा है कि 'वे केवल मोहित या आनन्दित ही नही करते, अपितु हमारे मस्तिष्क में एक ऐसी असाधारण जीवनी शक्ति का सचार करते हैं, जिसके द्वारा हमें पदार्थो एव पदार्थ-विषयक अन्य बातो का भी भली प्रकार परिचय मिल जाता है।'[५] साथ ही हर्बर्ट रीड का मत है कि 'कविता में शब्द ही प्रधान है। अत कवि को शब्दो की ध्वनि, उनके आकार-प्रकार, आदि का भली प्रकार ज्ञान होना चाहिए, क्योकि शब्द कवि का सर्वस्व है और शब्दो का अर्थ ही काव्य का अर्थ होता है।'[६]

आधुनिक युग में छायावाद ने एक विशेष क्रान्ति उत्पन्न की है। इसलिए खडी बोली का जो रूप प्रचलित था, उसमें नवीनता उत्पन्न करते हुए छायावादी कवियो ने अपनी कविता के शब्द-विधान पर स्वय अपने विचार प्रकट किए हैं। उनमें से कविवर पत ने लिखा है कि "प्रत्येक शब्द एक सकेत-मात्र, इस विश्व-व्यापी

१—साहित्यालोचन, पृ० ३०८—३११।

२—हिन्दी काव्य शास्त्र का इतिहास, पृ० ४११।

3—Aristotle's Theory of Poetry and Fine Art by Butcher, p 77

४—वही, पृ० ८२—८५।

5—The Idea of Great Poetry p 18

6—Collective Essays in Literary Criticism, p 45

सगीत की अस्फुट झंकार-मात्र हैं। जिस प्रकार समग्र पदार्थ एक दूसरे पर अवलम्बित हैं, ऋणानुबध हैं, उसी प्रकार शब्द भी, ये सब एक विराट् परिवार के प्राणी हैं। जिस प्रकार शब्द एक ओर व्याकरण के कठिन नियमो से बद्ध होते हैं, उसी प्रकार दूसरी ओर राग के आकाश में पक्षियो की तरह स्वतत्र भी होते हैं। प्रत्येक शब्द साथ ही अपना अलग अर्थ रखता है, जैसे 'हिलोर' से उठान, 'लहर' में सलिल के वक्षस्थल की कोमल-कम्पन, 'तरग' मे लहरो के समूह का एक दूसरे को धकेलना, उठकर गिर पडना, 'वीचि' में जैसे किरणो में चमकती, हवा के पलने मे हौले-हौले झूलती हुई हँसमुख लहरियो का, 'उर्मि' से मधुर मुखरित हिलोरो का, 'हिल्लोल कल्लोल' से ऊँची-ऊँची बाँहे उठाती हुई उत्पात-पूर्ण तरगो का आभास मिलता है।"[1] इस प्रकार शब्द-विधान के लिए पतजी ने चार बातें आवश्यक बतलाई हैं—(१) शब्द के सम्बन्ध का ज्ञान होना, (२) शब्दो का व्याकरण-सम्मत होना, (३) शब्दो का रागमय होना और (४) प्रत्येक शब्द की आत्मा का ज्ञान होना। ये चारो बातें भाषा के स्वच्छन्द एव स्वाभाविक प्रवाह के साथ-साथ अपनी परम्परागत विशेषताओ की भी द्योतक हैं। कविवर निराला भी कविता के लिए ऐसी ही भाषा उपयुक्त समझते हैं, जिसका स्वाभाविक विकास अपने जातीय जीवन की दृढ नीव पर हुआ हो। आपने लिखा भी है कि "प्रकृति की स्वाभाविक चाल से भाषा जिस तरफ भी जाय—शक्ति सामर्थ्य और मुक्ति की तरफ या सुखानुशयता, मृदुलता और छद-लालित्य की तरफ, यदि उसके साथ जातीय जीवन का भी सम्बन्ध है तो यह निश्चित रूप से कहा जायगा कि प्राण-शक्ति उस भाषा मे है।"[2]

इसके साथ ही प्रसादजी का मत है कि "सूक्ष्म आभ्यन्तर भावो के व्यवहार में प्रचलित पद-योजना असफल रही। उनके लिए नवीन शैली, नया वाक्य-विन्यास आवश्यक था। हिन्दी में नवीन शब्दो की भगिमा स्पृहणीय आभ्यन्तर वर्णन के लिए प्रयुक्त होने लगी। शब्द-विन्यास में ऐसा पानी चढा कि उसमे एक तडप उत्पन्न करके सूक्ष्म अभिव्यक्ति का प्रयास किया गया। इस नये प्रकार की अभिव्यक्ति के लिए जिन नये शब्दो की योजना हुई, हिन्दी मे पहले वे कम समझे जाते थे, किन्तु शब्दो में भिन्न प्रयोग ने एक स्वतत्र अर्थ उत्पन्न करने की शक्ति है। समीप के शब्द भी उस शब्द विशेष का नवीन अर्थ द्योतन करने मे सहायक होते हैं। अर्थ-बोध व्यवहार पर निर्भर करता है, शब्द-शास्त्र मे पर्यायवाची तथा अनेकार्थवाची इसके प्रमाण है। इन्ही अर्थ-चमत्कार का माहात्म्य है कि कवि की वाणी में अभिधा से विलक्षण अर्थ साहित्य मे मान्य हुए।"[3]

१—पल्लव की भूमिका, पृ० १५–१७। २—प्रबध-प्रतिमा, पृ० २७०।
३—काव्य और कला तथा अन्य निबध, पृ० १२३–१२४।

प्रसादजी के उक्त कथन मे उनकी शब्द-विन्यास सम्बन्धी धारणा का पता चल जाता है। वे नवीनता के प्रेमी थे और अपने युग में पूर्व-प्रचलित शब्दो को अपने सूक्ष्म आभ्यन्तर भावो के अनुकूल नही समझते थे। इसलिए उन्होंने नवीन लाक्षणिक पदावली को अपनाया और कविता के लिए शब्द की आत्मा का ज्ञान आवश्यक बतलाया, इतना ही नही शब्द के व्यावहारिक रूप की भी अवहेलना नहीं की और उसी शब्द के कुछ भिन्न प्रयोग द्वारा कविता में विलक्षण अभिव्यक्ति को जन्म दिया।

अत उक्त सभी विद्वानो के शब्द-विधान सम्बन्धी विचारो का विश्लेषण करने के उपरान्त यही निष्कर्ष निकलता है कि आधुनिक काव्य के लिए भावानुकूल चित्रोपम शब्दो का चयन अपेक्षित है। वे शब्द लाक्षणिक एव प्रतीकात्मक भले ही हो, किन्तु लोक-रुचि एव लोक-व्यवहार से भिन्न न हो। उनमे नाद-सौन्दर्य एव ध्वन्यात्मकता का रहना भी आवश्यक है। वे व्याकरण-सम्मत हो, तथा उनमें नवीन शब्दो के साथ-साथ मुहावरे, लोकोक्ति आदि का भी प्रयोग हो तो वे और भी रसात्मक बन सकते है।

कामायनी मे शब्द-विधान

भावानुकूल चित्रोपम शब्दो का प्रयोग—कामायनी में प्रसादजी ने प्राय अपनी धारणा के अनुसार अभिव्यक्ति की नूतन प्रणाली का प्रयोग किया है। यह महाकाव्य उनके भावो की प्रौढ अभिव्यक्ति है। अत इसमें सभी प्रकार की प्रौढता के दर्शन होते हैं। शब्द-चयन में भी कवि ने पर्याप्त प्रौढता का परिचय दिया है और ढूँढने पर भी दो-चार पद ही ऐसे मिलेंगे जहाँ शिथिलता दिखाई दे, अन्यथा सर्वत्र सुसघटित शब्द-योजना ही दृष्टिगोचर होती है। यही कारण है कि कामायनी की अधिकाश पदावली म भावानुकूल चित्रोपम शब्दो का प्रयोग मिलता है। उदाहरण के लिए प्रारम्भिक 'चिता' सर्ग में आए हुए प्रलय-वर्णन को ले सकते हैं :—

> हाहाकार हुआ क्रदनमय कठिन कुलिश होते थे चूर,
> हुए दिगत बधिर, भीषण रव- बार बार होता था क्रूर।
> दिग्दाहों से धूम उठे, या जलधर उठे क्षितिज तट के,
> सघन गगन मे भीम प्रकम्पन झझा के चलते झटके।[1]

यहाँ कवि ने शब्दो मे ही प्रलय की भयकरता, बिजली की कडकडाहट, मेघों का गर्जन-तर्जन, हाहाकार एव करुण-क्रन्दन आदि का अत्यन्त सजीव चित्र अकित किया है।

१—कामायनी, पृ० १३।

ऐसा ही एक और चित्र 'लज्जा' सर्ग से ले सकते हैं, जिसमे कवि ने भावानुकूल अपनी सरस, सरल एव सशक्त भाषा का प्रयोग करते हुए लज्जा मनोभाव का निरूपण किया है —

छूने में हिचक, देखने में पलकें आँखो पर झुकती हैं,
कलरव परिहास भरी गूँजें अधरो तक सहसा रुकती हैं।
सकेत कर रही रोमाली चुपचाप बरजती खडी रही,
भाषा बन भौंहो की काली रेखा सी भ्रम में पडी रही।[1]

यहाँ कवि ने छूने मे हिचक, पलको का आँखो पर झुकना, वाणी का ओठो तक आकर रुक जाना, रोमाली का बरजना आदि ऐसे वाक्यो का प्रयोग किया है, जो सरल एव भाव-व्यजक हैं तथा जिनमें भावो को मूर्तिमान करने की अपूर्व क्षमता है। इन शब्दो मे चित्रोपमता का गुण सर्वत्र विद्यमान है।

लाक्षणिक एवं प्रतीकात्मक शब्द—छायावादी कविताओ मे प्रायः लाक्षणिक एव प्रतीकात्मक शब्दो का प्रयोग सर्वाधिक मिलता है। इसका कारण यह है कि हृदय के सूक्ष्म मनोभावो एव विशेष-विशेष रूप-व्यापारों का चित्रण करने मे द्विवेदीकालीन खडी बोली समर्थ न थी, क्योकि उसमे अभिधा-प्रधान स्थूल विचारो को ही व्यक्त किया जाता था, किन्तु छायावादी कवियो को जब अपने सूक्ष्म भावो एव विशेष-विशेष रूप-व्यापारो को व्यक्त करने की आवश्यकता हुई, तब वे लक्षणा एव व्यंजना-शक्ति का आश्रय लेकर ऐसे शब्दो का प्रयोग करने लगे, जो उन भावो, रूपो एव व्यापारो के प्रतीक बनकर सजीव चित्र अकित करने में समर्थ हो सकते थे। ये ही शब्द 'लाक्षणिक' एव 'प्रतीकात्मक' कहलाते है। कामायनी में भी ऐसे शब्दो की भरमार है। जैसे,

कुसुमित कुजो में वे पुलकित प्रेमालिगन हुए विलीन,
मौन हुई हैं मूर्च्छित तानें और न सुन पडती अब बीन।[2]

यहाँ प्रेमालिगनो का विलीन होना अर्थात् कुजो का प्रेमियो से शून्य हो जाना। मूर्च्छित तानो का मौन होना अर्थात् गाने-बजाने वालो के साथ-साथ सगीत-ध्वनि का समाप्त हो जाना है।

इसी प्रकार और भी कितने ही लाक्षणिक प्रयोग कामायनी मे मिलते हैं। जैसे, 'अनत नीलिमा', 'शांत की भूख', 'तरल आकांक्षा', 'शिथिल सुरभि', 'एकान्त कोलाहल', दीपका का स्वर', 'उज्ज्वल वरदान', 'मतवाली सुन्दरता' आदि।[3]

१—कामायनी, पृ० ६६। २—वही, पृ० १० (१५)
३—देखिए कामायनी क्रमश. पृ०, ३०, ५१, ५५, ६३, ६४, ६७, १०२ और १०३,।

प्रतीकात्मक शब्दो का प्रयोग भी कामायनी के अन्तर्गत अत्यधिक मिलता है। प्रतीक-विधान छायावाद की प्रमुख विशेषता है, क्योकि प्रतीकात्मक शब्दो द्वारा जितनी सजीवता से किसी वस्तु को ध्वनित किया जाता है उतना अन्य किसी प्रकार सभव नही। ये प्रतीकात्मक शब्द प्राय बाहरी सादृश्य या साधर्म्य के आधार पर प्रयुक्त नही होते, अपितु आभ्यतर प्रभाव-साम्य के आधार पर कविता में अपनाए जाते हैं। जैसे —

मधुमय वसत जीवन वन के वह अतरिक्ष की लहरो मे,
कब आये थे तुम चुपके से रजनी के पिछले पहरो में।
क्या तुम्हे देखकर आते यो मतवाली कोयल बोली थी,
उस नीरवता में अलसाई कलियो ने आँखें खोली थी।[1]

यहाँ पर 'मधुमय वसत' मादक यौवन का, 'रजनी का पिछला पहर' अर्थात् प्रभात-वेला किशोरावस्था की, 'मतवाली कोयल' सौन्दर्य की, और 'कलियाँ' प्रेम की प्रतीक हैं, क्योकि प्रसादजी ने अपने इन प्रतीको को चन्द्रगुप्त नाटक में स्पष्ट भी कर दिया है—'अकस्मात् जीवन-कानन में एक राका रजनी की छाया में छिपकर मधुर वसत घुस आता है। शरीर की सब क्यारियाँ हरी भरी हो जाती हैं। सौंदर्य का कोकिल—'कौन ?' कहकर सबको रोकने-टोकने लगता है। राजकुमारी! फिर उसी में प्रेम का मुकुल लग जाता है, आँसू भरी स्मृतियाँ मकरद-सी उसमें छिपी रहती हैं।'[2]

इसी प्रकार वैभव-हीनता के लिए 'सूनाराज', प्रफुल्लता के लिए 'ज्योत्स्ना', आकाक्षा के लिए 'स्वच्छन्द सुमन', यौवन के विकास के लिए 'उषा की लाली', सयमी व्यक्तियो के लिए 'नक्षत्र', आनन्दमय जीवन के लिए जीवन के 'सोने से सपने', अपार सौन्दर्य के लिए 'ज्योत्स्ना-निर्झर', प्रेमी के लिए 'मधुप', सुन्दर अग के लिए 'सित शतदल', अगो की सरसता के लिए 'मकरन्द', कान्तिहीन मुख के लिए प्रभात का हीन 'कला-शशि', कान्ति एव तेज के लिए 'किरन और चाँदनी', विरह-व्यथित क्षीण शरीर के लिए 'पतझड की सूनी डाली', मदिरा के लिए 'सध्या की लालिमा', क्रान्ति, हलचल तथा क्षोभ के लिए 'झझा' और 'आँधी', अनन्त पीडा के लिए 'मरुज्वाला', विरहिणी के लिए 'चातकी', सुखपूर्ण दिवसो के लिए 'सरस बरसात', और सकट के लिए 'अन्धकार की आँधी', हृदय के लिए 'मानस', भाव-प्रवाह के लिए 'मुरली के निस्वन', आनन्दोत्सव के लिए 'लासरास',[3] आदि प्रतीका-

---

१—कामायनी, पृ० ६३। २—चन्द्रगुप्त, पृ० २३१।

३—देखिए कामायनी क्रमश पृ० ३६, ३९, ६९, ६९, ६९, १०६, ८६, १७५, १७५, १७५, १७५, १७७, १८३, २२३, २१७, २१७, २१७, २२१, २८९, २९० और २९४।

त्मक शब्दो का प्रयोग किया है, जो सर्वत्र भाषा की प्रौढता के साथ-साथ उसके आन्तरिक भावो की भी सफल अभिव्यक्ति करते हैं।

नाद-सौन्दर्य या ध्वन्यात्मकता—वस्तु-स्थिति का सफल चित्रण करने के लिए जिस प्रकार उसके विशेष रूप-व्यापार-सूचक शब्द अपेक्षित हैं, वैसे ही नाद-सौन्दर्य लाने के लिए वस्तु का अनुकरण करने वाले एव अपनी ध्वनि से वस्तु को अभिव्यंजित करने वाले शब्दो की भी आवश्यकता होती है। ऐसे शब्दो की योजना को अँग्रेजी मे ओनोमेटोपोइया (Onomatopoeia) कहते हैं। कहने की आवश्यकता नही कि कामायनी मे ऐसे शब्दो की भी कमी नही है और प्रसादजी ने वस्तु-स्थिति का ध्वन्यात्मक स्वरूप प्रस्तुत करने के लिए ऐसे शब्दो की सफल योजना पर भी ध्यान दिया है। जैसे, 'ककरण क्वणित रणित नूपुर थे', 'धँसती धरा धधकती ज्वाला', 'करका क्रन्दन करती गिरती', 'घू-घू करता नाच रहा था', 'छप-छप का होता शब्द विरल, थर-थर कँप रहती दीप्ति तरल', 'यह क्या तम मे करता सन-सन', इत्यादि।[३] यहाँ आये हुए सभी शब्द अपनी ध्वनि से अपनी-अपनी वस्तु को अभिव्यजित कर रहे हैं।

शब्दों के शुद्ध-अशुद्ध प्रयोग—कामायनी में प्रायः व्याकरण-सम्मत शुद्ध शब्द-प्रयोगो की ही बहुलता है। परन्तु कामायनी मे कुछ शब्द-विधान सम्बन्धी विचित्रताएँ भी दिखाई देती हैं। कही तो प्रसादजी ने नादात्मक सौंदर्य लाने के लिए तद्भव शब्दो का प्रयोग किया है, कही असावधानी या कविता के आग्रह से व्याकरण की दृष्टि से अशुद्ध शब्दो का प्रयोग किया है, कहीं परम्परागत एव जनसाधारण में प्रचलित शब्दो को अपनाया है, कही कुछ विकृत शब्दो का भी प्रयोग किया है और एकाध विदेशी शब्द भी आगया है। इन शब्द-परिवर्तनो के दो प्रमुख कारण प्रतीत होते हैं—प्रथम तो वे शब्दो मे कुछ परिवर्तन करके नई अर्थ शक्ति भरने का प्रयत्न करते हैं और दूसरे अपनी व्यक्तिगत रुचि के कारण भी उन्होंने ये परिवर्तन किए हैं। किन्तु व्याकरण सम्बन्धी भूलें अवश्य शोचनीय है।

(क) नादात्मक सौंदर्य के कारण प्रयुक्त तद्भव शब्द—कामायनी में प्रसादजी ने नादात्मक सौंदर्य लाने के लिए तथा अपने प्रयोगो में कोमलता एवं मसृणता का संचार करने के लिए खड़ी बोली के कितने ही तत्सम शब्दो के स्थान पर तद्भव शब्दो का प्रयोग किया है। जैसे, उन्होने स्पर्श के स्थान पर 'परस', नक्षत्र के स्थान पर 'नखत', किरणो के स्थान पर 'किरन', पीड़ा के स्थान पर 'पीर', प्राण के स्थान पर 'प्रान', स्थिर के स्थान पर 'थिर', सन्ध्या के स्थान पर 'साँझ', परदेशी के स्थान पर

३—देखिए कामायनी क्रमश पृ० ११, १४, १५, २०, २४६ और २४७।

'परदेसी', तीक्ष्ण के स्थान पर 'तीखा', स्वप्न के स्थान पर 'सपना' आदि।[१] इन शब्दो पर स्पष्ट ही ब्रजभाषा का प्रभाव दिखाई देता है, क्योंकि ब्रजभाषा मे नाद-सौदर्य लाने के लिए इस तरह के कोमल एव मसृण शब्दो के प्रयोग की बहुलता मिलती है।

(ख) व्याकरण की दृष्टि से अशुद्ध प्रयोग—कामायनी में कुछ ऐसे शब्द-प्रयोग भी मिलते हैं, जो व्याकरण की दृष्टि से पूर्णतया अशुद्ध हैं और जिनके कारण काव्य-रचना मे भी दोष आगया है। ये सभी वर्णन च्युत-सस्कृति-दोष के अन्तर्गत आते हैं। जैसे —

(१) एक सजीव तपस्या जैसे पतझड मे कर वास रहा।[२]

यहाँ पर 'तपस्या' शब्द स्त्रीलिंग है, परन्तु उसका प्रयोग पुल्लिंग के रूप में किया गया है।

(२) शक्ति के विद्युत् कण, जो व्यस्त विकल बिखरे हैं, हो निरुपाय
समन्वय उसका करे समस्त विजयिनी मानवता हो जाय।[३]

यहाँ पर 'शक्ति के विद्युत्कण' का प्रयोग बहुवचन में हुआ है। इसलिए दूसरे पद में 'उसका' शब्द के स्थान पर 'उनका' होना चाहिए।

(३) सकल्प भर रहा है उनमें सदेहो की जाली क्या है ?[४]

यहाँ पर 'सदेहो की जाली' यह पूरा पद एक वचन में है। अत 'उनमें' के स्थान पर एक वचन का 'उसमें' होना चाहिए।

(४) अरे पुरोहित की आशा में कितने कष्ट सहे हो।[५]

यह वाक्य अशुद्ध है। यहाँ पर 'सहे हो' के स्थान पर 'सकते हो' होना चाहिए। वैसे यह बनारसी प्रयोग है।

(५) जलती छाती की दाह रही।[६]

'दाह' शब्द पुल्लिग है और प्रसादजी ने स्वय पहले 'खेल रहा है शीतल दाह'[७] लिखकर इसका पुल्लिग में ही प्रयोग किया है परन्तु उक्त पद में 'छाती की दाह' के अन्तर्गत उसका स्त्रीलिंग में अशुद्ध प्रयोग किया है।

(६) सुखदुख का मधुमय धूप छाँह।[८]

यहाँ पर धूप-छाँह स्त्रीलिंग है, अत 'का' के स्थान पर 'की' होना चाहिए।

१—देखिए कामायनी क्रमश पृ० ३६, ५०, ६७, ५१, ६४, १०९, १७६, १७८, २५० और ३४।

२—कामायनी, पृ० ३३। ३—वही, पृ० ५९। ४—वही, पृ० ६९। ५—वही, पृ० २१४। ६—वही, पृ० २४२। ७—वही, पृ० २७। ८—वही, पृ० २४१।

(ग) परम्परागत साधारण बोलचाल के शब्द—गैल, घोट, वकता, बयार, वासी, दाँव, पिछला पहर, बिछलन, झीमना, जाँचना, परदा, माती, दुहरी, चैन, अटकाव, हिचकी, साख, बेरोक, ढोकर, नन्ही, बुल्ला, वरजना, कौंध, जभी, सुम्रा, डीह, पुम्राल, पेंग, छुट्टी करना, सर्राटा-सन्नाटा, बावला, लीक, ठिठोली, परछाईं, झालर इत्यादि।[1]

(घ) विकृत शब्द—प्रसादजी ने कुछ शब्दो को ललित, मधुर एव प्रवाहपूर्ण बनाने के लिए विकृत भी किया है, परन्तु व्रजभाषा के कवियो की भाँति शब्दों की टाँग तोड़ने का कार्य नही किया है। विकृत शब्द इस प्रकार मिलते हैं :—निवल (निर्बल), मुसक्यान (मुस्कान), तीरे (तीर), पाँखें (पखड़ियाँ), ज्योतिमयी (ज्योतिर्मयी), ईर्षा (ईर्ष्या), आलस (आलस्य) आदि।[2]

(ङ) अप्रचलित एवं नवनिर्मित शब्द—कामायनी में कुछ ऐसे भी शब्द मिलते हैं, जिनको प्रसादजी ने अपने भावो को सक्षेप में व्यक्त करने के लिए नये रूप में ढाला है और जो खडी वोली की कविताओं में अप्रचलित प्रतीत होते हैं। जैसे, 'गुलाली' (गुलाल के से रग वाली), 'विकस चली' (विकास को प्राप्त हुई), 'दिपती' (दीप्तिमती होती), 'अलगाता' (अलग करता), 'सलील' (लीला सहित) 'झुठलाते' (झूठी बात कहकर धोखा देते) आदि।[3]

(च) विदेशी शब्द—सारी 'कामायनी' में बहुत खोजने पर केवल एक 'दाग'[4] शब्द ही ऐसा मिला है, जो फारसी का है, शेष सभी शब्द प्रसादजी ने हिन्दी-संस्कृत भाषा के ही अपनाए हैं।

लोकोक्ति एवं मुहावरों का प्रयोग—प्रसादजी ने कामायनी को सरस एवं मधुर बनाने के लिए लोक-प्रचलित लोकोक्तियो एव मुहावरो का प्रयोग भी किया है। कामायनी में ये लोकोक्तियाँ एव मुहावरे भावो की अभिव्यजना में बड़े ही सफल सिद्ध हुए हैं और सर्वत्र काव्य के उक्ति-वैचित्र्य एव अर्थ-गाम्भीर्य की वृद्धि में सहायक प्रतीत होते हैं। कामायनी में जिन लोकोक्तियों एवं मुहावरो का प्रयोग हुआ है, उनमें से कुछ ये हैं—किसी बात का खटका न रहना, अंधेर मचना, जीवन का दाँव हार

१—देखिए कामायनी क्रमशः पृ० २८, ३६, ३७, ५०, ५५, ५५, ६३, ६३, ६५, ६६, ६६, ७०, ७०, ७१, ८१, ८४, ८६, ६४, ८६, ६७, ६८, ६६, १०१, १०५, १११, १४५, १४६, १६५, १६६, २०५, २११, २५१, २६०, २६२ और २६३।

२—देखिए कामायनी क्रमशः पृ० २५, २६, ३४, ३५, ७७, ८५ और ७२।

३—देखिए कामायनी क्रमशः पृ० ७५, ७६, ६७, १३६, १४३ और २७२।

४—कामायनी, आशा सर्ग, पृ० ४०।

वैठना, प्रत्यक्ष का सपना बन जाना, ठोकर लगना, तिल का ताड बनाना, मुख की बीन बजाना, गरल को अमृत बनाना, मुँह मोडना, मुख में रक्त लग जाना, होड लगाना, पथ-पथ मे भटकना, काँटो के साथ फूलो का खिलना, दिन आना या दिन फिरना, छाती का जलना, चौकडी भरना, पाप का अपने मुख से स्वय पुकार उठना, सर्राटे भरना, सन्नाटा खीचना, मिलने का फेरा डालना, रोगटे खडे हो जाना, हाथ से तीर का छूट जाना, अधकार मे दौड लगाना आदि।[1]

साराश यह है कि प्रसादजी ने कामायनी के अन्तर्गत खडी बोली के लोक-प्रचलित शब्दो, मुहावरो, लोकोक्तियो आदि के साथ-साथ सूक्ष्म आभ्यान्तर भावो को व्यक्त करने वाले कुछ नवीन लाक्षणिक एव प्रतीकात्मक शब्दो को भी अपनाया है, जिनका अनुशीलन करने पर यही ज्ञात होता है कि प्रसादजी शब्द की अन्तरात्मा मे प्रवेश करने के उपरान्त शब्दो का प्रयोग करते हैं और उनके द्वारा एक ऐसी चित्रमयी भाषा बना देते हैं, जिसमें भावो के निरूपण की अपूर्व क्षमता दिखाई देती है और जो भावो के सजीव चित्र अकित कर देती है। प्रसादजी को कुछ शब्द अधिक प्रिय हैं और उनका प्रयोग कामायनी में अत्यधिक मिलता है। उनमे से 'सुन्दर', 'मधु', 'मधुर', 'मधुरतम' शब्द अपेक्षाकृत अधिक प्रयुक्त हुए हैं। जिनके फलस्वरूप कामायनी में सभी कुछ सुन्दर एव मधुर बन गया है और इसी कारण यहाँ सयोग-वियोग, रात-दिन, राग-स्वर, नाद-गान, मौनता-कलरव, सभी कुछ सुन्दर, मधुर एव मधुरतम हैं। कही-कही पाठक इस मधुर शब्द से ऊब भी जाता है। फिर भी कामायनी का शब्द-विधान अत्यन्त प्रौढ, सरस एव सजीव है। यहाँ शब्दों के प्रयोग में भावानुकूलता का ध्यान अधिक रखा गया है और शब्द-विधान में अधिक न्यूनता एव शिथिलता के दर्शन नही होते।

स्वर-विधान—सगीत में जो स्थान लय का है वही स्थान कविता मे स्वर का है। व्याकरण में स्वर से तात्पर्य एक प्रकार के ऐसे वर्णों से होता है, जो कोमल होते हैं तथा जिनकी सहायता से व्यजनो का उच्चारण किया जाता है, इसी कारण काव्य मे वर्ण-मैत्री के लिए जो विधान किया जाता है उसमे स्वरो का बहुत कुछ हाथ रहता है। परन्तु काव्य मे व्यजनो की जो समत्वमयी योजना होती है, वह अनुप्रास अलकार के अन्तर्गत आती है और स्वर-विधान स्वरो की एकता, समता

१—देखिए कामायनी क्रमश पृ० २४, ३६, ५५, ६८, १०२, ११०, ११२, १२४, १३३, १३६, १५८, १६०, १६३, १६६, १७७, १७६, १६६, २०५, २०५, २११, २१५, २४८ और २६७।

तथा ध्वनि-साम्य पर अधिक वल देता है। अत. अनुप्रास अलकार और स्वर-विधान में पर्याप्त अन्तर है।

भारतीय वाङ्मय के अन्तर्गत अत्यन्त प्राचीन काल में भी स्वर का अत्यधिक महत्व रहा है। वेदो में तो स्वरो की ही एकमात्र प्रमुखता स्वीकार की गई है, क्योकि स्वर की किंचित् गडवडी से ही वहाँ मत्रो के अर्थ वदल जाते हैं, तथा सस्वर वेद-मन्त्रो का उच्चारण ही अभीष्ट फल प्रदान करता है। आज भी जिस समय सस्वर वेद-मन्त्रो का समवेत रूप में उच्चारण होता है, उस समय वाणी द्वारा अमृत वर्षा होती हुई प्रतीत होती है। प्राचीन काल में इस स्वर-विधान की शिक्षा के लिए ही शाकल्य मुनि ने पद-पाठ की रीति चलाई थी, जिसमें वैदिक स्वरो का विधिवत् अध्ययन करना पडता था।[1]

स्वर-विधान का विशेष सवन्ध काव्यगत पदो में स-स्वर शब्दो की स्थापना से है। काव्य में प्राय. ऐसे शब्दो का रखना अधिक सुन्दर माना जाता है, जिनकी ध्वनि कानो को मधुर एव सुखदायक प्रतीत होती है और जो रसानुकूल होने के कारण कानो में प्रवेश करते ही हठात् हृदय पर अपना अधिकार कर लेते हैं। अरस्तू ने स्वर-विधान सम्वन्वी इसी वैशिष्ट्य को जानकर अपने 'प्रोव्लम्स' (Problems) नामक ग्रन्थ मे लिखा है कि 'शब्दो की अपेक्षा शब्दो की ध्वनि या उनके स्वर मे एक प्रकार का नैतिक गुण रहता है।'[2] इसका कारण यह है कि शब्द-ध्वनि एकदम जाकर अपना निकट सम्वन्व आत्मा से स्थापित कर लेती है और प्रत्येक स्वर हृदय में हलचल उत्पन्न करता हुआ सा प्रतीत होता है।[3] यही कारण है कि ग्रीक कवि भी स्वर या ध्वनि को कविता में सवसे अधिक महत्वशाली समझते हैं और वे विचारो एवं भावो की अपेक्षा स्वर-विधान को काव्य का प्रमुख एव अनिवार्य अग मानते हैं।[4]

हिन्दी के आधुनिक कवि पन्त का भी यही विचार है कि 'कविता के शब्द स-स्वर होने चाहिए, जो वोलते हो, सेव की तरह जिनके रस की मधुर-लालिमा भीतर न समा सकने के कारण वाहर झलक पडे, जो अपने भाव को अपनी ही ध्वनि में आँखो के सामने चित्रित कर सकें, जो झकार में चित्र, चित्र में झकार हो, जिनका भाव-सगीत विद्युत् धारा की तरह रोम-रोम में प्रवाहित हो सके।' इसी को आपने चित्र-राग कहा है और वतलाया है कि 'काव्य-सगीत के मूल-तन्तु स्वर हैं, न कि

१—भाषा-विज्ञान, ले० डा० श्यामसुन्दरदास, पृ० ५, १६२।
2—Aristotle's Theory of Poetry and Fine Art, p 131.
३—वही, पृ० १३२।   ४—वही, पृ० १३२।

व्यजन। जिस प्रकार सितार मे राग का रूप प्रकट करने के लिए केवल स्वर के तार पर ही कर-सचालन किया जाता है और शेष तार केवल स्वर-पूर्ति के लिए, मुख्य तार को सहायता देने भर के लिए झकरित किये जाते हैं, उसी प्रकार कविता मे भी भावना का रूप स्वरो के सम्मिश्रण, उनकी यथोचित मैत्री पर ही निर्भर रहता है।'[1]

प्रसादजी भी कविता को एक ऐसा वर्णमय चित्र बतलाते हैं, जो "स्वर्गीय भाव-पूर्ण सगीत गाया करता है।"[2] यह वर्णमय चित्र मद्य प्रभावोत्पादक होता है, बोल सकता है और इसमें सगीत की भी योजना हो सकती है।[3] अत प्रसादजी कविता के अन्तर्गत ऐसे स्वर-विधान को महत्व देते हैं, जिसमें भाव-पूर्ण सगीत गाने की क्षमता हो, जो काव्य में सगीत तथा सगीत से काव्य की रचना करने मे समर्थ हो और जो 'चित्रराग' के निर्माण मे भी पूर्ण सहायक हो।

साधारणतया हिन्दी में आजकल गद्य और पद्य एक ही खड़ी बोली भाषा में लिखे जाते है, किन्तु उनका भेद भी बहुत कुछ स्वर-विधान पर ही निर्भर है, क्योकि गद्य में तो इसकी कोई आवश्यकता नही होती, जबकि पद्य बिना स्वर-विधान के शुष्क, रूखा एव नीरस प्रतीत होता है। पद्य में सरसता लाने के लिए ही भारतीय साहित्य-शास्त्र में तीन वृत्तियो की कल्पना की गई है, जो उपनागरिका, परुपा और कोमला कहलाती हैं। इनमे से उपनागरिका वृत्ति मे सानुस्वार वर्णों की योजना की जाती है, परुपा वृत्ति मे कुछ कठोर एव सयुक्त वर्णो की बहुलता होती है और कोमला में प्रसाद गुण वाले सरल-कोमल वर्णो का समावेश रहता है।[4]

साराश यह है कि कविता के स्वर-विधान के लिए स्वर-मैत्री रसानुकूल वृत्तियो की योजना, अनुप्रासादि अलकारों की अपेक्षा शब्दो की आन्तरिक स्वर-लहरी या चित्र-राग आदि का होना अपेक्षित है। वैसे तो नाद सौन्दर्य एव ध्वन्यात्मकता का सम्बन्ध भी स्वर-विधान से दिखाई देता है, परन्तु इनका सम्बन्ध कविता की बाह्य समता से है, जबकि स्वर-मैत्री आदि का सम्बन्ध कविता के आन्तरिक साम्य से है। अत नाद-सौन्दर्य एव ध्वन्यात्मकता को स्वर-विधान के अन्तर्गत नही लिया जा सकता।

१—पल्लव की भूमिका, पृ० १७-२७।

२—स्कन्दगुप्त, पृ० २१।

३—इन्दु, कला २, किरण १, श्रावण शुक्ला २, स० १९६७, पृ० २०।

४—काव्यदर्पण, पृ० ४४७-४४८।

कामायनी मे स्वर-विधान

स्वर-मैत्री—उक्त विवेचन के आधार पर जब कामायनी का अनुशीलन किया जाता है, तब पता चलता है कि प्रसादजी ने स्वर्गीय सगीत उत्पन्न करने के लिए कामायनी मे स्वर-विधान की ओर भी पर्याप्त ध्यान दिया है और स्वरो के सयोग से कामायनी काव्य को इतना सरस एवम् मधुर बनाने का प्रयत्न किया है कि भले ही किसी पाठक या श्रोता को कामायनी के पद्यो का अर्थ प्रतीत न हो, परन्तु उन पद्यो को सुनकर ही वह सिर हिलाने लग जायेगा तथा उसका हृदय आनन्द-विभोर होकर बार-बार उसे सुनने की आकाक्षा प्रकट करेगा। इस सरसता एवम् माधुर्य का प्रमुख कारण यह है कि कामायनी काव्य मे स्वर-मैत्री की ओर अधिक ध्यान दिया गया है। कामायनी के अधिकाश स्थलो पर हमे स्वर-मैत्री के सुन्दर उदाहरण मिल जाते हैं, जिनमें से कुछ उदाहरण नीचे दिये जाते हैं :—

(१) हिमगिरि के उत्तुग शिखर पर बैठ शिला की शीतल छाँह।[१]

यहाँ ह्रस्व 'इ' ने पक्ति में अद्भुत स्वर-मैत्री उत्पन्न की है।

(२) दूर दूर तक विस्तृत था हिम स्तब्ध उसी के हृदय समान।[२]

यहाँ पर 'ऊ' अपने प्लुत स्वर द्वारा हिम के विस्तार की सूचना दे रहा है।

(३) ग्रह पथ के आलोक वृत्त से काल जाल तनता अपना।[३]

यहाँ पर दीर्घ 'आ' अपने ध्वनिसाम्य द्वारा विस्तृत जाल को तानता हुआ सा प्रतीत हो रहा है।

(४) जिनने समीर छनता-छनता बनता है प्राणो की छाया।[४]

यहाँ पर अनुनासिक ध्वनि के साथ दीर्घ 'आ' समीर के छन-छन कर आने की क्रिया का सकेत कर रहा है।

वृत्तियों का प्रयोग—स्वर-विधान में कोमलता, परुषता आदि का विचार करके जो वर्णो की योजना की जाती है, वहाँ पर वृत्तियो का स्वरूप देखा जा सकता है। प्रसादजी ने कामायनी में वृत्तियो का प्रयोग स्वर-विधान के लिए भी किया है। उदाहरण के लिए जैसे उपनागरिका वृत्ति मे अनुस्वार वाले वर्णो का ही विधान अच्छा समझा जाता है। कामायनी मे निम्नलिखित पक्तियाँ उपनागरिका वृत्ति का स्वरूप प्रस्तुत करती है :—

१—कामायनी, पृ० ३। २—वही, पृ० ३। ३—वही, पृ० ३४। ४—वही, पृ० ६६।

हिम खड रश्मि मडित हो मणि दीप प्रकाश दिखाता,
जिनसे समीर टकरा कर अति मधुर मृदग बजाता ।[१]

दूसरे, परुषावृत्ति के अनुकूल कठोर एव परुष वर्णों की रचना कामायनी की निम्नलिखित पक्तियो में मिलती है —

प्रत्येक नाश विश्लेषण भी सश्लिष्ट हुए, बन सृष्टि रही,
ऋतुपति के घर कुसुमोत्सव था, मादक मरद की वृष्टि रही।[२]

और कोमला वृत्ति मे जिन सरल एव मधुर वर्णों की योजना होती है, उनके द्वारा कोई भी रचना पढने एव सुनने मे अत्यत कर्णप्रिय एव हृदय को आनन्द देने वाली बन जाती है। कामायनी में इस वृत्ति का अपेक्षाकृत अधिक प्रयोग हुआ है। जैसे,

कोमल किसलय के अचल में नन्ही कलिका ज्यो छिपती सी
गोधूली के धूमिल पट में दीपक के स्वर में दिपती सी।[३]

स्वर-लहरी या-चित्रराग—काव्य में स्वरलहरी एव चित्रराग उत्पन्न करने के लिए प्राय ऐसे वर्णों की योजना की जाती है, जो सरल, सरस, सचिक्कण एव मृदु हो तथा जिनके सुनते ही पाठक या श्रोता का ध्यान आकर्षित होकर वही केन्द्रित हो जाय। कहने की आवश्यकता नही कि प्रसादजी ने कामायनी में कितने ही स्थलो पर इस चित्रराग एव स्वर-लहरी के अनुकूल वर्णों की योजना की है। नीचे एक उदाहरण 'चित्रराग' का दिया जाता है जिसमे स्वरों के मधुर सयोग से व्यजन भी मधुमय सगीत-लहरी को प्रकट करते हुए दिखाई देते हैं :—

तुमुल कोलाहल कलह में, मैं हृदय की बात रे मन।
विकल होकर नित्य चचल, खोजती जब नीद के पल,
चेतना थक सी रही तब, मैं मलय की बात रे मन।[४]

साराश यह है कि प्रसादजी ने कामायनी में जहाँ शब्द-विधान सम्बन्धी कौशल दिखलाया है, वहाँ स्वर-विधान में भी वे बडे निपुण प्रतीत होते हैं। आपने अपने नाटको में जितने गीत लिखे हैं, उनसे ही आपकी सगीत के प्रति रुचि एव स्वर-विधान सम्बन्धी कुशलता का पता चल जाता है, किन्तु अपनी इस अन्तिम प्रौढ़ रचना 'कामायनी' में तो स्वरों के आरोह-अवरोह तथा उनके ह्रस्व-दीर्घ-प्लुत एव कोमल-परुष-स्वरूपो का भावानुकूल प्रयोग करके आपने स्वर-विधान सम्बन्धी निपुणता तथा उनकी अन्तरात्मा के ज्ञान का यथेष्ट परिचय दिया है। इसमें कोई सदेह नही

१—कामायनी, पृ० २६३। २—वही, पृ० ७३। ३—वही, पृ० ६७।
४—वही, पृ० २१६।

कि सारा कामायनी काव्य गेय है और अपनी संगीतात्मकता से अद्‌भुत प्रभाव डालने की क्षमता रखता है, परन्तु इसका श्रेय प्रसादजी के स्वर-विधान को है, क्योंकि आपने व्यजनो के साथ स्वरो का ऐसा सुन्दर सम्मिश्रण किया है, जिनसे वे मुखरित हो उठे हैं और सर्वत्र स्वर-लहरी या चित्रराग उपस्थित करने मे सफल सिद्ध हुए हैं।

अलंकार-विधान

अलंकार—अलकार का अर्थ है अलंकृति अर्थात् जो विभूषित करता है, उसे अलंकार कहते हैं।[1] आचार्य दडी ने इसी कारण काव्य को सुशोभित करने वाले धर्म को अलकार कहा है।[2] परन्तु शोभादायक धर्म गुण भी कहलाते हैं। अतः परवर्ती आचार्यो ने गुण और अलकार का भेद करते हुए गुणो को काव्य का स्थायी धर्म और अलकारो को उसका अस्थायी धर्म वतलाया है।[3]

पाश्चात्य विद्वान् भी काव्य में अलंकारो का महत्व स्वीकार करते हैं। अरस्तू ने प्रवन्धकाव्य में रूपकालकार का रहना उचित वतलाया है।[4] क्रोचे अलकार को अभिव्यंजना का अभिन्न अग मानता है।[5] वाल्टर पेटर ने भी काव्य में अलकारो के उचित प्रयोग को आवश्यक वतलाया है।[6]

आधुनिक युग में हिन्दी के प्रसिद्ध आलोचक आचार्य शुक्ल ने अलकारो को कथन की एक प्रणाली वतलाया है और लिखा है कि 'पहले से सुन्दर अर्थ की शोभा वढाने में जो अनकार प्रयुक्त नही वे काव्यालकार नहीं। वे ऐसे ही हैं, जैसे शरीर पर से उतार कर किसी अलग कोने में रखा हुआ गहनो का ढेर। किसी भाव या मार्मिक भावना से असपृक्त अलकार चमत्कार या तमाशे हैं।'[7] हिन्दी के दूसरे आचार्य श्यामसुन्दरदास का मत है कि 'जिस प्रकार आभूषण शरीर की शोभा वढाते हैं, उसी प्रकार अलंकार भी भाषा के सौंदर्य की वृद्धि करते, उसका उत्कर्ष वढाते और रस, भाव आदि को उत्तेजित करते हैं। परन्तु उन्हे अपने अधिकार की सीमा के अन्दर ही रखकर अपना कौशल दिखाने का अवसर देना चाहिए, दूसरो के विशेष महत्व के अधिकार का अपहरण करने में उन्हें किसी प्रकार की सहायता नही देनी चाहिए।'[8]

१—काव्यालंकार-सूत्र-वृत्ति १।१।२ २—काव्यादर्श २।१

३—काव्यप्रकाश ८।६६-६७ तथा साहित्यदर्पण ८।१, १०।१

4—Aristotle's Theory of Poetry and Fine Art, p 93

5—Theory of Aesthetic, p 113. 6—Appreciation, p. 15.

७—चिन्तामणि भाग १, पृ० २४७, २५१।

८—साहित्यालोचन, पृ० ३१६।

आचार्यो के मतानुसार अलकारो को भावो का उत्कर्ष-विधायक मानते हुए भी छायावादी युग से पूर्व हिन्दी के कविगण अलकारो का प्रयोग एक बँधी बँधाई रीति के अनुसार ही किया करते थे। हिन्दी साहित्य के रीतिकाल में तो ये अलकार काव्य के साधन न रहकर साध्य ही बन गये थे। द्विवेदी युग तक यही लकीर पिटती रही। परन्तु हिन्दी के छायावादी कवियो ने सर्वप्रथम अलकारो की वास्तविकता की ओर ध्यान दिया, उनके प्रयोग एव उनकी भाव-प्रेषणीयता आदि के बारे में अपने-अपने विचार प्रकट किये तथा उसी प्रकार उन्हे कविता में अपनाने की भी चेष्टा की। कविवर पत ने रीतिकालीन अलकार-पद्धति पर क्षोभ प्रकट करते हुए लिखा है कि "और इनकी भाषालकारिकता ? जिसकी रगीन डोरियो में वह कविता का हैंगिग गार्डन—वह विश्व-वैचित्र्य भूलता है, जिसके हृत्पट पर वह चित्रित है। . उपमा और उत्प्रेक्षाओ को ऐसी दादुरावृत्ति अनुप्रास एव तुको की ऐसी अश्रात उपल-वृष्टि क्या ससार के और किसी साहित्य में मिल सकती है?"[१] तदनन्तर पतजी ने आधुनिक काव्य में अलकारों की स्थिति एव उनके प्रयोग आदि पर विचार प्रकट करते हुए बतलाया है कि "अलकार केवल वाणी की सजावट के लिए नही, वे भाव की अभिव्यक्ति के विशेष द्वार हैं। भाषा की पुष्टि के लिए, राग की परिपूर्णता के लिए आवश्यक उपादान हैं, वे वाणी के आचार, व्यवहार, रीति, नीति हैं, पृथक्-स्थितियो के पृथक् स्वरूप, भिन्न अवस्थाओ के भिन्न चित्र हैं। अत इनका प्रयोग इसी रूप में होना चाहिए। यदि इसके विरुद्ध 'भाषा की जाली केवल अलकारो के चौखटे में फिट करने के लिए बुनी जाती हैं, वहाँ भावो की उदारता शब्दों की कृपण-जडता में बँधकर सेनापति के दाता और सूम की तरह 'इकसार' हो जाती है।"[२]

प्रसादजी काव्य में गहन अनुभूति को प्रधानता देते हैं और उस गहन अनुभूति के अभाव में यदि कोई कवि अलकारो की बाह्य सजावट से ही काव्य रचना करना चाहता है तो उनके मत से वह काव्य हेय है। उन्होने लिखा भी है कि "जब तक समाज के उपकार के लिए कवि की लेखनी ने कुछ कार्य न किया हो, तब तक केवल उसकी उपमा और शब्द-वैचित्र्य तथा अलकारो पर भूलकर हम उसे एक ऐसे कवि के आसन पर नही बिठा सकते, जिसने कि अपनी लेखनी से समाज को स्पदित करके जीवन डालने का उद्योग किया है।"[३] इस कथन से स्पष्ट ही प्रसादजी की दृष्टि में काव्य के अन्तर्गत अनुभूति की अपेक्षा अलकारों का गौण स्थान है। आगे चलकर भी उन्होंने अलकारो की बाह्य सजावट की उपेक्षा की है तथा काव्य के आन्तरिक

१—पल्लव की भूमिका, पृ० ८। २—वही, पृ० १९।
३—इन्दु, कला ३, किरण ५, एप्रिल १९१२ ई०, पृ० ४०२।

सौंदर्य की प्रशसा करते हुए लिखा है कि "कवि की वाणी में यह प्रतीयमान छाया युवती के लज्जा-भूषण की तरह होती है। ध्यान रहे कि यह साधारण अलकार जो पहन लिया जाता है, वह नही है; किन्तु यौवन के भीतर रमणी-सुलभ श्री की वहिन ही है, घूँघट वाली लज्जा नही।" इसके उपरान्त उन्होंने वैदिक और लौकिक सस्कृत के उदाहरण देकर यह सिद्ध किया है कि "जो अलकार वाह्य सादृश्य की अपेक्षा आन्तर सादृश्य को प्रकट करने वाले होते हैं, वे ही काव्य में भावोत्कर्ष वढाने में सहायक होते हैं।"[1]

उपर्युक्त सभी विद्वानो एव छायावादी कवियो के आधार पर यही निष्कर्ष निकलता है कि वाह्य सादृश्य की अपेक्षा आन्तरिक सादृश्य के आधार पर जिन अलकारो का प्रयोग काव्य में होता है, उनसे ही श्रेष्ठ काव्य का निर्माण होता है, भावाभिव्यक्ति उन्नत एव प्रभावशाली होती है और ऐसे ही अलकार काव्योचित भी कहे जा सकते हैं। छायावाद के अन्तर्गत प्राय. ऐसे ही आन्तरिक साम्य वाले अलकारों की वहुलता दिखाई देती है। इस युग के कवियो ने अलकारो को साध्य न मानकर उन्हे अभिव्यक्ति का एक साधन ही माना है तथा अपनी रचनाओ में उनका ऐसा प्रयोग किया है, जिससे वे आन्तरिक भावो के निरूपण, आध्यात्मिक सौंदर्य-चित्रण, अतीन्द्रिय रूप-विधान आदि के लिए अधिक सफल सिद्ध हुए हैं।

कामायनी में अलंकारो का स्वरूप—कामायनी मे प्रसादजी के विचारो की प्रौढ अभिव्यक्ति है। अत' यहाँ प्रसादजी के अलकार सम्वन्वी प्रौढ विचारो का ही उद्घाटन अधिक मात्रा मे हुआ है। प्रसादजी अलकारो के आन्तरिक सादृश्य वाले रूप-विधान को ही अधिक समीचीन समझते हैं। इसी कारण उनकी मनोवृत्ति शब्दालकारो की अपेक्षा सादृश्य-मूलक अर्थालकारो मे अधिक रमी है और सादृश्य-मूलक अर्थालकारो में भी रूप-सादृश्य की अपेक्षा गुण-सादृश्य एव भाव-सादृश्य वाले अलकारो को उन्होंने अधिक अपनाया है। प्रसादजी के इस अलकार-विधान की सवसे वडी विशेषता ही यह है कि वे सर्वत्र रस या भाव का विम्वग्राही चित्र अकित करने अथवा वस्तु का यथोचित स्वरूप पाठको की दृष्टि के सम्मुख उपस्थित करने के लिए ही अधिक प्रयुक्त हुए हैं। इनके साथ ही कामायनी में जितने भी अलकार मिलते हैं, वे सव कवि की गहन अनुभूति के परिचायक हैं, क्योकि उनका प्रयोग अनायास ही हुआ है और उनके लिए कवि को कुछ विशेप प्रयत्न नही करना पडा है। उक्त कथन की पुष्टि के लिए कामायनी में आए हुए कतिपय अलकारो के उदाहरण यहाँ दिए जाते हैं।

१—काव्य और कला तथा अन्य निवंध, पृ० १२६-१२७।

शब्दालकार

अनुप्रास—यह अलकार वर्ण-मैत्री के लिए अधिक प्रसिद्ध है। हिन्दी के सभी कवियों ने इसको थोड़ी-बहुत मात्रा में अपने-अपने काव्यो में स्थान दिया है वैसे भी यह अलकार शब्दालकारो का मूलाधार है। इसके कितने ही भेद हैं कामायनी में इसके प्रमुख भेदो का स्वरूप इस तरह मिलता है —

वृत्यनुप्रास—कोकिल की काकली वृथा ही अब कलियो पर मँडराती।[1]

छेकानुप्रास—सुरा सुरभिमय वदन अरुण वे नयन भरे आलस अनुराग,
कल कपोल था जहाँ बिछलता कल्पवृक्ष का पीत पराग।[2]

श्रुत्यनुप्रास—बाहर भीतर उन्मुक्त सघन, था अचल महा नीला अजन,
भूमिका बनी वह स्निग्ध मलिन, थे निर्निमेष मनु के लोचन।[3]

उपर्युक्त उदाहरणो में सर्वत्र भाषा को सुसज्जित करने एव उसे भावो के अनुकूल बनाने के लिए ही अनुप्रास अलकार का प्रयोग हुआ है। अत इन उदाहरणो में भाषा-सुषमा ही विशेष द्रष्टव्य है, जो भावानुकूल प्रवहमान होती हुई दिखाई देती है।

यमक और श्लेष—कामायनी में यमक तथा श्लेष अलकारो का प्रयोग अधिक नही मिलता। इन अलकारो का प्रयोग चमत्कार उत्पन्न करने के लिए ही होता है। छायावादी कवि इनका प्रयोग करना अधिक समीचीन नही समझते फिर भी अन्य कवियो की भाँति प्रसादजी ने भी इन दोनो अलकारो को थोड़ा बहुत यत्र-तत्र अपनाया है। जैसे :—

यमक— मैं सुरभि खोजता भटकूँगा वन-वन बन कस्तूरी कुरग।[4]

श्लेष—(१) इन्द्रनील मणि महा चपक था सोम रहित उलटा लटका।[5]
(यहाँ पर 'सोम' शब्द चन्द्रमा तथा सोमरस दो अर्थो में आया है)

(२) एक उलका सा जलता भ्रात, शून्य में फिरता हूँ असहाय।[6]
(यहाँ 'शून्य' शब्द आकाश तथा निर्जन के अर्थ में आया है)

(३) दे रहा हो कोकिल सानन्द सुमन को ज्यो मधुमय सन्देश।[7]
(यहाँ पर 'सुमन' तथा 'मधुमय सन्देश' दोनो में से सुमन शब्द सुन्दर मन एव पुष्प का द्योतक है और 'मधुमय सन्देश', 'आनन्दप्रद सूचना' एव 'वसन्त की सूचना' के लिए आया है)

१—कामायनी, पृ० १७५ २—वही, पृ० ११। ३—वही पृ० २५१। ४—वही, पृ० १५३। ५—वही, पृ० २४। ६—वही, पृ० ४८। ७—वही पृ० ५०।

पुनरुक्ति—इस शब्दालकार द्वारा किसी शब्द का वार-वार वर्णन करके भावो तथा कविता की लय या छन्द को और भी रुचिकर एव प्रभावशाली वनाने का प्रयत्न किया जाता है। कामायनी में इसका अधिक प्रयोग हुआ हे। नीचे दो उदाहरण दिये जाते हैं :—

(१) दूर दूर तक विस्तृत था हिम,[1]

(२) वरुण व्यस्त थे घनी कालिमा स्तर-स्तर जमती पीन हुई।[2]

वीप्सा—इस शब्दालकार को भी प्रसादजी ने कामायनी में आदर, घृणा, उद्वेग, क्षोभ, आकाक्षा आदि आकस्मिक भावो को प्रकट करने के लिए वडी सफलता के साथ अपनाया है। जैसे :—

(१) सब कहते हैं खोलो खोलो 'छवि देखूँगा जीवन-धन की।[3]

(२) पीता हूँ, हाँ मैं पीता हूँ यह स्पर्श रूप, रस, गध भरा।[4]

अर्थालकार

उपमा—कामायनी मे अर्थालकारो का प्रयोग सबसे अधिक हुआ है। प्रायः भावो को अधिक स्पष्ट करने के लिए प्रसादजी ने सादृश्य-मूलक अर्थालकारो को अधिक अपनाया है, उनमें उपमा का स्थान सर्वश्रेष्ठ है। कामायनी में इस अलकार का प्रयोग सर्वाधिक मिलता है। वैसे भी अनुप्रास की भाँति उपमा अलकार भी समस्त अर्थालकारो का मूलाधार माना जाता है और सादृश्य के लिए जितने अलकार प्रयोग किए जाते हैं, उनमें उपमा का ही सर्वाधिक प्रयोग होता है। साधारणतया सादृश्य या साम्य दो प्रकार का देखा जाता है—आकृतिसाम्य और भावसाम्य। किन्तु आधुनिक कविताओ में रग-साम्य भी मिलता है और उपमादि कुछ अलकार रग-साम्य के आधार पर भी प्रयोग किए जाते हैं। नीचे कामायनी में से तीनो प्रकार के साम्यों मे सम्वन्धित उपमालकार के कुछ उदाहरण दिए जाते हैं :—

आकृतिसाम्य—(१) उधर गरजतीं सिंधु लहरियाँ कुटिल काल के जालों सी,
चली आरही फेन उगलती फन फैलाये व्यालो सी।[5]

(२) उन विराट आलोड़न में, ग्रह तारा बुद्-बुद् से लगते,
प्रखर प्रलय पावस में जगमग, ज्योतिरिंगणों से जगते।[6]

भावसाम्य— (१) निकल रही थी मर्म वेदना करुणा विकल कहानी सी।[7]

(२) वह अनंग पीड़ा अनुभव सा मदिर भाव से आवर्त्तन।[8]

१—कामायनी, पृ० ३। २—वही, पृ० १४। ३—वही, पृ० ६८।
४—वही, पृ० ६६। ५—वही, पृ० १४। ६—वही, पृ० १७।
७—वही, पृ० ४। ८—वही, पृ० ११

(३) व्याकुलता सी व्यक्त हो रही आशा वनकर प्राण समीर ।[1]

ंगसाम्य— (१) उपा ज्योत्स्ना सा यौवन स्मित ।[2]

(लालिमा युक्त श्वेतता का साम्य)

(१) घिर रहे थे घुँघराले वाल अंग अवलम्बित मुख के पास,
नील घन शावक से सुकुमार सुधा भरने को विधु के पास ।[3]

(कालिमा या नीलिमा का साम्य)

(३) केतकी गर्भ सा पीला मुँह ।[4] (पीलिमा का साम्य)

कामायनी के अन्तर्गत छायावादी शैली के अनुसार उपमायें कितनी ही प्रकार की मिलती हैं। कही तो प्राचीन प्रणाली के अनुसार मूर्त्त उपमेय के लिए मूर्त्त उपमानो का प्रयोग किया है और कही मूर्त्त उपमेय के लिए अमूर्त्त उपमान, अमूर्त्त उपमेय के लिए मूर्त्त उपमान तथा अमूर्त्त उपमेय के लिए अमूर्त्त उपमानो की भी योजना की है।

मूर्त्त उपमेय के लिए मूर्त्त उपमान—

(१) नीचे जलधर दौड रहे थे सुंदर सुरधनु माला पहने,
कुंजर कलभ सदृश इठलाते चमकाते चपला के गहने ।[5]

(२) शिथिल शरीर वसन विश्रृंखल, कवरी अधिक अधीर खुली,
छिन्न-पत्र मकरन्द लुटी सी, ज्यो मुरझाई हुई कली ।[6]

मूर्त्त उपमेय के लिए अमूर्त्त उपमान—

(१) आगया फिर पास क्रीडाशील अतिथि उदार,
चपल शैशव सा मनोहर भूल का ले भार ।[7]

(२) नव कोमल अवलम्ब साथ में वय किशोर उँगली पकडे।
चला आ रहा मौन धैर्य सा अपनी माता को जकडे ।[8]

अमूर्त्त उपमेय के लिए मूर्त्त उपमान—

(१) मृत्यु अरी चिर निद्रे ! तेरा अंक हिमानी सा शीतल ।[9]

(२) मधुर चाँदनी सी तन्द्रा जब फैली मूर्छित मानस पर ।[10]

अमूर्त्त उपमेय के लिए अमूर्त्त उपमान—

(१) निकल रही थी मर्म वेदना करुणा विकल कहानी सी ।[11]

पूर्णोपमा तथा लुप्तोपमा—भावो को अधिक स्पष्ट करने के लिए प्रसादजी ने उपमा के दो भेदो—पूर्णोपमा तथा लुप्तोपमा का अधिक प्रयोग किया है। इन दोन अलकारो के पर्याप्त उदाहरण उक्त उपमा वाले उदाहरणो में ही आगए हैं। जैसे आकृतिसाम्य वाले उदाहरणो मे क्रमशः पहले मे पूर्णोपमा है और दूसरे में लुप्तोपमा भावसाम्य वाले उदाहरणो में क्रमशः पहले और तीसरे में लुप्तोपमा है और उदाहरण दो में पूर्णोपमा है। ऐसे ही रगसाम्य वाले उदाहरणो में क्रमश पहले और तीस में लुप्तोपमा तथा उदाहरण दो मे पूर्णोपमा है।

मालोपमा—कामायनी में मालोपमा अलकार का भी प्रयोग अधिक मिलत है। प्रसादजी भी बाण की कादम्बरी की भाँति अपनी कामायनी में किसी भाव य वस्तु को अधिक स्पष्ट करने के लिए तबतक नही रुकते, जबतक कि पर्यायवाची शब्द या तत्सम्बन्धी उपमावाचक शब्द अथवा तत्सम्बन्धी साम्य वाली प्राचीन एव नवी उद्भावनायें समाप्त नही होती। फिर भी कामायनी मे वर्णित ये मालोपमायें अत्य रुचिकर एव प्रभावोत्पादक है और किसी भाव या वस्तु का सजीव तथा बिम्बग्राह स्वरूप अकित करने में सार्थक प्रतीत होती है। उदाहरण के लिए 'वासना' सर्ग श्रद्धा के बारे मे दी हुई उपमाओ को ले सकते हैं :—

चन्द्र की विश्राम राका बालिका सी कान्त,
विजयिनी सी दीखती तुम माधुरी सी शान्त।
पददलित सी थकी व्रज्या ज्यो सदा आक्रान्त,
शस्य श्यामल भूमि मे होती समाप्त अशान्त।[२]

उत्प्रेक्षा—सादृश्यमूलक अलकारो में उत्प्रेक्षा का भी बड़ा महत्वपूर्ण स्था है। कामायनी मे इसके द्वारा भी सादृश्यमूलक सभावनाएँ करते हुए वस्तुवर्णन भाववर्णन को अधिकाधिक सजीव, बुद्धि-ग्राही एव हृदय-ग्राही बनाने का प्रयत्न हु है। उत्प्रेक्षा अलंकार के तीन प्रमुख भेद माने जाते हैं—वस्तूत्प्रेक्षा, हेतूत्प्रेक्षा अ फलोत्प्रेक्षा। इनमे मे कामायनी में अधिकाधिक हेतूत्प्रेक्षा का ही प्रयोग हुआ है संभवत यही प्रसादजी को अधिक प्रिय भी है। फिर भी अन्य उत्प्रेक्षा अलकारो भी उदाहरण कामायनी में मिल जाते है। जैसे :—

वस्तूत्प्रेक्षा— स्वर्ण शालियो की कलमे थी दूर दूर तक फैल रही,
शरद इदिरा के मदिर की मानो कोई गैल रही।[३]

हेतूत्प्रेक्षा— बार बार उस भीषण रव से कँपती धरणी देख विशेष,
मानो नील व्योम उतरा हो आलिंगन के हेतु अशेष ।[1]

(यहाँ पर जल के रूप मे आकाश के पृथ्वी पर आने का कारण पृथ्वी काँपना कहा है, जो असिद्धहेतु है)

फलोत्प्रेक्षा— उनको देख कौन रोया यो अतरिक्ष मे बैठ अधीर,
व्यस्त बरसने लगा अश्रुमय यह प्रालेय हलाहल नीर ।[2]

(प्रलय काल में भयकर वर्षा तो होती ही है, किन्तु यहाँ पशु-वध को देख उनके ऊपर दयार्द्र होकर अतरिक्ष में बैठे हुए किसी के रोने के रूप में गरल वर्षा रूपी फल की जो कल्पना की गई है, वह असिद्ध विषया फलोत्प्रेक्षा है)

रूपक—जिस प्रकार उपमा एव उत्प्रेक्षाओ द्वारा प्रसादजी ने भावो उत्कृष्टता प्रदान की है, उसी प्रकार रूपको द्वारा भी सजीवता उत्पन्न की है। विम्बग्राही चित्र प्रस्तुत करते हुए वस्तु एव भावो की वास्तविकता से पाठको अवगत कराया है। प्राय रूपक के तीन रूपो का प्रयोग ही कामायनी में अ मिलता है, जो क्रमश निरगरूपक, सागरूपक और परम्परित रूपक कहलाते हैं। तीनो के उदाहरण क्रमश इस प्रकार हैं :—

निरगरूपक— ओ चिन्ता की पहली रेखा, अरी विश्व वन की व्याली,
ज्वालामुखी स्फोट के भीषण प्रथम कम्प सी मतवाली।
हे अभाव की चपल बालिके, री ललाट की खल लेखा,
हरी भरी सी दौड-धूप, ओ जल-माया की चल रेखा ।[3]

सागरूपक— अनवरत उठे कितनी उमग
चुम्बित हो आँसू जलधर से अभिलाषाओ के शैल श्रृग
जीवन नद हाहाकार भरा, हो उठती पीडा की तरग
\+ \+ \+ \+
दुख नीरद में बन इन्द्रधनुष बदले नर कितने नये रग
बन तृष्णा ज्वाला का पतग ।[4]

परम्परित रूपक—प्रसादजी ने निरग एव सांग की अपेक्षा परम्परित रूपक प्रयोग कामायनी में अधिक किया है। इस अलकार के सहारे प्रसादजी को अ कल्पना के विस्तार का अच्छा अवसर मिला है और हृदयस्थ मनोभावो

विश्व कमल की मृदुल मधुकरी रजनी तू किस कोने से,
आती चूम चूम चल जाती पढी हुई किस टोने से ।[१]

यहाँ पर कवि ने रात्रि के रूप को स्पष्ट करने के लिए उसे ससार-कमल की भ्रमरी वतलाया है। जिस प्रकार भ्रमरी कमल पर चक्कर काटती हुई उसे मुग्ध बना देती है वही दशा रजनी द्वारा समार की होती है। यहाँ विश्व में कमल का आरोप तथा रजनी में भ्रमरी का आरोप किया है। अतः एक रूपक दूसरे पर आधारित है। दूसरे दोनो मे रग-साम्य भी है। इसके अतिरिक्त परम्परित रूपक के अन्य उदाहरण भी कामायनी मे भरे पडे हैं। जैसे :—

(१) विश्व-रग में कर्मजाल के सूत्र लगे घन हो घिरने ।[२]
(२) दुःख की पिछली रजनी बीच विकसता सुख का नवल प्रभात ।[३]
(३) भुज-लता फँसा कर नर-तरु से झूले सी झोके खाती हूँ ।[४]

रूपकातिशयोक्ति—कामायनी में रूपकातिशयोक्ति अलकार का प्रयोग भी प्रचुर मात्रा में मिलता है। इस अलकार मे केवल उपमानो के द्वारा ही उपमेयो का वर्णन किया जाता है। छायावादी कवियो में यह प्रवृत्ति अधिक मात्रा में देखी जाती है, क्योंकि वे प्राय. अपनी अधिकाश कविताओं में उपमेय के स्थान पर केवल उपमान से ही काम निकालना अधिक अच्छा समझते हैं। इससे एक तो काव्य में कम शब्दो का व्यवहार होता है, दूसरे लाक्षणिकता एव व्यजकता लाने में सुगमता हो जाती है। इसके साथ ही इस अलकार द्वारा काव्य मे प्रतीकों के प्रयोग करने का भी अच्छा अवसर मिल जाता है। इसके कुछ उदाहरण इस प्रकार हैं :—

(१) आज तिरोहित हुआ कहाँ वह मधु से पूर्ण अनन्त वसन्त ।[५]
(यहाँ अनन्त वसत, देवो के अमर यौवन के लिए आया है।)
(२) इन्द्रनील मणि महा चषक था सोम रहित उलटा लटका ।[६]
(यहाँ इन्द्रनील मणि का प्रयोग आकाश के लिए हुआ है।)
(३) जब कामना सिंधु तट आई ले सध्या का तारा दीप,
फाड सुनहली साड़ी उसकी तू हँसती क्यो अरी प्रतीप ।[७]
(यहाँ पर कामना रागरजित संध्या की उपमान है, सिंधु तट क्षि[illegible] का उपमान हैं और सुनहली साडी सध्या की लालिमा [illegible]

विरोधाभास—रूपकातिशयोक्ति के साथ ही विरोधाभास अलकार का प्रयोग भी कामायनी के अतर्गत अधिक मिलता है। सभी छायावादी कवियों ने इस अलकार का प्रयोग अधिक मात्रा मे किया है। कारण यह है कि अर्थ-गाभीर्य लाने के लिए इस विरोधमूलक अलकार से बडी सहायता मिलती है, क्योंकि इसमें यथार्थत विरोध न होकर विरोध के आभास का वर्णन किया जाता है और शब्दो में तो विरोध सा जान पडता है, किन्तु अर्थ की गहराई पर पहुँचते ही विरोध नही रहता और अर्थ-सौष्ठव प्रतीत होने लगता है। जैसे —

(१) अमर मरेगा क्या ? तू कितनी गहरी डाल रही है नीव ?[1]

(२) खेल रहा है शीतल दाह ![2]

इनके अतिरिक्त कुछ अन्य प्रचलित अर्थालकारो का प्रयोग भी कामायनी में मिलता है, जिनके उदाहरण भी नीचे दिए जाते हैं —

सदेह :— सोने की सिकता मे मानो कालिन्दी बहती भर उसास,
स्वर्गगा मे इन्दीवर की या एक पक्ति कर रही हास।[3]

समासोक्ति — सिंधु सेज पर धरा वधू अब तनिक सकुचित बैठी सी,
प्रलय निशा की हलचल स्मृति में मान किए सी, ऐंठी सी।[4]

कैतवापह्नुति :— किस दिगन्त रेखा में इतनी सचित कर सिसकी सी साँस,
यो समीर मिस हाँफ रही सी चली जा रही किसके पास ?[5]

उदाहरण — जीवन की अविराम साधना भर उत्साह खडी थी,
ज्यो प्रतिकूल पवन में तरणी गहरे लौट पडी थी।[6]

उल्लेख — कौन हो तुम वसन्त के दूत विरस पतझड में अति सुकुमार,
घन तिमिर में चपला की रेख तपन में शीतल मद बयार।[7]

अर्थान्तरन्यास — जलनिधि के तलवासी जलचर विकल निकलते उतराते,
हुआ विलोडित गृह, तब प्राणी कौन, कहाँ, कब सुख पाते ?[8]

परिकर :— हे सर्व मगले ! तुम महती, सबका दुख अपने पर सहती,
कल्याणमयी वाणी कहती, तुम क्षमा निलय में हो रहती।[9]

परिकराकुर — वह कामायनी जगत की मगल कामना अकेली,
थी ज्योतिष्मती प्रफुल्लित मानस तट की वन बेली।[10]

विषम :— नही पा सका हूँ मैं जैसे जो तुम देना चाह रही,
क्षुद्र पात्र ! तुम उसमे कितनी मधु धारा हो ढाल रही।[1]

काव्यलिंग :— स्वयं देव थे हम सब, तो फिर क्यो न विशृंखल होती सृष्टि,
अरे अचानक हुई इसी से कडी आपदाओं की वृष्टि।[2]

दृष्टान्त :— सुख, केवल सुख का वह सग्रह केन्द्रीभूत हुआ इतना,
छायापथ मे नव तुषार का सघन मिलन होता जितना।[3]

पाश्चात्य अलंकार—छायावादी कवियो ने भारतीय अलकारो के अतिरिक्त कुछ पाश्चात्य अलंकारो का भी प्रयोग अपनी कविताओं मे किया है। पाश्चात्य अलकारो में सबसे अधिक प्रयोग मानवीकरण (Personification) अलकार का मिलता है। चित्रमयी भाषा का अधिक प्रयोग करने के कारण छायावादी कवियो की कविता मे यह मानवीकरण अलकार अधिक आता है। इसका कारण यह है कि भावनाओं तथा प्रकृति-जन्य पदार्थो मे मानव-गुणो का आरोप करके अपने भावों को व्यक्त करने की प्रणाली छायावादी कविता मे अधिक अपनायी गयी है और इसी कारण अमूर्त्त पदार्थो एव अमूर्त्त भावों को भी मूर्त्त रूप मे चित्रित किया गया है। इस अलकार द्वारा खडी बोली की कविता में मूर्त्तिमत्ता, वक्रता तथा गहनता का सचार हुआ है। यद्यपि प्राचीन आचार्यों के मतानुसार प्राकृतिक, निर्जीव एव निरीन्द्रिय पदार्थों में चेतना का आरोप करके उनके रति-भाव आदि का चित्रण करना रसाभास के अन्तर्गत आता है, फिर भी छायावादी कविता की यह एक प्रमुख विशेषता होने के कारण आज भी कविताओं में इसका प्रचार देखा जाता है। छायावादी युग के प्रवर्त्तक प्रसादजी ने भी इस अलकार का अत्यधिक प्रयोग किया है और प्राकृतिक अचेतन पदार्थों एवं भावनाओं में मानवीय गुणो एव चेतनता का आरोप करके उनके चित्रण को कविता का सजीव अग बना दिया है। नीचे कामायनी में आए हुए मानवीकरण के कुछ उदाहरण दिये जाते हैं —

मानवीकरण—प्राकृतिक पदार्थों में चेतनता का आरोप :—

(१) धीरे धीरे हिम आच्छादन हटने लगा धरातल से,
जगीं वनस्पतियां अलसाई मुख धोती शीतल जल से।[4]

(२) उच्च शैल शिखरों पर हँसती प्रकृति चचला बाला,
धवल हँसी बिखराती अपना फैला मधुर उजाला।[5]

अमूर्त्त भावों का मूर्त्तीकरण :—(लज्जा के लिए)

वैसी ही माया में लिपटी अधरो पर उँगली धरे हुए,
माधव के सरस कुतूहल का आँखो में पानी भरे हुए।
नीरव निशीथ में लतिका सी तुम कौन आरही हो बढती ?
कोमल बाहे फैलाये सी आलिंगन का जादू पढती।[1]

विशेषण-विपर्यय :—मानवीकरण के अतिरिक्त पाश्चात्य अलकारो में से दूसरे विशेषण-विपर्यय (Transferred Epithet) का अधिक प्रयोग छायावादी कविताओ में मिलता है। इस अलकार के अन्तर्गत कथन को विशेष अर्थगर्भित तथा गभीर बनाने के लिए विशेषण का विपर्यय कर दिया जाता है अर्थात् अभिधावृत्ति में विशेषण का जो स्थान है वहाँ से उसे हटाकर लक्षणा के सहारे उसे दूसरे स्थान पर रख देते हैं। ऐसा करने से विशेष्य का चित्र लक्षणा द्वारा पाठक के सम्मुख आजाता है और काव्य-सौष्ठव बढ जाता है। इतना ही नही भावाधिक्य की भी व्यजना हो जाती है।[2] कामायनी में विशेषण-विपर्यय का भी पर्याप्त प्रयोग हुआ है। नीचे कुछ उदाहरण दिये जाते हैं —

(१) जलधि लहरियो की अँगडाई बार बार जाती सोने।[3]
(२) खुली उसी रमणीय दृश्य में अलस चेतना की आँखें।[4]
(३) एक करुणामय सुन्दर मौन और चचल मन का आलस्य।[5]

ध्वन्यर्थव्यंजन —इस अलकार को अंग्रेजी में ओनोमेटोपोइया (Onomatopoeia) कहते हैं। इसका अभिप्राय काव्यगत शब्दो की ऐसी ध्वनि से है, जो शब्द-सामर्थ्य से ही प्रसग और अर्थ का उद्‌बोधन कराकर एक चित्र खडा कर देती है। इसमें भाव और भाषा का सामजस्य तथा स्वरैक्य की आवश्यकता पडती है।[6] यद्यपि इसमें अनुप्रास और यमक का आभास रहता है, फिर भी पाठक का ध्यान इनकी ओर न जाकर सामूहिक ध्वन्यात्मकता की ओर चला जाता है, जो अपनी ध्वनि-सामर्थ्य द्वारा भाव-चित्र प्रस्तुत करती है। इस प्रकार ध्वनि की प्रधानता रहने के कारण इसे पृथक् अलकार के रूप मे अपनाया गया है। छायावादी कवियो ने इस अलकार का प्रयोग भी अधिक मात्रा मे किया है। कामायनी में भी इसके उदाहरण मिल जाते हैं। जैसे —

(१) धीरे धीरे लहरो का दल, तट से टकरा होता ओझल,
छप-छप का होता शब्द विरल, थर-थर कँप रहती दीप्ति तरल।[7]

१—कामायनी, पृ० ९७।
२—काव्यदर्पण, पृ० ५५३।
३—कामायनी, पृ० २३।
४—वही, पृ० ३५।
५—वही, पृ० ४५।
६—काव्यदर्पण, पृ० ५५१।
७—कामायनी, पृ० २४६।

(२) यह क्या तम मे करता सन सन ?
घारा का ही क्या यह निस्वन ।[1]

अलंकार-विघान में दोष—यद्यपि प्रसादजी ने कामायनी के अन्तर्गत अलंकारो का वडी सावधानी के साथ प्रयोग किया है और सर्वत्र सादृश्य या साम्य का वडा ध्यान रखा है, फिर भी उनके सादृश्य-विधान में जहाँ-तहाँ कुछ दोष आगये हैं। जैसे :—

'आह ! वह मुख ! पश्चिम के व्योम वीच जव घिरते हो घनश्याम,
अरुण रवि मडल उनको भेद दिखाई देता हो छवि धाम।
या कि, नव इन्द्र नील लघु शृग फोड़कर धधक रही हो कात,
एक लघु ज्वालामुखी अचेत माधवी रजनी में अश्रान्त।'[2]

इन पक्तियो में श्रद्धा के मुख को 'सध्याकालीन सूर्य' तथा 'वसतकालीन अचेत लघु ज्वालामुखी' के समकक्ष ठहराया है। उनकी यह सादृश्य-योजना उपयुक्त नही दिखाई देती, क्योकि मृदुल एव सुकुमार मुख के लिए ऐसे उपमानों का जुटाना किसी प्रकार भी समीचीन नहीं। स्वय प्रसादजी को भी यह कठिनाई अनुभव हुई जान पड़ती है। इसीलिए उन्होंने 'सूर्य' के साथ 'छविधाम' विशेषण जोडा है और 'ज्वालामुखी' के साथ 'कान्त' तथा 'माधवी रजनी में अश्रान्त' विशेषण जोडकर इनकी कठोरता को दूर करने का प्रयत्न किया है। इतना होने पर भी उपमानो में अपने उपमेय के रूप-सौन्दर्य का सादृश्यमूलक चित्र प्रस्तुत करने की सामर्थ्य नही दिखाई देती।

ऐसे ही कुछ और उदाहरण लिगत्व दोष से सम्बन्ध रखने वाले मिलते हैं, जिनमें से कुछ इन प्रकार हैं :—

(१) कौन तुम ससृति जलनिधि तीर तरगो से फेंकी मणि एक।[3]

यहाँ पर मनु के लिए स्त्रीलिंग उपमान 'मणि' का प्रयोग हुआ है, जो असंगत है। परन्तु कवि का मतव्य यहाँ पर सादृश्य-योजना द्वारा लिगत्व-बोध कराना प्रतीत नही होता, अपितु वह यहाँ पर मनु के शौर्य, तेज एवं प्रभाव को व्यक्त करना चाहता है और दूसरे 'मणि' को साहित्य में श्रेष्ठ भी माना गया है। इसीलिए तो पुरुषों को भी 'शिरोमणि' कहा जाता है। अतः लिगत्व-दोष के रहते हुए भी 'मणि' शब्द अनुपयुक्त नहीं दिखाई देता।

(२) हृदय गगन में धूमकेतु सी, पुण्य सृष्टि में सुन्दर पाप।[4]

१—कामायनी पृ० २४७   २—वही, पृ० ४६।
३—वही, पृ० ४५।   ४—वही पृ०, ५।

यहाँ पर 'चिन्ता' के लिए 'धूमकेतु' तथा 'पाप' ये दो उपमान प्रयुक्त हुए हैं, किन्तु चिन्ता स्त्रीलिंग है और इसके अन्य सभी उपमान स्त्रीलिंग में ही आए हैं, जबकि उक्त दो पुल्लिंग उपमानों का प्रयोग किया गया है। अत स्त्रीलिंग उपमेय के लिए इस प्रकार के पुल्लिंग उपमान उचित नहीं दिखाई देते, किन्तु यहाँ पर भी कवि को प्रभाव-साम्य दिखाना अभीष्ट है और वह चिन्ता का धूमकेतु के समान अमंगलकारक तथा पाप के समान अनिष्टकर बनाना चाहता है। अत ऐसे उपमानों का रहना अनुपयुक्त नहीं।

सारांश यह है कि प्रसादजी ने अलकार-विधान के अन्तर्गत सादृश्य-योजना की ओर ही अधिक ध्यान दिया है और प्राय ऐसे ही अलकारों का अधिक प्रयोग किया है जो किसी भाव या वस्तु के सादृश्य को प्रस्तुत करते हुए उनके स्वरूप का बिम्बग्राही-चित्र पाठकों के सामने उपस्थित कर देते हैं। उनके सादृश्य-विधान की दो प्रमुख विशेषताएँ दिखाई देती हैं, या तो वे स्वरूप-बोध के लिए ऐसा विधान करते हैं, या भावोत्कर्ष अथवा भाव-तीव्रता दिखलाने के लिए ऐसी योजना की गई है। साधारणतया जहाँ पर अमूर्त वस्तुओं के लिए मूर्त-सादृश्य का विधान किया गया है, वहाँ पर तो कवि का लक्ष्य स्वरूप-बोध है और जहाँ पर मूर्त-वस्तुओं के लिए अमूर्त सादृश्य प्रस्तुत किये हैं वहाँ पर कवि का उद्देश्य भावों की तीव्रता या भावोत्कर्ष दिखाना है। इसके साथ ही वे अपने सादृश्य-विधान द्वारा किसी भी पदार्थ के बाह्य रूप की अपेक्षा आन्तरिक रूप को चित्रित करना अधिक समीचीन समझते हैं। इसी कारण कामायनी में सागरूपकों की अपेक्षा निरग एव परम्परित रूपक अधिक आए हैं और पूर्णोपमाओं का अधिक प्रयोग हुआ है। आपने अलकारों के लिए केवल प्रकृति के अवयवों को ही नहीं लिया, अपितु मानवीय अमूर्त्तभावों को भी अपनाकर आधुनिक कविता में एक नवीन अध्याय प्रारभ किया है। यद्यपि आपके अलकार-विधान में भी कुछ दोष प्रतीत होते हैं, तथापि गुणों की बहुलता में वे कतिपय दोष ऐसे निमग्न हो जाते हैं कि उनकी ओर साधारण पाठकों का ध्यान नहीं जाता। इसके साथ ही लक्षणाशक्ति के सहारे उन सभी दोषों का समाधान भी हो सकता है।

कामायनी में शब्द-शक्तियों का प्रयोग

अभिधा—साहित्य-शास्त्र में वाच्य, लक्ष्य एव व्यंग्य अर्थ की बोधक शब्द की तीन शक्तियाँ मानी गई हैं, जो क्रमश अभिधा, लक्षणा और व्यजना कहलाती हैं। इनमें से सकेतित अर्थ के बोधक व्यापार को अभिधा कहते हैं।[1] इस शक्ति

१—साहित्यदर्पण, पृ० २९–३०।

के द्वारा शब्द के सीधे-साधे मुख्य अर्थ का बोध होता है। द्विवेदीकालीन कविता में अभिधा का ही प्राधान्य है। परन्तु छायावादी कवि अभिधा से भिन्न लक्षणा एवं व्यंजना का आश्रय लेकर अधिक चले हैं। उनकी अभिधा सम्बन्धी विरक्ति का प्रमुख कारण यह है कि वे साधारण वाचक शब्दों को सूक्ष्म आभ्यान्तर भावों के व्यक्त करने में असमर्थ समझते हैं।[1] इसी कारण वे लक्षक एवं व्यंजक शब्दों की ओर अधिक झुके हैं। इतना होने पर भी छायावादी कवि अभिधा शक्ति का पूर्ण परित्याग नहीं कर पाये हैं। कारण यह है कि अभिधा ही प्रधान शक्ति है, बिना इसका आश्रय लिए लक्षणा एवं व्यंजना भी अपना-अपना कार्य नहीं करतीं। आचार्य शुक्ल ने भी लिखा है कि "अयोग्य और अनुपपन्न वाच्यार्थ ही लक्षणा या व्यंजना द्वारा योग्य और बुद्धि-ग्राह्य रूप में परिणत होकर हमारे सामने आता है।"[2] इस तरह अभिधा-शक्ति तो प्रमुख मानी गई है, किन्तु अभिधा-प्रधान काव्य श्रेष्ठ नहीं माना गया है।[3] फिर भी प्रत्येक काव्य में अभिधा का आश्रय लिया जाता है और प्रबन्ध काव्यों में तो प्रायः उसकी बहुलता ही रहती है, क्योंकि कथा-सूत्र को सम्बद्ध करने में अभिधा ही अधिक सहयोग देती है।

कामायनी काव्य छायावादी युग की मुख्य कृति है और इसमें भी प्रसादजी ने अभिधा की अपेक्षा लक्षणा एवं व्यंजना को अधिक महत्व दिया है, फिर भी कामायनी के अनेक स्थलों पर अभिधा शक्ति के भी दर्शन होते हैं, जो शब्दों के मुख्य अर्थ या वाच्यार्थ का संकेत करती हुई कविता की सरलता एवं सुबोधता को भी सूचित करती है। जैसे—

और सोचकर अपने मन में जैसे हम हैं बचे हुए,
क्या आश्चर्य और कोई हो जीवन-लीला रचे हुए।
अग्निहोत्र अवशिष्ट अन्न कुछ कहीं दूर रख आते थे,
होगा इससे तृप्त अपरिचित समझ सहज सुख पाते थे।[4]

लक्षणा—मुख्यार्थ की बाधा होने पर रूढ़ि या प्रयोजन को लेकर जिस शक्ति के द्वारा मुख्यार्थ से सम्बन्धित कोई अन्य अर्थ लक्षित होता है उसे लक्षणा कहते हैं।[5] मुख्यार्थ की बाधा के हेतुओं में से कुछ रूढ़िगत एवं कुछ प्रयोजन-सापेक्ष हेतु

१—काव्य और कला तथा अन्य निबन्ध, पृ० १२३–१२४।
२—चिन्तामणि भाग २ पृ० १७८। ३—काव्यप्रकाश पृ० ६–७।
४—कामायनी, पृ० ३२। ५—साहित्यदर्पण २।६।

होते हैं। इसी कारण सर्वप्रथम लक्षणा के दो भेद किए गये हैं—रूढ़ि लक्षणा और प्रयोजनवती लक्षणा। तदुपरान्त उपादान एव उपलक्षण की दृष्टि से लक्षणा के दो भेद किए जाते हैं—उपादान-लक्षणा और लक्षणलक्षणा। ऐसे ही उपमान उपमेय के आरोप तथा अध्यवसान के आधार पर इसे दो और भागो में बाँटा जाता है, जो सारोपालक्षणा और साध्यवसाना लक्षणा कहलाती हैं। पुन सादृश्य और सादृश्येतर के आधार पर लक्षणा को गौणी और शुद्धा इन दो भेदो में और विभक्त किया जाता है। इस प्रकार उक्त चारो भेदो को रूढ़ि और प्रयोजनवती लक्षणा से सम्बद्ध कर देने पर आठ प्रकार की रूढ़िमूला और आठ प्रकार की प्रयोजनमूला लक्षणा सिद्ध होती है। अब प्रयोजनमूला या प्रयोजनवती-लक्षणा को गूढ और अगूढ अर्थ के आधार पर दो भागो मे और विभक्त किया जाता है। अब उसके सोलह भेद होजाते हैं। साथ ही उसे धर्मि और धर्म-भेद से दो भागो में बाँटने पर इसके बत्तीस भेद होजाते हैं। इतना ही नही पदगत और वाक्यगत होने से समस्त प्रयोजनवती-लक्षणा चौसठ प्रकार की हो जाती है। साथ ही रूढ़ि लक्षणा के आठ भेदो को भी पदगत एव वाक्यगत इन दो भेदो में विभक्त कर देने पर उनके सोलह भेद हो जाते हैं। इस प्रकार सभी के मिलाने पर लक्षणा अस्सी प्रकार की बतलाई गई है।[1]

ऊपर जितने प्रकार की लक्षणाये बतलाई गई हैं खोजने पर उन सभी के उदाहरण कामायनी में मिल सकते हैं, परन्तु विस्तार-भय से उन सबका देना ठीक नही समझते। फिर भी जिन लक्षणाओ को प्रसादजी ने अधिक अपनाया है, उनके उदाहरण नीचे दिये जाते हैं —

रूढ़ि-लक्षणा :—वह सारस्वत नगर पड़ा था क्षुब्ध मलिन कुछ मौन बना।
जिसके ऊपर विगत कर्म का विष विषाद आवरण तना।[2]

यहाँ पर 'सारस्वत नगर' से अभिप्राय 'सारस्वत नगर-निवासियो' से है और उपर्युक्त पंक्तियो में सारस्वत नगर-निवासियो की ही क्षुब्धता, मलिनता एव मौनावस्था का वर्णन किया गया है। अत. रूढ़ि के कारण नगर से सम्बन्धित नगर निवासियो का अर्थ ग्रहण करने के कारण यहाँ रूढ़ि-लक्षणा है।

प्रयोजनवती-लक्षणा :— नारी का वह हृदय/ हृदय में सुधासिंधु लहरें लेता,
बाडव-ज्वलन उसी में जलकर कचन सा जल रँग देता।[3]

१—साहित्यदर्पण, पाद-टिप्पणी ले० श्री हरिदास सिद्धान्तवागीशभट्टाचार्य पृ० ५०–५१।

२—कामायनी पृ०, २०५। ३—वही, पृ० २०७।

यहाँ मुख्यार्थ में बाधा यह है कि सुधा का सिंधु नही होता और अगर हो भी तो वह हृदय में लहरें नहीं ले सकता, फिर उसमें बडवाग्नि का होना और भी कठिन है। अतः इसका लक्ष्यार्थ यह है कि नारी के हृदय में अत्यधिक मधुरिमा, गभीरता और शान्ति रहती है। किन्तु प्रेम या विरह की ज्वाला से उसमें हलचल मचती है और उसका रग काचन-वर्ण का हो जाता है। यहाँ नारी की इन्हो विशेषताओ को बतलाने के प्रयोजन से यह लक्षणा की गई है। अतः यहाँ प्रयोजनवती लक्षणा है।

उपादान-लक्षणा :— अंतरिक्ष में महाशक्ति हुकार कर उठी,
सब शस्त्रों की धारें भीषण वेग भर उठीं।[1]

यहाँ पर 'शस्त्रो की धारो' को भीषण वेग भरते हुए बतलाया है। इसमें मुख्यार्थ बाधित है, क्योकि स्वय धारें भीषण वेग नही भर सकती। इसका लक्ष्यार्थ यह हुआ कि महाशक्ति ने अपने तीक्ष्ण शस्त्र लेकर रौद्र रूप धारण कर लिया था। यहाँ लक्ष्यार्थ में शस्त्र का वाच्यार्थ बना हुआ है। अत. यहाँ उपादान-लक्षणा है।

लक्षण-लक्षणा :— इस दुखमय जीवन का प्रकाश
नभ नील लता की डालो में उलझा अपने सुख से हताश,
कलियाँ जिनको मैं समझ रहा वे काँटे बिखरे आसपास।[2]

यहाँ पर 'कलियो' का लक्ष्यार्थ सुख तथा 'काँटों' का लक्ष्यार्थ दुःख है। अतः इन शब्दों ने अपने वाच्यार्थ को पूर्णतया छोड़ दिया है। इसी कारण यहाँ लक्षण-लक्षणा है।

गौणी-लक्षणा :— कामायनी कुसुम वसुधा पर पड़ी, न वह मकरद रहा,
एक चित्र बस रेखाओ का, अब उसमें है रग कहाँ!
वह प्रभात का हीन कला शशि, किरन कहाँ चाँदनी रही,
वह संध्या थी, रवि शशि तारा ये सब कोई नहीं जहाँ।[3]

यहाँ पर विरहिणी कामायनी को 'प्रभात का हीन कला शशि' तथा 'सध्या' बतलाया गया है। इसमें मुख्यार्थ की बाधा है। किन्तु दोनो में भाव-साम्य है। अत. ये दो भिन्न पदार्थ होते हुए भी इनकी भिन्नता प्रतीत नहीं होती। इसी कारण यहाँ गौणी-लक्षणा है।

शुद्धा-लक्षणा :—(१) कुसुमित कुंजो में वे पुलकित प्रेमालिंगन हुए विलीन,
मौन हुई हैं मूर्च्छित तानें और न सुन पड़ती अब बीन।[4]

(२) मणि दीपों के अधकारमय अरे निराशापूर्ण भविष्य,
देव दम्भ के महामेघ में सब कुछ ही बन गया हविष्य ।[१]

उपर्युक्त पदो में से प्रथम के अन्तर्गत 'पुलकित' तथा 'मूर्छित' का प्रयोग प्रेमालिगन करने वाले एव तान सुनाने वाले व्यक्तियो के लिए हुआ है । अत यहाँ पर आधाराधेय भाव का सम्बन्ध है और दूसरे पद मे 'देव दम्भ' तथा 'महामेघ' में अभेद आरोप किया गया है जिसका आधार तादात्म्य सम्बन्ध यानी धर्मसाम्य है । इन दोनो कारणो से ही उक्त पदो में शुद्धा-लक्षणा है ।

सारोपा-लक्षणा :— सध्या घन माला की सुन्दर ओढे रग बिरगी छीट,
गगन चुम्बिनी शैल श्रेणियाँ पहने हुए तुषार-किरीट ।[२]

यहाँ 'घनमाला' पर 'रग बिरगी छीट' का और 'तुषार' पर 'किरीट' का आरोप किया गया है । अत यहाँ सारोपा-लक्षणा है । प्राय रूपक अलकार में इसी लक्षणा का प्रयोग होता है ।

साध्यवसाना-लक्षणा :— जहाँ तामरस इन्दीवर या सित शतदल हैं मुरझाये,
अपने नालो पर, वह सरसी श्रद्धा थी, न मधुप आये ।[३]

यहाँ पर श्रद्धा में सरोवर का आरोप करके उसके अग-प्रत्यगो पर तामरस, इन्दीवर एव सित शतदल का आरोप किया है और उसके प्रेमी पति मनु पर मधुप का आरोप किया गया है, किन्तु अग-प्रत्यगो एव मनु का शब्द से कथन न होने के कारण यहाँ पर उपमेय निगीर्ण हो गया है । अत साध्यवसाना-लक्षणा है ।

गूढ़व्यग्या-लक्षणा :— झुक चली सव्रीड वह सुकुमारता के भार,
लद गई पाकर पुरुष का नर्ममय उपचार ।[४]

यहाँ पर 'सुकुमारता के भार से झुकने' एव 'पुरुष के नर्ममय उपचार से लदने' मे मुख्यार्थ की बाधा है । किन्तु इन पदो द्वारा श्रद्धा के हृदयस्थ 'रति भाव' को प्रकट किया गया है, जो व्यग्य है और सहृदय-सवेद्य है । साधारण बुद्धि वालो से परे है । अत यहाँ गूढव्यग्या-लक्षणा है ।

अगूढव्यग्या-लक्षणा :— हाहाकार हुआ क्रदनमय कठिन कुलिश होते थे चूर,
हुए दिगन्त बधिर, भीषण रव बार बार होता था क्रूर ।
दिग्दाहो से धूम उठे, या जलधर उठे क्षितिज तट के,
सघन गगन में भीम प्रकपन झझा के चलते झटके ।[५]

१—कामायनी, पृ० ७ । २—वही, पृ० ३० । ३—वही, पृ० १७५ ।
४—वही, पृ० ९४ । ५—वही, पृ० १३ ।

यहाँ पर 'दिगंत के वधिर होने', 'क्षितिज तट के जलधर उठने', 'गगन में प्रकम्पन होने' आदि में मुख्यार्थ की बाधा है। किन्तु इन शब्दो द्वारा प्रलय की भीषणता लक्षित होती है, जो सरलता से समझ में आजाने के कारण अगूढ-व्यग्या-लक्षणा के अतर्गत आती है।

रूढ़ा-शुद्धा-सारोपा-लक्षणलक्षणा :—

जब गूँजी यह वाणी तीखी कम्पित करती अम्बर अकूल,
मनु को जैसा चुभ गया शूल।[1]

यहाँ पर लोकप्रसिद्ध मुहावरे—'शूल चुभना' का प्रयोग होने के कारण रूढा-लक्षणा है। 'तीखी वाणी' तथा 'शूल चुभना' में अभेद भाव होते हुए भी 'तीखी वाणी' के मुख्यार्थ के बने रहने के कारण सारोपा-लक्षणा है। उपमान तथा उपमेय में तात्कर्म्य सम्बन्ध रहने के कारण यहाँ शुद्धा-लक्षणा है और उपयुक्त मुहावरे का मुख्यार्थ अपने को खोकर लक्ष्यार्थ का उपलक्षण-मात्र रह गया है। अतः लक्षण-लक्षणा है।

रूढ़ा-शुद्धा-साध्यवसाना-लक्षणा :—

(१) इतर प्राणियों की पीड़ा लख अपना मुँह मोड़ोगे।[2]
(२) लग गया रक्त था उस मुख में हिंसा सुख लाली से ललाम।[3]
(३) प्राणी निज भविष्य चिन्ता में वर्तमान का सुख छोड़े,
दौड़ चला है विखराता सा अपने ही पथ में रोड़े।[4]

उपर्युक्त पक्तियो में 'अपना मुँह मोडोगे', 'लग गया रक्त था उस मुख में', 'विखराता सा पथ में रोड़े', आदि मुहावरे लोक-प्रसिद्ध हैं। अत. यहाँ रूढ़ा-लक्षणा है। इन मुहावरों का मुख्यार्थ बाधित होने से इनका लक्ष्यार्थ क्रमशः 'उपेक्षा करना', 'माँस अच्छा लगना' और 'बाधायें उपस्थित करना' होता है। इन अर्थो का उपर्युक्त मुहावरों में अध्यवसान हुआ है और उनमें परस्पर सादृश्य-सम्बन्ध रहने के कारण शुद्धा-साध्यवसाना-लक्षणा है। साथ ही मुख्यार्थ के लक्ष्यार्थ का उपलक्षण मात्र रह जाने से यहाँ लक्षण-लक्षणा भी है।

प्रयोजनवती-शुद्धा-सारोपा-लक्षणलक्षणा :—

यौवन मधुवन की कालिंदी वह रही चूम कर सब दिगन्त,
मन-शिशु की क्रीड़ा नौकाएँ बस दौड़ लगाती हैं अनन्त।[5]

उपर्युक्त पद्य में क्रमश 'यौवन' और 'मधुवन की कालिंदी', 'मन' और 'शिशु' में उपमेय तथा उपमान का अभेद-भाव होते हुए भी उपमेय के बने रहने के कारण सारोपा-लक्षणा है। उपमेयों की वास्तविकता को बतलाने के प्रयोजन से ऐसा किया गया है। अत: यह प्रयोजनवती-लक्षणा है। मुख्यार्थ के लक्ष्यार्थ का उपलक्षण मात्र होने से लक्षण-लक्षणा है और उपमेय तथा उपमान में सादृश्येतर सम्बन्ध न होने के कारण यह शुद्धा-लक्षणा है।

प्रयोजनवती-गौणी सारोपा-लक्षणलक्षणा —

(१) तारो के फूल बिखरते हैं।[1]

(२) किरनो का रज्जु समेट लिया जिसका अवलम्बन ले चढती।[2]

उपर्युक्त पद्यो में 'तारो' और 'फूल', 'किरन' और 'रज्जु' उपमेय और उपमानो में सादृश्य-सम्बन्ध होने के कारण गौणी लक्षणा है। शेष बातें पूर्ववत् हैं।

प्रयोजनवती-गौणी-साध्यवसाना-लक्षणलक्षणा —

पगली हाँ सम्हाल ले कैसे छूट पडा तेरा अचल,
देख, बिखरती है मणिराजी अरी उठा बेसुध चचल।
फटा हुआ था नील वसन क्या, ओ यौवन की मतवाली।
देख अकिंचन जगत लूटता तेरी छवि भोली भाली।[3]

उपर्युक्त पदो में 'अचल', 'मणिराजी' तथा 'नील वसन' शब्द क्रमश. आकाश, तारे और नीले आकाश के उपमान हैं। यहाँ उपमान मे उपमेय का अध्यवसान हो गया है और मुख्यार्थ बाधित होने से सादृश्य-सम्बन्ध के आधार पर लक्ष्यार्थ का बोध होता है। शेष सभी बातें पूर्ववत् है। अत यहाँ प्रयोजनवती-गौणी-साध्यवसाना-लक्षणलक्षणा है।

प्रयोजनवती-शुद्धा-साध्यवसाना-लक्षणलक्षणा —

मधुमय वसत जीवन-वन के वह अतरिक्ष की लहरों में,
कब आये थे तुम चुपके से रजनी के पिछले पहरो में।[4]

उपर्युक्त पदो में से 'मधुमय वसत' में यौवन का तथा 'रजनी के पिछले पहरो में' किशोरावस्था का अध्यवसान होने तथा मुख्यार्थ एव लक्ष्यार्थ में सादृश्येतर सम्बन्ध होने से शुद्धा-साध्यवसाना-लक्षणा है। अप्रस्तुत योजना के साभिप्राय होने और मुख्यार्थ या लक्ष्यार्थ के उपलक्षण-मात्र होने से यह प्रयोजनवती लक्षण-लक्षणा भी है।

१—कामायनी, पृ० ६५। २—वही, पृ० ९९।
३—वही, पृ० ४०। ४—वही, पृ० ६३।

प्रयोजनवती-शुद्धा-साध्यवसाना उपादान-लक्षणा :—

(१) उज्ज्वल वरदान चेतना का सौन्दर्य जिसे सब कहते हैं,
जिसमें अनन्त अभिलाषा के सपने सब जगते रहते हैं।[1]

(२) मैं रति की प्रतिकृति लज्जा हूँ मैं शालीनता सिखाती हूँ,
मतवाली सुन्दरता पग मे नूपुर सी लिपट मनाती हूँ।[2]

उक्त पत्तियो में "सौन्दर्य में अभिलाषा के सपने जगते रहते हैं" का अर्थ है सुन्दर व्यक्ति में अभिलाषायें उठती हैं और "मतवाली सुन्दरता" का अर्थ है, सौन्दर्य के मद से परिपूर्ण व्यक्ति। अतः यहाँ मुख्यार्थ बाधित होकर भी लक्ष्यार्थ के अग रूप में विद्यमान है। इसी कारण यहाँ पर प्रयोजनवती शुद्धा-साध्यवसाना-उपादान-लक्षणा है।

निष्कर्ष यह है कि कामायनी में लक्षणा का प्राधान्य है, किन्तु जिस प्रकार अभिधा का आश्रय लेकर कवि ने अपने कथा सूत्रों को सगुम्फित किया है, वैसे ही लक्षणा का पुट देकर अपने काव्य को रसाप्लावित करने का प्रयत्न किया है। इतना ही नही लक्षणा द्वारा कवि ने अपने अभिप्रेत सूक्ष्म मनोभावो को भी सुन्दरता के साथ अभिव्यक्त किया है।

व्यंजना—अभिधा एव लक्षणा शक्ति के विरत हो जाने पर जिस शक्ति द्वारा तात्पर्यार्थ से भिन्न किसी अन्य अर्थ का बोध होता है उसे व्यजना शक्ति कहते हैं।[3] इस व्यजना-शक्ति के द्वारा काव्य को सशक्त एव सरस बनाया जाता है। इसके द्वारा कवि लोग अपने सूक्ष्म एव गूढ मनोभावो की गहनता एव तीव्रता को व्यक्त किया करते हैं। अभिधा और लक्षणा तो केवल शब्द के बल पर अर्थ-बोध कराती हैं, किन्तु व्यजना- शक्ति में यह विशेषता है कि वह अर्थ के बल पर भी अन्यार्थ को व्यजित करती है। किन्तु जहाँ पर व्यजना शब्द के बल पर व्यग्यार्थ का बोध कराती है वहाँ वह दो प्रकार की होती है—अभिधामूला और लक्षणामूला। इनमे से अभिधामूला शाब्दी व्यजना के पन्द्रह, लक्षणामूला के बत्तीस और आर्थी व्यजना के तीन भेद होते है।[4] ढूँढने पर कामायनी में व्यंजना के सभी भेदो के उदाहरण मिल सकते हैं। परन्तु विस्तार-भय से नीचे कतिपय भेदो के ही उदाहरण दिये जारहे हैं।

अभिधामूला-शाब्दी-व्यजना—इस व्यजना मे संयोग, वियोग, साहचर्य, विरोध, प्रकरण आदि के कारण अनेकार्थी शब्दो के किसी एक अर्थ के बोध होने से

१—कामायनी, पृ० १०२। २—कामायनी, पृ० १०३।
३—साहित्यदर्पण २।१६ ४—साहित्यदर्पण, २।२१–२६

वाच्यार्थ के उपरान्त व्यग्यार्थ की प्रतीति होती है। अभिधा में निर्भर होने पर इसकी उत्पत्ति होती है। अत यह अभिधामूला कहलाती है।[1] नीचे अभिधामूला-शाब्दी-व्यजना के कतिपय उदाहरण कामायनी से दिये जाते है —

(१) सघन गगन मे भीम प्रकम्पन झझा के चलते झटके।[2]

(२) अन्धकार मे मलिन मित्र की धुंधली आभा लीन हुई।[3]

उपर्युक्त पक्तियो मे 'भीम' तथा 'मित्र' का अर्थ क्रमशः 'द्वितीय पाण्डव' तथा 'सखा' न होकर प्रकरण के अनुसार 'भयकर' तथा 'सूर्य' है। अत यहाँ पर प्रकरण-सम्भवा अभिधामूला-व्यजना है।

(१) कौन तुम ? ससृति-जलनिधि तीर तरगो से फेंकी मणि एक।[4]

(२) वन बालाओ के निकुज सब भरे वेणु के मधु स्वर से।[5]

उपर्युक्त पक्तियो मे 'तीर' तथा 'मधु' का अर्थ 'बाण' एव 'मकरद' या 'शहद' न होकर साहचर्य के कारण क्रमश 'किनारा' एव 'मीठा' है। अत यहाँ पर साहचर्य्य-सभवा-अभिधामूला-शाब्दी-व्यजना है।

लक्षणामूला-शाब्दी-व्यजना— यह व्यजना लक्षणा पर आश्रित होती है और जिस प्रयोजन के लिए लक्षणा का आश्रय लिया जाता है वह प्रयोजन जिस शक्ति द्वारा प्रतीत होता है उसे लक्षणामूला-शाब्दी-व्यजना कहते हैं।[6] इस व्यजना का स्वरूप प्रयोजनवती-लक्षणा से पूर्णतया मिलता-जुलता है और जितने भेद प्रयोजनवती लक्षणा के होते हैं उतने ही भेद इसके भी माने जाते है।[7] नीचे इस व्यजना का एक उदाहरण कामायनी के 'स्वप्न' सर्ग से दिया जाता है —

अरुण जलज के शोण कोण से नव तुषार के बिन्दु भरे,
मुकुर चूर्ण बन रहे प्रतिच्छवि कितनी साथ लिए बिखरे।
वह अनुराग हँसी दुलार की पक्ति चली सोने तम में,
वर्षा विरह कुहू में जलते स्मृति के जुगुनू डरे डरे।[8]

उपर्युक्त पक्तियो में 'अरुण जलज' विरहिणी श्रद्धा की रुदन करती हुई लाल-लाल आँखो के लिए आया है, 'नव तुषार बिन्दु' उसके आँसुओ के लिए आया है। अत प्रथम पक्ति में प्रयोजनवती-साध्यवसाना-लक्षणलक्षणा है। चौथी पक्ति मे वर्षा का विरह पर और जुगुनू का स्मृति पर आरोप किया गया है। अत यहाँ

१—साहित्यदर्पण २।२१
२—कामायनी, पृ० १३।
३—कामायनी, पृ० १४।
४—वही, पृ० ४५।
५—वही, पृ० १७८।
६—साहित्यदर्पण २।२२
७—छायावाद-युग, पृ० ३७०।
८—कामायनी, पृ० १७९।

प्रयोजनवती-सारोपा-लक्षणलक्षणा है। समस्त पद मे विरह-जन्य आकुलता एव विरहिणी की क्षोभपूर्ण स्थिति व्यग्य है। अत. यहाँ लक्षणामूला-शाब्दी-व्यजना है।

आर्थी-व्यजना—आर्थी-व्यजना वह शब्द शक्ति है जो देश, काल, वाच्य, काकु, चेष्टा आदि की विशेषता के कारण व्यग्यार्थ की प्रतीति कराती है। इसके तीस भेद माने जाते हैं।[1] इनमे से कुछ के उदाहरण कामायनी से दिये जाते हैं।

देशवैशिष्ट्योत्पन्न वाच्यसंभवा—

वल्लरियाँ नृत्य निरत थी बिखरी सुगन्ध की लहरें,
फिर वेणु रन्ध्र से उठ कर मूर्छना कहाँ अब ठहरे।[2]

यहाँ पर कवि ने प्रकृति के सौम्य वातावरण द्वारा कैलाश पर्वत पर फैले हुए आनन्द-उल्लास की व्यजना की है। अत वातावरण या देश के वर्णन से सभूत होने के कारण तथा वाच्यार्थ मे व्यग्यार्थ की प्रतीति होने से यहाँ देशवैशिष्ट्योत्पन्न-वाच्यसभवा व्यजना है।

काल वैशिष्ट्योत्पन्न वाच्यसभवा—

देवदारु निकुज गह्वर सब सुधा में स्नात,
सब मनाते एक उत्सव जागरण की रात।
+ + +
शिथिल अलसाई पडी छाया निशा की कान्त,
सो रही थी शिशिर कण की सेज पर विश्रान्त।[3]

यहाँ पर अभिसार या मिलन के लिए उपयुक्त काल के चित्रण द्वारा कवि ने मनु के हृदय मे स्थित काम-वासना का व्यग्य रूप में उल्लेख किया है। लक्ष्यार्थ से व्यग्य की प्रतीति होने के कारण यह कालवैशिष्ट्योत्पन्न लक्ष्यसभवा आर्थी व्यंजना है।

वाच्यवैशिष्ट्योत्पन्न वाच्यसभवा—

अनवरत उठे कितनी उमग,
चुम्बित हो आँसू जलधर से अभिलाषाओ के शैल शृग।
+ + +
डुब नींद में बन इन्द्रधनुष बदले सर कितने नये रग,
बन तृष्णा ज्वाला का पतग।[4]

उपर्युक्त पद में काम ने अपने शाप द्वारा मनु के जीवन में आने वाली समस्त

१—साहित्यदर्पण २।२३ २—कामायनी, पृ० २६२।
३—कामायनी, पृ० ८८। ४—वही, पृ० १६४।

बाधाओं को प्रस्तुत किया है। अत यहाँ वाच्य वैशिष्ट्य द्वारा 'श्रद्धा-विहीन जीवन की दु खातिशयता' व्यंग्य है, क्योंकि यहाँ जो-जो बातें बतलाई गई हैं लगभग उन सभी का सामना मनु को अपने आगामी जीवन में करना पड़ता है। अत वाच्यवैशिष्ट्य से उत्पन्न होने के कारण यहाँ वाच्य वैशिष्ट्योत्पन्न वाच्यसंभवा आर्थी-व्यंजना है।

अत निष्कर्ष यह है कि प्रसादजी ने लक्षणा एव व्यजना शक्तियों का प्रयोग करके कामायनी में उक्तिवैचित्र्य एव अर्थगाम्भीर्य दिखाने का सफल प्रयत्न किया है। इतना अवश्य है कि कामायनी में लक्षणा एव व्यजना का प्राधान्य होने के कारण कहीं-कहीं क्लिष्टता आगई है और कुछ स्थलों के भाव-गाम्भीर्य को समझने में कठिनाई होती हैं, परन्तु ऐसे स्थल एक तो कामायनी में अपेक्षाकृत कम हैं और दूसरे प्रसादजी की प्रतीक शैली से परिचित हो जाने पर एव उनकी कामायनी के पूर्व रचित कविताओं का सम्यक् अनुशीलन कर लेने पर वे यत्किंचित् क्लिष्ट स्थल भी सरलता से समझ मे आ सकते हैं। वैसे कामायनी के काव्यत्व का सारा सौन्दर्य लाक्षणिकता प्रतीकात्मकता एव व्यंग्यपूर्ण वर्णनों में ही है और ये सभी बातें सर्व साधारण की समझ से कुछ बाहर की वस्तुएँ होती हैं। इसी कारण प्राय. कामायनी काव्य को क्लिष्ट कहकर उपेक्षा की दृष्टि से देखा जाता है। परन्तु तनिक काव्य के मर्म तक पहुँचने का प्रयत्न किया जाय और उसमें वर्णित लाक्षणिक एव व्यजना प्रधान गूढ वर्णनों को समझने की चेष्टा की जाय तो कामायनी में सर्वत्र भाव-सौन्दर्य के ही दर्शन होंगे।

शैली—अभिव्यजना का स्वरूप

साहित्य में अभिव्यक्ति की प्रणाली को शैली कहते हैं, क्योंकि शैली का शाब्दिक अर्थ भी रचना-प्रणाली या 'अभिव्यक्ति का ढग' है। कोई-कोई विद्वान् शैली को विचारों का परिच्छद या परिधान कहते हैं। परन्तु यह कथन ठीक नहीं, क्योंकि परिच्छद या परिधान शरीर से पृथक् रहता है और उसका अपना निजी अस्तित्व होता है, जबकि शैली का विचारों एव भावों से अविच्छिन्न सम्बन्ध है। इतना ही नहीं शैली विचारों एव भावों को ही अभिव्यक्त करती है। अत विचार या भावों को हम यदि साहित्य का आन्तरिक रूप कहे तो शैली को हम उसका बाह्य या प्रत्यक्ष रूप कह सकते हैं, क्योंकि साधारणतया किसी कवि या लेखक की शब्द-योजना, वाक्यांशों का प्रयोग, वाक्यों की बनावट और उनकी ध्वनि आदि को ही शैली कहा जाता है।[1]

१—साहित्यालोचन, पृ० ८३, ३०२।

पाश्चात्य विद्वानो ने शैली को 'स्टाइल' (Style) कहा है। अरस्तू क
है कि शैली की पूर्णता इसी में है कि वह स्पष्ट हो और विना किसी सा
सरलता से समझ में आजाय। इतना ही नही स्पष्ट शैली वह है, जिसमे
प्रचलित एव उचित शब्दो का प्रयोग होता है।[1] किन्तु पाश्चात्य साहित्य मे
मनुष्य है और मनुष्य ही शैली है" की धारणा अधिक प्रचलित है। इस
का आंशिक विरोध क्रोचे (Croce) ने किया है और बतलाया है कि शै
हम मनुष्य नही कह सकते, क्योंकि शैली में तो विचार एव भावो की अभिव्य
रहती है, जबकि मनुष्य मे उक्त दोनो बातो के अतिरिक्त इच्छा भी रहती है।
का सम्बन्ध प्रत्येक लेखक से अवश्य होता है, परन्तु वह रचना या अभिव्यक्ति
पर्यायवाची है।[3] आई० ए० रिचर्डस का मत है कि काव्य मे शैली का प्रमुख
ही यह है कि उसमे शब्द रचना (form) तथा अर्थ (meaning) का
निकट सम्बन्ध होना चाहिए।[4] वाल्टर पेटर का मत है कि ऐसे अनुपम
मुहावरे, वाक्य, गीत आदि को शैली कह सकते हैं, जो हृदय के भावो एव मस्ति
विचारो को उचित रूप से अभिव्यक्त कर सकें।" एवरक्रोम्बी का विचार
भाषा की ऐसी आदत को शैली कहते हैं, जो जीवन की विशिष्ट प्रणाली को
ढग से प्रकट करने में समर्थ होती है।[6] साराश यह है कि सभी पाश्चात्य
शैली को रचना-प्रणाली या अभिव्यक्ति के ढग के रूप मे ही स्वीकार करते हैं

भारतीय साहित्य में शैली का पर्यायवाची 'रीति' या 'वृत्ति' शब्द मिल
क्योकि रीति-सम्प्रदाय के प्रवर्तक वामनाचार्य ने पदो की विशिष्ट रचना को
कहा है। इसके साथ ही वृत्ति के दो भेद किये गये हैं—अर्थवृत्ति और शब्दवृ
अर्थवृत्तियाँ चार होती है, जो भारती, सात्वती, कैशिकी तथा आरभटी कहल
और जिनका प्रयोग केवल नाटको मे ही होता है। किन्तु शब्दवृत्तियाँ तीन हो
उपनागरिका, परुषा और कोमला। इनका सम्बन्ध रचनाप्रणाली मे रह
मम्मटाचार्य ने इन वृत्तियो का अन्तर्भाव रीति के अतर्गत किया है और बतल
कि उपनागरिका वृत्ति का वैदर्भीरीति में, परुषा वृत्ति का गौडी रीति में
कोमला वृत्ति का पाचाली रीति में अन्तर्भाव हो सकता है।[8] इस प्रकार रीति
वृत्ति दोनो ही काव्य की रचना-प्रणाली से सम्बन्धित हैं।

1—Aristotle's Theory of Poetry and Fine Art, p 81.
2—Theory of Aesthetic, p 87
3—Theory of Aesthetic, p 1
4—Practical Criticism, p 233
5—Appreciation, p. 25-26
6—The Idea of Great Poetry, p. 25.

रीति मे जिस विशिष्ट पद-रचना का उल्लेख हुआ है उसमे वैशिष्ट्य सम्पादन करने वाले पदार्थ को वामनाचार्य ने गुण बतलाया है। इतना ही नही वक्रोक्ति सम्प्रदाय के प्रवर्तक आचार्य कुन्तक ने रीति एव गुण का सम्बन्ध वक्रोक्ति से सिद्ध किया है और रीतियो के वैदर्भी, गौडी एव पाचाली नामो का अवैज्ञानिक सिद्ध करके उनके स्थान पर क्रमश सुकुमार मार्ग, विचित्र मार्ग और मध्यम मार्ग का उल्लेख किया है।[1] कुन्तक के मत मे वक्रोक्ति केवल एक प्रकार का अलकार न होकर रचना-प्रणाली से सम्बन्ध रखती है। इसी कारण उन्होने वक्रोक्ति के छै भेद किये है, जो वर्ण-विन्यास-वक्रता, पद पूर्वार्ध-वक्रता, पद-परार्ध वक्रता, वाक्य-वक्रता, प्रकरण-वक्रता कहलाते है।[2] इससे स्पष्ट है कि वक्रोक्ति भी रीति या शैली के ही अतर्गत आती है। इसके अतिरिक्त क्षेमेन्द्र ने औचित्य का प्रतिपादन करते हुए उसके अनेक भेद बतलाए है और उन सबका सम्बन्ध भी रचना-प्रणाली से सिद्ध किया है। यद्यपि औचित्य का विचार भरतमुनि के समय मे ही मिलता है और आनन्दवर्धनाचार्य ने उसके भेदो का मार्मिक विवेचन भी किया है, तथापि 'औचित्य' के लिए आचार्य क्षेमेन्द्र ही प्रसिद्ध है, क्योंकि आपने 'औचित्य' को स्वतन्त्र रूप में स्वीकार करके काव्य-रचना के लिए उसे आवश्यक बतलाया है। उनका मत है कि काव्य के प्रत्येक अग तथा उपाग, शब्द तथा अर्थ, पद तथा वाक्य, गुण तथा रस इसी की छत्र-छाया में पनपते हैं और अपनी कृतार्थता सम्पादन करते हैं। इतना ही नही आपने औचित्य को ही काव्य की आत्मा या जीवन स्वीकार किया है।[3] इसके अतिरिक्त काव्य की रीति या रचना-प्रणाली में छन्द या वृत्तो का भी महत्व माना गया है। अत भारतीय दृष्टिकोण से भी शैली अभिव्यक्ति का ही साधन सिद्ध होती है और उसके अन्तर्गत रीति, वृत्ति, गुण, वक्रोक्ति, औचित्य, छद आदि आते हैं। भारतीय दृष्टि से ये सभी शैली के अभिन्न अग हैं और पाश्चात्य दृष्टि से जब शैली को हम रचना-प्रणाली ही मानते हैं, तब भी इस मत में कोई विरोध उत्पन्न नही होता।

शैली के भेद—शैली अभिव्यक्ति का साधन है। अत इसे कवि के मस्तिष्क एव हृदय मे रहने वाले विचारो तथा भावों को वहन करने का कार्य करना पडता है इसी कारण शैली में प्रेषणीयता का गुण होना आवश्यक है। कुछ विद्वान् उसमें ओजस्विता, सजीवता, प्रौढता, प्रभाव-शालीनता आदि गुणो का रहना अभीष्ट समझते हैं।[4] परन्तु शैली का प्रमुख गुण प्रेषणीयता है। इस प्रेषणीयता में कवि की कल्पना एव भावो का हाथ रहता है और बिना इन दोनो तत्वों का समावेश हुए

१—भारतीय साहित्यशास्त्र, पृ० ३३८—३३९। २—वही, पृ० ३७४।
३—वही, पृ० ९४। ४—काव्यदर्पण, पृ० ३५२।

प्रेषणीयता मे सामर्थ्य नही आती। शैली की इसी प्रेषणीयता एव विचारो की उद्घाटन-प्रणाली को देखकर विद्वानो ने काव्य की शैली के कुछ भेद निश्चित किये हैं। कोई तो व्यावहारिक या स्वाभाविक-शैली, ललित शैली, प्रौढ या उत्कृष्ट शैली तथा गद्य-काव्य शैली[1] कहकर शैली को चार भागो मे विभक्त करता है, तो कोई सरल शैली, अलंकृत शैली, गुम्फित या क्लिष्ट शैली तथा गूढ या सांकेतिक शैली नाम देता है।[2] यदि ध्यानपूर्वक देखा जाय तो उक्त दोनो प्रकार के विभाजनो में कोई मौलिक अतर नही है, क्योकि जो स्वाभाविक या व्यावहारिक शैली होती है उसी को सरल शैली भी कह सकते हैं, ललित शैली का समावेश अलकृत शैली में हो जाता है, प्रौढ या उत्कृष्ट शैली को गुम्फित या क्लिष्ट शैली भी कह सकते हैं तथा गद्य-काव्य शैली प्राय गूढ या सांकेतिक ही होती है। अत काव्य की उक्त चार शैलियां ही सिद्ध होती हैं।

काव्य-शैलियो का कामायनी मे स्वरूप

सरल शैली—इसमे सरल, सुबोध और मुहावरेदार भाषा का प्रयोग होता है, प्रसाद गुण की प्रधानता रहती है और सरलता के साथ-साथ रसात्मकता का योग रहता है। द्विवेदी-युग मे इस सरल शैली का व्यवहार अधिक रहता था, परन्तु छायावादी युग मे भी कुछ कविताएँ सरल शैली में लिखी हुई मिलती हैं। कामायनी में भी यत्र-तत्र इस सरल शैली का रूप देखा जा सकता है। जैसे :—

मैं हँसती हूँ रो लेती हूँ, मैं पाती हूँ खो देती हूँ
इसने ले उसको देती हूँ, मैं दुख को सुख कर लेती हूँ।[3]

अलंकृत शैली—इसके अतर्गत अलकारो की बहुलता होती है और सुमधुर शब्दो द्वारा चमत्कार उत्पन्न करने का प्रयत्न किया जाता है। इस अलकार-बहुला शैली को छायावादी कवियो ने प्रचुरमात्रा मे अपनाया है, किन्तु रीतिकालीन कवियो की भाँति यहाँ अलकारो की इतनी अधिकता नही है कि वे भावो पर भी अपना अधिकार जमा लें। फिर भी अलकारो की बहुलता कहीं-कहीं खटकने लगती है। कामायनी में भी इसी अलंकृत शैली को सबसे अधिक अपनाया गया है। जैसे :—

सन्ध्या अरुण जलज केसर ले अब तक मन थी बहलाती,
मुरझा कर कब गिरा तामरस, उसको खोज कहाँ पाती!
क्षितिज भाल का कुंकुम मिटता मलिन कालिमा के कर से,
कोकिल की काकली वृथा ही अब कलियों पर मँडराती।[4]

१—काव्यदर्पण, पृ० ३५३। २—छायावाद-युग, पृ० ३५०।
३—कामायनी, पृ० [illegible]

गुम्फित या क्लिष्ट शैली—इस शैली के अन्तर्गत परस्पर सगुम्फित लम्बे-लम्बे वाक्यो का प्रयोग होता है, एक ही वाक्य के अन्तर्गत कितने ही अन्य वाक्य भी सम्मिलित रहते हैं और उन वाक्यों का सम्बन्ध समझने मे क्लिष्टता का अनुभव होता है। छायावादी कवियो में ऐसे सगुम्फित एव क्लिष्टता प्रधान वाक्य लिखने में कवि निराला प्रसिद्ध हैं। उनकी 'गीतिका', 'राम की शक्ति पूजा' आदि में यह शैली अधिक प्रयुक्त हुई है। किन्तु कामायनी में भी ऐसे सगुम्फित वाक्यो का प्रयोग मिल जाता है, जिनके अन्तिम आशय को समझने के लिए कितने ही अन्य पदों का पढ़ना अनिवार्य हो जाता है। उदाहरण के लिए कामायनी का 'लज्जा' सर्ग ले सकते हैं। इसमें लज्जा का स्वरूप वर्णन करते हुए कवि ने 'अम्बर चुम्बी हिम शृगो से कलरव कोलाहल साथ लिए' से लेकर 'ठोकर जो लगने वाली है उसको धीरे से समझाती' तक ४८ पक्तियो में एक ही वाक्य लिखा है।[१] अत यहाँ पर गुम्फित या क्लिष्ट शैली का स्वरूप विद्यमान है।

गूढ एव साकेतिक शैली—इस साकेतिक शैली का भी प्रयोग छायावादी कविता मे सर्वाधिक मिलता है। इसमे लाक्षणिकता एव प्रतीकात्मकता की बहुलता रहती है और चित्रात्मकता लाने के लिए दूरारूढ कल्पना का सहारा लिया जाता है। दूरारूढ कल्पना, प्रतीकों और शब्द-शक्तियो का अधिक आश्रय लेने के कारण यह शैली सर्वसाधारण के लिए दुरुह हो जाती है और यही कारण है कि अधिकाश व्यक्ति छायावादी कविता को नही समझ पाते। कामायनी में इस गूढ एव साकेतिक शैली का प्रयोग ही अधिक मात्रा में मिलता है। जैसे —

मधुमय वसन्त जीवन वन के, वह अन्तरिक्ष की लहरो मे,
कब आये थे तुम चुपके से रजनी के पिछले पहरो में।
क्या तुम्हे देख कर आते यो, मतवाली कोयल बोली थी,
उस नीरवता में अलसाई कलियो ने आँखे खोली थी।[२]

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि कामायनी में काव्य की सभी प्रकार की शैलियो के दर्शन होते हैं, जिससे उसमें कही क्लिष्टता है, तो कही सरलता भी है, कही विस्तार है तो कही सूक्ष्मता भी है, कही गहनता है, तो कही सुबोधता भी है और कही साकेतिकता है, तो कही स्वाभाविकता भी है। साराश यह है कि प्रसादजी ने भावानुकूल भाषा का प्रयोग करके उसमें प्रेषणीयता के आधार पर विभिन्न शैलियो का प्रयोग किया है।

१—कामायनी, पृ० १००-१०२। २—वही, पृ० ६३।

कामायनी में रीतियां—आचार्यो ने काव्य की तीन रीतियां बतलाई हैं, जो वैदर्भी, गौडी और पाचाली के नाम से प्रसिद्ध हैं। जिनमे वैदर्भी रीति माधुर्य गुण पर अवलम्बित रहती है। इस रीति के अन्तर्गत ट, ठ, ड, ढ से रहित क वर्ग से पवर्ग तक के वर्ण अपने वर्ग के अन्तिम वर्ण के साथ इस प्रकार संयुक्त रहते हैं कि पचम वर्ण पहले आता है और स्पर्श वर्ण पीछे। रेफ और णकार ह्रस्व स्वर से अन्तरित होते हैं। समास का नियम यह है कि या तो समास बिलकुल होती ही नही, यदि होती भी है तो बहुत थोडी होती है। इस रीति में वाक्य के दूसरे पदो के योग से उत्पन्न होने वाली रचना माधुर्य से युक्त रहती है।[1] सारे कामायनी काव्य में इसी वैदर्भी रीति की बहुलता दृष्टिगोचर होती है, क्योंकि यहां पर सरल समासो मे कोमल-कात पदावली के अन्तर्गत माधुर्यपूर्ण रचना का ही प्राधान्य है। जैसे :—

नव नील कुज हैं झीम रहे, कुसुमो की कथा न बन्द हुई,
है अन्तरिक्ष आमोद भरा, हिम कणिका ही मकरन्द हुई।[2]

कामायनी में गौडी रीति के अधिक दर्शन नहीं होते। इसमे जिन ओजगुण, कठोरवर्ण, दीर्घसमास, विकट रचना आदि का समावेश रहता है और कही-कही द्वित्व वर्ण एव गाढ बध की जो योजना की जाती है,[3] वैसी बातें कामायनी में अधिक नही मिलती। फिर भी जहां-तहां कुछ उदाहरण गौडी रीति के मिल जाते हैं। जैसे :—

धू धू करता नाच रहा था अनस्तित्व का ताण्डव नृत्य,
आकर्षण विहीन विद्युत्कण बने भारवाही थे भृत्य।[4]

पाचाली रीति उक्त दोनो रीतियो की अन्तरालवर्तिनी रीति मानी गई है। वामन के मतानुसार इसमें माधुर्य तथा सौकुमार्य गुणो का निवास रहता है। ओज तथा कान्ति गुणो के अभाव में इसके पद उत्कट नही होते।[5] इसमे उक्त दोनो रीतियो के अतिरिक्त वर्णों का प्रयोग होता है। कामायनी मे इस रीति के भी अनेक उदाहरण मिल जाते हैं। जैसे :—

कौन हो तुम वसन्त के दूत विरस पतझड मे अति सुकुमार,
घन तिमिर में चपला की रेख तपन में शीतल मन्द बयार।
नखत की आशा किरण समान, हृदय के कोमल कवि की कान्त,
कल्पना की लघु लहरी दिव्य कर रही मानस हलचल शान्त।[6]

१—भारतीय साहित्य-शास्त्र, पृ० २०८। २—कामायनी, पृ० ६५।
३—भारतीय साहित्य-शास्त्र, पृ० २०६। ४—कामायनी, पृ० २०।
५—भारतीय साहित्य-शास्त्र, पृ० २१०। ६—कामायनी, पृ० ५०।

साराश यह है कि यद्यपि प्रसादजी ने कामायनी मे तीनो रीतियों का उपयोग किया है, फिर भी उन्होने वैदर्भी रीति को अधिक अपनाया है। वैसे भी छायावादी कवियो में वैदर्भी रीति के लिए ही अधिक आकर्षण दिखाई देता है, क्योंकि अपने हृदय की कोमल भावनाओं को व्यक्त करने मे वैदर्भी रीति जितनी उपयुक्त एव उपयोगी होती है, उतनी अन्य रीतिया नही होती। यही कारण है कि प्रसादजी ने वैदर्भी रीति को अपने कोमल भावों के अनुकूल पाकर अधिकाश सर्ग इसी रीति मे लिखे है, जो सर्वथा सुन्दर, सुष्ठु एव समीचीन प्रतीत होते हैं।

कामायनी में गुणो का स्वरूप—साहित्य शास्त्रों में अलंकार, रीति आदि की भाँति गुण भी रस को उत्कृष्ट बनाने वाला बतलाया है।[1] परन्तु गुण कितने होते हैं, इसके बारे में विद्वानो में मतभेद है। गुणो की संख्या निश्चित करते हुए भरत ने दस, व्यास ने उन्नीस, भामह ने तीन, दडी ने दस, वामन ने बीस और भोज ने चौबीस गुण बतलाये हैं।[2] किन्तु मम्मटाचार्य ने भामह द्वारा प्रतिपादित माधुर्य, ओज और प्रसाद नामक तीन गुणो का समर्थन करते हुए अन्य गुणो मे से कुछ का तो समावेश इन्ही तीन गुणो में कर लिया है और कुछ गुणो की निस्सारता प्रकट की है।[3] साहित्यदर्पणकार ने भी उक्त तीन गुणो को ही अपनाया है।[4] आज तो काव्य के ये तीन गुण ही सर्व-सम्मति से काव्य के लिए उपयुक्त माने जाते हैं।

कामायनी में वैसे तीनो गुण—माधुर्य, ओज और प्रसाद विद्यमान हैं। परन्तु प्रसादजी प्रेम एव माधुर्य के कवि हैं और उनके 'आंसू', 'लहर', 'झरना' आदि मे भी माधुर्य गुण की ही प्रधानता है। इसी कारण अन्य गुणो की अपेक्षा कामायनी में भी माधुर्य गुण की ही प्रधानता दिखाई देती है। साहित्याचार्यो ने चित्त को द्रवीभूत करके आह्लादयुक्त बनाने वाले गुण को माधुर्य बतलाया है।[5] कामायनी के वर्णनो की भी यही विशेषता है कि उनमें भयकर से भयकर स्थिति के चित्रण मे भी कवि को माधुर्य के दर्शन हुए हैं और कामायनी के अधिकाश वर्णन पाठकों के चित्त को द्रवीभूत करके आह्लादयुक्त बना देते है। इसके अतिरिक्त कामायनी मे ओज गुण के अधिक दर्शन नही होते, फिर भी प्रसाद गुण अपेक्षाकृत अधिक मिल जाता है। इस तरह सम्पूर्ण कामायनी में माधुर्य और प्रसाद गुण का ही आधिक्य दिखाई देता है।

१—साहित्यदर्पण ११५ २—काव्यदर्पण, पृ० ४०१।

३—काव्यप्रकाश, पृ० १८७-२६३।

४—माधुर्यमोजोऽथ प्रसाद इति ते त्रिधा। साहित्यदर्पण ८।२

५—साहित्यदर्पण ८।३

इनमे से भी माधुर्य गुण का वर्णन सबसे अधिक मिलता है। नीचे कामायनी मे प्राप्त तीनो गुणो के उदाहरण दिए जाते हैं :—

माधुर्य — मधु बरसती विधु किरन हैं काँपती सुकुमार,
पवन मे है पुलक मन्थर, चल रहा मधु भार।
तुम समीप, अधीर इतने आज क्यो हैं प्राण ?
छक रहा है किस सुरभि से तृप्त होकर घ्राण ?[1]

ओज :— उठा तुमुल रणनाद, भयानक हुई अवस्था,
बढ़ा विपक्ष समूह मौन पद दलित व्यवस्था।
आहत पीछे हटे, स्तम्भ से टिक कर मनु ने,
श्वास लिया, टंकार किया दुर्लक्ष्यी धनु ने।[2]

प्रसाद — जल पीकर कुछ स्वस्थ हुए से लगे बहुत धीरे कहने,
'ले चल इस छाया के बाहर मुझको दे न यहाँ रहने।
मुक्त नील नभ के नीचे या कहीं गुहा मे रह लेंगे,
अरे झेलता ही आया हूँ जो आवेगा सह लेंगे।'[3]

कामायनी मे वक्रोक्ति का स्वरूप—आचार्य कुन्तक ने वक्रोक्ति के छै भेद बतलाये है—(१) वर्ण-विन्यास-वक्रता, (२) पद-पूर्वार्ध-वक्रता, (३) पद-परार्ध-वक्रता, (४) वाक्य-वक्रता, (५) प्रकरण-वक्रता और (६) प्रबंध-वक्रता।[4] ये भेद अत्यंत वैज्ञानिक प्रतीत होते हैं, क्योंकि इनमे वर्ण से लेकर क्रमश प्रबंध तक की वक्रता का उल्लेख किया गया है। वैसे भी वर्ण से पद बनता है और पद-समुच्चय वाक्य होते हैं। इसी तरह वाक्यो के समूह द्वारा प्रकरण की रचना होती है और अनेक प्रकरण मिलकर एक विशिष्ट प्रबन्ध की रचना करते हैं। अत कुन्तक ने इन भेदो के अंतर्गत प्रबन्ध की सबसे छोटी इकाई वर्ण से लेकर उसके महत्तम रूप प्रबन्ध तक की वक्रता का विचार किया है।[5]

(१) **वर्ण-विन्यास-वक्रता**—इस वक्रता के अन्तर्गत व्यंजन वर्णो के सौन्दर्य-विषयक सभी प्रयोगो का विवेचन किया जाता है। अनुप्रास एवं यमक आदि शब्दालंकार इसी के अन्तर्गत आते हैं। कुन्तक का मत है कि कवि को अनुप्रास का प्रयोग बिना प्रयत्न के ही करना चाहिए। अनुप्रास पर कवि का आग्रह रहने से काव्य के

१—कामायनी, पृ० ८६। २—वही, पृ० २[illegible]। ३—वही, पृ० २१६।
४—वक्रोक्तिजीवितम् ११९८–२१
५—भारतीय साहित्य-शास्त्र, पृ० ३७४–३७५।

अर्थ का सौन्दर्य नष्ट हो जाता है। साथ ही अनुप्रास मे सुन्दर प्रसंग का चयन होना चाहिए और उसमें चारुत्व रहना चाहिए। ऐसे ही यमक में भी प्रसाद गुण रहना चाहिए जिससे उसका अर्थ पाठकों को सरलता से ज्ञात हो सके।[१] इसी वर्ण विन्यास-वक्रता के उदाहरण कामायनी के अनुप्रास एवं यमक अलकार के उदाहरणों मे देखे जा सकते हैं, जिनका कि उल्लेख पहले किया जा चुका है।[२]

(२) पद-पूर्वार्ध-वक्रता—इस वक्रता के कई भेद हैं—जैसे, (क) रूढ़ि-वैचित्र्य वक्रता, (ख) पर्याय-वक्रता, (ग) उपचार-वक्रता, (घ) विशेषण-वक्रता, (ङ) संवृति-वक्रता, (च) प्रत्यय-वक्रता, (छ) वृत्ति वक्रता, (ज) भाववैचित्र्य-वक्रता, (झ) लिंग-वैचित्र्य-वक्रता और (ट) क्रिया-वक्रता। इनमें से कामायनी के अंतर्गत उपचार-वक्रता को ही अधिक अपनाया गया है। इस वक्रता के अतर्गत साधारणतया अमूर्त पदार्थ में मूर्त्त पदार्थ का, घन पदार्थ में द्रव पदार्थ का, अचेतन मे चेतन धर्म का अध्यारोप किया जाता है। ऐसा करने से काव्य में सरसता आ जाती है। कुन्तक के मतानुसार उपचार वह है जहाँ अन्य वस्तु का साधारण धर्म अधिक दूर वाले पदार्थ पर लेशमात्र सम्बन्ध से आरोपित किया जाता है।[३] प्रसादजी ने भी इस उपचार-वक्रता को छाया-वाद की एक प्रमुख विशेषता बतलाया है।[४] इस उपचार-वक्रता के अतर्गत ही पाश्चात्य मानवीकरण अलकार आता है। नीचे कामायनी से एक उपचार-वक्रता का उदाहरण दिया जाता है, जहाँ अचेतन रजनी पर चेतन धर्म का आरोप करके उसे एक नारी के रूप मे अकित किया है —

पगली हाँ सम्हाल ले कैसे छूट पड़ा तेरा अचल,
देख, बिखरती है मणिराजी अरी उठा बेसुध चचल।[५]

(३) पद-परार्ध-वक्रता—इस वक्रता के भी कई भेद हैं, जैसे काल-वैचित्र्य-वक्रता, कारक-वक्रता, सख्या-वक्रता आदि।[६] इनमें से कामायनी के अतर्गत कारक वक्रता ही अधिक पाई जाती है, क्योंकि कारक-वक्रता के अतर्गत किसी विशिष्ट अर्थ की अभिव्यक्ति के लिए कारको में विपर्यय कर दिया जाता है—अर्थात् अचेतन पदार्थ में चेतनत्व का अध्यारोप करके चेतन की क्रिया का निवेश किया जाता है। जैसे —

१—भारतीय साहित्य-शास्त्र, पृ० ३७९–३८०।

२—देखिए यही प्रकरण, पृ० २३०।

३—भारतीय साहित्य-शास्त्र, पृ० ३८५।

४—काव्य और कला तथा अन्य निबध, पृ० १२८।

५—कामायनी, पृ० ४०।

६—भारतीय साहित्य-शास्त्र, पृ० ४००-४०८।

सन्ध्या समीप आई थी उस सर के, वल्कल वसना,
तारों से अलक गुँथी थी पहने कदम्ब की रसना।[1]

(४) वाक्य-वक्रता—इस वक्रता के भी अनन्त भेद हैं, परन्तु प्रमुख रूप से अलकार-विधान इसी के अतर्गत आता है। कुन्तक ने कवि की अलोकसामान्य प्रतिभा के द्वारा उत्थापित विच्छित्ति विशेष को अथवा चमत्कार के एक प्रकार को अलकार बतलाया है।[2] इसी प्रकरण मे अलकार-विधान के अतर्गत कामायनी के प्रमुख-प्रमुख अलकारो के उदाहरण दिये जा चुके हैं, वे ही उदाहरण वाक्य-वक्रता के भी हैं।

(५) प्रकरण-वक्रता—प्रबन्ध के एक देश को प्रकरण कहते हैं और प्रकरण सम्बन्धी वक्रता को प्रकरण-वक्रता कहा जाता है। साधारणतया प्रकरण को सरस, उपादेय तथा सुन्दर बनाने के लिए प्रकरण-वक्रता का प्रयोग होता है। इस प्रकरण-वक्रता के भी कितने ही प्रकार हैं। जिस प्रसग से नायक के चरित्र में दीप्ति उत्पन्न होती है, सौन्दर्य का उन्मीलन होता है, लालित्य का विकास होता है, वह प्रकरण-वक्रता का अन्यतम प्रकार है।[3] कामायनी काव्य नायिका प्रधान है। अत. यहाँ पर जब श्रद्धा मनु के दुवारा भाग जाने पर इडा को अत्यन्त दुखी देखती है, तब वह उसके सब अपराध भूल जाती है और उसको राष्ट्र-नीति का सुचारु रूप मे सचालन कराने के लिए अपने प्राण-प्रिय पुत्र को भी सौंपती हुई यह कहकर चली जाती है —

तुम दोनों देखो राष्ट्र-नीति, शासक बन फैलाओ न भीति,
मैं अपने मनु को खोज चली, सरिता मरु नग या कुज गली।
वह भोला इतना नही छली, मिल जायेगा, हूँ प्रेम पली।[4]

उपर्युक्त प्रसग मे श्रद्धा के अन्तर्गत हमे अपराधी के लिए भी क्षमा, त्याग, लोक-मंगल की भावना और महानता के दर्शन होते हैं। अत. यहां प्रकरण-वक्रता के अन्यतम प्रकार का प्रयोग हुआ है।

इसके अतिरिक्त प्रकरण की रस-निर्भरता, मूल इतिवृत्त मे परिवर्तन करके नवीन प्रसग की स्थापना, अवान्तर प्रकरणों को परस्पर सम्बद्ध करना, अवान्तर नवीन घटनाओं का सन्निवेश करना, किसी विशिष्ट अर्थ की सिद्धि के लिए प्रकरण के भीतर दूसरे प्रकरण की योजना करना इत्यादि प्रकरण-वक्रता के अन्य कितने ही प्रकार और होते हैं।[5] कामायनी में प्रकरण-वक्रता के उक्त प्रकारो के भी दर्शन होते

१—कामायनी, पृ० २८५। २—भारतीय साहित्य-शास्त्र, पृ० ४१४।
३—भारतीय साहित्य-शास्त्र, पृ० ४१७।
४—कामायनी, पृ० २४३। ५—वक्रोक्तिजीवितम् ४।२-११

है। जैसे, यहाँ पर 'श्रद्धा' सर्ग में इडा और मनु को पहले न मिलाकर मनु और श्रद्धा को पहले मिलाया है। उक्त प्रथम मिलन में हमें मूल इतिवृत्त में अन्तर्गत परिवर्तन करके नवीन प्रसग की स्थापना के दर्शन होते हैं। दूसरे, मनु और श्रद्धा, मनु और आकुलि-किलात की कथा तथा मनु और इडा की कथा को परस्पर सम्बद्ध करके प्रसादजी ने अवान्तर प्रकरणों को भी सम्बद्ध कर दिया है। तीसरे, काम-सन्देश, श्रद्धा के साथ मनु की कैलाश यात्रा और अन्त में इडा तथा मानव के साथ समस्त सारस्वत नगर-निवासियो की कैलाश-यात्रा आदि में प्रसादजी ने नयी-नयी अवान्तर घटनाओ की भी उद्भावना की है। चौथे, मानव-मात्र को उनकी वस्तु-स्थिति का ज्ञान कराने के लिए रहस्य सर्ग मे भावलोक, कर्मलोक एव ज्ञानलोक का परिचय दिया है, इस प्रकार कामायनी में हमे प्रकरण-वक्रता के भी सुन्दर उदाहरण मिल जाते हैं।

(६) प्रबन्ध-वक्रता—प्रबन्ध-वक्रोक्ति काव्य की सबसे अधिक व्यापक वक्रोक्ति है। इसका आश्रय न अक्षर है, न पद, न वाक्य और न वाक्यार्थ, प्रत्युत आदि से अन्त तक सवलित समग्र काव्य तथा नाटक ही इस वक्रोक्ति का आधार-स्थल होता है। इसके भी अनेक प्रकार होते है; किन्तु उनमें से दो-तीन प्रमुख हैं। प्रथम वह है, जहाँ कवि मूल कथानक के रस को बदल कर नवीन चमत्कारी रस का आविर्भाव करता है, जिससे कथामूर्ति आमूल रस-स्निग्ध हो जाती है तथा श्रोताओ का विशेष अनुरजन होता है। दूसरा प्रकार वह है, जहाँ कवि कथा के नीरस या विरस भाग का परित्याग करके केवल सरस भाग को ही उपादान के रूप में ग्रहण करता है। तीसरा प्रकार वह है, जहाँ कविजन एक ही कमनीय फल की प्राप्ति के उद्देश्य से कथानक आरम्भ करते हैं, परन्तु नायक अपने बुद्धि-वैभव से अन्य फलो की भी प्राप्ति कर लेता है।[1]

कामायनी मे उक्त तीनो प्रमुख प्रकारो के भी दर्शन होते हैं, क्योंकि कामायनी की मूल कथा वैदिक एव पौराणिक ग्रथो में बिखरी हुई है और सर्वत्र यह कथा नीरस या विरस ही है, किन्तु उन सभी स्थलो से इस कथा को लेकर प्रसादजी ने इसे महाकाव्य के ढाँचे मे ढाल कर इसमे सरसता उत्पन्न की है तथा अधिकाधिक रसों से उसे ओत-प्रोत कर दिया है। दूसरे, श्रद्धा की कथा के अधिकाश सरस भागो को ही कामायनी मे स्थान दिया गया है। जैसे, 'चिन्ता' सर्ग में देव-सृष्टि और प्रलय का होना, 'श्रद्धा' सर्ग में श्रद्धा-मनु-मिलन, 'लज्जा' सर्ग मे लज्जा मनोभाव का चित्रण, 'ईर्ष्या' सर्ग में श्रद्धा का गृहस्थी निर्माण, 'इडा' सर्ग में मनु-इडा मिलन, 'दर्शन' सर्ग में मनु-

१—वक्रोक्तिजीवितम् ४।१८–२३

श्रद्धा का पुनर्मिलन, 'आनन्द' सर्ग में इडा आदि की कैलाश-यात्रा तथा सभी कुटुम्ब के व्यक्तियो का अन्त मे कैलाश पर मिलना आदि ऐसे प्रसग हैं, जो सरस हैं और जिनके कारण सारा कामायनी काव्य भी सरस हो गया है। तीसरे, मनु को यहाँ धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष चारो फलो को प्राप्त करते हुए दिखलाया है। अत. हमें कामायनी में प्रबध-वक्रता का भी सुन्दर रूप दिखाई देता है।

निष्कर्ष यह है कि प्रसादजी ने वक्रोक्ति के प्रमुख प्रकारो का प्रयोग करते हुए अपने कामायनी काव्य की अभिव्यक्ति मे एक विशिष्टता उत्पन्न की है, जो हिन्दी-साहित्य के लिए सर्वथा गौरव की बात है। इतना ही नही आपने अभिव्यजना की इस उत्कृष्ट प्रणाली का प्रयोग करके प्राचीन प्रणाली को भी पुनर्जीवन प्रदान किया है और उक्ति-वैचित्र्य द्वारा काव्य मे कलात्मकता को प्रश्रय दिया है।

कामायनी में औचित्य—औचित्य की परिभाषा लिखते हुए क्षेमेन्द्र ने कहा है कि जो वस्तु जिसके अनुरूप होती है, उसे हम 'उचित' कहते हैं और उचित का भाव ही 'औचित्य' कहलाता है। अत. औचित्य से तात्पर्य उपयुक्त, अनुरूप अथवा अनुकूल प्रयोग से है। इस औचित्य की सर्वाधिक व्यवस्था क्षेमेन्द्र ने की है। इसलिए क्षेमेन्द्र औचित्य के व्यवस्थापक तो हैं, किन्तु उद्भावक नही; क्योकि समीक्षा के आद्य आचार्य भरत मुनि ने ही नाट्यशास्त्र मे नाटकीय प्रसग के अन्तर्गत पात्र, प्रकृति, वेशभूषा, भाषा आदि के औचित्य का विस्तृत प्रतिपादन किया है। वही से प्रेरणा पाकर भरत के उपरान्त होने वाले आलंकारिको ने भी अपने-अपने काव्य-विवेचन में इस तथ्य को यत्र-तत्र दिखलाया है।[1] औचित्य के अनन्त भेद-प्रभेद हो सकते हैं, क्योकि काव्य के प्रत्येक अग तथा उपाग पर इस तथ्य का व्यापक प्रभाव रहता है। फिर भी क्षेमेन्द्र ने 'औचित्य-विचार-चर्चा' में पद, वाक्य, प्रबधार्थ, गुण, अलकार, रस आदि सत्ताईस प्रकार के औचित्य सम्बन्धी भेद बतलाये हैं।[2] इन भेदो के उदाहरण कामायनी मे ढूँढना तो सर्वथा असभव है, किन्तु क्षेमेन्द्र ने कुछ प्रमुख भेदो की चर्चा भी की है, जिनमें से प्रबन्धौचित्य, गुणौचित्य, अलकारौचित्य, रसौचित्य, लिंगौचित्य, नामौचित्य आदि प्रमुख हैं। अतः यहाँ कामायनी में औचित्य के इन प्रमुख भेदो को ही देखने का प्रयत्न करेंगे।

(१) प्रबन्धौचित्य—प्रबध-औचित्य का अर्थ यह है कि समग्र प्रबध का तात्पर्य अनुरूप होना चाहिए। ऐसा होने से उसमें सहृदयो के चित्त को आवर्जन करने वाले चमत्कार की क्षमता उत्पन्न होती है।[3] कामायनी के प्रबधौचित्य के रूप को

१—भारतीय साहित्य-शास्त्र, पृ० ६३। २—वही, पृ० ६७।
३—वही, पृ० ६७।

हम श्रद्धा के वर्णनो मे देख सकते है। इसी प्रकार से श्रद्धा को सात्विक भावनाओ से ओत-प्रोत करके नारी-सुलभ समस्त गुणो से सज्जित दिखाया है। जहाँ जहाँ श्रद्धा विषयक उक्तियाँ आती है, वहाँ-वहाँ सर्वत्र हम श्रद्धा के सात्विक उदारता, क्षमा, दया, ममता, सबके कल्याण की भावना आदि दिखाई देती है। कामायनी मे श्रद्धा को सर्वत्र, उदार मातृमूर्ति, मंगलकारिणी एव कल्याणमयी, विश्वास देवी के रूप मे चित्रित किया है।[1] अतः कामायनी मे श्रद्धा के वर्णन मे सफल औचित्य का निर्वाह हुआ है। परन्तु यहाँ प्रबन्धगत अनौचित्य भी मिलता है, क्योंकि मनु हमारे आदि पुरुष हैं, पूर्वज हैं और सृष्टि के प्रारम्भकर्ता भी है। अतः उनके चरित्र का इतना पतित रूप में दिखाना प्रबन्धौचित्य की सीमा का अतिक्रमण करना है। प्रसादजी ने उन्हे स्थान-स्थान पर अपराधी, पतित और कामी के रूप मे चित्रित किया है, जो सर्वथा प्रबन्धगत अनौचित्य का परिचायक है।

(२) गुणौचित्य—ओज, प्रसाद, माधुर्य, सौकुमार्य आदि गुण काव्य मे तभी सौभाग्य-सम्पन्न होते है, जब वे प्रस्तुत अर्थ के अनुरूप होते है। अर्थ पर दृष्टि रखकर जहाँ काव्यो मे गुणो का सन्निवेश किया जाता है, वहाँ काव्यो मे गुणौचित्य पाया जाता है। जैसे, विप्रलम्भ शृगार की अभिव्यजना के लिए माधुर्य तथा सौकुमार्य गुणो का निवेश सर्वथा हृदयाह्लादकारी होता है।[2] कामायनी मे 'स्वप्न' सर्ग के प्रारम्भ में ही श्रद्धा की विरह-विधुरावस्था का चित्रण करते हुए उसकी वियोग-जन्य पीडा एव अन्तर्द्वन्द्व का जो चित्रण किया गया है[3] उसमें माधुर्य एव सौकुमार्य की प्रधानता होने के कारण गुणौचित्य के दर्शन होते हैं।

(३) अलकारौचित्य—आचार्य कुन्तक का मत है कि 'प्रस्तुत अर्थ के अनुरूप अलकार-विन्यास होने से कवि की उक्ति उसी प्रकार चमत्कृत होती है जिस प्रकार पीन-स्तन पर रखे गये हार से हरिणलोचना सुन्दरी।'[4] अलकार का अलकारत्व ही इसमें है कि वह प्रकृत अर्थ तथा प्रस्तुत रस का पोषक हो। नीरस अलकार कभी काव्य के लिए उपयुक्त नही होते। कामायनी में अलकार औचित्य की ओर प्रसादजी ने अधिक ध्यान दिया है। उनके उपमा, उत्प्रेक्षा, रूपक आदि अलकारो के वर्णनो मे इस अलकारौचित्य के भी दर्शन होते हैं, जिनका कि वर्णन पहले ही किया जा चुका है। परन्तु कुछ स्थल ऐसे भी मिलते हैं, जहाँ अलकारगत अनौचित्य भी विद्यमान है। ऐसे अनौचित्य वाले अलकारो का भी उल्लेख पहिले ही अलकारो के अन्तर्गत किया जा चुका है।[5]

१—कामायनी, पृ० २४६। २—भारतीय साहित्य-शास्त्र, पृ० ६६।
३—कामायनी, पृ० १७५-१७६ ४—भारतीय साहित्य-शास्त्र, पृ० १००।
५—देखिए यही प्रकरण पृ० २३६-२४०।

(४) रसौचित्य—रस ही काव्य की आत्मा है। अत जब तक रस औचित्य द्वारा काव्य को रुचिर नही बनाया जाता तब तक वह सहृदयो के चित को आकृष्ट नही करता। कामायनी मे रसौचित्य के अनेक उदाहरण भरे हुए हैं, जिनका विशद वर्णन इससे पूर्व तीसरे प्रकरण में किया जा चुका है।[1]

(५) लिंगौचित्य—साधारणतया प्रकृत अर्थ के पोषक विशिष्ट लिंग वाले शब्दो का चुनाव ही लिंगौचित्य के अन्तर्गत आता है। कामायनी के 'स्वप्न' सर्ग की निम्नलिखित पंक्तियो मे लिंगौचित्य के दर्शन होते हैं :—

बुझ न जाय वह सांझ किरन सी दीप शिखा इस कुटिया की,
शलभ समीप नही तो अच्छा, सुखी अकेले जले यहाँ।[2]

यहाँ पर कवि ने विरहिणी श्रद्धा को कुटिया की दीप-शिखा बतलाया है और उसकी उपमा 'सांझ किरन' से दी है। इतना ही नही मनु को यहाँ शलभ बतलाया है। अत स्त्रीलिंग श्रद्धा के लिए स्त्रीलिंग 'दीप-शिखा', 'सांझ किरन' आदि का प्रयोग और पुल्लिग 'मनु' के लिए पुलिंग 'शलभ' का प्रयोग करके प्रसादजी ने लिंगौचित्य का निर्वाह किया है, जिससे प्रकृत अर्थ भी स्पष्ट हो गया है और शब्दो का प्रयोग मार्मिक हो गया है, क्योकि विरहिणी श्रद्धा रात में मनु के वियोग में 'दीप-शिखा' की तरह ही जल रही है और मनु वास्तव में 'शलभ' बने हुए हैं, जो आज इस 'दीप-शिखा' के पास नही है, किन्तु इडा रूपी दूसरी आलोक-प्रभा के पास मँडरा रहे हैं। अत. प्रसादजी ने यहाँ जिस लिंगौचित्य का प्रयोग किया है, वह प्रकृत अर्थ का पोषक होने के कारण नितान्त मार्मिक है। किन्तु कही-कही लिंग-सम्बन्धी अनौचित्य के भी कुछ उदाहरण कामायनी में मिलते हैं, जिनका उल्लेख अलकारो के साथ पहले ही किया जा चुका है।[3]

नामौचित्य—जहाँ पर प्रस्तुत अर्थ के अनुरूप नामो की योजना की जाती है वहाँ नामौचित्य के दर्शन होते हैं। साधारणतया सार्थक नामो को सुनकर ही सहृदयो के हृदय विकसित होते हैं और काव्य में उत्कृष्टता आती है। अतः काव्य में जहाँ अर्थ के अनुसार सर्वथा उचित एव उपयुक्त नामो का प्रयोग किया जाता है वहाँ नामौचित्य होता है। कामायनी की निम्नलिखित पंक्तियो मे नामौचित्य के दर्शन होते है —

(१) शक्ति तरंगो में आन्दोलन, रुद्र क्रोध भीषणतम था।[4]

१—देखिए प्रकरण ३, पृ० १५६–१६२। २—कामायनी, पृ० १७६।
३—यही प्रकरण, पृ० २३९–२४०। ४—कामायनी, पृ० १८६।

यहाँ पर 'रुद्र' शिवजी का ही दूसरा नाम है। जब वे क्रुद्ध होकर भयकर रूप धारण करते हैं, उस क्षण उन्हे 'रुद्र' कहना ही सर्वथा सार्थक है।

(२) वह कामायनी जगत की मगल कामना अकेली है।[1]

यहाँ 'कामायनी' शब्द का प्रयोग पूर्णतया सार्थक है, क्योंकि काम का अयन (आश्रय) होने से वही जगत की मगल कामना हो सकती है।

उपर्युक्त औचित्यो की भाँति और भी अनेक प्रकार के औचित्यों का उल्लेख क्षेमेन्द्र ने किया है। विस्तार-भय से सभी का दिखाना उचित न जानकर कतिपय औचित्यो का ही ऊपर उल्लेख किया गया है। इन औचित्यों के अध्ययन से ही ज्ञात होता है कि प्रसादजी ने कामायनी काव्य की रचना में औचित्य का पर्याप्त ध्यान रखा है। किन्तु जहाँ-जहाँ अनौचित्य दिखाई देता है, वह प्रसादजी की नव-निर्माण करने की उत्कट अभिलाषा के कारण आगया है। दूसरे, प्रसादजी ने सर्वत्र काव्य-शास्त्र के नियमो का ध्यान रखकर ही अपना काव्य नही लिखा। अत औचित्य के साथ-साथ यदि कही अनौचित्य दिखाई देता है, तो वह भी उनकी कला का एक अग प्रतीत होता है और उसके कारण रस-परिपाक में कोई विशेष बाधा उपस्थित नही होती। जैसे, अपने प्रमुख नायक मनु के चरित्र की हीनता दिखाने से प्रबन्ध-औचित्य में कुछ व्याघात अवश्य उपस्थित होता है, किन्तु आधुनिक विचारधारा के अनुसार यथार्थ जीवन का चित्र अकित करने के लिए मनु की चारित्रिक दुर्बलतायें भी दिखाना कवि को अभीष्ट है। इसी कारण यहाँ शास्त्रीय दृष्टि से अनौचित्य है। किन्तु वैसे लौकिक व्यवहार एव यथार्थवाद की दृष्टि से यह भी सर्वथा उचित ही है। फिर 'कामायनी' काव्य का प्रमुख पात्र श्रद्धा है और उसके चरित्र में कही दुर्बलता या हीनता दिखाई नही देती। अत प्रबन्धगत औचित्य का ही निर्वाह कामायनी में दिखाई देता है। ऐसे ही अन्य अनौचित्यों के बारे में भी कहा जा सकता है। किन्तु यह कहना सर्वथा अनुचित है कि कामायनी में कही भी अनौचित्य नही। जैसे 'चिन्ता' सर्ग मे प्रलय-वर्णन के समय कम्पित धरणी का आकाश द्वारा आलिगन करना और तरल तिमिर एव पवन का परस्पर आलिगन करना[2] रस सम्बन्धी अनौचित्य के अतर्गत आते हैं। ऐसे ही श्रद्धा का अनायास मनु के लिए आत्म-समर्पण करना, मनु द्वारा श्रद्धा का आकस्मिक त्याग, सारस्वत प्रदेश की अचानक समृद्धि के साथ मनु का निराधार लोको में भ्रमण आदि प्रकरणगत अनौचित्य के उदाहरण हैं और अलकारगत अनौचित्य पहले ही दिखाया जा चुका है। अत अनौचित्य भी कामायनी में विद्यमान हैं, किन्तु औचित्य की अपेक्षा

१—कामायनी, पृ० २१९। २—वही, पृ० १४–१५।

अनौचित्य अत्यन्त अल्प मात्रा मे है। इसी कारण वह अनौचित्य चन्द्रमा के कलक की भाँति औचित्य की ज्योत्स्ना में लीन होकर उसके सौन्दर्य की ही वृद्धि करता है।

कामायनी मे छंद-योजना

छंद-विधान—काव्यानुभूति की अभिव्यक्ति के लिए जहाँ भाषा प्रमुख साधन है, वहाँ यदि वह तनिक लय और स्वर के साथ अपने भावो को वहन करती है तो उसमे प्रेषणीयता का गुण और भी अधिक बढ जाता है। कवि लोग इसी गुण की वृद्धि के लिए वृत्तो या छन्दो का प्रयोग करते हैं। इससे एक ओर तो अभिव्यजना में सगीतात्मकता आ जाती है और दूसरी ओर स्वर-लय युक्त मधुर छन्द भावानुकूलता को प्राप्त होकर श्रोता के हृदय को अनायास आकृष्ट कर लेते हैं। अतः वही कविता अधिक प्रभावशालिनी मानी जा सकती है, जिसमें स्वर-लय-युक्त भावानुकूल छन्दो या वृत्तो का भी प्रयोग किया जाता है।

भारतीय वाड्मय में षड् वेदाग के अतर्गत 'छद' को वेद का एक अग माना गया है। बहुधा वेद की एक पुरुष के रूप मे कल्पना की गई है, जिसके पैरो को छन्द, हाथो को कल्प, नेत्रो को ज्योतिष, कानो को निरुक्त, नासिका को शिक्षा और मुख को व्याकरण कहा है।[1] जिससे सिद्ध है कि छन्द के बिना काव्य पंगु है। छन्द-शास्त्र के आदि प्रवर्त्तक भगवान शिव माने जाते हैं और उन्ही की शिष्य परम्परा में पिंगल मुनि का नाम प्रसिद्ध है, जो आगे चलकर वैदिक एव लौकिक छन्दो के प्रणेता माने गये हैं।[2]

पाश्चात्य समीक्षको मे अरस्तू ने छन्द को बडा महत्व दिया है और कहा है कि यदि कोई भी वाक्य छन्द में लिखा जाता है तो वह कविता बन जाता है।[3] इसके साथ ही उसका मत है कि छन्दगत लय मे शब्दो से पृथक् एक प्रकार का नैतिक गुण रहता है।[4] बूचर का मत है कि ट्रेजडी की परिभाषा करते हुए अरस्तू ने जिस 'अलकृत भाषा' का उल्लेख किया है, वहाँ अरस्तू का 'अलकृत भाषा' से अभिप्राय ही

१—छन्दः पादौ तु वेदस्य हस्तौ कल्पोऽथ पठ्यते।
ज्योतिषामयनं चक्षुर्निरुक्तं श्रोत्रमुच्यते ॥
शिक्षा घ्राणं तु वेदस्य मुखं व्याकरणं स्मृतम्।
तस्मात् सांगमधीत्यैव ब्रह्मलोके महीयते ॥

—वृत्तरत्नाकर, भूमिका, पृ० १।

२—वृत्तरत्नाकर, भूमिका, पृ० २।

3—Aristotle s Theory of Poetry and Fine Art, p 141

४—वही, पृ० १३१।

यह है कि काव्य की भाषा में छन्द एव लय सम्बन्धी दोनो प्रकार की विशेषताएँ होनी चाहिए।[१] कविता में छन्द की प्रशसा करते हुए अंग्रेजी के प्रसिद्ध कवि कॉलरिज ने लिखा है कि छन्द साधारण मनोवेगो और ध्यान सम्बन्धी चेतना एव सवेदनशीलता की वृद्धि में बडी सहायता पहुँचाता है।[२] ऐसे ही यीट्स का कथन है कि छन्द मस्तिष्क को जाग्रत-मूर्च्छा की स्थिति में सुलाने का कार्य करता है।[3] आई० ए० रिचर्डस का मत है कि छद एक ऐसा साधन है जिसके द्वारा प्रयुक्त शब्द अत्यधिक मात्रा में अपना प्रभाव एक दूसरे पर डालने का कार्य करते हैं।[४]

हिन्दी साहित्य के अतर्गत भी आदिकाल से ही कविता के लिए छद आवश्यक समझे गये हैं और दोहा, चौपाई, छप्पय, पद, कवित्त, सवैया आदि में कविता होती रही है, किन्तु आधुनिक युग मे पाश्चात्य प्रभाव से प्रभावित कुछ कवियो का विचार है कि अब कविता के लिए छद-बधन आवश्यक नही है, फिर भी यदि वे छद-बधन को अस्वीकार करके अपनी कवितायें लिखते हैं, तो उनमें भी एक क्रम, गति, नियम एव बधन सा दिखाई देता है। अत. आज भले ही पुराने छदो का व्यवहार उचित न हो, किन्तु बिना छन्द, बिना गति और बिना किसी नियम के कविता कभी पनप नही सकती।[५] कविता मे छन्दो की आवश्यकता का विचार करते हुए कविवर सुमित्रा-नदन पत ने लिखा भी है कि "कविता तथा छद के बीच बडा घनिष्ठ सम्बन्ध है। कविता हमारे प्राणो का सगीत है, छद हृत्कम्पन, कविता का स्वभाव ही छद में लयमान होता है।"[६]

भारतीय साहित्य में यहाँ दो प्रकार के छदो का प्रयोग हुआ है—एक वर्णिक तथा दूसरे मात्रिक। वर्णिक छद सस्कृत-साहित्य में अधिक प्रयुक्त हुए हैं और मात्रिक छद हिन्दी के कवियो ने अधिक अपनाये हैं। किन्तु प० महावीरप्रसाद द्विवेदी के आग्रह से हिन्दी में भी वर्णिक छदो का प्रयोग हुआ, जिसके परिणामस्वरूप अयोध्या-सिंह उपाध्याय 'हरिऔध' ने तो अपना सम्पूर्ण 'प्रियप्रवास' वर्णिक छदो में ही लिखा, किन्तु इन दोनो प्रकार के छदो के बारे में छायावादी कवि श्री सुमित्रानदन पत का मत है कि "हिन्दी का सगीत केवल मात्रिक छदो ही में अपने स्वाभाविक विकास तथा स्वास्थ्य की सम्पूर्णता प्राप्त कर सकता है, वर्णिक छदो में नही।"[७]

1—Aristotle's Theory of Poetry and Fine Art, p 146

2—Principles of Literary Criticism, p 143

३—वही, पृ० १४३। ४—वही, पृ० १३९।

५—हिन्दी काव्यशास्त्र का इतिहास, पृ० ३६५।

६—पल्लव की भूमिका, पृ० २१। ७—वही, पृ० २३।

आचार्य-शुक्ल भी छंदों के पक्षपाती हैं। आपने लिखा भी है कि 'छंद के बंधन के सर्वथा त्याग मे हमे तो अनुभूत नाद-सौंदर्य की प्रेषणीयता (Communicability of Sound Impulse) का प्रत्यक्ष ह्रास दिखाई पडता है। हाँ, नए-नए छंदो के विधान को हम अवश्य अच्छा समझते हैं।'[1] प्रसादजी भी छंदोमयी रचना को अधिक प्रभावशाली कहते हैं। उनका मत तो यहाँ तक है कि 'प्राय संक्षिप्त और प्रभावमयी तथा चिरस्थायिनी जितनी पद्यमय रचना होती है, उतनी गद्य-रचना नही। इसी स्थान मे हम संगीत की भी योजना कर सकते हैं। सद्य प्रभावोत्पादक जैसा संगीत पद्यमय होता है, वैसी गद्य रचना नही।'[2] अतः प्रसादजी ने संगीत और कविता का समन्वय करके कविता में संगीतात्मकता की ओर आग्रह किया है, किन्तु संगीतात्मकता छंद के विना नही आती। अत प्राच्य और पाश्चात्य सभी विद्वानों के मत से कविता को सुमधुर एवं प्रभावोत्पादक बनाने के लिए छंदो का प्रयोग आवश्यक होता है।

प्रसादजी ने 'चित्राधार', 'कानन-कुसुम', 'झरना', 'लहर' आदि कविता-संग्रहो में संगृहीत कविताओं मे प्राचीन-नवीन, तुकान्त-अनुकान्त, प्राच्य-पाश्चात्य, अनेक प्रकार के छंदो को अपनाया है। किन्तु 'कामायनी' मे प्राय तुकान्त एवं अन्त्यानुप्रास युक्त छंदो का ही प्रयोग किया है, जिनमें से कुछ छंद तो पूर्णतया शास्त्रीय पद्धति पर चलते हैं, कुछ छंदो में दो-दो छंदो का मिश्रण करके नवीनता उत्पन्न करने का प्रयत्न हुआ है और कुछ छंद कवि ने अपनी प्रतिभा के आधार पर निर्माण किए हैं। इस तरह सम्पूर्ण कामायनी तीन प्रकार के छंदो मे ही लिखी गई है, जिन्हें (१) शास्त्रीय छंद, (२) मिश्रित छंद तथा (३) कवि-निर्मित छंद कह सकते हैं।

(१) कामायनी में शास्त्रीय छंद—कामायनी में प्रमुख रूप से ताटंक छंद का प्रयोग हुआ है। इसमें १६ और १४ मात्राओं के विराम से ३० मात्रायें होती हैं और अन्त में मगण (SSS) होता है।[3] किन्तु इसी ताटंक छंद के अन्त मे यदि एक लघु अक्षर और बढ़ा दिया जाता है तो वह 'वीर' छंद बन जाता है।[4] यद्यपि कामायनी का प्रथम "चिन्ता" सर्ग ताटंक छंद मे ही लिखा गया है, तथापि उसमें कहीं-कहीं 'वीर' छंद के भी दर्शन हो जाते हैं। इतना ही नहीं 'चिन्ता' सर्ग का आरम्भ तो इसी 'वीर' छंद से ही हुआ है। यथा :—

हिमगिरि के उत्तुंग शिखर पर (१६ मात्रायें)
बैठ शिला की शीतल छाँह (१५ मात्रायें)

१—चिन्तामणि भाग २, पृ० १५६।
२—इन्दु, कला २, किरण १, श्रावण शुक्ल २ सं० १९६७, पृ० २०।
३—छंद-प्रभाकर, पृ० ७०। ४—छंद-प्रभाकर, पृ० ७२।

वह सारस्वत नगर पड़ा था क्षुब्ध मलिन कुछ मौन बना,
जिसके ऊपर विगत कर्म का विष विषाद-आवरण तना।
उल्काधारी प्रहरी से ग्रह तारा नभ में टहल रहे,
वसुधा पर यह होता क्या है अणु अणु क्यों है मचल रहे ?

इसी 'निर्वेद' सर्ग में प्रसादजी ने एक गीत और लिखा है, जिसमें मग्न छन्द का प्रयोग किया है, क्योंकि मग्न छन्द में ७–७ की यति से १४ मात्रायें होती है। इस छन्द को मोहन भी कहते हैं। यहाँ अन्त में लघु गुरु का कोई नियम नहीं होता, किन्तु अन्त में प्राय लघु ही आता है।[1] जैसे —

तुमुल कोला, हल कलह में,	(७, ७ मात्रायें)
मैं हृदय की, बात रे मन।	(,, ,,)

(२) मिश्रित छन्द—प्रसादजी ने जैसे ऊपर शास्त्रीय छन्दों के प्रयोग किये हैं, वैसे ही कुछ शास्त्र सम्मत छन्दों के चरणों को मिलाकर नये छन्द भी बनाये हैं, जिन्हे मिश्रित छन्द कह सकते हैं। कामायनी के 'ईर्ष्या' सर्ग में हम सर्वप्रथम मिश्रित छन्द के दर्शन होते है। यहाँ पर प्रथम चरण में १६ मात्राओं का पादाकुलक है[2] और दूसरे चरण में १६ मात्राओं का पद्धरि छन्द है।[3] इस प्रकार दोनों के संयोग से यह ३२ मात्राओं का एक नया छन्द बनाया है। जैसे —

पादाकुलक—	पल भर की उस चचलता मे	(१६ मात्रायें)
पद्धरि—	खो दिया हृदय का स्वाधिकार	(१६ मात्रायें)

ऐसे ही 'दर्शन' सर्ग में भी मिश्रित छन्द का प्रयोग मिलता है। यहाँ पर आठ चरणों का छन्द बनाया है, जिसमें से पहला, दूसरा, सातवाँ और आठवाँ चरण पद्धरि छन्द का है और तीसरा, चौथा, पाँचवाँ और छठा चरण पादाकुलक छन्द का है। पद्धरि तथा पादाकुलक के लक्षण ऊपर दिये जा चुके हैं। यह मिश्रित छन्द इस प्रकार है —

पद्धरि—	वह चन्द्र हीन थी एक रात,
	जिसमें सोया था स्वच्छ प्रात
पादाकुलक—	उजले उजले तारक झलमल
	प्रतिबिम्बित सरिता वक्षस्थल
	धारा बह जाती बिम्ब अटल
	खुलता था धीरे पवन पटल

१—छन्द-प्रभाकर, पृ०, ४६। २—वही, पृ० ५१। ३—वही, पृ० ४८।

पद्धरि— चुपचाप खडी थी वृक्ष पाँत,
सुनती जैसे कुछ निजी बात ।

(३) कवि-निर्मित छन्द—मिश्रित छन्दो के अतिरिक्त कवि ने कामायनी मे कुछ नये छन्दों का भी आविष्कार किया है, जिन्हे देखकर उनकी नवनवोन्मेष-शालिनी प्रतिभा का पता चलता है। प्रसादजी ने 'इडा', 'रहस्य' और 'आनन्द' सर्ग मे स्व-निर्मित छन्दो का प्रयोग किया है। 'इडा' सर्ग मे गेय पद रखे हैं, जो पद-शैली के समान ही रचे गये हैं, जिनकी प्रथम और अन्तिम पक्तियों मे तो १६ मात्राओ का पद्धरि छन्द है तथा शेष सात पक्तियो में ३२ मात्राये है। इस प्रकार ९ पक्तियो का यह पद प्रसादजी ने सारे 'इडा' सर्ग मे प्रयोग किया है। इनकी पहली, दूसरी, तीसरी, आठवी तथा नवी—इन पाँच पक्तियो की तुक एक है। शेष पाँचवी-छठी एवं सातवी-आठवी पक्तियों की तुके मिलती हैं। इनमे से छठी और सातवी पक्तियाँ मत्तसवैया से मिलती है और इनके अन्त मे लघु गुरु (IS) का प्रयोग है। शेष सभी पक्तियो के अन्त मे गुरु लघु (SI) आये हैं। जैसे :—

किस गहन गुहा से अति अधीर
झझा प्रवाह सा निकला यह जीवन विक्षुब्ध महा समीर
ले साथ विकल परमाणु-पुंज नभ, अनिल, अनल, क्षिति और नीर
भयभीत सभी को भय देता भय की उपासना मे विलीन
प्राणी कटुता को बाँट रहा जगती को करता अधिक दीन
निर्माण और प्रतिपद विनाश में दिखलाता अपनी क्षमता
सघर्ष कर रहा-सा जब से, सब से विराग सब पर ममता
अस्तित्व चिरन्तन धनु से कब यह छूट पड़ा है विषम तीर
किस लक्ष्य भेद को शून्य चीर।

'रहस्य' सर्ग में भी कवि ने ताटक छन्द के अन्त में एक गुरु (S) जोड कर नया छन्द बना लिया है, जिससे १६-१६ की यति से ३२ मात्राओ का यह छन्द बन गया है। जैसे :—

दोनों पथिक चले हैं कब से, ऊँचे-ऊँचे चढ़ते-चढ़ते।
श्रद्धा आगे मनु पीछे थे, साहस उत्साही से बढ़ते।

अन्तिम 'आनन्द' सर्ग में भी कवि ने स्व-निर्मित छन्द का व्यवहार किया है। यह छन्द कवि को अत्यधिक प्रिय है। 'आँसू' काव्य में भी यही छन्द व्यवहृत हुआ है। इसके अन्तर्गत १४-१४ मात्राओ के विराम से २८ मात्रायें होती है। इसके प्रथम एवं तृतीय चरण तो हाकलि छन्द के चरण से मिलते हैं, किन्तु द्वितीय एव

ऐसे ही 'दर्शन' सर्ग की निम्नलिखित पंक्तियां भी शिथिल कविता की द्योतक हैं :—

श्रम भाग वर्ग बन गया जिन्हें,
अपने बल का है गर्व उन्हें,
नियमों की करनी सृष्टि जिन्हें,
विप्लव की करनी वृष्टि उन्हें ।[1]

यहां 'जिन्हे', 'उन्हे' के कारण कविता मे शैथिल्य आगया है। किन्तु ऐसी कविता कामायनी में अधिक नही है। बहुत खोजने पर ही दो-चार ऐसे उदाहरण मिलते हैं जिनमें शैथिल्य दिखाई देता है, अन्यथा शेष समस्त कविता में प्रौढ अभिव्यक्ति ही विद्यमान है।

कामायनी मे कहीं-कहीं 'नियति', 'महाचिति', 'अभिराम उन्मीलन', 'स्पदन', 'समरसता', 'प्रेमकला', 'त्रिकोण', 'अनाहत नाद' आदि कितने ही पारिभाषिक शब्दों का भी प्रयोग हुआ है,[2] जो अप्रतीतत्व-दोष के अतर्गत आता है। कामायनी मे कुछ ऐसे भी स्थल मिलते हैं, जहां व्याकरण-विरुद्ध शब्द मिलते हैं, जिनका उल्लेख 'शब्द-विधान' शीर्षक के अतर्गत किया जा चुका है, वहां पर च्युत-सस्कृति दोष के दर्शन होते हैं। इसके अतिरिक्त 'गैल', 'बयार', 'टोह', 'सर्राटा' आदि ग्रामीण प्रयोगो में ग्राम्यत्व-दोष तथा जिन स्थलो पर छदो के अतगत यति-भग दिखाई देता है, वहां पर हतवृत्त-दोष दिखाई देता है। इनका उल्लेख भी इसी प्रकरण में शब्द-विधान तथा छद-विधान के अन्तर्गत किया जा चुका है। साथ ही कही-कही कामायनी में स्वशब्द-वाच्यत्व-दोष भी मिलता है। जैसे—'चेतनता चल जा, जडता से आज शून्य मेरा भरदे', 'लगे कहने मनु सहित विषाद', 'व्रीडा है यह चचल कितनी', 'तारा बन कर यह बिखर रहा क्यो स्वप्नो का उन्माद अरे'[3] आदि पदो मे क्रमश', जडता, विषाद, व्रीडा, उन्माद आदि सचारी भावो का स्वशब्द से कथन होने के कारण यहां स्वशब्द-वाच्यत्व दोष है। किन्तु व्यावहारिक दृष्टि से इन सभी शास्त्रीय दोषो का कोई विशेष महत्व नही दिखाई देता।

कायायनी के कुछ स्थलो पर व्यर्थपदत्व तथा कथितपदत्व-दोष भी मिलते हैं, जैसे 'हां, कि गर्व-रथ मे तुरग सा जितना जो चाहे जुतले'[4] पद में 'कि' शब्द व्यर्थ

१—कामायनी, पृ० २३९।

२—देखिए कामायनी पृ० ३४, ५३, ५४, ७६, २६२ आदि।

३—देखिए कामायनी क्रमश, पृ० ६, ५४, ६७ और ७०।

४—कामायनी, पृ० २५।

है। अत' यहाँ व्यर्थ-पदत्व-दोष है और 'तो यह वृष क्यो तू यो ही वैसे ही चला रही है'[1] इन पद में 'यो ही' के रहते हुए भी 'वैसे ही' के पुनः प्रयोग से कथित-पदत्व-दोष आ गया है। इसके साथ ही कामायनी के 'जो कुछ हो मैं न सम्हालूँगा इस मधुर भार को जीवन के,'[2] 'वह शीतलता है शान्तिमयी जीवन के उष्ण विचारो की[3] आदि पदो में अक्रमत्व-दोष भी दिखाई देता है, परन्तु अन्वय करने पर यह दोष मिट जाता है।

साराश यह है कि जब ससार की सभी कृतियाँ गुण-दोषमय होती हैं, तब कामायनी काव्य में भी दोषो का होना कोई आश्चर्य की बात नही। फिर भी यहाँ गुणो की अपेक्षा दोषो की सख्या अत्यन्त अल्प है और उन दोषो से कामायनी के महाकाव्यत्व पर कोई विशेष आघात नही पहुँचता, अपितु कुछ दोष तो उसकी नूतन अभिव्यजना-प्रणाली, नूतन मनोवृत्ति एव काव्य की नवीन कला के परिचायक हैं। जैसे, व्यग्यप्रधान साकेतिक वर्णन-प्रणाली, प्रतीकात्मक चरित्रो की ओर अधिक झुकाव, बीच-बीच मे भावात्मक वर्णनो की अधिकता, आधुनिक युग की विचारधारा का चित्रण, काव्य में दार्शनिक पदावली का प्रयोग आदि ने कामायनी के काव्यत्व मे व्याघात पहुँचाने की अपेक्षा उसकी सौन्दर्य-वृद्धि में ही सहायता प्रदान की है। अत कतिपय दोषो के रहते हुए भी कामायनी महाकाव्य अपने गुणो की अधिकता से हिन्दी-साहित्य में एक विशिष्ट स्थान का अधिकारी है।

युगीन और युगयुगीन साहित्य की काव्य-भूमि मे कामायनी का मूल्याकन

युगीन साहित्य—युगीन साहित्य मे हमारा तात्पर्य किसी युग विशेष के साहित्य से है। इस साहित्य की कोटि में ऐसे ग्रन्थ-रत्न आते हैं, जिनका प्रभाव व्यापक न होकर देश-काल की सीमाओ में बद्ध रहता है और भावो एव विचारो से अपने-अपने युग के मानवो को प्रभावित करके केवल उसी युग में महत्वपूर्ण स्थान प्राप्त करते हैं। ऐसे साहित्य का प्रभाव चिरस्थायी नही होता, क्योंकि वह एकदेशीय होकर कुछ काल तक ही अपने विचारो से जनता को प्रभावित करता है। ऐसा साहित्य प्रत्येक युग में प्रत्येक भाषा के अन्तर्गत अमित सख्या में रचा जाता है। अत प्रत्येक भाषा के प्रत्येक युग के साहित्य की गणना करना असम्भव है। किन्तु हिन्दी भाषा के जिस युग में 'कामायनी' महाकाव्य की रचना हुई है, वह 'आधुनिक' युग के नाम से प्रसिद्ध है। इस युग में 'कामायनी' से पूर्व रचे हुए तीन महाकाव्य मिलते हैं, जो 'प्रियप्रवास', 'कृष्णायन' तथा 'साकेत' के नाम से प्रसिद्ध हैं।

१—कामायनी पृ० २८२। २—वहीं, पृ० ६६। ३—वही, पृ० ७३।

'प्रियप्रवास' काव्य के रचयिता प० अयोध्यासिंह उपाध्याय हैं, जिन्होंने शुद्ध खड़ी बोली में सस्कृत के अनुकान्त गणिक छन्दों में श्रीकृष्ण के इतिवृत्त को लेकर इस काव्य का निर्माण किया है। इसमें आधुनिक युग की विचारधारा के अनुसार श्रीकृष्ण जाति के लोकप्रिय नेता तथा राधा लोक सेविका के रूप में चित्रित की गई है। इस ग्रन्थ में करुण-विप्रलम्भ शृगार तथा वात्सल्य के वियोग पक्ष का प्राधान्य है। यद्यपि इसमें महाकाव्य के सभी शास्त्रीय लक्षण मिल जाते हैं, प्रकृति-चित्रण भी सजीव और सुन्दर है, भाव-पक्ष भी पर्याप्त पुष्ट है, वर्णन कौशल भी पर्याप्त मात्रा में विद्यमान है, फिर भी 'कामायनी' जैसी न तो इसमें गहन अनुभूति है और न भावो की उत्कृष्ट अभिव्यक्ति। बाह्य-प्रकृति और मानव-अन्त प्रकृति का सामजस्य भी यहाँ ऐसा नही मिलता जैसा कि 'कामायनी' में स्थान-स्थान पर मिलता है। वर्णिक वृत्तो मे भावो को सीमित रूप मे प्रगट करने के कारण यहाँ पर 'कामायनी' के तुल्य भावो का स्वच्छन्द प्रवाह भी नही है। इन सभी कारणो से 'प्रियप्रवास' काव्य अपने युग की महान् कृति होते हुए भी तुलना मे 'कामायनी' के समकक्ष नही ठहरता।

दूसरा 'कृष्णायन' महाकाव्य अवधी भाषा में श्री द्वारिकाप्रसाद मिश्र द्वारा लिखा गया है। इसमे कवि ने श्रीकृष्ण के समग्र जीवन की झाँकी प्रस्तुत की है। सारा काव्य दोहा, चौपाई और सोरठा छन्दो में लिखा गया है। रचना-शैली अत्यन्त सरल और प्राचीन है तथा अवधी भाषा मे सस्कृत-तत्समता की ओर अधिक झुकाव रहा है। इसमें 'कामायनी' जैसी काव्यगत उत्कृष्टता, भावो के सुदर और सजीव वर्णन, युग की अभिव्यक्ति आदि के दर्शन नही होते। अत यह काव्य भी 'कामायनी' की अपेक्षा उत्कृष्ट नही है।

तीसरा प्रसिद्ध महाकाव्य 'साकेत' है। इसके रचयिता राष्ट्रकवि मैथिलीशरण गुप्त हैं। इसमें रामचरित के आधार पर उर्मिला विषयक उदासीनता को दूर करने का प्रयत्न हुआ है। अत यहाँ राम की अपेक्षा उर्मिला एव लक्ष्मण के चरित्र को उभारा अवश्य है, किन्तु राम के चरित्र को गौण नही बनाया है। इसमें महाकाव्य के सभी शास्त्रीय लक्षण मिलते हैं, युग की अभिव्यक्ति भी पर्याप्त मात्रा में हुई है, विरह-वर्णन भी सुन्दर हैं और राम-कथा की कुछ कमियो को दूर करने का भी प्रयत्न हुआ है, परन्तु इतना होने पर भी इस महाकाव्य में कामायनी के कवि जैसी न तो गहन अनुभूति के दर्शन होते हैं और न रस और वस्तु का सतुलन ही दिखाई देता है। 'कामायनी' में जिस तरह भावो के वर्णन में लीन हो जाने के कारण कथा विशृखलित हो जाती है, उसी भाँति 'साकेत' के विरह-वर्णन से भी घटना-प्रवाह कुण्ठित हो गया है। अत यह कहा जा सकता है कि कामायनी का 'लज्जा' सर्ग जैसे

कामायनी के कथा-प्रवाह मे बाधक हुआ है, वैसे ही 'साकेत' का नवम सर्ग भी है। परन्तु तुलनात्मक दृष्टि से विचार करने पर यही ज्ञात होता है कि 'साकेत' के नवम सर्ग की अपेक्षा कामायनी का 'लज्जा' सर्ग कही अधिक सुन्दर, सजीव एव मार्मिक है। इसी तरह 'साकेत' के अन्त प्रकृति एव बाह्य प्रकृति के चित्रणो मे भी उतनी भाव-प्रवणता, सूक्ष्म-निरीक्षण, गतिशीलता एव व्यापारो की विवृति आदि के दर्शन नही होते, जितने कि 'कामायनी' मे होते हैं। इसके अतिरिक्त 'साकेत' में न तो 'कामायनी' के समान मानव-मनोभावो की बारीकियो का निरूपण है, न वैसे अन्तर्द्वन्द्व का सजीव वर्णन है, न वैसा अन्त प्रकृति एवं बाह्य प्रकृति का सफल सामजस्य है, और न 'कामायनी' की भाँति मानव-जीवन के उत्थान-पतन का ही उद्घाटन हुआ है। वैसे 'साकेत' में भी युग के सघर्षो, विचारो, अनुभूतियो आदि का सुन्दर वर्णन मिलता है; परन्तु उन वर्णनो में 'कामायनी' जैसी लाक्षणिकता, प्रतीकात्मकता, उपचार-वक्रता आदि से परिपुष्ट उत्कृष्ट रचना-शैली के दर्शन नही होते। अत 'साकेत' युग की महान् कृति होते हुए भी तुलनात्मक दृष्टि से 'कामायनी' की अपेक्षा श्रेष्ठ नही है।

उक्त तीन महाकाव्यो के अतिरिक्त आधुनिक युग में 'कामायनी' के उपरान्त 'नूरजहाँ', 'हल्दीघाटी', 'साकेत-सत', 'कुरुक्षेत्र', 'कैकेयी', 'आर्यावर्त' आदि आख्यान काव्य और लिखे गये हैं। किन्तु इन सभी काव्यो मे न तो भारतीय सस्कृति के नव-निर्माण का स्वरूप दिखाई देता है और न कामायनी जैसी नव-चेतना, परिपक्व अनुभूति, दार्शनिकता, उत्कृष्ट अभिव्यक्ति आदि के ही दर्शन होते हैं। अतः श्रीनन्ददुलारे वाजपेयी के शब्दो मे यह कहा जा सकता है कि 'ये सभी काव्य अपनी-अपनी विशेषता रखते हैं, पर इनमे से किसी में भी 'कामायनी' का सा सर्वाङ्गपूर्ण जीवन दर्शन, नारी और पुरुष का सम्पूर्ण चित्रण और नई परिस्थिति का व्यापक निरूपण नही दिखाई देता। नए ज्ञान का इतना विस्तृत उपयोग भी कदाचित् किसी नवीन काव्य मे नही किया गया है।'[1]

निष्कर्ष यह है कि आधुनिक युग के महाकाव्यो अथवा श्रेष्ठ आख्यान काव्यो मे 'कामायनी' का स्थान सर्वोपरि है और अपनी इसी महानता के कारण यह महाकाव्य युगीन साहित्य की काव्य-भूमि से कुछ समुन्नत प्रतीत होता है।

युगयुगीन साहित्य—युगयुगीन साहित्य से हमारा तात्पर्य ऐसी रचना से है, जो किसी देश-काल की सीमा मे आबद्ध न होकर देश-देशान्तर एव युग-युगान्तर को वस्तु रहनाती है। प्राय युगयुगीन साहित्य की कोटि में वे ग्रन्थ-रत्न आते हैं,

१—आधुनिक काव्य, भूमिका, पृ० ३६-३७।

जिनका प्रभाव व्यापक होता है और जिनमें वर्णित भाव-राशि मानव-मात्र के हृदय को स्पर्श करके किसी एक प्रदेश या एक देश अथवा एक राष्ट्र को ही नहीं, अपितु समस्त विश्व को आन्दोलित कर देती है। इतना ही नहीं जिनमें रचित भावों एवं विचारों को एक युग में ही नहीं, वरन् युग-युगों तक मानव मात्र आदर की दृष्टि से देखते हैं और उन्हे अपनाने में अत्यन्त गौरव का अनुभव करते हैं। ऐसे ग्रन्थ-रत्न शाश्वत होते हैं और इन ग्रन्थों के रचयिता महाकवि भी अजर-अमर होकर अपनी यश-काया द्वारा सदैव जीवित रहते हैं। ऐसे युग-युगीन साहित्य की कोटि में संस्कृत भाषा के 'रामायण', 'महाभारत', 'रघुवंश', 'अभिज्ञान शाकुन्तलम्' आदि, हिन्दी भाषा का 'रामचरितमानस', ग्रीक भाषा के 'इलियड' और 'ओडेसी', लैटिन भाषा के 'एनियड' और 'डिवाइन कामेडी', जर्मनी भाषा का 'फास्ट', अंग्रेजी भाषा के 'पैरेडाइज लॉस्ट', 'पैरेडाइज रिगेन्ड', 'हैमलेट' आदि आते हैं। इन ग्रंथ-रत्नों का आज विश्व-व्यापी महत्व दिखाई देता है और सभी मानव उनके भावों एवं विचारों का समुचित आदर करते हैं।

साथ-साथ लोक-सामान्य भावो का उद्घाटन होता है।[1] कवीन्द्र रवीन्द्र ने भी यही लिखा है कि "ग्रीस मे होमर का काव्य और भारतवर्ष मे रामायण-महाभारत ऐसे ही ग्रथ हैं, जिनमे मानव-जीवन के समस्त बिखरे हुए भावों के एकत्र करने की चेष्टा की गई है।"[2] अत युगयुगीन काव्य की प्रथम विशेषता ही यह सिद्ध होती है कि उसमे मानव-जीवन के शाश्वत सत्यों अथवा लोक-सामान्य भावो का निरूपण करते हुए मानव-जीवन की समग्रता एवं पूर्णता का चित्र सफलता के साथ अंकित होना चाहिए।

आचार्य शुक्ल का विचार है कि सत्कवियो के काव्यो में सत् और असत्, सात्विकी और तामसी प्रवृति अथवा मगल और अमगल मे द्वन्द्व दिखाया जाता है और अन्त मे सत् प्रवृत्ति या मगल की विजय दिखाई जाती है। ऐसे ग्रथो में शिक्षावाद (Didacticism) या अस्वाभाविकता की गध समझ कर नाक-भौं सिकोडना ठीक नही। अस्वाभाविकता तभी आएगी जब बीच का विधान ठीक न होगा अर्थात् सब प्रत्येक अवसर पर सत्पात्र सफल और दुष्ट पात्र विफल या ध्वस्त दिखाए जायेंगे।[3] इस द्वन्द्व या सघर्ष का स्वरूप प्राय. विश्वभर के महाकाव्यो मे मिलता है। अत सत् और असत् या मगल और अमगल का निरन्तर संघर्ष भी युगयुगीन काव्य की एक विशेषता है।

सम्पूर्ण ग्रीक साहित्य का विश्लेषण करते हुए बूचर ने प्राचीन ग्रीक साहित्य को इसलिए महान् कहा है कि उसमें आदर्श एव यथार्थ का समन्वित रूप मिलता है। उसकी दृष्टि मे आदर्श और यथार्थ दोनो एक ही भूमि से उत्पन्न होते हैं। यदि एक विकसित पुष्प है तो दूसरा उसका बीज।[4] अत आदर्श एव यथार्थ का समन्वित स्वरूप भी युगयुगीन काव्य की एक विशेषता ठहरता है।

इसके अतिरिक्त बूचर का मत है कि वही साहित्य महान् एव विश्व-विश्रुत कहला सकता है जिसमें नारी-जीवन के महत्त्व का प्रतिपादन होता है। उसकी दृष्टि में इसी आधार पर आज प्राचीन ग्रीक साहित्य मे महानता एव सार्वभौमिकता के दर्शन होते हैं कि उसमें नारी-जीवन का उदात्त एव भव्य रूप अंकित है।[5] यही बात भारतीय साहित्य पर भी लागू होती है, क्योंकि यहाँ पर भी रामायण में सती सीता,

---

१—चिन्तामणि भाग १, पृ० २६५ तथा जायसी-ग्रथावली, भूमिका, पृ० २५५।

२—साहित्य, पृ० १०७। ३—चिन्तामणि भाग १, पृ० २६७।

४—Aristotle's Theory of Poetry and Fine Art, p 397

५—वही, पृ० ४००।

महाभारत में पतिपरायणा द्रौपदी, अभिज्ञान शाकुन्तल में वनवासिनी शकुन्तला आदि के रूप में नारी के भव्य एव उदात्त चरित्र के दर्शन होते हैं। अत. अमर साहित्य की एक यह भी विशेषता सिद्ध होती है कि उसमें नारी-जीवन की उज्ज्वल, उदात्त एव दिव्य झाँकी अकित होनी चाहिए।

आचार्य श्यामसुन्दरदास का मत है कि 'किसी प्रतिभाशाली ग्रंथकार की स्थिति अपने काल और अपने ही व्यक्तित्व मे सीमा-बद्ध नही होती। वह उनसे भी आगे बढ जाती है, यहाँ तक कि वह पीछे की भी खबर लेती है। उसका सम्बन्ध भूत और भविष्य दोनो से होता है।'[1] बूचर का भी यही कथन है कि ग्रीक काव्य एव कला में केवल वर्तमान के ही दर्शन नही होते, अपितु उसमें भूत एव भविष्यकाल भी अनुस्यूत हैं।[2] अत युगयुगीन काव्य की एक यह विशेषता भी दिखाई देती है कि उसमें वर्णित घटना या कथायें यद्यपि भूतकाल मे सम्बन्धित होती हैं, फिर भी वे वर्तमान पर भी लागू होती हैं, और भविष्य की ओर भी सकेत करती हैं। साथ ही सत्य का भी यही आदर्श हमारे यहाँ स्वीकार किया गया है कि जो त्रिकाल सत्य हो, वही वास्तविक सत्य माना जाता है। अत शाश्वत साहित्य में त्रिकाल सत्य का उद्घाटन होता है।

आचार्य शुक्ल का मत है कि मानव की अन्त प्रकृति में विद्यमान भावो एव प्रवृत्तियो तथा विश्व में व्याप्त वाह्य प्रकृति के रूपो या व्यापारो के अतर्गत घोर जटिलताएँ दिखाई देती हैं, किन्तु 'इन्ही परस्पर सम्बद्ध विविध वृत्तियो का सामजस्य काव्य का परम उत्कर्ष और सबसे बडा मूल्य है। सामजस्य काव्य और जीवन दोनो की सफलता का मूलमत्र है।'[3] अत एक सच्ची कविता 'वाह्य प्रकृति के साथ मनुष्य की अन्त प्रकृति का सामजस्य घटित करती हुई उसकी भावात्मक सत्ता के प्रसार का प्रयास करती है।'[4] महादेवी जी का भी यही विचार है कि 'जिस काव्य मे अन्त. प्रकृति और बाह्य प्रकृति का सफल सामजस्य दिखाया जाता है वह महान् होता है।'[5] अतः शाश्वत काव्य की एक पहँचान यह भी है कि उसमे वाह्य प्रकृति के साथ-साथ मानव की अन्त प्रकृति के सफल सामजस्य का चित्रण होना चाहिए।

वाल्टर पेटर के मतानुसार युगयुगीन काव्य की एक विशेषता यह भी है कि

१—साहित्यालोचन, पृ० ४६।

2—Aristotle's Theory of Poetry and Fine Art, p 406.

३—चिन्तामणि भाग २, पृ० ६०—६१।

४—चिन्तामणि भाग १, पृ० १९९।

५—महादेवी का विवेचनात्मक गद्य, पृ० ४८, २३४।

उसमें पारस्परिक सहानुभूति, सामाजिक समता, मानव-कल्याण, ईश्वर की महत्ता, विश्व-बंधुत्व की भावना आदि का निरूपण होता है। महाकवि दाते की डिवाइन कामेडी को श्री वाल्टर पेटर ने उक्त आधारो पर ही श्रेष्ठ काव्य बतलाया है।[1] भारतीय ग्रथो मे से रामायण, महाभारत, रामचरितमानस आदि ग्रथो में भी उक्त विचार बडी सजीवता के साथ मिलते हैं।

गोस्वामी तुलसीदास का विचार है कि उत्तम काव्य वही है जिससे "सुरसरि सम सदकर हित होई" अर्थात् गगाजी के समान सभी का हित हो।[2] डा० श्यामसुन्दर दास भी काव्य मे शिवत्व या लोकहित को उसकी श्रेष्ठता का परिचायक मानते हैं।[3] आचार्य शुक्ल भी उसी काव्य को श्रेष्ठ मानते हैं जिसमे 'लोक की पीडा, बाधा, अन्याय, अत्याचार के बीच दबी हुई आनन्द-ज्योति भीषण शक्ति मे परिणत होकर अपना मार्ग निकालती है और फिर लोकमगल और लोकानुरजन के रूप में अपना प्रकाश करती है।'[4] प्रसादजी भी काव्य की श्रेष्ठता के लिए उसमें लोकहित एव लोकानुरजन की भावना का होना आवश्यक समझते हैं। उन्होंने लिखा भी है कि 'ऐसे अच्छे नाटक या काव्य लिखने वाले को ही महाकवि कह सकते हैं, जिसके ग्रथो से पाठकों का अच्छी शिक्षा के साथ मनोरजन होता चले और चित्त की कोमल वृत्तियाँ भी सुन्दर होकर प्रस्फुटित होने लगें।'[5] अतः लोकहित एव लोकानुरजन भी युगयुगीन काव्य की विशेषता सिद्ध होते हैं।

आचार्य शुक्ल का मत है कि एक शाश्वत काव्य में 'कई प्रकार के सौन्दर्यो का मेल आपसे आप हो जाया करता है।' साधारणतया भाव-सौन्दर्य, रूप-सौन्दर्य और कर्म-सौन्दर्य उसमे प्रमुख रूप से होते हैं।[6] पाश्चात्य विद्वान् तो काव्य के इसी पक्ष को जहाँ अधिक विकसित रूप में देखते हैं उसी काव्य की गणना स्थायी साहित्य के अतर्गत करते हैं। अत युगयुगीन काव्य की एक विशेषता यह भी है कि उसमें इन्द्रिय-जन्य भौतिक सौन्दर्य और अतीन्द्रिय कर्म-सौन्दर्य एवं भाव-सौन्दर्य का भी चित्रण होता है।

एबरक्रोम्बी का मत है कि एक शाश्वत काव्य में उदात्त कल्पना, गहन

1—Appreciations p 34-35.

२—रामचरितमानस, बालकांड १३।६ ३—साहित्यालोचन, पृ० ७४।

४—चिन्तामणि भाग १, पृ० २६१।

५—इन्दु, कला ३, किरण ५, एप्रिल सन् १९२२, पृ० ४०३।

६—चिन्तामणि भाग १, पृ० २६७-२६८।

अनुभूति एव अनुभवो की प्रौढ़ता तथा परिपक्वता के दर्शन होते हैं। उन्होने मिल्टन के काव्य को इसीलिए महान् कहा है कि उनमें उक्त सभी बातें विद्यमान हैं।[1]

ध्वन्यालोककार का मत है कि एक श्रेष्ठ प्रबंध काव्य की रचना में इतिवृत्त और रस का उचित सतुलन होता है।[2] अरस्तू ने भी कलात्मक विचारों एव कलात्मक रचना शैली के कारण ही होमर की बड़ी प्रशसा की है और उसे आदर्श कवि बतलाया है।[3] आई० ए० रिचर्ड्स ने भी एक महान् रचना के अतर्गत भाषा-शैली सम्बन्धी शाश्वत तत्त्वो का रहना आवश्यक बतलाया है।[4] श्री रामदहिन मिश्र का भी यही मत है कि वाक्य-रचना मे स्पष्टता, एकता, ओजस्विता, धारावाहिकता, लालित्य, सुन्दरता और व्यजकता हो तो वह रचना उत्तम कोटि की समझी जाती है।[5] अत इतिवृत्त और रस के उचित सतुलन के साथ उसमें उत्कृष्ट भाषा एव रचना-शैली का होना भी युगयुगीन काव्य की एक विशेषता है।

इसके अतिरिक्त भारतीय साहित्य-शास्त्री का मत है कि एक युगयुगीन काव्य किसी महान् उद्देश्य से लिखा जाता है और वह जीवन के चारो फल—धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष-से युक्त होता है।[6] पाश्चात्य विद्वान् एबरक्रोम्बी भी एक अमर काव्य में किसी महान् उद्देश्य का होना अनिवार्य बतलाते हैं।[7] डा० श्यामसुन्दरदास ने भी शाश्वत साहित्य के महान् उद्देश्य की ओर सकेत करते हुए लिखा है कि उसका 'सबसे बड़ा उपयोग नैतिक उन्नति और सामाजिक कल्याण' में है।[8] अत. किसी महान् उद्देश्य का होना भी किसी शाश्वत साहित्य की एक प्रमुख विशेषता है।

इस प्रकार प्राच्य एव पाश्चात्य विद्वानो के आधार पर युगयुगीन काव्यो की निम्नलिखित विशेषताएँ ज्ञात होती हैं —

(१) मानव-जीवन के शाश्वत सत्यो का उद्घाटन
(२) सत्-असत् प्रवृत्तियो के सघर्ष का चित्रण
(३) आदर्श और यथार्थ के समन्वित स्वरूप का निरूपण
(४) नारी-जीवन की महत्ता का प्रतिपादन
(५) भूतकाल के साथ वर्तमान एव भविष्य का भी समावेश

1—The Idea of Great Poetry, p 12–13

२—हिन्दी ध्वन्यालोक, पृ० २५६–२५७।

3—Aristotle's Theory of Poetry and Fine Art, p 91

4—Principles of Literary Criticism, p 222

५—काव्यदर्पण, पृ० ३५३। ६—काव्यादर्श १।१५

7—The Epic, by Abercrombe, p 64-65

८—साहित्यालोचन, पृ० ११२।

(६) अन्त प्रकृति और बाह्य प्रकृति का सुन्दर सामंजस्य
(७) पारस्परिक सहानुभूति, समता, विश्व-बन्धुत्व आदि का वर्णन,
(८) लोकहित एव लोकानुरजन की प्रवृत्ति,
(९) भाव, रूप और कर्म-सौन्दर्य का दिग्दर्शन,
(१०) उदात्त कल्पना, गहन अनुभूति एव अनुभावो की प्रौढता का उल्लेख,
(११) रसानुकूल भव्य एव उत्कृष्ट शैली का प्रयोग,
(१२) किसी महान् उद्देश्य का निरूपण।

युगयुगीन साहित्य और कामायनी

मानव-जीवन के शाश्वत सत्य—'कामायनी' मे मानव-मनोभावो के चित्रो का ही सुन्दर सकलन मिलता है। यहाँ पर मानव-मात्र के चिन्ता, आशा, वासना, लज्जा, ईर्ष्या, क्रोध, निर्वेद, आनन्द आदि ऐसे मनोभावो का निरूपण हुआ है, जो एकदेशीय न होकर विश्वव्यापी है। कामायनी के सयोग एव वियोग सम्बन्धी वर्णनो में हमें मानव-मात्र की भावनाओ का साक्षात्कार होता है। सयोग के अवसर पर विश्व-भर की नारी मे ऐसी ही चेष्टायें देखी जा सकती हैं, जिनका वर्णन 'वासना' सर्ग मे इस तरह मिलता है :—

गिर रही पलकें, झुकी थी नासिका की नोक,
भ्रू-लता थी कान तक चढती रही बेरोक।
स्पर्श करने लगी लज्जा ललित कर्ण कपोल,
खिला पुलक कदम्ब सा था भरा गद्गद बोल।[1]

इतना ही नहीं वियोग की दशा मे व्यथा-पीडित, कान्तिहीन नारी का जैसा चित्रण कामायनी के 'स्वप्न' सर्ग मे मिलता है, वैसी ही दशा विश्व की किसी भी विरह-विधुरा नारी की देखी जा सकती है। जैसे :—

कामायनी कुसुम वसुधा पर पडी न वह मकरन्द रहा,
एक चित्र बस रेखाओ का, अब उसमें है रग कहाँ!
वह प्रभात का हीन कला शशि, किरन कहाँ चाँदनी रही,
वह सध्या थी, रवि शशि तारा ये सब कोई नहीं जहाँ।[2]

वैसे तो ससार मे मानव-मनोभावो की कोई सीमा नही है और गोस्वामी तुलसीदास ने भी 'भाव भेद रस भेद अपारा'[3] कहकर भावो का निस्सीम होना

१—कामायनी, पृ० ९४।   २—वही पृ०, १७५।
३—रामचरितमानस, बालकाड ८।१०

बतलाया है। अत कोई भी महाकवि मानव-मात्र के समस्त भावो का निरूपण नहीं कर सकता, फिर भी सभी महाकाव्य यथासम्भव अधिकाश भावो को अपने-अपने महाकाव्यो में उन्हे स्थान देते है। कामायनी मे भी हमें मानव-मात्र के अनेकानेक भावो के सजीव चित्र मिलते है। 'चिन्ता' सर्ग के चिन्ता, शोक, स्मृति आदि, 'आशा' सर्ग के आशा, उद्वेग, औत्सुक्य आदि, 'श्रद्धा' सर्ग के दैन्य, विषाद, मोह आदि, 'काम' सर्ग के वितर्क, जड़ता, निद्रा आदि, 'वासना' सर्ग के हर्ष, उल्लास, रति आदि, ऐसे ही मनोभाव हैं, जिनका सम्बन्ध मानवमात्र से है। ऐसे ही भाव-चित्र अन्य सर्गो में भी भरे पड़े हैं। कही-कही तो इन मनोभावो को मूर्त रूप प्रदान करके उनकी नराकार उद्भावना भी की गई है, जिससे वे भाव अत्यन्त सजीव और हृदयग्राही होगये हैं। कामायनी का 'लज्जा' सर्ग इसका ज्वलन्त प्रमाण है। आचार्य शुक्ल ने भी प्रसादजी की ऐसी नराकार उद्भावनाओ की भूरि-भूरि प्रशसा की है।[1] रस की दृष्टि से भी विचार करे तो पता चलेगा कि जिस काव्य में मानव-मात्र की भावनाओ का समावेश होता है उन्ही के साथ साधारणीकरण भी होता है। कामायनी के सभी भाव-वर्णनो के साथ हृदय का साधारणीकरण होता है। अत निस्सन्देह यह कहा जा सकता है कि कामायनी में मानव-जीवन के चिरन्तन सत्यो का उद्घाटन हुआ है।

सत्-असत् प्रवृत्तियों का सघर्ष—कामायनी मे मूलत सत् और असत् अथवा सात्विकी एव तामसी दोनो प्रवृत्तियो के सघर्ष का ही चित्र अकित किया गया है। यहाँ पर श्रद्धा सत्प्रवृत्ति का नेतृत्व करने वाली है और असुर-पुरोहित आकुलि और किलात असत्प्रवृत्तियो के प्रतिनिधि हैं। श्रद्धा अपनी सात्विकी प्रवृत्ति के कारण मनु को अहिंसापूर्ण, सरल और शान्तिमय जीवन व्यतीत करने की प्रेरणा देती है, किन्तु असुर-पुरोहित मनु को हिंसा-कर्म, सुरा-पान आदि की प्रेरणा देकर विलासी, अहकारी और असन्तुष्ट बना देते हैं। यह सघर्ष कामायनी के 'सघर्ष' सर्ग में अपनी चरम सीमा पर पहुँच जाता है। वहाँ जिस समय असत्प्रवृत्तियो के प्रतिनिधि आकुलि-किलात का वध होजाता है, उस समय यह सघर्ष समाप्त होता है और इनके चगुल मे फँसे हुए मनु पुन सत्प्रवृत्तियो की प्रतिनिधि श्रद्धा की शरण में आकर शान्ति एव आनन्द लाभ करते हैं। इस तरह सत्-असत् प्रवृत्तियो के सघर्ष का रूप

मिलता, फिर भी कामायनी के उक्त संघर्ष में श्रद्धा के पशु का बलिदान करने वाले एवं मनु को पथ-भ्रष्ट करने वाले असुर-पुरोहितों का वध कराकर अन्त में श्रद्धा की जो विजय दिखलाई गई है, उससे मानव-इतिहास के उस चिरन्तन संघर्ष की ओर संकेत मिलता है जिसका आभास देव-मानव, राम-रावण, पाडव-कौरव, पेरिस-मनीलास आदि के युद्धों में मिलता है।

आदर्श और यथार्थ का समन्वय—कामायनी में चरित्र-नायक मनु के जीवन में पहले जिन मानवीय दुर्बलताओं, अभावों, अतृप्त वासनाओं आदि को दिखाने की चेष्टा की गई है, वे सभी बातें यथार्थवाद की भूमिका पर स्थित हैं। किन्तु ऐसे पथ-भ्रष्ट एवं पतित व्यक्ति को भी मुमूर्ष अवस्था में सचेत और सावधान कराकर श्रद्धा के प्रयत्न द्वारा अन्त में जो अत्यन्त सात्विक, शुद्ध, उदार, जनसेवी, मानवता का प्रेमी, विश्व-बन्धुत्व का अनुयायी आदि चित्रित किया गया है, वहाँ पर आदर्शवाद के दर्शन होते हैं। इस तरह सारे काव्य में मानव-जीवन के यथार्थ रूप को अंकित करके अन्त में उसका पर्यवसान आदर्श में किया गया है। इसी कारण अन्य युगयुगीन काव्यों की भाँति यहाँ भी आदर्श और यथार्थ का सफल समन्वय दिखाई देता है।

नारी-जीवन की महत्ता :—कामायनी के अन्तर्गत श्रद्धा और इडा के रूप में दो प्रकार की नारियों के चित्र अंकित किए गए हैं, इनमें से श्रद्धा भारतीय नारी के उच्चादर्श को प्रस्तुत करती है और इडा यान्त्रिक सभ्यता में निष्णात वैज्ञानिक युग की एक तर्कशीला नारी का प्रतिनिधित्व करती है। दोनों अपने-अपने विचारों के आधार पर मनु के जीवन का मार्ग-दर्शन करती हैं। भारतीय आदर्शों के अनुकूल चलने वाली श्रद्धा अपनी उदारता, सच्चरित्रता, पतिपरायणता आदि के कारण अन्त में मनु के जीवन को आनन्दमय बना देती है, जबकि यान्त्रिक सभ्यता की समर्थक तर्कशीला नारी इडा मनु के जीवन को आनन्दमय बनाने में असफल रहती है। परन्तु श्रद्धा अपने सद्गुणों के कारण न केवल कामायनी के चरित्र-नायक मनु को ही अखंड आनन्द प्राप्त कराती है, बल्कि अपने विरोधी पात्र, इडा को भी उसकी भूलें बतलाकर सत्य मार्ग का निर्देश करती है, जिससे इडा का सारा उजड़ा हुआ प्रदेश पुनः सुख समृद्धिशाली बन जाता है। इस कामायनी के अन्तर्गत सर्वत्र श्रद्धा पात्र के रूप में सच्चरित्र, उदार, पतिपरायण, कर्तव्यनिष्ठ एवं गृह-कार्य में कुशल एक ऐसी नारी के दर्शन होते हैं, जो 'रामायण' की सीता, 'महाभारत' की द्रौपदी, 'अभिज्ञान शाकुन्तल' की शकुन्तला, 'इलियड' की हैलेन, 'डिवाइन कामेडिया' की बियेट्रिस आदि से सौंदर्य एवं चरित्र में किसी प्रकार भी कम नहीं है तथा जिसमें नारी-जीवन की दिव्यता, महत्ता एवं पूर्णता के दर्शन एक स्थान पर ही होजाते हैं।

मानते हैं। डा० वासुदेवशरण अग्रवाल का कहना है कि 'सस्कृति मनुष्य के भूत, वर्तमान और भावी जीवन का सर्वांगपूर्ण प्रकार है। हमारे जीवन का ढग हमारी सस्कृति है। सस्कृति हवा में नही रहती, उसका मूर्तिमान रूप होता है। जीवन के नाना-विध रूपो का समुदाय ही सस्कृति है।'[1] डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी का कहना है कि 'सभ्यता का आन्तरिक प्रभाव सस्कृति है। सभ्यता समाज की बाह्य व्यवस्थाओं का नाम है, सस्कृति व्यक्ति के अन्तर के विकास का।'[2] डा० गुलाबराय का मत है कि 'सस्कृति शब्द का सम्बन्ध सस्कार से है, जिसका अर्थ है सशोधन करना, उत्तम बनाना, परिष्कार करना। सस्कृत शब्द का भी यही अर्थ है और सस्कार व्यक्ति के भी होते हैं और जाति के भी, किन्तु जातीय सस्कारो को ही सस्कृति कहते हैं। भाववाचक होने के कारण सस्कृति एक समूह-वाचक शब्द है।'[3]

डा० सत्यकेतु विद्यालकार का कथन है कि 'मनुष्य अपनी बुद्धि का प्रयोग कर विचार और कर्म के क्षेत्र में जो सृजन करता है, उसी को 'सस्कृति' कहते हैं। मनुष्य ने धर्म का जो विकास किया, दर्शन-शास्त्र के रूप में जो चिन्तन किया, साहित्य, सगीत और कला का जो सृजन किया, सामूहिक जीवन को हितकर और सुखी बनाने के लिए जिन प्रथाओ व सस्थाओ को विकसित किया उन सबका समावेश हम 'सस्कृति' में करते हैं।'[4] डा० रामजी उपाध्याय का मत है कि 'मानव ने जो प्रगति की है, उसके मूल मे बुद्धि और सौन्दर्य की अभिरुचि है। इनका अवलम्बन लेकर वह ससार की यथेष्ट रूप-रेखा बनाता जा रहा है। वह स्वभावत किसी रचना को पूर्ण मानकर सतोष नही कर लेता, बल्कि नित्य ही कल की वस्तुओ को यथाशक्ति पूर्ण या सुन्दर बनाने का प्रयत्न करता है। सुन्दर बनाने, सुधारने या पूर्ण बनाने का प्रयत्न मनुष्य की बुद्धि और सौन्दर्य-भावना के विकास का परिचय देता है। मानव का यही विकास 'सस्कृति' है। सस्कृति का मौलिक अर्थ सुधारना, सुन्दर या पूर्ण बनाना है।'[5] इसके अतिरिक्त भारतीय सस्कृति का क्रम-बद्ध इतिहास प्रस्तुत करते हुए हिन्दी के प्रसिद्ध आधुनिक कवि एवम् आलोचक श्री रामधारीसिह 'दिनकर' ने लिखा है कि 'सस्कृति जिदगी का एक तरीका है और यह तरीका सदियो से जमा होकर उस समाज में छाया रहता है जिसमें हम जन्म लेते हैं। इसलिए जिस समाज में हम पैदा हुए हैं, अथवा जिस समाज से मिलकर

१—कला और सस्कृति, पृ० १। २—विचार और वितर्क, पृ० १८१।

३—भारतीय सस्कृति की रूप-रेखा, पृ० १।

४—भारतीय सस्कृति और उसका इतिहास, पृ० २०।

५—भारत की प्राचीन सस्कृति, पृ० २।

हम जो रहे हैं उसकी संस्कृति हमारी संस्कृति है, यद्यपि अपने जीवन मे हम जो सस्कार जमा करते हैं वह भी हमारी संस्कृति का अग बन जाता है और मरने के बाद हम अन्य वस्तुओ के साथ अपनी संस्कृति की विरासत भी अपनी सन्तानो के लिए छोड जाते हैं। इसलिए, संस्कृति वह चीज मानी जाती है जो हमारे सारे जीवन को व्यापे हुए है तथा जिसकी रचना और विकास में अनेक सदियो के अनुभवों का हाथ है। यही नहीं, बल्कि संस्कृति हमारा पीछा जन्म-जन्मान्तर तक करती है।'[1]

अंग्रेजी साहित्य मे 'संस्कृति' शब्द का पर्यायवाची 'कल्चर' शब्द माना जाता है। यह 'कल्चर' शब्द लैटिन भाषा के कुलतुरा (Cultura) शब्द से निकला है और 'कल्चर' मे वही धातु है जो 'एग्रीकल्चर' में है। अत इसका भी अर्थ पैदा करना या सुधारना है।[2] किन्तु इसका एक लाक्षणिक अर्थ यह भी है कि मस्तिष्क तथा उसकी शक्तियो को विकसित करना अथवा शिक्षा द्वारा मानसिक वृत्तियो को सुधारना।[3] समाज-विज्ञान के विश्वकोश में श्री मैलिनोव्स्की ने संस्कृति (Culture) की परिभाषा करते हुए लिखा है कि 'इसमें पैतृक निपुणताएँ, श्रेष्ठताएँ, कलागत प्रक्रिया, विचार, आदते और विशेषताएँ सम्मिलित रहती हैं। अतः 'संस्कृति' का सम्बन्ध दर्शन और धर्म से लेकर सामाजिक संस्थाओ तथा रीति-रिवाजो तक मानव-जीवन की समस्त महत्वपूर्ण विचार-प्रणालियो से है।'[4]

निष्कर्ष यह है कि 'संस्कृति' का सम्बन्ध मानव के भौतिक, आध्यात्मिक, आर्थिक, राजनैतिक, धार्मिक, साहित्यिक, दार्शनिक, कलात्मक आदि सभी प्रकार के महत्वपूर्ण विकासो एव जीवन के विविध पहलुओ मे है। मानव के इन विकासो में परम्परागत सस्कारो का बडा हाथ रहता है। इसलिए संस्कृति का संस्कारो से घनिष्ठ सम्बन्ध है। इसके अतिरिक्त इन विकासों द्वारा ही किसी देश की सभ्यता का भी पता चलता है। इसी कारण, सभ्यता को मानव के विकास की समस्त चेष्टाओ का बाह्य रूप कहा जाता है और संस्कृति उनका आन्तरिक रूप है। अत. किसी देश की संस्कृति से उस देश के रहन-सहन, आचार-विचार, रीति-रिवाज, ज्ञान-विज्ञान, परम्परागत अनुभव, जीवन-यापन के ढग, कला-प्रेम, रुचि आदि का बोध होता है।

१—संस्कृति के चार अध्याय, पृ० ६५३।

२—भारतीय संस्कृति की रूप-रेखा, पृ० १।

३—आर्य-संस्कृति के मूलाधार, पृ० ४१४–४१५।

४—Encyclopaedia of Social Science Vol III-IV, p 621.

भारतीय संस्कृति—साधारणतया भारत से सम्बन्ध रखने वाली संस्कृति को भारतीय संस्कृति कहा जा सकता है। परन्तु भारतीय संस्कृति में कितनी ही अन्य संस्कृतियों का भी सम्मिश्रण हुआ है और 'जिसे हम भारतीय संस्कृति कहते हैं, वह आदि से अन्त तक न तो आर्यों की रचना है और न द्रविड़ों की, प्रत्युत उसके भीतर अनेक जातियों का अंशदान है। यह संस्कृति रसायन की प्रक्रिया से तैयार हुई है एवं उसके भीतर अनेक औषधियों का रस समाहित है।'[1] इसका कारण यह है कि यहाँ पर द्रविड, आर्य, शक, हूण, पठान, मुग़ल, अंग्रेज आदि कितनी ही जातियाँ आईं और सभी ने अपनी-अपनी संस्कृति से भारतीय संस्कृति को प्रभावित किया। परन्तु भारतीय संस्कृति का सबसे बड़ा गुण यह है कि वह समन्वय-प्रधान है। इसी कारण वह आज तक अक्षुण्ण एवं एकरूप बनी हुई है। अन्य सभी संस्कृतियाँ यहाँ आकर इस अखंड स्रोत में ऐसी विलीन हो गईं कि आज उनका स्वतन्त्र अस्तित्व नहीं दिखाई देता। यह संस्कृति अपने इसी गुण के कारण अन्य संस्कृतियों का सम्मिश्रण होने पर भी मौलिक रूप में विद्यमान है, जबकि संसार की प्राचीन से प्राचीन संस्कृतियाँ या तो परिवर्तित हो गईं या वे सदैव के लिए अतीत के गर्त्त में समा गईं। मिस्र, असीरिया, बैबिलोनिया आदि देशों की संस्कृतियों का यही हाल है कि उनका प्राचीन रूप नष्ट हो चुका है।[2] परन्तु भारतीय संस्कृति की इस पुनीत गंगा में नदी-नालों का मिश्रण अवश्य हुआ है, फिर भी उसकी पावनी शक्ति इतनी प्रबल है कि सबको गांगेय रूप मिल गया है[3] और अपनी इसी विशेषता के कारण उसका अविनश्वर रूप यहाँ की कला-कृतियों, आचार-विचारों आदि में सुरक्षित है।

भारतीय संस्कृति के विभिन्न रूप—भारतीय संस्कृति के इस सामासिक स्वरूप का विश्लेषण करने पर पहले उसे हम दो भागों में विभक्त कर सकते हैं—देव संस्कृति और मानव संस्कृति। देव संस्कृति को प्रथम मानने का कारण यह है कि यहाँ पर शतपथब्राह्मण,[4] जैमिनीय ब्राह्मण,[5] ऐतरेय आरण्यक,[6] वायुपुराण,[7] मार्कंडेयपुराण,[8] श्रीमद्भागवतपुराण[9] आदि में सर्वत्र मानव-सृष्टि से पूर्व देव-सृष्टि

१—संस्कृति के चार अध्याय, पृ० ५।

२—भारतीय संस्कृति और उसका इतिहास, पृ० २१।

३—भारतीय संस्कृति की रूपरेखा, पृ० १५।

४—शतपथब्राह्मण, ११।१।२।१२ ५—जैमिनीयब्राह्मण ३।३८०-३८१

६—ऐतरेय आरण्यक २।१।३ ७—वायुपुराण ६।६३-६४

८—मार्कंडेयपुराण ४७।३४ ९—श्रीमद्भागवतपुराण ३।१०।१३।२५

के प्रादुर्भाव का उल्लेख मिलता है। इनके अतिरिक्त ब्राह्मण-ग्रन्थों के आधार पर यह स्पष्ट संकेत मिल जाता है कि खडप्रलय में देव-सृष्टि का विनाश हो गया और उसके उपरान्त मनु के द्वारा मानवी सृष्टि का विकास हुआ।[1] इन्हीं आधारों पर देव-सृष्टि की संस्कृति को देव-संस्कृति और मानव-सृष्टि की संस्कृति को मानव-संस्कृति नाम दिया गया है।

आगे चलकर यह मानव-संस्कृति भी कई रूपों में विकसित हुई। सुगमता की दृष्टि से पहले इसे दो भागों में बाँटा जा सकता है—वैदिक संस्कृति और अवैदिक संस्कृति। जिस संस्कृति का विकास वेद-शास्त्रों अथवा निगमागमों के आधार पर हुआ उसे वैदिक संस्कृति कहा जा सकता है और जो संस्कृति वेद-बाह्य विचारों के आधार पर विकसित हुई उसे अवैदिक संस्कृति कह सकते हैं। वैदिक संस्कृति के पुन दो रूप मिलते हैं—निगम संस्कृति और आगम संस्कृति। निगम संस्कृति से अभिप्राय उस वैदिक संस्कृति से है जिसका विकास वेदानुकूल सूत्रग्रन्थों एव स्मृति-ग्रन्थों के आधार पर हुआ है और आगम संस्कृति वह है जिसका विकास वैदिक परम्परा में ही विकसित तन्त्रों या आगमों के आधार पर हुआ है। इसके अतिरिक्त अवैदिक संस्कृति के अन्तर्गत कितनी ही अन्य संस्कृतियाँ आती हैं, जिन्हें सुविधा की दृष्टि से पाँच भागों में बाँट सकते हैं—आग्नेय संस्कृति, द्रविड संस्कृति, जैन संस्कृति बौद्ध संस्कृति एव अन्य विदेशी संस्कृतियाँ। अन्य विदेशी संस्कृतियों में यूनानी, शक, आभीर, मुस्लिम, अंग्रेजी आदि संस्कृतियाँ आती हैं, क्योंकि इनका भी प्रभाव भारतीय संस्कृति पर पडा है। इस तरह मानव-संस्कृति का विकास विभिन्न रूपों में दिखाई देता है। किन्तु इस विभिन्नता में भी इनके अन्तर्गत बराबर एकरूपता विद्यमान रही है और बाह्य संस्कृतियों से प्रभावित होकर भी भारतीय संस्कृति की अन्तरात्मा में किसी प्रकार का परिवर्तन नहीं हुआ है।

देव-संस्कृति—भारतवर्ष में सर्वप्रथम देव-संस्कृति का विकास हुआ। 'देव-संस्कृति' का देव शब्द पाणिनीय व्याकरण के अनुसार क्रीडार्थक दिव् धातु से 'घञ्' प्रत्यय करने पर बना है। निरुक्तकार यास्क ने दानार्थक 'दा' धातु एव द्योतनार्थक 'द्युत्' धातु और दीपनार्थक 'दीप्' धातु से 'व' प्रत्यय करके वर्ण का विकार या नाश करके देव शब्द का बनना सिद्ध किया है। क्योंकि वहाँ लिखा भी है 'दान और दीपन के लिए जो द्युस्थानगत हों वे ही देव और देवता हैं। योगी याज्ञवल्क्य का मत है कि जो दीप्ति पाते हैं, क्रीड़ा करते हैं, स्वर्ग में शोभा पाते हैं और द्युनि-निविष्ट हैं वे ही देव कहलाते हैं।[2] इस प्रकार 'देव' शब्द की व्युत्पत्ति में ही उनकी

१—शतपथब्राह्मण १।८।१–६, जैमिनीय ब्राह्मण ३।९९ आदि।
२—हिन्दी विश्व-कोष, भाग १०, पृ० ६१०।

कुछ सांस्कृतिक विशेषताओं का पता चल जाता है। जैसे वे दीप्तिशाली हैं, शीलगीन हैं, स्वर्ग में रहते हैं और द्युति-सम्पन्न हैं। देवों की ये सब बातें उनकी सभ्यता, श्रेष्ठता एवं वैभव-सम्पन्नता की ओर संकेत करती हैं।

भारतीय विद्वान् देवों के दो रूप मानते हैं—प्राणवान् तथा प्राणरहित। इन्द्र, वरुण, विष्णु, अश्विनीकुमार आदि प्राणवान् देवता हैं और अग्नि, वायु, श्रद्धा, मन्यु आदि प्राणहीन देवता हैं।[१] किन्तु निरुक्तकार यास्क ने इन सभी देवों को तीन भागों में बाँटा है—(१) पृथ्वी स्थान, (२) अंतरिक्ष स्थान और (३) द्युस्थान। पृथ्वी-स्थान वाले देवों में अग्नि का स्थान श्रेष्ठ है, अन्तरिक्ष-स्थान वालों में इन्द्र का स्थान श्रेष्ठ है और द्युस्थानीयों में सूर्य, विष्णु आदि का स्थान श्रेष्ठ बतलाया गया है।[२] ऋग्वेद में प्रथम तो इन देवों की संख्या तेंतीस मिलती है अर्थात् ग्यारह स्वर्ग में, ग्यारह द्यौ में और ग्यारह पृथ्वी में बतलाये हैं।[३] किन्तु आगे चलकर एक स्थान पर उनकी संख्या ३३३९ भी बतलाई गई है।[४] इतना होने पर भी ऋग्वेद में यह पता नहीं चलता कि ये देवता कौन से हैं, इनके नाम क्या हैं? इस बात का पता हमें शतपथ-ब्राह्मण से चलता है, क्योंकि वहाँ लिखा है कि आठ वसु हैं, ग्यारह रुद्र हैं, बारह आदित्य हैं और एक इन्द्र तथा एक प्रजापति है। इस प्रकार कुल तेंतीस देवता हैं।[५] ऐतरेय ब्राह्मण में इनकी संख्या छियासठ दी गई है और उनमें से तेंतीस सोम पीने वाले तथा तेंतीस सोम न पीने वाले बतलाये हैं।[६] किन्तु शतपथब्राह्मण में एक स्थान पर पुनः ऋग्वेद की ही भाँति ३३३९ देवताओं का भी उल्लेख मिलता है।[७] यह संख्या पुराणों में आकर तेंतीस करोड़ हो गई है।[८] ऋग्वेद में इन देवों की पाँच जातियों का उल्लेख मिलता है। सायणाचार्य ने उनको गंधर्व, अप्सरस्, देव, असुर तथा राक्षस बतलाया है।[९] किन्तु पुराणों में इनकी आठ प्रमुख जातियों का वर्णन मिलता है तथा उन जातियों में भी कई अन्य गौण जातियाँ भी हो सकती हैं। पुराणों के अनुसार देवों की आठ प्रमुख जातियाँ इस प्रकार हैं—(१) विबुध, (२) पितर, (३) असुर, (४) गंधर्व एवम् अप्सरस्, (५) सिद्ध, (६) यक्षराक्षसचारणादि, (७) भूत-

---

१—मनुस्मृति, मेधातिथि भाष्य, पृ० १९।

२—आर्य-संस्कृति के मूलाधार, पृ० ४७–४८।

३—ऋग्वेद १।१३९।११

४—ऋग्वेद ३।९।९

५—शतपथब्राह्मण ११।६।३।५

६—ऐतरेय ब्राह्मण २।१८

७—शतपथब्राह्मण ११।६।३।४

८—पद्मपुराण, उत्तरखंड ५।९

९—ऋग्वेद १।१००।१२ सायणकृत टीका।

प्रेतादि और (८) विद्याधर किन्नरादि ।[1] इस प्रकार देवताओं की अनेक जातियाँ भारतवर्ष में पहले निवास करती थी ।

ये देवलोग अलौकिक शक्ति-सम्पन्न थे । इनकी सत्ता चारो ओर स्थापित हो गई थी । इनके राजा इन्द्र कहलाते थे । देवो के अनेक इन्द्र हो चुके हैं, जिनमे से विश्वभुज, भूतधावन, शिवि, शान्ति, तेजस्वी, देवराज आदि के नाम बलि ने इन्द्र का अनाचार देख कर बतलाये थे और इन्द्र को उसकी पुरानी परम्परा का स्मरण कराया था ।[2] देवो के राजा इन्द्र ने वृत्र, वल, शुष्ण, अहि, शम्बर, रोहिण आदि असुरों को मारकर अपना राज्य निष्कंटक बनाया था ।[3] इसी कारण इन्द्र को दस्युहन्ता भी कहा जाता था ।[4] इतना ही नही असुरो के कितने ही नगरो का भी विध्वस इन्द्र ने किया था ।[5] वह इन्द्र असुरों का नाश करके ही पृथ्वी एवम् अन्तरिक्ष का राजा हुआ था ।[6]

देवो ने एक सार्वभौम सत्ता स्थापित करके अनन्त ऐश्वर्य एव अनन्त कीर्ति प्राप्ति की थी, जिसका आभास इन्द्र की उन प्रशंसात्मक स्तुतियो में मिलता है जहाँ उसे विश्वजित, धनजित्, स्वर्गजित्, नृजित्, उर्वराजित, अश्वजित, गोजित्, जलजित्, आदि नामो से पुकारा गया है ।[7] इतना ही नही इन्द्र के ऐश्वर्य का वर्णन करते हुए ऋग्वेद मे लिखा है कि इसके अधिकार मे अनेक घोडे, अनेक गायें, अनेक ग्राम तथा अनेक रथ थे ।[8]

देवो को सुन्दर, सुदृढ एव विशाल भवनो मे रहना अधिक प्रिय था । ऋग्वेद में कितने ही ऐसे दुर्गो एव भवनो का वर्णन मिलता है जो लोहे एव पत्थरो के बने हुए थे[9] तथा जिसमें सौ-सौ खम्भे होते थे ।[10] इतना ही नही उनके राज-महल तो प्राय. स्वर्ण के बने होते थे, उनमे एक-एक हजार खम्भे एव द्वार होते थे तथा वे अत्यन्त ऊँचे, सुदृढ एव विशाल होते थे ।[11] इसके साथ ही ऐसे-ऐसे भवनो का भी वर्णन मिलता है, जो शरदऋतु में विशेष तौर से काम में लाए जाते थे और जो

१—श्रीमद्भागवतपुराण ३।१०।२७-२८

२—प्राचीन भारतीय परम्परा और इतिहास, पृ० ६४ ।

३—देखिए ऋग्वेद क्रमशः १।५२।२, १।११।५, १।११।७, २।१२।११, २।१२।१२, १।३२।१५ आदि ।

४—ऋग्वेद २।१२।१०

५—वही, १।६३।७

६—वही, १।५२।१३

७—वही, २।१।११

८—वही, २।१२।७

९—वही, ४।३०।२०

१०—वही, १।१६६।८, ७।१५।१४

11—The Vedic Age, p 365.

'शारदी' कहलाते थे।[१] पुराणो में तो देवो के और भी सुन्दर एव सुसज्जित भवनो का वर्णन मिलता है। पद्मपुराण मे लिखा है कि देवताओ के महल नाना वर्णों के रत्नो से जडे रहते थे, उनमे करोडो खम्भे होते थे और वे निर्मल आदर्श (शीशे) की भाँति सुशोभित होते थे।[२] वे आश्चर्यजनक भवन अनेक वृक्षो से सकुलित रहते थे, जिनमें विचित्र-विचित्र धातुओ के सुन्दर चित्र बने रहते थे, जो स्वच्छ स्फटिक शिला के समान निर्मल थे, जहाँ लतायें छाई रहती थी और मयूर बोला करते थे।[३] वायुपुराण में लिखा है कि देवों के भवनो में मणि-रत्नो से जटित स्तम्भ होते थे, वेदिकाएँ मणियो की बनी होती थी तथा वे सुवर्ण एव मणियो के चित्रो तथा विद्रुम के तोरणो से युक्त होते थे।[४] कूर्मपुराण में भी उनके भव्य भवनो का वर्णन करते हुए लिखा है कि देवों के भव्य प्रासाद अट्टालिकाओ से युक्त होते थे, जिनमें स्वर्ण एव रत्नो से जडे हुए हजारो द्वार होते थे, जिनके ऊपर अनेक चित्र-विचित्र पताकायें फहराया करती थी, जिनके चारो ओर वीथियाँ होती थी तथा जिनके सोपान रत्नो से सुशोभित रहते थे।[५] इस प्रकार उनकी वैभव एव ऐश्वर्यपूर्ण रुचि का आभास उपर्युक्त वर्णनो मे मिल जाता है।

देवो में सगीत-प्रियता अधिक थी। वे जीवन मे सगीत को अत्यधिक महत्व देते थे और नाचना, गाना, बजाना ये सभी उनकी रुचिकर क्रीडाएँ थी। ऋग्वेद में देवो एव देवागनाओं के साथ-साथ नृत्य करने के सकेत मिलते हैं।[६] उस समय वे लोग 'कर्करि' नाम के बाजे को बजाया करते थे।[७] सप्तस्वरो वाली वीणा का प्रचार ऋग्वेद काल में ही हो गया था।[८] ऋग्वेद में यम के भवनो में प्राय. 'नाली' नाम के बाजे के बजने का उल्लेख मिलता है[९] और मरुतो को गाना गाते हुए लिखा है।[१०] जैमिनीय ब्राह्मण में देवो को यज्ञ के अवसरो पर वीणा वादन एव नृत्य करते हुए बतलाया है।[११] इतना ही नही अप्सराओ के नृत्य, गीत एव वीणा-वादन का भी उल्लेख जैमिनीय ब्राह्मण में मिल जाता है।[१२] पुराणो में आकर तो देवताओ के सगीत-प्रेम का अत्यन्त विस्तार के साथ वर्णन मिलता है। पद्मपुराण में लिखा है कि देवागनायें पारिजात की मजरियो की बनी हुई मालायें पहनकर मधुर ध्वनि के

१—हिन्दू सभ्यता, पृ० ३३।
२—पद्मपुराण, सृष्टि खड १५।१०
३—पद्मपुराण, सृष्टि खड १५।७
४—वायुपुराण ३४।६७
५—कूर्मपुराण, अध्याय ४६।
६—हिन्दू सभ्यता, पृ० ८१।
७—ऋग्वेद २।४३।३
८—ऋग्वेद, १०।३२।४
९—वही, १०।१३५।७
१०—वही, १।८५।२
११—जैमिनीय ब्राह्मण २।६९
१२—जैमिनीय ब्राह्मण १।४२

साथ गीत गाया करती थीं, अप्सरायें बड़े हाव-भाव पूर्ण नृत्य किया करती थीं और लय-ताल-युक्त अनेक वाद्य बजा करते थे।[१] मत्स्यपुराण में भी लिखा है कि राजा पुरुरवा ने अनेक देवांगनाओं के मधुर तन्त्री-स्वरों से युक्त गीत सुने थे।[२] कूर्म्मपुराण में लिखा है कि सुमेरु पर्वत पर अप्सराओं के समूह नृत्य किया करते थे; मृदंग, पणव, वेणु, वीणा आदि बजा करते थे और गन्धर्व, किन्नर आदि एकत्रित होकर आनन्द क्रीड़ा किया करते थे।[३] महाभारत में भी लिखा है कि मनोहर अप्सरायें तथा गन्धर्वगण नृत्य, वाद्य, गीत एवं नाना प्रकार के हास्यों द्वारा देवराज इन्द्र का मनोरंजन किया करते थे।[४] इसी प्रकार महाभारत में सभी देवों की सभाओं में नृत्यगान आदि का वर्णन मिलता है और प्रायः गन्धर्व एवं अप्सराओं को ही संगीत का विशेषज्ञ बतलाया है।[५]

संगीत की ही भाँति देवों को अपने शरीरों को सुसज्जित करने तथा गंधपूर्ण अंगराग एवम् सुवासित पराग लगाने का बड़ा चाव था। ऋग्वेद में लिखा है कि देव लोग कानों में कर्णशोभन पहना करते थे।[६] गले में सुन्दर 'निष्क' या हार पहनते थे।[७] हाथों में 'खादि' या कड़े पहना करते थे।[८] ऋग्वेद में एक स्थान पर मरुतों के शृंगार का वर्णन करते हुए लिखा है कि वे कंधे पर धनुष, पैरों में खड़ुवे (खादय.), छाती पर हार (रुक्म) तथा सिर पर सुनहरी पगड़ी (वितता) पहनकर सुन्दर रथ में बैठ कर घूमते थे।[९] कानों में स्वर्णकुण्डल तथा गले में मणियों के हार तो सभी देवता धारण करते थे।[१०] देवांगनायें विशेष कर नववधुयें एक प्रकार का शिरोभूषण भी धारण किया करती थी जो 'कुरीर' कहलाता था और कुछ देवता फूलों की मालायें भी धारण करते थे। अश्विनीकुमारों को प्रायः कमल की माला धारण करते हुए लिखा है।[११] देवनाग बालों में तेल डालने और उन्हें सुन्दर ढंग से सँवारते भी थे।[१२] देवांगनाएँ अपने केशों के जूड़े भी बनाती थीं। ऋग्वेद में एक युवती को 'चतुष्कपर्दा' अर्थात् चार-चोटियां या चार जूड़े बनाने वाली कहा है।[१३] कुछ देवनागण दाईं ओर बालों का जूड़ा बांधते थे।[१४] देवनागण अपने शरीर एवम् भवनों को

१—पद्मपुराण, सृष्टि खंड १५।६-१२
२—मत्स्यपुराण १२०।३१
३—कूर्म्मपुराण अध्याय ४८।
४—महाभारत, सभा पर्व, ७।२४
५—महाभारत सभापर्व ८।३८
६—ऋग्वेद, ८।७८।३
७—ऋग्वेद, २।३३।१०
८—वही, १।१६६।६
९—वही, ५।५४।११
१०—वही, २।६२।१४
11—The Vedic Age, p 3?4
१२—हिन्दू सभ्यता, पृ० ८०।
१३—ऋग्वेद १०।११४।३
१४—ऋग्वेद, ७।३३।२

सुवासित रखने के लिए अनेक प्रकार के सुगन्धित द्रव्यो का प्रयोग किया करते थे। ताण्ड्य ब्राह्मण में गूगल, सुगन्धितेजन और पीतुदारु को देवताओं के सुगन्धित द्रव्य बतलाया है।[१] जैमिनीय ब्राह्मण में भी अप्सराओ को अनेक सुगन्धियाँ धारण करने वाली बतलाया है।[२] पद्मपुराण में देवांगनाओं को पारिजात वृक्ष की मंजरियों से बनी हुई मालायें धारण करते हुए लिखा है।[३] महाभारत में समस्त देवगणों को सुवर्ण की मालाये तथा नाना प्रकार के उत्तमोत्तम अलंकारो से अलंकृत बतलाया है।[४] इसके साथ ही इन्द्र के शरीर की सजावट का वर्णन करते हुए महाभारत में लिखा है कि 'इन्द्र के मस्तक पर किरीट रहता है, दोनो भुजाओं मे लाल रंग के बाजूबंद शोभा पाते हैं, शरीर पर स्वच्छ वस्त्र तथा कंठ में विचित्र माला सुशोभित होती है।'[५] इसी तरह वहाँ यमराज को अद्भुत बाजूबंद, विचित्र हार और जगमगाते हुए कुण्डल धारण करते हुए बतलाया है[६] और आदित्यो का दिव्य हार, दिव्य सुगन्ध तथा दिव्य चंदन धारण करते हुए लिखा है।[७] इस प्रकार देवो में आभूषण-प्रियता एवं शरीर को सुसज्जित करने की भावना सभी ग्रंथो में अत्यधिक मात्रा में मिलती है।

देवता लोग मधुर एवम् सुस्वादु भोजन के बडे शौकीन थे। वे प्राय दूध, घृत एवम् दधि के बने हुए भोजनो को बडी रुचि के साथ खाया करते थे,[८] किन्तु उनमें से कुछ ऐसी भी देव-जातियाँ थी, जो मांस को भी बडे प्रेम से खाती थी। ऋग्वेद में गौ के दूध की बनी हुई क्षीर तथा दही के खाने का अधिक वर्णन मिलता है।[९] वहाँ चमडे की मशक मे भरकर दही से बने हुए पनीर के रखे जाने का भी उल्लेख मिलता है।[१०] एक स्थान पर खूब घी में बने हुए पूओ (अपूपो) का भी वर्णन ऋग्वेद मे आया है।[११] किन्तु उसके साथ ही बकरे तथा घोडे के मांस को पूषण आदि देवो के लिए समर्पित करने का वर्णन भी ऋग्वेद में मिलता है।[१२] इतना ही नहीं ऋग्वेद में एक स्थान पर इन्द्र का यह कथन भी मिलता है कि 'मेरे लिए बीस बैल मारो, जिन्हे खाकर मैं मोटा बनूँगा।'[१३] अत देवगण घोडा, बैल, सूअर, बकरा या भेड आदि के मांस का भी सेवन किया करते थे।[१४] देवो में सोम पीने का

१—तांड्य ब्राह्मण २४।१३।५
२—जैमिनीय ब्राह्मण १।४२
३—पद्मपुराण, सृष्टि खंड १५।१६
४—महाभारत, सभापर्व ७।७-८
५—महाभारत, सभापर्व ७।५
६—वही, ८।३७
७—वही, ६।७
८—ऋग्वेद १।१३४।६
९—ऋग्वेद ८।२।६
१०—वही, ६।४८।१८
११—वही, १०।४५।६
१२—वही, १।१६२।३
१३—वही, १०।८६।१४
१४—गंगा-वेदांक, पृ० २१८

बडा ही प्रचार था। ऋग्वेद में सोम की बडी प्रशंसा की गई है। ऋग्वेद में ही नही पारसी ग्रंथ अवेस्ता मे भी सोम (होम—पारसी उच्चारण) को बुद्धि, वीरता, समृद्धि, आरोग्य वृद्धि और महत्व प्रदान करने वाला कहा है। इतना ही नही इसे स्वर्ग, स्वास्थ्य, दीर्घायु, पाप-निराकरण की शक्ति, शत्रुओ पर विजय तथा चोर-डाकुओ आदि से प्राप्त होने वाले भयो की आगामी सूचना देने वाला बतलाया है।[1] ऋग्वेद मे भी सोम देवो को अमरता देने वाला, ज्योति प्रदान करने वाला,[2] मद उत्पन्न करने वाला,[3] शरीर का रक्षक (गोपा),[4] सब प्रकार की शक्तियो को बढाने वाला (वयोधास)[5] आदि बतलाया गया है। देवतागण अकेले ही सोमपान नही करते थे, अपितु देवांगनायें भी उनके साथ सोम पिया करती थी क्योंकि एक स्थान पर तेतीसो देवताओं को अपनी-अपनी पत्नियो के साथ सोमपान करने के लिए (मादयस्व) बुलाया गया है।[6] इसके साथ ही इन्द्राणी, वरुणानी, अग्नायी (अग्नि की पत्नी) भी सोमपान किया करती थी।[7] एक स्थान पर उषा को भी समस्त देवो के साथ सोम पीने के लिए बुलाया गया है।[8] सोम के साथ-साथ सुरा पीने की प्रथा भी देवो में मिलती है। उसे ऋग्वेद मे मदिरा कहा गया है।[9] वे प्रायः देवांगनाओ के साथ मदिरापान किया करते थे। अत एक स्थान पर यह भी वर्णन मिलता है कि मदिरा पीने के कारण उन्मत्त होकर देवांगनायें इधर-उधर चली गई थी।[10] ऋग्वेद में मदिरा को सुरा भी कहा है और एक स्थान पर सुरा पीकर उन्मत्त हुए देवो का परस्पर लडना भी लिखा है।[11] पुराणो मे आपान-गोष्ठियों में देवगणो को अपनी-अपनी रमणियो के साथ मदिरापान करते हुए कई स्थलो पर लिखा है।[12]

देवों में यज्ञो के प्रति बडी आस्था थी। यज्ञ उनके धर्म का एक विशेष अंग था।[13] उनके सभी कार्य यज्ञ द्वारा सम्पन्न होते थे। प्रजापति ने सर्वप्रथम सृष्टि-रचना करने के लिए यज्ञ किया था।[14] देवताओ को पहले स्वर्ग का स्थान प्राप्त नही हुआ था। अत. स्वर्ग-प्राप्ति के लिए देवो ने भी यज्ञ किया। तदनन्तर उन्हे स्वर्ग की

१—ऋग्वेद-संहिता, हिन्दी टीका, कलकत्ता, पृ० ४८५।

२—ऋग्वेद ८।४८।१ ३—ऋग्वेद ८।४५।६

४—वही, ८।४५।६ ५—वही, ८।४८।१५

६—वही, ३।६।६ ७—वही, १।२२।१२

८—वही, १।४८।१२ ९—वही, १।१६६।७

१०—ऋग्वेद, १।८३।५ ११—वही, ८।२।१२

१२—मत्स्यपुराण, १२०।३०-३१ १३—शतपथब्राह्मण १।८।१।७

१४—ऋग्वेद १।१६४।५०

और विश्वकर्मा के पुत्र मनु की अप्सराओं के नाम ऋक् तथा साम दिये गये हैं।[१] जैमिनीय ब्राह्मण मे उन अप्सराओ के नृत्य-गान, हास विलास आदि का भी उल्लेख मिलता है।[२] महाभारत में इन्द्र को अनेक मनोहर अप्सराओ तथा सुन्दर गंधर्वों से घिरा हुआ बतलाया है और लिखा है कि ये सभी इन्द्र का मनोरजन करने के लिए सदैव उसकी सभा में रहते हैं।[3] यमराज को अनेकानेक अप्सराओं के गीत, नृत्य, वाद्य आदि से मनोरजन करते हुए कहा है।[४] इसी तरह वरुण, कुबेर तथा ब्रह्मा को भी असख्य अप्सराओ एव देवागनाओ से घिरा हुआ बतलाया है तथा उनके नृत्य, गान आदि से मनोरजन करते हुए लिखा है।[५] पुराणो में देवों के विलास का विस्तृत वर्णन मिलता है। वायुपुराण में सुमेरु पर्वत की अद्भुत छटा का वर्णन करते हुए उसे नाना प्रकार के रत्नो, मणियो आदि से अलकृत बतलाया है तथा वहाँ पर श्री सम्पन्न देवताओ को अपनी-अपनी देवागनाओं के साथ विमानों में विहार करते हुए लिखा है।[६] ऐसे ही वैभव-विलास से परिपूर्ण वर्णन मत्स्य,[७] पद्म,[८] वाराह,[९] ब्रह्माड,[१०] श्रीमद्भागवत,[११] कूर्म्म[१२] आदि पुराणो मे मिलते हैं, जहाँ पर देवताओ को देवागनाओ एव अप्सराओ के साथ सुमेरु पर्वत पर रमण करते हुए, सरोवरो में क्रीडा करते हुए, नन्दन-वन मे विहार करते हुए, आपान गोष्ठी में मधुपान करते हुए तथा नृत्य, गीत, वाद्य आदि का आनन्द लेते हुए चित्रित किया है। शैवागमो में भी देवो के विलासमय जीवन की झाँकी स्थान-स्थान पर मिलती है। वहाँ पर भी सुमेरु पर्वत को अत्यत भव्य एव मणि-रत्नो से अलकृत बतलाकर देवताओ के निवास-स्थानो को सभी ऋतुओ में अत्यत सुखद, बडे विस्तृत तथा पारिजात पुष्पो के पराग से सुवासित कहा है।[१३] इसी तरह जैन-ग्रथो में भी देवो के निवास-स्थान सुमेरु का वैभवशाली चित्र अकित करते हुए देवताओ को हाव-भाव-

---

१—वही ६।४।१।७-११

२—जैमिनीयब्राह्मण ३।२५।८

३—महाभारत, सभापर्व ७।२४

४—वही ८।३७-३८

५—वही ६।६, २६, १०।५-६, १०-१८ ११।३६-४३

६—वायुपुराण, अध्याय ४ तथा ३४।

७—मत्स्यपुराण, अध्याय ११३, १२०।

८—पद्मपुराण, भूमिखड, ६५।३-१२

९—वाराहपुराण ७५।५०-६५

१०—ब्रह्माडपुराण, अध्याय १६।

११—श्रीमद्भागवतपुराण ५।१६

१२—कूर्म्मपुराण, अध्याय ४८, ४६।

१३—मृगेन्द्रतन्त्र १।१३।४१-५६

युक्त अप्सराओं से घिरा हुआ बतलाया है तथा उन्हें नित्य-प्रति कटक, कुण्डलादि विभूषणों से सुसज्जित होकर देवांगनाओं के साथ विहार करते हुए अथवा नाट्य-शालाओं में अप्सराओं के गीत, नृत्य, वाद्य का आनन्द लेते हुए लिखा है।[1]

/ देव-संस्कृति में आत्मवादी विचारधारा का भी आधिक्य मिलता है। वे अपने अतिरिक्त किसी अन्य शक्ति की सत्ता स्वीकार नहीं करते थे और स्वयं को सर्वोपरि समझते थे। पहले समस्त देवगण इकट्ठे ही रहते थे। किन्तु कुछ कालोपरान्त उनमें दो दल हो गये, जो सुर और असुर के नाम से प्रसिद्ध हुए। असुर वरुण के अनुयायी थे और सुर वरुण को अपना अधिपति न मानकर इन्द्र को अपना राजा मानते थे। इन्द्र के सभी अनुयायियों ने वरुण-पूजा का निषेध किया। इसी कारण त्वष्टा के पुत्र वरुणोपासक वृत्र ने असुरों का नेतृत्व ग्रहण किया। अन्त में देवासुर-संग्राम हुआ और इन्द्र ने वृत्र का ही नहीं, अपितु अन्य वरुणानुयायी असुरों का भी वध किया तथा सर्वत्र अपनी पूजा करायी।[2] इसीलिए ऋग्वेद में इन्द्र को देवों का सम्राट् बतलाया गया है।[3] इतना ही नहीं सत्ता एवं शक्ति के आधिक्य से फिर तो इन्द्र स्वयं को ही मनु, सूर्य, ऋषि, विप्र, शुक्राचार्य, भूमि, जलवृष्टि आदि भी कहने लगा।[4] ऋग्वेद के दशम मंडल में पुनः इन्द्र का आत्म-स्तुति-परक सूक्त मिलता है।[5] अतः इन सभी आधारों पर यही ज्ञात होता है कि देवों में आत्मवादी विचारधारा अत्यधिक फैल गई थी।[6]

इसके अतिरिक्त देव-संस्कृति में अमरता की भावना का भी अत्यधिक प्रचार था। देवगण स्वयं को अमर कहते थे और इसी कारण वे किसी ज्ञात और अज्ञात शक्ति से कभी भयभीत नहीं होते थे। शतपथब्राह्मण में उनके अमरत्व के स्थान-स्थान पर संकेत मिलते हैं।[7] ताण्ड्यब्राह्मण में लिखा है कि पहले देवगण भी मृत्यु से डरते थे, किन्तु प्रजापति के आदेशानुसार देवों ने नवरात्रि तक तपस्या की और इस तपस्या के प्रभाव से ही वे अमरता को प्राप्त हुए।[8] /

निष्कर्ष यह है कि देव-संस्कृति भोग-प्रधान थी। देवताओं ने पहले तो अवश्य महान् कार्य किये थे और अपने राज्य की स्थापना के लिए अनेकानेक शत्रुओं का

१—महापुराण ५।१६४-२६६ तथा कल्पसूत्र (हिन्दी), पृ० १७।

२—गंगा-देवाय, पृ० १८१।

३—ऋग्वेद १।८९।१

४—ऋग्वेद, ४।२६।१-२

५—वही, १०।४८

६—सोमोत्सव-स्मारक-संग्रह, पृ० १८०।

७—शतपथब्राह्मण २।२।२।८, ११।१।२।१२

८—ताण्ड्यब्राह्मण २२।१२।१

सामना भी किया था, किन्तु राज्य-सत्ता के स्थापित हो जाने के उपरान्त इन्द्र आदि सभी देवगण भोग-विलास और मनोरजन में अत्यधिक लीन हो गये। उन्हें अपने भविष्य की कोई चिन्ता न रही। उनकी दृष्टि में जीवन सर्वथा सुखमय हो गया और उसका पूर्ण उपभोग करना ही वे अपना चरम उद्देश्य समझने लगे। खाना-पीना, यज्ञ करना, नित्य नये उत्सव मनाना, जूआ खेलना, नृत्य करना, गाने-बजाने में लीन रहना इत्यादि उनके दैनिक कृत्य थे। अत देव-सस्कृति में जो-जो प्रमुख विशेषताएँ ज्ञात होती हैं, उन्हे निम्नलिखित शीर्षकों में विभक्त कर सकते हैं —

(१) अलौकिक शक्ति-सम्पन्नता
(२) अनन्त ऐश्वर्य की प्राप्ति
(३) भव्य एव विशाल भवनों मे निवास
(४) सगीत-प्रियता
(५) अलकार-प्रियता
(६) सोम एव सुरापान में रुचि
(७) यज्ञों में आस्था
(८) विलास-प्रियता
(९) आत्मवाद की प्रबलता और
(१०) अमरता की भावना का प्रसार

देव-सस्कृति का कामायनी मे निरूपण

अलौकिक शक्ति-सम्पन्नता—कामायनी के 'चिन्ता' सर्ग मे देवो की अलौकिक शक्ति-सम्पन्नता का विशद उल्लेख मिलता है। यहाँ लिखा है कि देवताओ ने विश्व-भर के अपार बल, वैभव एव आनन्द को अपने अधिकार में कर लिया था। सर्वत्र उद्वेलित लहरो के समान इनकी समृद्धि का सुख-सचार होता था। सूर्य की किरणो के समान इनकी कीर्ति, दीप्ति और शोभा चारों ओर नृत्य करती थी। देवो की शक्ति इतनी अपरिमित थी कि प्रकृति उनके पद-तल मे झुकी रहती थी और पृथ्वी इनके चरणो से आक्रान्त होकर प्रतिदिन काँपती रहती थी।[1]

अनन्त ऐश्वर्य की प्राप्ति—कामायनी मे देवो के अनन्त ऐश्वर्य का भी वर्णन मिलता है। वहाँ लिखा है कि देवताओ ने अनन्त सुख का सग्रह किया था। उनके सुरभित अचल से जीवन के मधुमय निश्वास चलते थे। उस अनन्त वैभव से भरे हुए कोलाहलमय वातावरण में देवजाति के सुख एव विश्वास की ध्वनि स्पष्ट सुनाई पडती थी। देवताओ द्वारा भोगे जाने वाले सुखो की गणना करना कठिन है। उनके जीवन का एकमात्र लक्ष्य ही सुखोपभोग बन गया था। इस देव-जाति मे सम्पूर्ण सुख इस तरह केन्द्रीभूत हो गये थे, जिस तरह आकाश-गगा में नये-नये तुषार-कणो का सघन मिलन होता है।[2]

भव्य एव विशाल-भवनों में निवास—'कामायनी' में देवताओ के भव्य एव

१—कामायनी, पृ० ९। २—वही, पृ० ८।

विशाल भवनो का संकेत भी मिलता है। वहाँ पर लिखा है कि देवताओ के भवन रत्न-जटित होते थे, वे चूने से पुते हुए थे तथा उनमें जगह-जगह पर वातायन भी छुटे रहते थे, जिनमें से 'मधु मदिर समीर' आया करता था।[१] उनमें रात्रि के समय मणियो के दीपक जलते थे[२] तथा उनके आस-पास उद्यानो में कुसुमित कुंजें होती थी, जिनमें देव और देवागनायें परस्पर प्रेमालिगन करते हुए विहार करते थे।[३]

सगीत-प्रियता—कामायनी में देवो की सगीत-प्रियता का भी विशद वर्णन मिलता है। वहाँ लिखा है कि देवगण कुसुमित कुंजो में एकत्रित होकर नृत्य करते, गाने गाते और 'वीन' आदि वाद्यो को बजाया करते थे।[४] नृत्य के समय देवागनाओ के ककण और नूपुरो की ध्वनि सुनाई पडती थी। उनकी छाती पर हार हिला करते थे। वे अनंग-पीडा के समान अपनी अग-भगियो का प्रदर्शन किया करती थी तथा उनके गीतो में स्वर और लय का सुन्दर संयोग रहता था।[५]

अलंकार-प्रियता—देवताओ को अपने-अपने शरीरो को सुसज्जित करने का बड़ा चाव था। कामायनी में लिखा है कि देवागनाएँ प्राय. हाथो में कंकण, पैरो मे नूपुर तथा गले में मणियो के हार एव पारिजात पुष्पो की मालाएँ पहनती थी।[६] अपने मुखो को सजाने के लिए प्राय देवागनायें कपोलो पर 'कल्पवृक्ष का पीत पराग' लगाया करती थीं।[७]

सोम एवं सुरापान—कामायनी में देवो को सोम एव सुरा दोनो का पान करते हुए वर्णन किया है। वहाँ लिखा है कि प्राय. यज्ञ के अवसर पर देवगण सोमपान करते थे[८] तथा अन्य आनन्दोल्लास के अवसर पर वे सुरापान किया करते थे।[९] प्राय. नृत्य-गान के समय देवता लोग अवश्य सुरापान करते थे। देवगण नित्य सुरापान करके मधुकर के मकरन्द-उत्सव की भाँति नित्य उन्मत्तता के साथ झूमते हुए आनन्दोत्सव मनाते थे, उनके मुखो से सुरा की सुरभि निकलती रहती थी, मुख लाल पड़ जाता था और आँखें आलस्य और अनुराग से भरी रहती थी।[१०]

यज्ञो में आस्था—कामायनी में देवो के यज्ञ-कर्म का भी उल्लेख मिलता है। वहाँ लिखा है कि सुर-संस्कृति में देव-यज्ञो का विशिष्ट स्थान है। इन यज्ञो में अन्न, सोम, पशु-मांस आदि की आहुतियाँ दी जाती थी।[११] यह यज्ञ-कर्म अत्यन्त जटिल एव विस्तृत था। उनमे बिना पुरोहित के सफलता नहीं मिलती थी और

१—कामायनी, पृ० १२। २—वही, पृ० ७। ३—वही, पृ० १०।
४—वही, पृ० १०। ५—वही, पृ० ११। ६—वही, पृ० ११,१३
७—वही, पृ० ११। ८—वही, पृ० ११७। ९—वही, ११।
१०—वही, पृ० ११। ११—वही, १३, ३१, ३२।

प्राय मैत्रावरुण यज्ञ अधिक हुआ करते थे।[1] देवता लोग यज्ञों को जीवन में सुख प्रदान करने वाला, कार्यों की प्रेरणा देने वाला, जीवन में गतिशीलता उत्पन्न करने वाला, अपनी उत्सव-लीला से उदासीनता को दूर करने वाला आदि मानते थे।[2] यज्ञ के समय पहले पशु को यूप से बाँधकर यज्ञ-वेदी पर ही उसका वध किया जाता था, जिससे उसके रुधिर के छींटे वेदी के चारों ओर फैल जाते थे। वेदी के समीप ही सोम से भरा हुआ पात्र रखा रहता था और यज्ञ करने के उपरान्त पुरोडाश के साथ-साथ सोम-पान किया जाता था।[3] ये यज्ञ कितने ही प्रकार के होते थे, किन्तु कामायनी मे पाकयज्ञ तथा 'मैत्रावरुण यज्ञ' का ही वर्णन मिलता है।[4]

विलास-प्रियता—कामायनी में देवों की विलास-प्रियता का विस्तृत उल्लेख मिलता है। प्रसादजी ने उन्हे बार-बार वासना के उपासक,[5] विलासिता के मद में तिरने वाले,[6] उन्मत्त विलास में लीन,[7] मधुप सदृश निश्चिन्त विहार करने वाले,[8] नित्य विलासी,[9] विकल वासना के प्रतिनिधि[10] आदि कहा है। साथ ही देवों की विलास-क्रीडाओं का वर्णन करते हुए लिखा है कि वे कुसुमित कुजों अथवा रत्न-जटित भव्य भवनों में देवागनाओं के साथ एकत्रित होकर नित्यप्रति प्रेमालिगन, स्पर्श, चुम्बन आदि में लीन रहते थे,[11] सम्मिलित रूप से नृत्यगान का आनन्द लिया करते थे,[12] भ्रमरों की तरह देवागनाओं के समीप सुरा से उन्मत्त होकर मँडराया करते थे,[13] उनमें अतृप्ति एव निर्बाध विलास की अधिकता थी तथा उनके नेत्रों में अपने-अपने प्रेमी-प्रेमिकाओं के दर्शन की भूख सदैव बनी रहती थी।[14] इतना ही नही विलास-वासना की प्रबलता के कारण सभी देवों में एक ऐसी अचेतन गति दिखाई देती थी, जिसके सामने समीर भी पिछड़ जाता था।[15]

आत्मवाद की प्रबलता—कामायनी में प्रसादजी ने देवों को 'अहता' का पुजारी बतलाया है[16] और देवों के आत्मवाद का वर्णन करते हुए लिखा है कि सुर-वर्ग आत्म-विश्वास मे निरत होकर यही कहा करता था कि 'मैं स्वय सतत आराध्य आत्मा का पुजारी हूँ, मैं स्वय उल्लासशील शक्ति का केन्द्र हूँ, अत अन्य किसी की शरण में नही जा सकता, मेरा जीवन ही आनन्द-उच्छलित शक्ति का स्रोत है तथा

१—कामायनी, पृ० ११३–११४। २—वही, पृ० ११५।
३—वही, पृ० ११६–११७। ४—वही, पृ० ३२, ११४।
५—वही, पृ० ७। ६—वही, पृ० ७। ७—वही, पृ० ८।
८—वही, पृ० ६। ९—वही, पृ० १०। १०—वही, पृ० ११।
११—वही, पृ० १०, १२। १२—वही, पृ० ११। १३—वही, पृ० ११।
१४—वही, पृ० १२। १५—वही, पृ० ११। १६—वही, पृ० १६१।

सभी प्रकार के विकास-वैचित्र्य से भरा हुआ है। साथ ही मुझमें वे सभी शक्तियाँ विद्यमान हैं, जिनसे नव निर्माण के कार्य करता हुआ मैं सारे विश्व को सदैव हराभरा रख सकता हूँ।'[१] इसी कारण देवगण अपने अतिरिक्त किसी अन्य सत्ता को नही मानते थे और स्वय को ही सर्वोपरि देवता समझते थे। आत्मवाद की इसी प्रबलता के कारण उनमे अहकार, दम्भ आदि की भी वृद्धि हो गई और इसी अहकार एव दम्भ के महामेघ में उनका सब कुछ हविष्य बन गया।[२]

अमरता की भावना—कामायनी मे देवो की अमरता का उल्लेख स्थान-स्थान पर मिलता है और यह बतलाया है कि देवो ने अत्यधिक शक्ति प्राप्त की थी और शक्ति की इसी अधिकता के कारण वे स्वय को 'अमर' समझने लगे थे। वास्तव में वे नश्वर ही थे और इसी कारण प्रलय में सभी मृत्यु का ग्रास हो गये।[३] देवो की यह अमरत्व-भावना मिथ्या थी। इसी कारण प्रसादजी ने मनु के मुख से इस अमरता का उपहास करते हुए लिखा है कि 'यह अमरता जीवन की मरु-मरीचिका है, इसे कायरता का अलस विषाद कहना चाहिए, यह अगतिमय है और मोह से मुग्ध जर्जर अवसाद के तुल्य है। इसे कदापि सत्य नही कहा जा सकता। केवल मृत्यु ही सत्य है, जिसकी गोद बर्फ के तुल्य शीतल होती है, जिसे चिरनिद्रा कह सकते हैं, जो मौनता, विनाश, विध्वस, अधकार, शून्यता, अभाव आदि के रूप मे प्रकट होती है तथा जो सृष्टि के कण-कण में छिपी हुई है।'[४] अत. अमरता की इसी मिथ्या भावना के कारण मनु ने भी स्वय को अमरता का जीवित 'भीषण जर्जर दम्भ' कहा है।'[५]

निष्कर्ष यह है कि प्रसादजी ने कामायनी काव्य में देव-सस्कृति की सभी प्रमुख-प्रमुख विशेषताओं का उल्लेख किया है और उनकी भोग-प्रधान सस्कृति का निरूपण करते हुए दिखलाया है कि विलासिता, मिथ्या अमरता की भावना, पशु-यज्ञो की अधिकता, आत्मवाद की प्रबलता आदि के कारण ही यह सुर-सस्कृति नष्ट होगई, क्योंकि देवो के ऊपर भी एक ऐसी नियामिका शक्ति थी, जो उनकी उच्छृखल एव अत्यधिक विलासमयी मनोवृत्ति को सहन न कर सकी और उसने 'जलौघ' द्वारा अमरता का दम भरने वाली इस देवजाति को नष्ट-भ्रष्ट कर दिया। इसके उपरान्त एक नवीन सस्कृति का प्रादुर्भाव हुआ, जो मानव-संस्कृति के नाम से प्रसिद्ध है।

मानव-संस्कृति—इस सस्कृति मे निगम, आगम, बौद्ध, जैन, द्रविड, आभीर, मुस्लिम, अंग्रेजी आदि कितनी ही सस्कृतियो का सम्मिश्रण हुआ है। इनमें से निगम-सस्कृति का विकास वैदिक ग्रंथो के आधार पर हुआ है। इसके अतर्गत त्याग और

१—कामायनी, पृ० १६१। २—वही, पृ० ७। ३—वही, पृ० ७-१०। ४—वही, पृ० १८-१६। ५—वही, पृ० १८।

भोग, प्रवृत्ति और निवृत्ति एवम् सामाजिकता और आध्यात्मिकता दोनो को अक्षुण्ण बनाए रखने के लिए चार वर्ण, चार आश्रम, सोलह संस्कार, धर्माधर्म-विचार, बाह्य और आन्तरिक शुद्धि, भेद में भी अभेद की स्थापना, प्राणीमात्र की एकता, समदर्शिता एवम् 'वसुधैव कुटुम्बकम्' की भावना आदि का प्रचार मिलता है। इस संस्कृति में साख्य, योग, न्याय आदि षट् दर्शनो का अपना महत्त्वपूर्ण स्थान है और इसमें देशप्रेम, राष्ट्रीयता, मानवता, प्राणिमात्र का कल्याण एव समन्वय की भावना का बाहुल्य दिखाई देता है। दूसरी, आगम सस्कृति का विकास वैदिक ग्रन्थो के ही आधार पर पल्लवित तन्त्रो एव आगम-ग्रन्थो के आधार पर हुआ है। इस संस्कृति में तत्कालीन समाज के अन्तर्गत वर्णाश्रम धर्म के द्वारा फैली हुई ऊँच-नीच एव जाति-पाँति की भावना को मिटाकर समरसता के सिद्धान्त का प्रचार करते हुए धर्म को सर्वसाधारण के लिए सुगम बनाने का प्रयत्न हुआ है और ऐसी साधना-प्रणालियो, उपासना-पद्धतियो, दार्शनिक विचारो आदि का प्रवर्त्तन किया गया है,/ जिनमें वैदिक और अवैदिक, आर्य और आर्येतर मतो, सम्प्रदायो, धर्मों आदि का समन्वय करने का सुन्दर प्रयत्न दिखाई देता है। आगम सस्कृति में ससार को सत्य बतलाकर समाज को अकर्मण्य बनाने की अपेक्षा कर्मण्यता की ओर मोडने का स्तुत्य प्रयत्न हुआ है और नारी तथा शूद्रो को भी धर्माचरण करने, शास्त्रो को पढने आदि की व्यवस्था करके समाज के सभी अगो के सामूहिक विकास पर जोर दिया गया है।

निगमागम सस्कृतियो के अतिरिक्त बौद्ध एव जैन सस्कृतियों मे सयमित जीवन, अहिंसा, सत्य, अस्तेय, अपरिग्रह, अतिथि-सेवा, आदि का प्रचार करते हुए सामाजिक कुरीतियो का सुधार, यज्ञो में पशु-बलि का विरोध, जीवो पर दया, प्राणिमात्र से प्रेम, सामाजिक समानता आदि के विचारो का सुन्दर समुच्चय मिलता है। जैनियो के 'अनेकान्तवाद' तथा 'स्याद्वाद' का अत्यधिक महत्व है, जिसमें यह बतलाया गया है कि 'किसी भी बात को बहुत जोर देकर कहना असत्य है, क्योंकि सत्य के अनेक पहलू होते है और हम जब जिस पहलू को देखते हैं, तब वही पहलू हमें सत्य दिखाई देता है। अत दुनियाँ में कोई भी बात ऐसी नही है, जिसे अधिक बलपूर्वक यह कहा जा सके कि यही ठीक है। इसी कारण सत्य के अनेक पहलुओ के विषय मे सम्यक् दृष्टि रखना ही 'अनेकान्तवाद' तथा 'स्याद्वाद' कहलाते हैं।'[1] इसी तरह बौद्ध सस्कृति का 'मध्यम प्रतिपदा' का सिद्धान्त भी बडा महत्वपूर्ण है। जिसमें यह बतलाया गया है कि मनुष्य को ससार में न तो काम्य वस्तुओ के भोग में ही सर्वदा लीन रहना चाहिए और न व्रत, उपवास, तप आदि के द्वारा शरीर को

१—सस्कृति के चार अध्याय, पृ० ११३ ।

ही कष्ट देना चाहिए, अपितु इन दोनो अतियो को छोडकर मध्यम मार्ग का अनुसरण करना चाहिए—अर्थात् शील, समाधि और प्रज्ञा के सम्पादन में चित्त लगाकर अनुपम शान्ति प्राप्त करनी चाहिए।[1] इसके अतिरिक्त द्रविड-संस्कृति द्वारा उत्सव-प्रियता, मांगलिक अवसरो पर रोली-चदन या गोरोचन आदि के प्रयोग, समाधियाँ बनाने आदि का प्रचार हुआ है[2] तथा भवन-निर्माण-कला एव तक्षण-कला का विकास भी सम्पूर्ण भारत मे हुआ है।[3] आभीर-संस्कृति से भारतीय साहित्य मे नायक-नायिकाओ की प्रेम-लीलाये, वन-विहार, उनकी शृगारिक चेष्टायें आदि आई है।[4] मुस्लिम संस्कृति ने भोग-विलास की नयी-नयी सामग्रियो, जैसे सुन्दर-सुन्दर उद्यान, फुव्वारे, शराब, साकी, गद्दे, तोशक, गलीचे, सुन्दर पलग, जरीदार वस्त्र, सुगंधित तेल, इत्र, पान आदि का प्रचार किया है तथा साकी, शराब, मयखाने से सम्बन्धित प्रेम-कथाओ एव फुटकल साहित्य की रचना की है।[5] अंग्रेजी संस्कृति ने भारतीय जीवन को एक नई दिशा प्रदान की है और विज्ञान के चमत्कार द्वारा नई-नई बातें सोचने का अवसर दिया है। इसी संस्कृति के द्वारा भारत में पुन जाति-पाँति तथा छूआछूत की भावना को दूर करने के प्रयत्न हुए। विश्व-बधुत्व की भावना का प्रचार हुआ। जनता मे स्वतन्त्रता, राष्ट्रीयता, समानता आदि की भावनाएँ फैली। सामाजिक आचार-विचारो में परिवर्त्तन हुए। बाल-विवाह बद हुए, विधवा-विवाह तथा अन्तर्जातीय विवाह प्रारम्भ हुए, पर्दा-प्रथा कम हुई, वर्ण-व्यवस्था शिथिल हुई और धार्मिक कट्टरता मे भी कमी आई। इतना ही नही इसी संस्कृति से प्रभावित होकर भारतीय जनता अनुसंधान एव आविष्कार की ओर भी प्रवृत्त हुई, अपने अतीत जीवन के महत्व को समझने लगी और एकता एव सगठन की ओर प्रवृत्त हुई।

इस प्रकार मानव-संस्कृति के सर्वांगीण रूप का अध्ययन करने पर यही ज्ञात होता है कि इस पर अनेक संस्कृतियो का प्रभाव पडा है, परन्तु इतना होने पर भी मानव-संस्कृति मूलत. भारतीय है, उसमें विकृति नही आने पाई है। इसका कारण यह है कि भारतीय मनीषियो ने मानव-जीवन का गहन अध्ययन करके उसके लिए जिन आचार-विचारो को सुदूर अतीत में स्थिर किया था, उनकी जडें भारतीय जीवन मे इतनी गहरी पहुँच चुकी हैं कि कितनी ही सुन्दर एव भव्य संस्कृतियाँ यहाँ क्यो न

१—बौद्ध दर्शन, पृ० ७२–७३।
2—The Vedic Age, p 165
३—भारतीय सभ्यता तथा संस्कृति का विकास, पृ० २८६–२८७।
४—हिन्दी साहित्य की भूमिका, पृ० ११३–११४।
५—भारतीय सभ्यता तथा संस्कृति का विकास, पृ० ४१८।

'भूतयज्ञ' एवं 'नृयज्ञ' दोनो का सकेत मिल जाता है। इसके साथ ही यज्ञ के उपरान्त जलती हुई अग्नि के समीप बैठे-बैठे मनु निरन्तर ससार, अपने जीवन एव विश्व-नियन्ता के बारे मे मनन किया करते है, उनके हृदय मे अनेक प्रश्न उठते हैं और स्वय ही उन्हें अर्ध-प्रस्फुटित उत्तर मिलते है।[1] मनु की इस चिन्तन-प्रणाली में 'ब्रह्मयज्ञ' का आभास मिल जाता है। इस तरह कामायनी मे यत्र तत्र पच महायज्ञो के सकेत मिलते है और दैनिक कृत्यों के रूप में ही उनका उल्लेख भी हुआ है, परन्तु शास्त्रों में जिस तरह उनके करने का क्रम-बद्ध विधान बतलाया है, वैसा वर्णन यहाँ नही मिलता। केवल यहाँ अपने इस सास्कृतिक कार्यों का आभास ही मिलता है।

सोलह सस्कार—निगम सस्कृति मे पहले सोलह सस्कारो का बड़ा महत्व था और प्रत्येक द्विजातीय को इन सभी सस्कारो को करना पड़ता था। किन्तु आगम, बौद्ध, जैन तथा अन्य विदेशी सस्कृतियो के प्रभाव से पीछे सस्कारो में शिथिलता आने लगी। इसी कारण अब मानव-सस्कृति मे कुछ प्रमुख-प्रमुख सस्कार ही शेष रहे है, जिनमें से गर्भाधान, नामकरण, विद्यारम्भ, विवाह, अन्त्येष्टि आदि सस्कार प्रसिद्ध हैं। 'कामायनी' मे भी सम्पूर्ण सस्कारो का उल्लेख नही मिलता। केवल कुछ प्रमुख सस्कारो की ओर ही सकेत किया गया है। जैसे 'वासना' सर्ग में मनु द्वारा श्रद्धा का कर पकड़ने[2] एव 'लज्जा' सर्ग में श्रद्धा द्वारा 'स्मिति रेखा से सन्धिपत्र लिखने'[3] मे 'पाणिग्रहण सस्कार' की ओर सकेत मिलता है। 'कर्म' सर्ग के अन्त मे पारस्परिक मन-मुटाव के शान्त होने पर श्रद्धा एव मनु के मिलन[4] द्वारा 'गर्भाधान सस्कार' की ओर सकेत किया गया है। इनके अतिरिक्त 'वानप्रस्थ' और 'सन्यास' सस्कारो का उल्लेख आगे चलकर 'आश्रमो' के अन्तर्गत किया गया है। इस प्रकार केवल चार सस्कारो का ही उल्लेख 'कामायनी' मे मिलता है, जो आधुनिक मानव की नूतन एव परिवर्तित रुचि का द्योतक है।

वर्णाश्रम धर्म—प्राचीन निगम-सस्कृति में वर्ण-व्यवस्था का कठोरता के साथ पालन होता था। यद्यपि कुछ व्यक्ति अपने-अपने कर्मों के अनुसार वर्ण-परिवर्तन भी कर सकते थे, किन्तु अधिकांश व्यक्तियो को अपने-अपने वर्ण के अनुसार ही कार्य करने के लिए बाध्य किया जाता था। पीछे जैन, बौद्ध एवं आगम-सस्कृतियों के प्रभाव से वर्ण-व्यवस्था सम्बन्धी कठोरता दूर होने लगी। फिर भी ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र ये चार वर्ण समाज मे बराबर बने रहे। अन्त में मुस्लिम तथा अँग्रेजी

१—कामायनी, पृ० ३३।
२—वही, पृ० ८२।
३—वही, पृ० १०६।
४—वही, पृ० १३६।

और शास्त्रो में यह विधान भी है कि वानप्रस्थ आश्रम मे प्रवेश करने के लिए गृहस्थ का भार अपने पुत्र को सौंपा जाता था तथा स्वय जगल मे रहकर सयमित जीवन व्यतीत करते हुए आत्म-विकास मे लीन रहना पडता था।[1] कामायनी में मनु भी इसी तरह कैलाश गिरि की उपत्यका में शिवाराधना करते हुए वानप्रस्थ आश्रम के नियमो का पालन करते हैं। इसके उपरान्त 'आनन्द' सर्ग में मनु 'सन्यासाश्रम' का पालन करते हुए दिखाई देते है, क्योंकि कैलाश गिरि पर पहुँचकर वे श्रद्धा के साथ आध्यात्मिक जीवन व्यतीत करते हुए निरन्तर समृति की सेवा में लीन रहते हैं तथा सन्तोष एव सुख प्रदान करके सभी प्राणियो की दु खजन्य ज्वाला को हरते रहते हैं।[2] इस तरह कामायनी मे भारतीय सस्कृति के अनुकूल वर्णाश्रम धर्म की ओर भी सकेत मिलते हैं।

यम-नियम—निगम-सस्कृति में मानव-जीवन को सतुलित बनाने के लिए जिन यम-नियमो की व्यवस्था की गई है, उनमें से पांच बातें प्रमुख हैं—सत्य, अहिंसा, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह। बौद्ध, जैन एवम् आगम-सस्कृतियो मे भी उक्त पांचो बातो को मानव-जीवन के लिए अनिवार्य बतलाया गया है। अतः ये पांच बातें मानव-सस्कृति में विशेष स्थान रखती हैं। प्रसादजी ने कामायनी में भी उक्त पांचो बातो का सम्यक् निरूपण किया है। यहाँ श्रद्धा सत्य का आचरण करने के लिए आग्रह करती हुई मनु से स्पष्ट कहती है कि 'यह तुम क्या कहते हो? आज अभी तो तुम किसी ओर ही भाव-धारा मे बह रहे हो, किन्तु कल ही यदि उस भाव-धारा मे परिवर्तन होगया तो फिर किसी मित्र के साथ नूतन यज्ञ करने लगोगे और देवो के लिए पशुओ की बलि दोगे। अत. सोचो यह कितने धोखे की बातें हैं।'[3] इसी तरह कामायनी में 'अहिंसा' का वर्णन भी मिलता है। अहिंसा का तात्पर्य केवल हिंसा न करना ही नही है, अपितु जीवो के प्रति दया करना और किसी भी प्राणी से द्रोह न करना भी अहिंसा के ही अन्तर्गत आता है। कामायनी में मनु के पशु-वध करने पर श्रद्धा जब मनु को यह समझाती है कि 'अस्त्र का प्रयोग केवल अपनी रक्षा के लिए करना ही ठीक है, उससे कभी निरीह प्राणियो का वध करना उचित नहीं; क्योंकि जो निरीह प्राणी उपकारी होने में समर्थ है तथा हमारे लिए उपयोगी हो सकते हैं उन्हें क्यों नहीं जीवित रहना चाहिए? वे हमारे लिए बडे ही उपयोगी है, क्योंकि उनसे ऊन लेकर हम वस्त्र बना सकते हैं और उनके दूध से अपनी भूख शान्त कर सकते है। अतः ऐसे निरीह प्राणियो से कभी द्रोह करना उचित

१—मनुस्मृति ६।१-३५
२—कामायनी, पृ० २८२।
३—कामायनी, पृ० १२६।

132 -137

नही, उन्हे तो हमें पालना चाहिए और यदि हम उनसे कुछ ऊँचे है तो हमे समार-सागर मे उनके लिए सेतु बनना चाहिए ।'[1]

इनके अतिरिक्त कामायनी में अस्तेय की भावना का भी निर्देश मिलता है। अस्तेय का शाब्दिक अर्थ है चोरी न करना। परन्तु अपने पास जो कुछ है उसी से सतुष्ट होकर कदापि दूसरे के धन की इच्छा न करना तथा औरो को सुखी देखकर सुखी होना वास्तव मे अस्तेय कहलाता है। इसी 'अस्तेय' की भावना का निरूपण करते हुए ईशावास्योपनिषद् मे भी यही कहा है कि 'सदव त्यागपूर्वक उपभोग करो और कदापि किसी के भी धन के लिए इच्छा मत करो।'[2] प्रसादजी ने 'कामायनी' में भी इसी 'अस्तेय' भाव का उल्लेख करते हुए श्रद्धा के मुख से कहा है कि 'अपने में सब कुछ भर के कोई व्यक्ति कैसे अपना विकास कर सकता है? यह एकान्त स्वार्थ तो भीषण है, इससे तो व्यक्ति का नाश हो जाता है। इसलिए दूसरो का सर्वस्व अपहरण करने की अपेक्षा जो कुछ अपने पास है उसी में सन्तोष करते हुए जीवन को सुखी बनाना उचित है। इसके लिए सरल मार्ग यह है कि औरो को हँसते देखो और स्वय भी हँसते हुए सुख पाओ। इस तरह अपने सुख को विस्तृत करके सभी प्राणियो को सुखी बनाने की चेष्टा करो।'[3]

ब्रह्मचर्य का साधारण अर्थ है, इन्द्रियो को वश मे करके जीवन-यापन करना। परन्तु इसका एक लाक्षणिक अर्थ भी है। ब्रह्म का अर्थ है बडा, महान्, विशाल। 'चर्य' शब्द 'चर गति भक्षणयो' धातु से मिलता है, जिसका अर्थ है चलना या गति करना। अत: ब्रह्म होने के लिए, क्षुद्र से महान् होने के लिए, विषयो के छोटे-छोटे रूपों से निकलकर आत्मतत्त्व के विराट् रूप मे अपने को अनुभव करने के लिए चल पडना 'ब्रह्मचर्य' है।[4] कामायनी मे 'शक्तिशाली हो, विजयी बनो' कहकर श्रद्धा ने मनु को आगे बढ़ने की जो प्रेरणा दी है और मानवता को विजयिनी बनाने का जो आग्रह किया है वहाँ इन्द्रियो के सयम के साथ-साथ महान् बनाने वाले ब्रह्मचर्य सम्बन्धी विचारों का उल्लेख मिलता है।[5]

अपरिग्रह का तात्पर्य है कि आवश्यकता से अधिक वस्तुओ का सग्रह न करना। साधारणतया दूसरे की वस्तुओ का परित्याग 'अस्तेय' है और अपनी वस्तु

१—कामायनी, पृ० १४६–१४७।
२—तेन त्यक्तेन भुंजीथा मा गृध कस्यस्विद् धनम्। ईशोपनिषद् १।१
३—कामायनी, पृ० १३२।
४—आर्य-संस्कृति के मूलतत्त्व, पृ० २३४।
५—कामायनी, पृ० ५७–५६

का भी परित्याग कर देना 'अपरिग्रह' कहलाता है।[1] कामायनी में इसी 'अपरिग्रह' की भावना का उल्लेख करते हुए प्रसादजी ने श्रद्धा के मुख से कहा है कि 'मनुष्य को कभी समस्त सुखों को अपने में ही सीमित नहीं करना चाहिए और न कभी दूसरे प्राणियों की पीड़ा देखकर अपना मुँह ही मोड़ना चाहिए, क्योंकि ऐसा करने से उस व्यक्ति की दशा उन सूखी और मुरझाई हुई कलियों के समान हो जायगी, जो समस्त सौरभ को अपने अन्दर ही बन्द कर लेती हैं और जो मकरंद-विन्दु से सरस नहीं होती। अन्त में ऐसे परिग्रही या संचयशील व्यक्ति को पृथ्वी पर कहीं भी आमोद के दर्शन नहीं होते। अतः केवल अपने सन्तोष के लिए कभी समस्त सुखों का संग्रह करना ठीक नहीं।'[2]

उपासना-पद्धति—मानव-संस्कृति में अपनी-अपनी रुचि के अनुसार ईश्वर, आराध्य देव, सिद्ध पुरुष, साधु-संत आदि की मूर्त्ति बनाकर उनकी उपासना का विधान मिलता है। प्रायः समस्त भारत में शिव, राम, कृष्ण आदि की उपासना का अधिक प्रचार है। 'कामायनी' में 'शिव' की उपासना को महत्व दिया गया है और बतलाया गया है कि 'उनकी शरण में जाते ही समस्त पाप और पुण्य नष्ट होकर निर्मल और पवित्र बन जाते हैं, समस्त मिथ्या ज्ञान समाप्त हो जाता है और प्राणी समरस होकर अखंड आनन्द को प्राप्त करता है; क्योंकि शिव स्वयं समरस एवं अखंड आनन्द वेशधारी हैं।'[3] किन्तु शिव को चिति का रूप प्रदान करके शिव की उपासना को भी संकीर्ण दायरे से निकाल कर अत्यन्त व्यापक बना दिया गया है।

समन्वयवाद या समरसता—मानव-संस्कृति के आधार पर जिस समन्वयवाद की भावना का प्रसार सम्पूर्ण भारतीय जीवन में दिखाई देता है, उसका विशद उल्लेख 'कामायनी' में भी मिलता है। कामायनी के इस समन्वयवाद का विस्तृत विवेचन इसी प्रकरण में आगे चलकर 'प्रसादजी के समन्वयवाद' नामक शीर्षक के अंतर्गत किया गया है। इसके अतिरिक्त आगम संस्कृति ने प्राणिमात्र में समता एवं समन्वय स्थापित करने के लिए समरसता के सिद्धान्त की स्थापना की है। यह सिद्धान्त भी समन्वयवाद का एक अंग है। कामायनी में इस 'समरसता' के सिद्धान्त का भी सुन्दर निरूपण मिलता है। 'समरसता' का विस्तृत विवेचन प्रकरण ७ के अन्तर्गत कामायनी के दार्शनिक पक्ष का स्पष्टीकरण करते हुए किया जायेगा।

नारी की महत्ता—आगम और निगम दोनों संस्कृतियों में नारी को अद्भुत एवं अलौकिक शक्ति-सम्पन्न, ललित-सौंदर्यमयी, सहधर्मिणी, मानव-जीवन को समुन्नत

१—आर्य संस्कृति के मूलतत्त्व, पृ० २४२। २—कामायनी, पृ० १३३।
३—वही, पृ० २५४।

बनाने वाली सम्पूर्ण अभावों को दूर करने वाली एवं अपनी उदार एवं सौम्य भावनाओं तथा अपने सतत प्रयत्नों द्वारा मानव के अतृप्त जीवन को तृप्ति प्रदान करने वाली, नव-जीवन का सचार करने वाली, सम्पूर्ण कष्टों को हरने वाली आदि कहा है। कामायनी में भी नारी के इसी महत्व का निरूपण हुआ है। यहाँ श्रद्धा पात्र के रूप मे प्रसादजी ने भारतीय नारी के आदर्श को चित्रित किया है, क्योंकि वह त्याग और उदारता की देवी दया, माया, ममता, मधुरिमा, अगाध विश्वास आदि से परिपूर्ण है,[1] वह अमृतस्वरूपा है,[2] वह थकी हुई चेतना के लिए मलय-पवन है,[3] चिर विषाद रूपी अंधकार के लिए उषा की ज्योति-रेखा है, जीवन की मरुज्वाला के लिए सरस बरसात है,[4] वह सुहाग की अजस्र वर्षा है, स्नेह की मधु रजनी है, जीवन की चिर अतृप्ति के लिए सन्तोषदायिनी है,[5] आदि। इतना ही नहीं वह अनुपम सौंदर्यमयी है और उसका शरीर पराग के परमाणुओं से रचा हुआ है।[6] साथ ही वह सम्पूर्ण जगत की एकमात्र मगल कामना है, वह विश्व-चेतना से पुलकित रहती है तथा पूर्ण काम की साकार प्रतिमा है। उसकी तुलना एक ऐसे गम्भीर महाह्रद से की जा सकती है, जो अपनी महिमा रूपी निर्मल जल से परिपूर्ण हो।[7] इस तरह कामायनी में नारी के अलौकिक गुणों का चित्रण करते हुए उसके महत्व का प्रतिपादन किया गया है।

विश्व-मैत्री, मानवता-प्रेम एवं विश्व-बन्धुत्व—निगम-सस्कृति में सबसे प्रबल स्वर विश्व-प्रेम एवम् विश्व-बन्धुत्व का सुनाई देता है। आगम-सस्कृति में भी विश्व-बन्धुत्व पर अधिक बल दिया है और बौद्ध-सस्कृति तो विश्व-मैत्री के लिए सबसे अधिक प्रसिद्ध है। इसके अतिरिक्त आधुनिक युग में प्रवर्तित ब्राह्मसमाज, आर्यसमाज, आदि के द्वारा भी मानवता-प्रेम एव विश्व-बन्धुत्व की भावना को अधिक बल मिला है। यही कारण है कि कामायनी में मानवता-प्रेम एवम् विश्व-बन्धुत्व की भावना को सबसे अधिक महत्व दिया गया है। यहाँ पर 'श्रद्धा' सर्ग मे पहले मानवता की अक्षय कीर्ति, उसके अभ्युदय एवम् उसकी विजय की कामना की गई है।[8] इसके अनन्तर 'कर्म' सर्ग में श्रद्धा मनु को प्राणी-मात्र से प्रेम करने एवम् सभी को सुखी बनाने का आग्रह करती है।[9] श्रद्धा की इस विश्व-मैत्री की भावना को मनु भी स्वीकार करते हैं और वे 'निर्वेद' सर्ग में स्पष्ट कहते हैं कि 'तुमने मिलकर मुझे बताया

१—कामायनी, पृ० ५७। २—वही, पृ० १०६। ३—वही, पृ० २१६।
४—वही पृ०, २१७। ५—वही, पृ० २२६।
६—वही, पृ० ४७–४८। ७—वही, पृ० २६०
८—वही, पृ० ५८–५९। ९—वही, पृ० १३२–१३३।

सबसे करते मेल चलो ।'[1] इतना ही नही यहाँ इडा भी मनु को विश्व-मैत्री या विश्व-बन्धुत्व की भावना को अपनाने का आग्रह करती हुई यही कहती है :—

ताल ताल पर चलो नहीं लय छूटे जिसमे,
तुम न विवादी स्वर छेडो अनजाने इसमे ।[2]

इसके अनन्तर 'आनन्द' सर्ग में मनु भी यही कहते है कि "देखो, यहाँ पर कोई भी पराया नही है । सभी एक हैं । न हम कोई अन्य हैं और न ये कुटुम्बी । हम सब एक ही अग के अवयव हैं, जिनमें तनिक भी कोई कमी नही है । अत हम केवल एक हमी हैं । ' '''यहाँ जो सबकी सेवा की जाती है, वह किसी अन्य की सेवा नही है, अपितु वह अपने ही सुखो की सृष्टि है, क्योकि यहाँ का अणु-अणु और कण-कण अपना ही है और द्वैत के लिए यहाँ कोई स्थान नहीं है ।"[3] इस तरह सम्पूर्ण कामायनी मे यत्र-तत्र विश्व-मैत्री, मानवता-प्रेम एव विश्व-बन्धुत्व की भावनाएँ भरी हुई हैं ।

धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष—मानव-सस्कृति में ये चारो मानव के पुरुषार्थ माने गये हैं । इसी पुरुषार्थ की सिद्धि के लिए चार आश्रमो की भी कल्पना की गई थी । इस वर्ग-चतुष्टय में प्रवृत्ति एव निवृत्ति का सुन्दर समावेश हुआ है तथा मानव-जीवन की सर्वांगीण उन्नति के चार साधन एकत्रित किए गए हैं । धर्म से तात्पर्य उन व्यावहारिक बातो से है, जो जीवन को प्रेरणा देती हैं और जीवन को प्रेरणा देने वाली प्रमुख बातें पाँच मानी गई हैं—सत्य, अहिंसा, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह ।[4] कामायनी मे वर्णित इन सभी बातो का उल्लेख 'यम-नियम' के अतर्गत पहले ही किया जा चुका है । 'अर्थ' से अभिप्राय धन-सम्पत्ति आदि से है और 'काम' से तात्पर्य हमारी कामना और भावना से है । इसलिए 'अर्थ' का सम्बन्ध हमारी शारीरिक आवश्यकताओं से है और 'काम' का सम्बन्ध हमारी मानसिक आवश्यकताओं एव कामनाओं से है ।[5] मानव को शारीरिक आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए भी प्रयत्न करने पडते हैं । किन्तु जब वह धर्म, काम और मोक्ष को भूल कर केवल 'अर्थ' के ही पीछे पड जाता है और अपार सम्पत्ति एकत्रित कर लेता है, तब उसमें विलासिता की वृद्धि हो जाती है और वह अपने जीवन का सन्तुलन खो बैठता है । कामायनी में सारस्वत नगर के अन्तर्गत मनु की यही दशा हुई है कि वे अन्य सभी बातें भूलकर एकमात्र 'अर्थ' के

१—कामायनी, पृ० २२६ । २—वही, पृ० १९३ । (४१) संदर्भ
३—वही, पृ० २८७-२८९ । ४—आर्य संस्कृति के मूलतत्व, पृ० २५० ।
५—आर्य संस्कृति के मूलतत्व, पृ०

पीछे पड जाते हैं और इस आर्थिक दृष्टिकोण की प्रबलता के कारण वे विलास में मदांध होकर पतन के गर्त में जा गिरते है।[१] तीसरे 'काम' का सम्बन्ध मानसिक आवश्यकताओं से है, जिनकी पूर्ति के लिए संगीत, नृत्य, मूर्ति आदि ललित कलाओं का जन्म हुआ है। यह 'काम' वासना का पर्यायवाची नही है, अपितु सृष्टि का सृजन-कर्त्ता है। भारतीय संस्कृति मे 'काम' को 'इश्क' या 'कामुकता' का प्रतीक न मानकर अत्यन्त भव्य एव उदार रूप प्रदान किया गया है। 'कामायनी' मे भी 'काम' का यही भव्य रूप अपनाया गया है, जिसका विस्तृत विवेचन छठे प्रकरण मे किया जायेगा। चौथे 'मोक्ष' से तात्पर्य निवृत्ति या वैराग्य से है। जहाँ धर्म, अर्थ और काम ये तीनो प्रवृत्ति-मार्ग की ओर ले जाते हैं, वहाँ 'मोक्ष' के द्वारा निवृत्ति-मार्ग की योजना की गई है। कामायनी के अन्तिम चार सर्गो—'निर्वेद', 'दर्शन', 'रहस्य' और 'आनन्द' में इसी 'मोक्ष' का वर्णन मिलता है। कामायनी के अन्तिम 'आनन्द' सर्ग में जहाँ मनु को समस्त सांसारिक मोह-माया से दूर एक सन्यासी की भाँति सात्विक एव आध्यात्मिक जीवन व्यतीत करते हुए दिखलाया है,[२] वहाँ वे पूर्णतया 'मोक्ष' को ही प्राप्त हुए हैं, क्योंकि उस समय वे समरसता एव पूर्ण अद्वैतभाव को प्राप्त होकर अखड आनन्द लाभ करते हैं और यही जीव की मुक्तावस्था है। इस तरह 'कामायनी' में मानव-संस्कृति के वर्ग-चतुष्टय का सुन्दर निरूपण मिलता है।

स्वदेश-प्रेम एव राष्ट्रीयता—मानव-संस्कृति में स्वदेश प्रेम एव राष्ट्रीयता की भावना को जगाने के लिए प्रारम्भ से ही प्रयत्न दिखाई देते हैं। कामायनी में भी उक्त दोनो भावनाएँ स्थान-स्थान पर व्यक्त हुई हैं। जैसे, यहाँ पर हिमालय, कैलाश, मानवसरोवर, मन्दाकिनी एव अन्य वन-प्रदेश, नदी, निर्झर आदि की भव्य झाँकियो मे स्वदेश-प्रेम की भावना फूट निकली है।[३] इसी प्रकार 'कामायनी' मे जहाँ 'कल्याण भूमि यह लोक',[४] या 'निर्वासित अधिकार आज तक किसने भोगा'[५] अथवा 'प्राण सदृश तो रमो राष्ट्र की इस काया मे'[६] आदि के रूप में प्रसादजी के जो हृदयोद्गार व्यक्त हुए हैं, उनमें राष्ट्रीयता की भावना का भी प्रबल स्वर सुनाई पड़ता है।

साराश यह है कि कामायनी में भारतीय संस्कृति की अधिकाश प्रमुख-प्रमुख विशेषताओं को चित्रित करने का प्रयत्न हुआ है। भारतीय संस्कृति में प्रवृत्ति-निवृत्ति, भोग-त्याग, भौतिकता-आध्यात्मिकता, धार्मिकता, पवित्रता, सच्चरित्रता आदि

१—कामायनी, पृ० १८४, २०२। २—कामायनी, पृ० २८५–२९४।
३—वही, पृ० २९, २९१, २८२, १७६, २५७, २८१, २८३।
४—वही, पृ० १६६। ५—वही, पृ० १९२। ६—वही, पृ० १९३।

की जितनी भी उन्नत भावनाएँ मिलती हैं, कामायनी मे उन सभी का निरूपण किया गया है। अत महाकाव्य की दृष्टि से जहाँ 'कामायनी' आधुनिक युग के काव्यो मे अपना श्रेष्ठ स्थान रखती है, वहाँ सास्कृतिक निरूपण की दृष्टि से भी उसका स्थान श्रेष्ठ है। निस्सन्देह भारतीय सस्कृति का सर्वांगीण स्वरूप प्रस्तुत करने वाले महाकाव्यो में तुलसी कृत 'रामचरितमानस' के उपरान्त 'कामायनी' का नाम बडे श्रद्धा के साथ लिया जा सकता है।

भारतीय संस्कृति का भौतिक एवं आध्यात्मिक रूप—भारतीय सस्कृति की सबसे बडी विशेषता ही यह है कि इसकी विचारधारा मे भौतिक एव आध्यात्मिक दोनो रूपो को देखा जा सकता है। इस सस्कृति की सबसे बडी महत्ता वर्णाश्रम धर्म की स्थापना में है। यहाँ पर ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र इन चार वर्णों की जो व्यवस्था की गई थी, उसमे ब्राह्मण वर्ण के अन्तर्गत सात्विकता एवं आध्यात्मिकता की प्रधानता मानी गई और शेष तीनो वर्णों में से क्षत्रिय वर्ण में सात्विकता एव राजसिकता, वैश्य वर्ण मे राजसिकता एव तामसिकता तथा शूद्र वर्ण मे केवल तामसिकता की प्रबलता स्वीकार की गई थी। ये चारो वर्ण ही भारतीय समाज का रूप प्रस्तुत करते थे, जिनमे से ब्राह्मण वर्ण भारतीय संस्कृति के आध्यात्मिक रूप का प्रतीक था तथा शेष तीन वर्णों में उसका भौतिक रूप विद्यमान था। इसी तरह ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ और सन्यास इन चार आश्रमो में से ब्रह्मचर्य तथा सन्यास आश्रमो में सात्विकता एव आध्यात्मिकता की प्रबलता होने के कारण वे आश्रम भारतीय सस्कृति के आध्यात्मिक रूप के परिचायक थे तथा गृहस्थ आश्रम की व्यवस्था मानव के भौतिक विकास के लिए की गई थी। अत यह आश्रम इस सस्कृति के भौतिक रूप का द्योतक था।

भारतीय सस्कृति में धर्म का लक्षण है आचरण करते हुए अभ्युदय एव निश्रेयस् की प्राप्ति होना। अभ्युदय से तात्पर्य सासारिक एव भौतिक सुखों की उन्नति से है और निश्रेयस् का अभिप्राय कल्याण, मोक्ष या आध्यात्मिक आनन्द से है। इन्ही को दूसरे शब्दो में प्रेय तथा श्रेय भी कह सकते हैं, क्योंकि अभ्युदय में जिस उन्नति की कामना की जाती है वही प्रेय है तथा निश्रेयस् में जिस कल्याण, मोक्ष या आध्यात्मिक आनन्द की कल्पना की जाती है वही श्रेय है। प्रेय क्षणिक होता है और श्रेय स्थायी माना गया है। इसके विषय में बृहदारण्यक उपनिषद् मे एक कथा आती है, जिसमे याज्ञवल्क्य मुनि अपनी पत्नी मैत्रेयी के प्रति उपदेश करते हुए भौतिक सुखो को प्रेय एव आत्मज्ञान की प्राप्ति को श्रेय बतलाते है।[1] इस तरह

१—बृहदारण्यक उपनिषद् ४।५

भारतीय ग्रन्थो मे अभ्युदय तथा निश्रेयस् एव प्रेय तथा श्रेय का वर्णन मिलता है। किन्तु भारतीय सस्कृति धर्माचरण द्वारा दोनो की सिद्धि प्राप्त करने का आग्रह करती है, इसीलिए इसमें भौतिकता एव आध्यात्मिकता दोनों के दर्शन होते हैं।

भारतीय सस्कृति मे दो विद्याओ की प्राप्ति के लिए मानव-मात्र से आग्रह किया गया है। यहाँ उपनिषदो में कहा गया है कि मानव को अपने जीवन को उन्नत बनाने के लिए अपरा और परा नाम की दो विद्यायें सीखनी चाहिए। अपरा विद्या का अर्थ है भौतिक उन्नति की ओर ले जाने वाली वेद-वेदाग विद्या और परा का अर्थ है अविनाशी ब्रह्म का ज्ञान कराने वाली अध्यात्म विद्या।[1] इस प्रकार दोनो विद्याओ की प्राप्ति द्वारा यहाँ भौतिकता एव आध्यात्मिकता दोनो के समन्वय की ओर सकेत किया गया है।

इसके अतिरिक्त भारतीय सस्कृति के प्रवृत्ति और निवृत्ति-मार्ग, उपासना और कर्मकाण्ड, भक्ति और ज्ञानकाण्ड, साहित्य और दर्शन, कला और विद्या, भवन और मन्दिर निर्माण, उत्सव और रीति-रिवाज आदि में सर्वत्र भौतिकता एव आध्यात्मिकता का सतुलित स्वरूप दृष्टिगोचर होता है। अत यहाँ जीवन के प्रत्येक क्षेत्र मे आध्यात्मिकता एव भौतिकता दोनो के समन्वित स्वरूप को ही महत्व दिया गया है।

कामायनी मे भी भारतीय सस्कृति के इसी समन्वित स्वरूप की झाँकी प्रस्तुत की गई है और मनु के जीवन मे भोग और त्याग, प्रेय और श्रेय, अभ्युदय एव निश्रेयस् दोनो रूपो को अकित करने के लिए ही पहले उन्हे कामायनी के 'वासना', 'कर्म', 'ईर्ष्या', 'इडा', 'स्वप्न', 'सघर्ष' आदि सर्गो में अत्यत विलास-प्रिय, भौतिक सुखों में अनुरक्त एव अभ्युदय में मग्न दिखलाया है और 'निर्वेद' सर्ग से लेकर 'आनन्द' सर्ग तक उनके आध्यात्मिक जीवन या निश्रेयस् की झाँकी प्रस्तुत की है। अत कामायनी में भारतीय सस्कृति के भौतिक एव आध्यात्मिक दोनो रूपो का चित्रण करते हुए मानव-जीवन में दोनो की अनिवार्यता की ओर सकेत किया गया है।

सास्कृतिक सस्थाये और कामायनी

कुटुम्ब-सस्था—अत्यत प्राचीन काल से भारत मे कितनी ही सास्कृतिक सस्थाओ का प्रादुर्भाव हुआ है। ये सस्थायें समाज की आवश्यकता से अनुसार बनी हैं। पहले-पहल जब मानवो का प्रादुर्भाव हुआ तो वे इधर-उधर घूमा करते थे, फिर इन लोगो ने खुले मे ही किसी पानी वाले स्थल के निकट वास करना आरभ किया। आग के प्रयोग से इन्हे परिचय हो चुका था। अत खुले में ही रात को ये लोग सोने

१—मुडकोपनिषद् १।१।४–५

की जगह के चारो ओर आग जला लेते थे और दिन में आग को राख से ढक देते थे। धीरे-धीरे कुछ थोडे से लोगो का एक समूह वना, जिसमें एक वुड्ढा आदमी समूह का पिता या स्वामी होता था। शेप समूह के सभी स्त्री, युवा, वच्चे आदि उससे डरते थे। वह तो वैठा-वैठा चकमक पत्थर तथा हड्डियों के औज़ार वनाया करता था और उनको तेज़ किया करता था, शेप वच्चे उसका अनुकरण करते थे और स्त्रियां तथा अन्य युवा लोग उसके लिए ईंधन तथा चकमक पत्थर वीन कर लाया करते थे। यही से हमे 'कुटुम्ब-सस्था' के जन्म का सकेत मिलता है, जो सास्कृतिक सस्थाओ में अपना विशिष्ट स्थान रखती है और जिसके द्वारा मानवो मे आत्मीयता का सचार हुआ है। इस सस्था का जन्म प्राचीन पापाण-युग में हुआ था।[1] कामायनी में इस कुटुम्ब-सस्था का वर्णन 'वासना' सर्ग में मनु और श्रद्धा के मिलन के उपरान्त मिलता है। श्रद्धा जैसे ही आत्म-समर्पण करके मनु की सहायता करने को उद्यत होती है और मनु के समीप ही गुफा मे रहने लगती है, वैसे ही वह एक कुटुम्ब का निर्माण करती है,[2] जिसमें एक पशु, मनु और श्रद्धा—पहले ये तीन सदस्य होते हैं। इसके उपरान्त मनु कुटुम्ब के एक सदस्य उस पशु का वध करते हैं, जिससे श्रद्धा खिन्न हो उठती है और मनु को ऐसे हिंसा-कर्म मे रोकती है। जब वह गर्भवती हो जाती है और ऐसी अवस्था में मनु उसे अकेला छोड जाते हैं, तव पुत्र के रूप में एक और सदस्य उसके कुटुम्ब में वढ जाता है। धीरे-धीरे अव उसके कुटुम्ब का विस्तार होता है और अन्तिम 'आनन्द' सर्ग मे इडा, सारस्वत-नगर-निवासी, कुमार, मनु आदि सभी उसके वृहत् कुटुम्ब के सदस्य वन जाते हैं और सभी के अन्दर आत्मीयता का सचार हो जाता है।[3] इतना ही नहीं यहाँ 'वसुधैव-कुटुम्बकम्' के आधार पर सारा विश्व ही उस उदार आशय वाली श्रद्धा का कुटुम्ब वन जाता है। अतः 'कामायनी' में आत्मीयता को उत्पन्न करने वाली इस कुटुम्ब-सस्था के लघु और महान् दोनो रूपों का चित्रण मिलता है।

कृषि-संस्था—आरम्भिक काल में मानव फल-फूल वीन कर या शिकार करके अपना पेटा भरता था, किन्तु धीरे-धीरे उसने पहले पशु-पालना प्रारम्भ किया और वह गाय, बैल, भेड, वकरी, घोडा, कुत्ता आदि पालने लगा। तदुपरान्त जगल मे उत्पन्न धान, गेहूँ, जौ, मक्का आदि के वीजों को वीन कर और उन्हे वोकर वह खेती करने लगा।[4] इस तरह पशु-पालन तथा खेती करने के द्वारा मानव ने दूसरी

१—मानव की कहानी, भाग १, पृ० ११६–११७।
२—कामायनी, पृ० ८१। ३—कामायनी, पृ० २८७।
४—मानव की कहानी, भाग १, पृ० १३५।

सास्कृतिक सस्था को जन्म दिया, जो "कृषि-सस्था" के नाम से प्रसिद्ध है। इसका प्रादुर्भाव नव पाषाण-युग में हुआ था।[१] कामायनी में इस सस्था का उल्लेख 'वासना' तथा 'ईर्ष्या' सर्ग में मिलता है।[२] क्योकि इन दोनो सर्गो में श्रद्धा को शस्य, पशु और धान्य का सचार करते हुए, शालियाँ बीनकर अन्न इकट्ठा करते हुए तथा बीजो का सग्रह करते हुए दिखलाया गया है। इसके उपरान्त 'स्वप्न' सर्ग में सारस्वत नगर की श्री-वृद्धि के समय इस सस्था का पूर्ण विकास दिखाते हुए लिखा है कि "खेतो में है कृषक चलाते हल प्रमुदित श्रम स्वेद सने।"[3] इस तरह मानव ने अपनी भोजन की समस्या को हल करने के लिए जिस 'कृषि-सस्था' का श्रीगणेश किया था, उसके प्रादुर्भाव एव विकास का उल्लेख कामायनी में भी मिलता है।

गृह-उद्योग-सस्था—नव पाषाण-युग में मानव ने खेती और पशु-पालन के साथ ही चाक का भी आविष्कार किया और वह मिट्टी के बर्तन बनाने लगा। इसी समय वह सरकडो तथा तिनको के भी बर्तन बनाने लगा। पत्तो एव खालो से शरीर को न ढक कर अब वह पौधो के रेशो तथा ऊन के वस्त्र बनाने लगा। उसने घर बनाना भी सीख लिया और कुटीर-उद्योग की ओर ध्यान देने लगा।[४] यही से 'गृह-उद्योग-सस्था' का जन्म हुआ, जो सास्कृतिक सस्थाओ में मानव के क्रमिक विकास की सूचक है तथा जिसके द्वारा मानव अपनी आवश्यकताओ की पूर्ति करने, अपने लिए सुरक्षित स्थान, दुर्ग, अस्त्र-शस्त्र आदि के बनाने मे भी सफल हुआ है। कामायनी में 'ईर्पा' सर्ग के अतर्गत इस 'गृह-उद्योग-सस्था' का उल्लेख मिलता है। यहाँ पर श्रद्धा कोमल काले ऊनो की नव पट्टिका बनाने में लगी रहती है।[५] पशुओ की ऊन काटती और उनका दूध निकालती है।[६] सुन्दर कुटीर का निर्माण करती है[७] तथा तकली पर ऊन कातती है।[८] इसके अनन्तर 'स्वप्न' सर्ग मे इस सस्था का पूर्ण विकास दिखाया गया है, जहाँ पर धातु गलाना, आभूषण और अस्त्र बनाना, पुष्प-चुनना, लोध्र-कुसुम-रज से गन्ध-चूर्ण बनाना, लोहे के पदार्थ बनाना आदि का उल्लेख मिलता है।[९] इस तरह कामायनी में मानव की आवश्यकताओ की पूर्ति करने वाली इस सास्कृतिक सस्था का भी उद्गम और विकास चित्रित किया गया है।

१—मानव की कहानी, भाग १, पृ० १३५।
२—कामायनी, पृ० ८२, १४१।
३—कामायनी, पृ० १८१।
४—मानव की कहानी भाग १, पृ० १३६।
५—कामायनी, पृ० १४२
६—वही, पृ० १४७
७—वही, पृ० १४९।
८—वही, पृ १५०।
९—वही, पृ० १८१

धर्म-संस्था—नव पाषाण-युग में मानव एक ओर तो फसल पक जाने पर किसी प्राणी की बलि देने लगा था और दूसरी ओर कुछ ऐसे भी मानव थे, जो प्राकृतिक ज्ञान रखते थे, जादू-टौना जानते थे और चन्द्रमा के घटने-बढने एव मौसमो के बारे में भी कुछ जानकारी रखते थे। ऐसे योग्य लोगो का सभी व्यक्ति आदर करते थे। साथ ही उस युग मे स्त्रियाँ भी पुरुषो के विषय मे नाना प्रकार की भावनाये रखने लगी थी। अत बलिदान-कर्म, जादू-टौना, प्राकृतिक ज्ञान, पुरुषो के प्रति स्त्रियो की अनेक भावनाओ आदि ने इन 'धर्म-सस्था' को जन्म दिया,[1] जो सास्कृतिक सस्थाओ में महत्वपूर्ण स्थान रखती है तथा जिनमे मानव-जीवन के आचार-विचार, जीवन-यापन के ढग आदि की व्यवस्था की जाती है। कामायनी में इस सास्कृतिक सस्था का प्रथम उल्लेख 'आशा' सर्ग मे मिलता है, जहाँ मनु विराट् सत्ता के अलौकिक कार्यो को देखकर चकित होते हैं तथा अपने जीवन को सयमित बनाने के लिए अग्निहोत्र, पाकयज्ञ, तपश्चर्या आदि में लीन दिखाई देते हैं।[2] इसके उपरान्त इस सस्था के विकसित रूप का वर्णन 'दर्शन', 'आनन्द' आदि सर्गों में मिलता है, जहाँ मानव-जीवन के चरम लक्ष्य की प्राप्ति के लिए उस विराट् सत्ता में विश्वास रखने, इच्छा-ज्ञान-क्रिया का समन्वय करके समरसता पूर्ण जीवन व्यतीत करने, भौतिक और आध्यात्मिक तत्वो को सतुलित रूप मे अपनाने, संसार को सत्य समझने, अद्वैत-भाव, सेवा, सदाचार, त्याग, तपस्या आदि से युक्त जीवन-यापन करने एव भेद-भाव-रहित समस्त विश्व को एक नीड समझने की सलाह दी है।[3] इस तरह मानव-जीवन के मानसिक एव आध्यात्मिक विकास में सहायक इस सास्कृतिक सस्था का विवेचन भी कामायनी मे पर्याप्त मात्रा में मिलता है।

समाज-सस्था—पहले मानव इधर-उधर गुफाओ में पडा रहता था, किन्तु धीरे-धीरे वह दलो में इकट्ठा होकर किसी एक स्थान पर रहने लगा। वैसे भी इतिहासवेत्ताओ का मत है कि पशुपालन के समय में तो जगम सम्पत्ति रहती है। अत मानव इधर-उधर डोलता रहता है, किन्तु कृषि का उदय होते ही वह स्थावर सम्पत्ति का स्वामी हो जाता है और फिर वह किसी एक ही स्थान पर अपना समाज बनाकर रहने लगता है।[4] इस तरह कृषि-सस्था का विकास होते ही मानवो मे 'समाज-सस्था' का भी प्रादुर्भाव हुआ और वे पहले छोटे-छोटे गाँवो में सगठित

१—मानव की कहानी, भाग १, पृ० १३८।
२—कामायनी, पृ० ३१-३३।
३—कामायनी, पृ० २४४, २५४, २७२, २८६।
४—भारतीय इतिहास की रूपरेखा, पृ० १७३।

होकर अपनी-अपनी टोलियाँ बनाकर रहने लगे। इस 'समाज-सस्था' का जन्म नव पाषाण-युग में हुआ था।[1] कामायनी मे इस 'समाज-सस्था' का वर्णन 'स्वप्न' और 'सघर्ष' सर्ग में मिलता है और वहाँ यह वतलाया गया है कि एक सुसङ्गठित समाज अपने दुराचारी शासक को वदल सकता है, अपनी व्यवस्था स्वय कर सकता है, अपनी जाति एव अपने राष्ट्र की उन्नति कर सकता है तथा यायावर विदेशी आततायियो से अपनी रक्षा कर सकता है।[2] अन्त मे 'आनन्द' सर्ग के अन्तर्गत प्रसादजी ने एक ऐसे समाज की कल्पना की है ; जो वर्गहीन हो, जिसमे सभी प्राणी परस्पर एक दूसरे को समाज का अभिन्न अग समझते हो, उस समाज में कोई भी शापित या तापित व्यक्ति न हो तथा सभी समता का जीवन व्यतीत करते हो।[3] यहाँ पर 'समाज-सस्था' का आदर्श प्रस्तुत किया गया है। इस प्रकार 'कामायनी' में इस सास्कृतिक सस्था का भी सुन्दर निरूपण मिलता है।

राज्य-सस्था—अपने सामाजिक जीवन को सुव्यवस्थित रखने तथा शत्रुओ से अपनी रक्षा करने के लिए मानवों में राजा तथा राज्य की कल्पना हुई। पहले कोई राज्य न था अर्थात् कोई ऐसी शक्ति न थी, जो सबको नियन्त्रण में रख सके। लोगो की मछलियो की सी दशा थी अर्थात् बलवान निर्बल को निगल जाता था और उसे भी अपने से अधिक बलवान का डर बना रहता था। इस दशा से तग आकर कहते हैं सर्वप्रथम मनु को राजा चुना गया और उसके आधीन सब रहने लगे। राज्य प्रबन्ध के खर्च के लिए सभी अपनी-अपनी खेती की उपज का छठा भाग राज्य को देते थे।[4] इस तरह समाज-सस्था के उपरान्त 'राज्य-सस्था' का जन्म हुआ। कामायनी मे इस सास्कृतिक सस्था का आरम्भ उस समय दिखलाया गया है, जिस समय मनु श्रद्धा को छोडकर सारस्वत नगर में आते हैं और वहाँ आकर सारस्वत नगर की रानी इडा से उनकी भेंट होती है। इडा का नगर भौतिक हलचलों से नष्ट हो चुका था और वह उसे पुन. वसाने के लिए किसी योग्य शासक की खोज में थी। मनु को पाकर वह उन्हें अपने नगर का शासक बना देती है और मनु अपने अथक् परिश्रम द्वारा राज्य की सुन्दर व्यवस्था करते हैं। परन्तु भौतिकता की प्रबलता एव निर्बाध अधिकार भोगने की लालसा से वह सारी सुन्दर राज्य-व्यवस्था छिन्न-भिन्न हो जाती है।[5] इसके उपरान्त कामायनी मे 'राज्य-सस्था' का आदर्श उपस्थित करने के लिए

१—भारतीय सस्कृति और उसका इतिहास, पृ० ७१।

२—कामायनी, पृ० १९८–२०२ ३—कामायनी, पृ० २८७–२८८

४—भारतीय इतिहास की रूपरेखा, पृ० १२५।

५—कामायनी, पृ० १६९–१७२, १९२–२११।

दो बातों पर बल दिया गया है—एक तो शासक को अपनी राष्ट्रनीति द्वारा प्रजा मे कदापि भय और आतंक नही फैलाना चाहिए, दूसरे राजा को अपनी सारी प्रजा को समान समझ कर समरसता का प्रचार करते हुए अपना शासन करना चाहिए।[१] ऐसी व्यवस्था से सारी प्रजा अपने को एक कुटुम्ब समझने लगती है और शासक-शासित का भेद मिट जाता है। उक्त दोनो सिद्धान्तो को अपनाने के कारण सारस्वत नगर की सारी प्रजा में एक कुटुम्ब की स्थापना हो जाती है और सभी आनन्द-मग्न हो जाते हैं।[२] इस प्रकार कामायनी में 'राज्य-संस्था' का भी सुन्दर निरूपण हुआ है।

विवाह-संस्था—जब मानव-समाज असभ्यता की स्थिति से सभ्यता की ओर बढने लगा, तब उसमे पहले जैसे पारस्परिक यौनि-सम्बन्ध की अपेक्षा एक कुटुम्ब को बचाकर दूसरे कुटुम्ब के साथ यौनि-सम्बन्ध होने लगे। यही से 'विवाह संस्था' का श्रीगणेश हुआ। एक कुटुम्ब के भाई-बहन मे यौनि-सम्बन्ध का निषेध हमारे यहाँ ऋग्वेद-काल में यम-यमी के संवाद मे मिल जाता है, जहाँ यमी अपने भाई यम से विवाह का प्रस्ताव करती है, परन्तु यम देव-नियमो की ओर संकेत करके उसके विवाह-प्रस्ताव को स्वीकार नहीं करता।[3] अतः ऋग्वेद-काल मे ही समुन्नत 'विवाह-संस्था' का प्रादुर्भाव मिल जाता है। कामायनी में इस सांस्कृतिक संस्था का वर्णन मनु और श्रद्धा के पाणिग्रहण के अवसर पर मिलता है।[४] इस संस्था का भारतीय रूप यह है कि वधू अपना सर्वस्व अपने पति के लिए न्योछावर कर देती है, उसका अपना कोई स्वतन्त्र अस्तित्व नही रहता, वह अपने पति की अर्धांङ्गिनी बन जाती है और पति को अपने इहलोक और परलोक का स्वामी समझ कर एवं पतिपरायणा होकर सदैव जीवन व्यतीत करती है। भारतीय जीवन में विवाह एक ठेका नहीं है, अपितु वह एक ऐसा पवित्र बन्धन माना गया है, जो पति के दुराचारी या अत्याचारी होने पर भी नही टूटता, अपितु जिसका सम्बन्ध जन्म-जन्मान्तर से होता है। इसी कारण कामायनी के 'लज्जा' सर्ग में श्रद्धा 'आँसू से भीगे अञ्चल पर मन का सब कुछ' रखते हुए अपनी स्मित रेखा से यह विवाह का सन्धि-पत्र लिखती है'[५] और मनु द्वारा परित्यक्त होकर भी 'मैं नित्य तुम्हारी सत्य बात'[६] कह कर पुनः मनु के दुःख-सुख की चिर सहचरी बन जाती है।[७] इतना ही नही अन्त में मनु को आनन्द-धाम तक

१—कामायनी, पृ० २४३-२४४। २—वही, पृ० २८७, २९४।
३—ऋग्वेद १०।१०
४—कामायनी, पृ० ९२-९४।
५—कामायनी, पृ० १०६
६—वही, २५०।
७—वही, पृ० २५०।

ले जाती है।[१] अत कामायनी में 'विवाह-सस्था' के उज्ज्वल एव उदात्त रूप के दर्शन होते हैं।

शिक्षा-संस्था—मानव ने सभ्य होकर अपने ज्ञान-विज्ञान का प्रसार करने के लिए एक ऐसी 'सस्था' का निर्माण किया, जहाँ छोटे-छोटे बालक प्रारम्भ से ही ज्ञान प्राप्त करें और उस ज्ञान को लेकर अपने आगामी जीवन को सुख-समृद्धिपूर्ण बनाने के प्रयत्न कर सकें। इसी सास्कृतिक सस्था को 'शिक्षा-सस्था' कहा जाता है। इस सस्था का सकेत भी ऋग्वेद-काल से ही मिल जाता है, क्योंकि ऋग्वेद में आचार्य द्वारा पढाये हुए शब्दों को शिष्यों द्वारा दुहराने का उल्लेख मिलता है।[२] कामायनी में आधुनिक युग की भाँति इस 'शिक्षा-सस्था' का रूप नही मिलता और न इसमें प्राचीन गुरुकुल-पद्धति वाली शिक्षा-सस्था का ही उल्लेख है। कामायनी तो मानव-जीवन के उस आरम्भिक-काल को प्रस्तुत करती है, जब शिक्षा-सस्था का गुरुकुल या स्कूल-कॉलेज के रूप मे विकास नही हुआ था, अपितु मानव प्रकृति के साधनो से या परिवार के लोगो से अथवा अपने सम्बन्धियों से ही शिक्षा ग्रहण करता था। कामायनी में उक्त तीनो प्रकार की शिक्षा-प्रणाली का ही उल्लेख मिलता है, क्योंकि 'आशा' सर्ग में मनु प्रकृति से जीवन में अग्रसर होने की शिक्षा ग्रहण करते हैं।[३] 'कर्म' सर्ग में श्रद्धा से वे सत्य, निस्वार्थ प्रेम एव अहिंसा की शिक्षा प्राप्त करते है[४] और 'सघर्ष' सर्ग में मनु इडा के मुख से एक सुयोग्य अधिकारी बनने की शिक्षा लेते है।[५] इसी तरह श्रद्धा 'दर्शन' सर्ग मे अपने पुत्र एव इडा को राजनीति की शिक्षा देती है[६] और 'रहस्य' सर्ग में ब्रह्माड के तीन गोलो को दिखलाकर मनु को ससार के वास्तविक स्वरूप का ज्ञान कराती है।[७] इस प्रकार कामायनी में प्राचीन शिक्षा-प्रणाली के अनुसरण पर इस सांस्कृतिक सस्था का उल्लेख मिलता है और यह बतलाया गया है कि मानव को पग-पग पर इस सास्कृतिक सस्था की आवश्यकता है, क्योंकि इसके बिना उसे ठीक मार्ग-दर्शन नही मिलता।

साराश यह है कि कामायनी में सास्कृतिक सस्थाओ का बडा समीचीन वर्णन मिलता है। प्रसादजी भारतीय सस्कृति के अन्तर्बाह्य सभी रूपो से भली-भाँति परिचित थे। उन्हे अपने भारतीय जीवन का प्रत्येक पहलू ज्ञात था। यही कारण है कि वे प्राचीन एव अर्वाचीन दोनो विचार-प्रणालियो का गहन अध्ययन करके

१—कामायनी, पृ० २५६, २७३, २६४।
२—ऋग्वेद ७।१०३।४ ३—कामायनी, पृ० २८।
४—कामायनी, पृ० १३२–१३४। ५—वही, पृ० १६२–१६३।
६—वही, पृ० २४३–२४४। ७—वही, पृ० २६२–२७२।

भारतीय सांस्कृतिक जीवन की सुन्दर व्याख्या कर गये हैं। इसमें कोई सन्देह नही कि कामायनी में प्राचीन वातावरण को बनाये रखने में प्रसादजी को पूर्ण सफलता मिली है, किन्तु उनके साथ वर्तमान जीवन को भी वे इतनी कुशलता के साथ चित्रित कर गये हैं कि उससे प्राचीन वातावरण एव प्राचीन सभ्यता को तनिक भी आघात नही पहुँचा है। यह तो स्पष्ट है कि भारतीय सांस्कृतिक परम्परा अक्षुण्ण है, उसमे किसी प्रकार का विकार आने की सभावना नही। यदि विकार आ गया तो वह सस्कृति न रहकर विकृति हो जायगी। अत सांस्कृतिक सस्थाओ के निरूपण में भी कोई विकार नही आ सका है। वे सस्थायें भले ही आज बाह्य रूप मे कुछ बदली हुई सी ज्ञात हो, किन्तु उनकी अन्तरात्मा वही है, जो प्राचीन-काल मे थी और कामायनी में हमें उन सांस्कृतिक सस्थाओ के उस अक्षुण्ण रूप की ही झाँकी मिलती है।

कामायनी मे अन्य सांस्कृतिक उपादानो का निरूपण

विविध देवता—कामायनी के अतर्गत कितने ही वैदिक एव पौराणिक देवताओ का उल्लेख मिलता है। ये सभी देवता यहाँ पर भिन्न-भिन्न सर्गों में वर्णित हैं, जैसे 'चिन्ता' सर्ग मे केवल वरुण देवता का वर्णन मिलता है।[1] 'आशा' सर्ग में प्रथम तो विश्वदेव, सविता, पूषा, सोम, मरुत, पवमान और वरुण का एक साथ ही उल्लेख आया है,[2] किन्तु दूसरे स्थान पर केवल मित्र और वरुण का ही वर्णन मिलता है।[3] 'काम' सर्ग में काम और रति के दर्शन देव रूप मे होते हैं[4] और 'कर्म' सर्ग मे मित्रवरुण का फिर एक साथ वर्णन मिलता है।[5] 'इडा' सर्ग में पहले देवेश इन्द्र का वर्णन मिलता है[6] और इसके उपरान्त कामदेव का दर्शन हमे मनु को शाप देते हुए होता है।[7] 'स्वप्न' सर्ग मे हम रुद्र देवता को हुकार करते हुए तथा अपने तीसरे नेत्र को खोलते हुए पाते है[8] और 'सघर्ष' सर्ग में पुन इसी रुद्र देवता को भयकर नाराच (बाण) चलाते हुए देखते है।[9] 'दर्शन' सर्ग में ये ही रुद्र देवता रोष करते हुए दिखाई देते हैं[10] और अन्त मे 'नर्तित नटेश' का दर्शन होता है।[11] इसके उपरान्त 'दर्शन' सर्ग में पुन हम महाकाल को ताडव नृत्य करते हुए देखते हैं।[12] इस तरह कामायनी मे वरुण, विश्वदेव, सविता, पूषा, सोम, मरुत, पवमान,

---

१—कामायनी, पृ० १४। २—वही, पृ० २५। ३—वही, पृ० ३६।
४—वही, पृ० ७१-७२। ५—वही पृ०, ११४। ६—वही, पृ० १६०।
७—वही, पृ० १६२। ८—वही, पृ० १८५। ९—वही, पृ० २०२।
१०—वही, पृ० २४१। ११—वही, पृ० २५४। १२—वही, पृ० २७३।

मित्र, काम, रति, इन्द्र तथा रुद्र अथवा महाकाल—इन १२ देवताओं का वर्णन मिलता है। इनमें से देवेश इन्द्र को तो प्रसादजी ऐतिहासिक पुरुष मानते हैं तथा उसे आर्यावर्त्त का प्रथम सम्राट् घोषित करते हैं।[1] काम और रति दोनो देवता भावनाओ के प्रतीक हैं, किन्तु इनके अतिरिक्त अन्य सभी देवताओ को प्रसादजी ने 'प्रकृति के शक्ति-चिह्न' कहा है।[2] प्राय इन सभी देवताओं का प्रयोग कामायनी में प्राकृतिक कार्यो के लिए ही हुआ है, जैसे वरुण अन्तरिक्ष में हलचल उत्पन्न करते हुए दिखाई देते हैं[3] रुद्र अन्य प्राकृतिक शक्तियो के साथ अपना क्षोभ प्रकट करते हुए प्राकृतिक हलचल द्वारा मनु के अनाचार एव अतिचार का दमन करते हैं, इत्यादि।[4] अत सास्कृतिक दृष्टि से कामायनी में अधिकाश देवताओ को प्राकृतिक शक्तियो का ही प्रतीक माना गया है और ये सभी देवता हमारे दैनिक जीवन से इतने सम्बद्ध हैं कि कोई हमें प्रकाश प्रदान करता है, कोई वायु चलाता है, कोई वर्षा करता है, कोई अन्न-धन की वृद्धि करता है और कोई हमारे जीवन का मार्ग-दर्शन करता है। साराश यह है कि कामायनी में भारतीय सस्कृति के अनुकूल ही विविध देवी-देवताओ की कल्पना की गई है।

गृह—सास्कृतिक दृष्टि से गृह का भी बडा महत्व है। प्रत्येक जीवधारी जल, थल, वृक्ष, पर्वत आदि में अपने-अपने गृह बनाकर रहता है। गृह के द्वारा पारस्परिक प्रेम, सहानुभूति, आत्मीयता आदि की उत्पत्ति होती है और इसे प्राणियो के जीवन का विकास-केन्द्र कह सकते है। पहले मानव पशुओ की भाँति खोह, कदरा, गुफा आदि में अपना गृह बनाकर रहता था।[5] पुरातन प्रस्तर-युग मे वह खाल के तम्बुओ में अपना घर बनाकर रहने लगा[6] और नव प्रस्तर-युग में आकर पहले उसने कच्ची मिट्टी के घर बनाये।[7] तदुपरान्त वह पक्के घर भी बनाने लगा। सिंधुघाटी की खुदाई से ज्ञात होता है कि भारत में ईसा से लगभग तीन हजार वर्ष पूर्व सुन्दर और सुदृढ पक्के घर बनने लगे थे।[8] कामायनी में भी इस सास्कृतिक उपकरण के क्रमिक विकास का उल्लेख मिलता है, क्योकि पहले मनु गुफा में अपना घर बनाते हैं।[9]

१—कोशोत्सव-स्मारक-सग्रह, पृ० १९४। २—कामायनी, पृ० २५।
३—कामायनी, पृ० १४। ४—वही, पृ० १८५, २०२।
५—मानव की कहानी, भाग १, पृ० १२३।
६—भारतीय सस्कृति और उसका इतिहास, पृ० ५३।
७—मानव की कहानी, भाग १, पृ० १३७।
८—भारतीय सस्कृति और उसका इतिहास, पृ० ८५–९०।
९—कामायनी, पृ० ३०।

तदुपरान्त श्रद्धा का सम्पर्क पाकर उनके जीवन मे विकास होता है और श्रद्धा पुग्रालो का छाजन डालकर एक सुन्दर कुटीर का निर्माण करती है, जिसमे उस गृहलक्ष्मी के गृह-विधान की निपुणता देखते ही बनती है।[1] इसके उपरान्त मनु सारस्वत नगर मे पहुँच कर ऊँचे-ऊँचे स्तम्भो पर वलभीयुत रम्य प्रासादो का निर्माण कराते हैं, जिनके ऊपर स्वर्ण-कलश शोभा पाते है तथा निकट मे उद्यानो की भी व्यवस्था की जाती है।[2] इस तरह कामायनी मे इस सास्कृतिक उपादान का भी क्रमिक विकास चित्रित किया गया है।

दाम्पत्य जीवन—सास्कृतिक दृष्टि से दाम्पत्य जीवन का भी बडा महत्व है। प्राचीन सस्कृति मे गृहस्थाश्रम को सबसे श्रेष्ठ माना गया है और इस आश्रम का मूलाधार दाम्पत्य-जीवन ही है अर्थात् पति-पत्नी मिलकर ही इस आश्रम का पालन करते हैं, धार्मिक अनुष्ठान करते हैं, सन्तान-वृद्धि करते है तथा अन्य सामाजिक कृत्यो को पूर्ण करते हैं। अकेला पुरुष या अकेली स्त्री न गृहस्थ का निर्माण कर सकती है, न धार्मिक अनुष्ठान कर सकती है और न सामाजिक रीति-रिवाजो का पालन ही नियम-पूर्वक कर सकती है। कामायनी मे मनु और श्रद्धा दोनो दाम्पत्य-जीवन व्यतीत करते हुए मानवता का विकास करते हैं, धार्मिक अनुष्ठान करते हैं तथा अन्य सामाजिक आचार-विचारो का पालन करते हैं। इतना अवश्य है कि असुर पुरोहित इनके दाम्पत्य जीवन में बाधा डाल देते हैं और मनु को स्वार्थी, विलास-प्रिय, अहकारी, हिंसक आदि बनाकर श्रद्धा से दूर हटा देते हैं। परन्तु दाम्पत्य जीवन का ही प्रताप है कि श्रद्धा पुन. अपने भ्रमित पति को प्राप्त कर लेती है और दोनों फिर सुख और प्रसन्नता के साथ मसृति की सेवा करते हुए अखड आनन्द को प्राप्त होते हैं। अत 'कामायनी' मे श्रद्धा और मनु के दाम्पत्य-जीवन की सुन्दर और शिक्षाप्रद झाँकी प्रस्तुत की गई है, जो सास्कृतिक दृष्टि से अत्यन्त महान् है।

अग्नि—मानव-जीवन मे अग्नि सबसे अधिक उपयोगी उपकरण है। अग्नि के द्वारा हम भोजन बनाते, अग्निहोत्र या यज्ञ करते, शीत मे बचते, जगली पशुओ से रक्षा करते तथा अन्त में अन्त्येष्टि-क्रिया को सम्पन्न करते हैं। प्राचीन काल में यह अग्नि चकमक पत्थरो द्वारा उत्पन्न की जाती थी और प्राचीन मानव पशुओ के मास को भूनने मे इसका उपयोग करता था।[3] धीरे-धीरे मानव ने ऐसी लकडियो की खोज की, जिनके रगडने से आग उत्पन्न हो जाती थी। ये लकडियाँ 'अरणि' कहलाती थी और वैदिक युग मे प्राय. यज्ञ अरणि की दो लकडियो को रगड़ कर अग्नि उत्पन्न

१—कामायनी, पृ० ??

२—मानव की कहानी,

करके ही किये जाते थे।[१] इस अग्नि का वैदिक युग से ही बडा महत्व मिलता है और उसे देवता का रूप देकर ऋग्वेद के लगभग २०० सूक्तो मे इसकी प्रशसा की गई है। इसका गृहस्थ जीवन से घनिष्ट सम्बन्ध है। इसी कारण ऋग्वेद में इसे प्रथम पुरोहित, गृहपति, देवदूत आदि कहा गया है।[२] यह ससार मे भिन्न-भिन्न रूपो में विद्यमान रहकर भिन्न-भिन्न कार्य करता है। जैसे, आकाश मे सूर्य के रूप में यह हमे प्रकाश देता, वर्षा करता एव रोगो को दूर करता है। जल में वडवाग्नि के रूप में रहकर गलाने (का) का कार्य करता है, दावाग्नि के रूप मे वनो को जलाने का कार्य करता है और उदर में जठराग्नि के रूप में रहकर भोज्य-पदार्थों को पचाता, उनका रस बनाता और प्राणियो को शक्ति प्रदान करता है। कामायनी में भी इस सास्कृतिक उपकरण की वडी प्रशसा की गई है और इसे वहाँ शक्ति और जागरण का चिह्न वतलाया है।[3] इतना ही नहीं इसे कामायनी मे मनु के जीवन का चिर-सहचर एव जीवन के लक्ष्य की पूर्ति करने वाला भी सिद्ध किया है, क्योंकि पूर्व सचित अग्नि द्वारा ही मनु अग्निहोत्र, पाकयज्ञ आदि करते हैं और भूत-हित वलि का अन्न दूर रख आते हैं। उसी अन्न को देखकर श्रद्धा मनु के समीप आती है तथा मनु के निराश एव एकाकी जीवन को आनन्दमय बनाती है। इस तरह कामायनी मे यह अग्नि सचमुच ही मनु की शक्ति एव जागृति की प्रतीक है।

यज्ञ—प्राय हवन-कुण्ड मे हव्य पदार्थ डालकर अग्निहोत्र करने को यज्ञ कहा जाता है, परन्तु अग्निहोत्र करना ही यज्ञ नही है। गीता में द्रव्ययज्ञ, तपोयज्ञ, योगयज्ञ, स्वाध्याययज्ञ, ज्ञानयज्ञ आदि कितने ही यज्ञो का वर्णन मिलता है।[४] अतः 'यज्ञ' कर्म या कर्त्तव्य का वाचक है। श्री एन० वी० पडाती ने यज्ञ को सृष्टि निर्माण की क्रिया वतलाया है।[५] कीथ ने यज्ञ की तीन विशेषताएँ वतलाई है—प्रथम तो वह देवताओ को भेट देने का साधन था। दूसरे, यज्ञ एक प्रकार का जादू था जिसका प्रयोग अपनी-अपनी अभीष्ट वस्तुओ की प्राप्ति के लिए होता था और तीसरे, यज्ञ के द्वारा यजमान अपने पापों एव अपराधो से मुक्त होने का प्रवन्ध करता था।[६] कामायनी में पहले तो अग्निहोत्र, पाकयज्ञ आदि के रूप में 'यज्ञ' का प्रयोग लोक-प्रचलित अर्थ मे ही हुआ है, किन्तु आगे चलकर 'कर्म' सर्ग में "रचना मूलक

1—A History of Indian Literature, Vol I, p 179

2—A Vedic Reader, p 1-2 ३—कामायनी, पृ० ३१।

४—श्रीमद्भगवद्गीता ४।२८

5—The Mystery of the Mahabharat, Vol II, p 242-243

6—The Religion and Philosophy of Vedas and Upanisads, p 257-264.

सृष्टि यज्ञ यह"[1] कह कर उसके सांकेतिक स्वरूप को भी अपनाया गया है। सांस्कृतिक दृष्टि से 'यज्ञ' मानव-कर्त्तव्य का ही द्योतक है और कामायनी मे इसीलिए मनु के यज्ञ-कार्य के साथ-साथ 'नियमित कर्म'[2] अथवा 'परम्परागत कर्म'[3] आदि शब्द जोड़े गये हैं।

बलि—विद्वानो का मत है कि नव प्रस्तर-युग के मानवो मे सर्वप्रथम बलि देने या रक्त चढाने की प्रथा मिलती है। ये लोग विशेषतया बीज बोने के समय अथवा अनाज पक जाने पर किसी सुन्दर नवयुवक या नवयुवती का बलिदान करते थे। कुछ समय के उपरान्त व्यक्तियो के स्थान पर पशुओ की बलि दी जाने लगी। परन्तु ऐसा क्यो किया जाता था, यह ज्ञात नही।[4] ऋग्वेद मे पशु-बलि का उल्लेख अत्यत अल्प मात्रा में मिलता है, परन्तु ब्राह्मण-काल मे इस पशु-बलि की बहुलता मिलती है। साथ ही स्मृति-काल मे आकर तो यह विचार फैलाया गया कि यज्ञ में जिस पशु की बलि दी जाती है वह पशु उच्च योनि को प्राप्त हो जाता है।[5] ऐसा जान पडता है कि आर्यो मे पहले मांस खाने की प्रथा न थी और अनार्य लोग मांस-भोजी थे। अत जिस समय आर्य और अनार्य परस्पर घुलमिल गये, तबसे धीरे-धीरे आर्यो मे भी मांस खाने का प्रचार होने लगा और यज्ञो मे भी पशु-बलि की जाने लगी। कामायनी मे भी पहले 'आशा' सर्ग में यज्ञ के अन्दर अन्न की हवि का ही वर्णन मिलता है,[6] परन्तु 'कर्म' सर्ग मे जब मनु को असुर-पुरोहितो का सम्पर्क प्राप्त होता है, तब वे पशु-बलि करते हैं।[7] फिर भी श्रद्धा इस पशु-बलि का घोर विरोध करती है। अत पशु-बलि पहले भले ही हमारे सांस्कृतिक जीवन का कोई अग रही हो, जैसा कि नीच जाति के लोगो, शाक्तो आदि मे अभी तक बकरे के बलिदान की प्रथा मिलती है, परन्तु बौद्ध, जैन, एव वैष्णव धर्मो के उदय होने के उपरान्त पशु-बलि का भारतीय जीवन में कोई महत्व न रहा, प्रत्युत इसे बुरा ही बतलाया गया। इसी कारण प्राचीन सांस्कृतिक प्रथा का उल्लेख करने के लिए कामायनी में पशु-बलि का वर्णन अवश्य मिलता है, किन्तु उसे महत्त्व नही दिया गया है।

पशु-पालन—भारतीय सांस्कृतिक जीवन में पशु-पालन का भी बडा महत्व है। अत्यन्त प्राचीन काल मे मानव ने सबसे पहले पशु पालना ही सीखा और पशु को ही उसकी प्रथम सम्पत्ति कहा गया है। वैदिककाल में अधिकांश संघर्ष पशुओ के लिए

१—कामायनी, पृ० १३२। २—वही, पृ० ३३। ३—वही, पृ० ११५।
४—मानव की कहानी, भाग १, पृ० १३७। ५—मनुस्मृति ५।४०
६—कामायनी, पृ० ३२।
७—वही, पृ० ११४-११६।

ही होते थे। पशुओं में भी गाय का यहाँ अधिक महत्व था। ऋग्वेद में गायों की चोरी करने के कारण इन्द्र ने बल नामक असुर का वध किया था और उससे सारी गायें पुनः प्राप्त की थी।[1] गौ को यहाँ माता कहा जाता है, क्योंकि उससे यज्ञादि के लिए घृत मिलता है, खेती के लिए बैल प्राप्त होते हैं और भोजन के लिए घी, दूध खोआ, मक्खन, मलाई आदि मिलती है। गौ का इतना अधिक महत्व रहा है कि अधिकांश शब्द इसी के आधार पर बने है। जैसे गोष्ठी, गवेषणा, गोपन, गवाक्ष गोमुखी, गोधूलि, गुरसी आदि। भारतीयों का यह विश्वास है कि गौ न केवल इहलोक में ही हमारी रक्षा करती है, अपितु मरने के उपरान्त वैतरणी से भी पार कर देती है। गौ-पालन या पशु-पालन का महत्व इससे भी ज्ञात होता है कि श्रीकृष्ण का अवतार लेकर स्वयं भगवान् ने भी गौ-पालन या पशु-पालन को अपनाया था।[2] कामायनी में भी हमें श्रद्धा और मनु के मिलन के उपरान्त 'वासना' सर्ग में सर्वप्रथम श्रद्धा पशु-पालन में ही लीन दिखाई देती है। वह उस पशु को इतना पालतू बना लेती है कि वह पशु श्रद्धा के मोह एवं करुणा की सजीव मूर्ति बन जाता है और जब वह अपना कोमल एवं चपल हाथ उसके शरीर पर फेरती है, तब वह पशु अपनी पूँछ उठाकर स्नेह प्रदर्शित करता है।[3] कामायनी में पशुपालन के आर्थिक महत्व का भी वर्णन मिलता है, क्योंकि 'ईर्ष्या' सर्ग में श्रद्धा मनु को समझाती है कि 'पशुओं को मारने की अपेक्षा उनका पालना हमारे लिए कहीं अधिक उपयोगी है, क्योंकि उनसे हमें ऊन मिलता है, जिसके हम वस्त्र बना सकते हैं और उनसे दूध मिलता है, जो हमारे लिए अमृतमय भोजन का काम देता है।'[4] इस तरह कामायनी मे पशु पालन का महत्व प्रदर्शित करते हुए भारतीय संस्कृति की एक उदात्त भावना को अपनाया गया है।

प्रकृति—भारतीय सांस्कृतिक जीवन में प्रकृति का भी बड़ा हाथ रहा है भारतीय संस्कृति का सम्पूर्ण विकास प्रकृति की गोद में ही हुआ है, क्योंकि तपोवन मे बैठकर महर्षियों ने जिन उच्च विचारों का प्रवर्त्तन किया था, वे ही भारतीय संस्कृति की अमूल्य निधि है। नगर के कोलाहल-पूर्ण अशान्त वातावरण में तथा नागरिक जीवन के अहर्निशि संघर्ष में भला ऐसे उच्च विचार मस्तिष्क में कैसे आ सकते थे? इनके लिए तो प्रकृति की मनोरम गोद ही अपेक्षित थी। इसी कारण प्रकृति की रमणीक वनस्थली ही भारतीय संस्कृति को जन्म देने वाली है। 'कामायनी' में भी हमें प्रारम्भ से लेकर अन्त तक प्रकृति की सुरम्य गोद मे ही मानव-संस्कृति के

१—ऋग्वेद २।१२।३ २—मेरे निबन्ध—जीवन और जगत, पृ० २२४।
३—कामायनी, पृ० ८३। ४—कामायनी, पृ० १४७।

पल्लवित होने का सकेत मिलता है, क्योकि मनु का यज्ञ-कार्य तथा मनु-श्रद्धा मिलन भी हिमगिरि की रमणीक उपत्यका में होता है, वहीं श्रद्धा पशु-पालन, कृषि-कार्य, कुटीर-निर्माण, वस्त्र बुनना, मनु को सत्य-अहिंसा की शिक्षा आदि देने का कार्य करती है। नगर के जनाकीर्ण वातावरण में पहुँच कर जब मनु पतित हो जाते हैं, तब पुन श्रद्धा उन्हे कैलाश-गिरि की मनोरम घाटी मे लाकर भारतीय संस्कृति के सभी रहस्यो से अवगत कराती है। वही पर ऋषि-दम्पति की भाँति श्रद्धा और मनु निवास करते हैं तथा प्रकृति की उसी रमणीक घाटी मे रहते हुए सम्पूर्ण विश्व की सेवा और जन-कल्याण का कार्य करते रहते है। इस तरह कामायनी मे प्रकृति के सास्कृतिक महत्व का भी प्रतिपादन हुआ है।

युद्ध—किसी भी सस्कृति के विकास में युद्ध का भी बडा महत्व है। प्रायः युद्ध में जो विजयी होता है उसकी सस्कृति विजित जाति मे भी फैल जाती है। भारतीय सस्कृति के विकास मे युद्ध का सबसे अधिक योगदान है। वैदिक काल में भारतीय सस्कृति के विरुद्ध जब असुर-सस्कृति ने हाथ-पैर फैलाना आरम्भ किया, तब देवासुर सग्राम हुआ और असुरो को पराजित करके देवो ने अपनी सस्कृति की रक्षा की। रामायण-काल मे रावण ने जब भारतीय सस्कृति के विरुद्ध असुर-सस्कृति का प्रचार करना चाहा तब राम ने युद्ध करके रावण को परास्त किया और अपनी भारतीय सस्कृति की रक्षा की। ऐसे ही महाभारत-काल में कौरवो द्वारा भारतीय सस्कृति के विरुद्ध आचरण किये जाने पर महाभारत हुआ, जिसमे कौरवो का विनाश हुआ और पुन. भारतीय सस्कृति की रक्षा हुई। गीता में इसी कारण इस महाभारत को 'धर्मयुद्ध' कहा है।[1] अत सास्कृतिक दृष्टि से युद्ध मानव-सभ्यता एव मानव-जीवन के विकास का सूचक है। कामायनी मे भी हमें 'सघर्ष' सर्ग में ऐसे ही युद्ध का वर्णन मिलता है जिसमे जनता दुराचार एवं अनाचार का विरोध करती हुई मनु से युद्ध करती है। जनता की सहायता समस्त देव शक्तियाँ भी करती हैं, किन्तु मनु को कोई सहायक नहीं मिलता। मनु हार जाते है और इस पराजय के उपरान्त ही सारस्वत नगर मे पुन नवीन सांस्कृतिक उत्थान का कार्य होता है। वहाँ निरकुशता समाप्त हो जाती है और शासन-कार्य बुद्धि और हृदय की समन्वित योजनाओ के अनुसार समरसता के सिद्धान्त पर होता है। इस प्रकार भारतीय सस्कृति के विकास में सहायता देने वाले युद्ध का वर्णन भी कामायनी मे सास्कृतिक परम्परा के अनुसार ही हुआ है।

१—श्रीमद्भगवद्गीता १।१

गाधीवाद से प्रभावित सस्कृति का कामायनी मे निरूपण

अहिंसा—भारतीय सस्कृति पर गाधीवादी विचारधारा का भी पर्याप्त प्रभाव पडा है। गाधीजी ने अपने व्यक्तित्व एव आचरणो द्वारा न केवल राजनीति को ही प्रभावित किया है, अपितु भारतीय आचार-विचार, रहन-सहन, धर्माचरण आदि सास्कृतिक पक्षो पर भी पर्याप्त मात्रा में प्रभाव डाला है और आधुनिक युग मे कुछ नई मान्यताओ को भी जन्म दिया है। गाधीवाद की सबसे बडी विशेषता 'अहिंसा' के सिद्धान्त में दिखाई देती है। गाधीजी ने अहिंसा का अर्थ केवल हिंसा न करना ही नही लिया था, अपितु उन्होने अहिंसा को बडा व्यापक रूप दिया। उनका कहना था कि बुराई पृथक् वस्तु है और बुराई करने वाला व्यक्ति, जाति या देश पृथक् है। अत. हमें बुराई का विरोध करना चाहिए न कि बुरे व्यक्ति का। क्योकि जब वह व्यक्ति बुराई छोड देता है, तब वह भी भला हो जाता है। इसी कारण हमे सदैव क्रोध का मुकाबला शान्ति से, घृणा का मुकाबला प्रेम से तथा असाधुता का मुकाबला साधुता से करना चाहिए। गाधीवाद का यही व्यापक अहिंसा सिद्धान्त है।[1] कामायनी में भी इसी अहिंसा-सिद्धान्त का अनुसरण करते हुए श्रद्धा अपने प्रेम, स्नेह, धैर्य, औदार्य, शान्ति आदि के द्वारा हिंसक, विलास-प्रिय, अनाचार में अनुरक्त, छली, कपट-व्यवहारी एव अपराधी मनु के हृदय का परिष्कार करती है। मनु को कभी अपराधी नही कहती, अपितु मनु मे जो बुराइयाँ आगई हैं उनके लिए अपनी ही भूल स्वीकार करती है[2] और अन्त मे ईर्ष्या, द्वेष, डाह या घृणा को प्रेम, उदारता, अक्रोध, साधुता आदि के द्वारा विजय करती हुई अपने बिछुडे हुए दोषी पति को पुन अपना बना लेती है तथा उसके हृदय को पूर्णतया बदल देती है।

साहिष्णुता एव समता—गाधीजी ने धार्मिक एव साम्प्रदायिक असहिष्णुता की भावना को दूर करके देश में सहिष्णुता, एकता एव समता का प्रचार किया। आपने परस्पर विरोध करने वाले हिन्दू, मुस्लिम एव ईसाइयो में बढती हुई वैमनस्य की भावना को दूर करके भारत में एकता स्थापित करने एव सुसगठित होकर स्वातन्त्र्य युद्ध करने के लिए पारस्परिक मेल-जोल पर अधिक बल दिया और स्वय हिन्दू-धर्म के कट्टर अनुयायी होकर भी ईसा और मुहम्मद साहब के सिद्धान्तो का स्वागत किया। इस तरह गाधीजी ने जिस साम्प्रदायिक एव धार्मिक सहिष्णुता का प्रचार किया था, उसी का प्रभाव कामायनी पर भी पडा है और इसी कारण शैव धर्म के कट्टर अनुयायी होकर भी प्रसादजी ने कामायनी मे धर्म के प्रतिनिधि वृषभ का उत्सर्ग कराकर विश्वजनीन धर्म को अपनाने, सम्पूर्ण भेद-भाव एव

१—आर्य सस्कृति के मूलतत्व, पृ० २२६। २—कामायनी, पृ० २१२।

संकीर्णता को छोडकर सारे विश्व को अपना घर समझने तथा उसे एक 'नीड' बनाने की सलाह दी है।[1]

यन्त्रो का बहिष्कार—गाधीजी ने यन्त्रो के विरुद्ध आवाज उठाकर कुटीर-उद्योग पर अधिक जोर दिया और प्रत्येक भारतीय को विदेशी वस्तुओ का बहिष्कार करके स्वदेशी वस्तुओ को अपनाने की सलाह दी। इसके लिए आपने चरखा या तकली पर सूत कातने, अपने हाथ से बुने वस्त्रो को पहनने तथा घरेलू उद्योग-धन्धो को फिर से चालू करने के प्रयत्न किये। कामायनी पर गाधीवाद के इन विचारो का प्रभाव पडा है और इसी कारण यहाँ तकली पर ऊन कातने,[2] हाथ से वस्त्र बुनने[3] कुटीर-उद्योग को अपनाने[4] तथा यन्त्रो के बहिष्कार करने[5] का उल्लेख मिलता है।

सत्याग्रह—गाधीजी ने सत्य पर आरूढ रहने के लिए अधिक जोर दिया। गाधीजी का सत्य पर आरूढ रहने से तात्पर्य यह था कि मनुष्य को छल, छद्म एव कपट व्यवहार को छोडकर असत्य एव अनुचित बात का विरोध करने के लिए सत्याचरण करना चाहिए। प्राय लोगो मे यह देखा जाता है कि वे हृदय में कुछ सोचते है, बाहरी बातें कुछ और होती हैं और आचरण उन सबसे भिन्न होते हैं। गाधीजी ने 'सत्य' द्वारा यही प्रचार किया कि अन्तर्बाह्य किसी प्रकार का भेद न रखकर सदैव अन्त करण में सभी के प्रति शुद्ध विचार रखने चाहिए और उन विचारो के अनुकूल ही विनम्रता के साथ अहिंसात्मक प्रणाली को अपनाते हुए असत्य या अनुचित कार्य का विरोध करना चाहिए। साथ ही अपनी उचित माँग अथवा अपनी यथार्थ बात पर अनेक कष्ट सहते हुए भी दृढता के साथ आरूढ रहना चाहिए। गाधीवाद का यही 'सत्याग्रह' है। प्रसादजी ने कामायनी मे भी इसी 'सत्याग्रह' का वर्णन मनु के विरुद्ध उठ खड़ी हुई सारस्वत नगर की प्रजा की क्रान्ति के रूप मे किया है, परन्तु यहाँ इतना ही अन्तर है कि वह जनता अहिंसात्मक प्रयोगो के स्थान पर हिंसात्मक सक्रिय प्रतिरोध के आदर्श को अपना कर चली है।[6]

अस्पृश्यता-निवारण—गाधीजी ने अस्पृश्यता-निवारण के लिए भी अथक् परिश्रम किया था। भारत में यह ऊँच-नीच एवं भेद-भाव की भावना इतनी अधिक बढ गई थी कि अपने समाज के एक उपयोगी अग को शूद्र या नीच कहकर उसकी उपेक्षा की जाती थी। गाधीजी ने इस मनोवृत्ति को बदलने के लिए उन अस्पृश्य जाति के लोगो को 'हरिजन' कहना प्रारम्भ किया और स्वय उनके निवास-स्थानो

१—कामायनी, पृ० २३४, २३६, २८६। २—वही, पृ० १५०
३—वही, पृ० १४२। ४—वही, पृ० १४६
५—वही, पृ० १९९। ६—वही, पृ० २००-

पर रहकर तथा उनके अन्दर शुद्धता, सात्विकता आदि का प्रचार करके उन्हे अपने गले लगाने का प्रयत्न किया। गाधीवाद की यह देन सास्कृतिक दृष्टि से अत्यन्त महत्व रखती है। कामायनी में भी गाधीवाद की इस अस्पृश्यता-निवारण सम्बन्धी भावना को महत्व दिया गया है और छूत-अछूत, ऊँच-नीच आदि में एकता स्थापित करने के लिए भेद-भावो का विरोध करते हुए स्थल-स्थल पर समता सम्बन्धी विचार व्यक्त किए गए है तथा प्राणिमात्र के प्रति सहानुभूति, स्नेह, सौहार्द्र आदि को जाग्रत करने का प्रयत्न हुआ है।[1]

निष्कर्ष यह है कि प्रसादजी ने गाधीवाद द्वारा प्रचारित उच्चकोटि की सास्कृतिक भावनाओ को भी अपने 'कामायनी' महाकाव्य में स्थान दिया है और उनके द्वारा भारतीय सस्कृति के पूर्ण स्वरूप की अभिव्यक्ति करने का प्रयत्न किया है। इसमें कोई सन्देह नही कि गाधीवाद की ये भावनाएँ भारतीय सस्कृति में पहले से ही विद्यमान थीं, किन्तु गाधीजी ने उनको नया रूप देकर भारतीय जीवन मे चरितार्थ करने का प्रयत्न किया है। यही कारण है कि भारतीय सास्कृतिक विकास में उक्त भावनाओ का भी महत्व है और यही जानकर प्रसादजी ने भी आदि-मानव की कथा में आधुनिक सास्कृतिक विशेपताओ का भी समावेश किया है।

कामायनी का समन्वयवाद

भारतीय सस्कृति समन्वय-प्रधान है। यहाँ पर अनेक परस्पर विरोधिनी साधनाएँ, सस्कृतियाँ, जातियाँ, आचार-निष्ठा और विचार-पद्धतियाँ प्रचलित रही हैं, किन्तु समय-समय पर अवतीर्ण महात्माओ एव महापुरुषो ने सदैव समन्वय स्थापित करने का प्रयत्न किया है। बुद्धदेव समन्वयकारी थे, गीता में भी समन्वय किया गया है और तुलसीदास भी समन्वयकारी थे।[2] इतना ही नही यहाँ की वर्ण-व्यवस्था, दार्शनिक विचारधारा, उपासना-पद्धति, रुचि, मान्यता आदि में भी सर्वत्र भोग और त्याग, प्रवृत्ति और निवृत्ति, ज्ञान और भक्ति, भौतिकता और आध्यात्मिकता आदि का समन्वय मिलता है।[3] अत समन्वय की भावना भारतीय सस्कृति का मुख्य अग है।

श्री दादा धर्माधिकारी ने 'समन्वय' की व्याख्या करते हुए लिखा है कि "भेदो में जो विपमता या विरोध हो, उसके परिहार का नाम समन्वय है। अविरोध

१—कामायनी, पृ० १२४-१३२, १८७-१८८।

२—हिन्दी साहित्य की भूमिका, पृ० १०३।

३—भारतीय सस्कृति की रूप-रेखा, पृ० ७-८।

सिद्धि अर्थात् विविधताओं मे विषमता के अंश का निराकरण ही समन्वय की पद्धति का सार है। समन्वय का अर्थ 'समझौता' नही है। समझौता एक बाह्य और यान्त्रिक प्रक्रिया है। उसमे आदान-प्रदान है। हम कुछ इष्ट अंश का त्याग करके कुछ अनिष्ट अंश को स्वीकार करते हैं। इसमे दोनो पक्षो का समाधान नही होता। एक अंश मे दोनो को सन्तोष होता है और एक अंश मे दोनो को असन्तोष। समान सन्तोष के साथ साथ समान असन्तोष होता है। अर्थ-सम्मिति के साथ अर्थ-असम्मति भी होती है। इसमें संगति और सम्वाद नही है। इसमें समान 'अन्वय' नहीं है। समन्वय में विसंगति और विप्रतिपत्ति का परिहार है। इसलिए उसमे समान सम्मति और समान सतोष है।"[1]

भारतीय चिंतन-प्रणाली का अनुसरण करते हुए प्रसादजी ने भी कामायनी मे समन्वय स्थापित करने का प्रयत्न किया है। इसी कारण यहाँ ऐहिकता और आध्यात्मिकता, इच्छा, ज्ञान और क्रिया, प्रवृत्ति और निवृत्ति या भोग और त्याग बुद्धि और हृदय, शैव और वैष्णव, गार्हस्थ्य और वैराग्य, भक्ति और ज्ञान, श्रेय और प्रेय, जड और चेतन, भले और बुरे, ईश्वर और जगत आदि का समन्वय मिलता है।

ऐहिकता और आध्यात्मिकता—कामायनी मे ऐहिकता और आध्यात्मिकता का सफल समन्वय मिलता है, क्योकि यहाँ पर पहले तो मनु को भोग-प्रधान एवं विलासिता से परिपूर्ण जीवन व्यतीत करते हुए दिखलाया जाता है और अन्त में श्रद्धा के प्रयत्नो से वे सात्विकता, सरलता, पवित्रता आदि से युक्त आध्यात्मिक जीवन व्यतीत करते हुए दिखाई देते हैं। ऐसे ही श्रद्धा एक ओर तो मनु को तपस्या, वैराग्य आदि से हटाकर 'कर्म का भोग, भोग का कर्म' आदि कहती हुई ऐहिक जीवन की प्रेरणा देती हुई दिखाई देती है और दूसरी ओर वही श्रद्धा मनु को समाज से दूर कैलाश के उन्नत शिखर पर लेजाकर सरल और सात्विक जीवन व्यतीत करने का आग्रह करती है। ऐसे ही इड़ा मे हमें पहले भौतिकता की प्रबलता के कारण ऐहिक जीवन के प्रति अगाध मोह दिखाई देता है, किन्तु वही इड़ा अन्त में 'गौरिक वसना'[2] होकर कैलाश यात्रा करती हुई आध्यात्मिक जीवन को महत्व देने लगती है। इस तरह कामायनी में यह दिखलाया गया है कि न तो घोर विलासितापूर्ण या सतत वासनामय ऐहिक जीवन व्यतीत करना ही श्रेयस्कर है और न वैराग्य धारण करके केवल आध्यात्मिक जीवन व्यतीत करना ही उचित है, अपितु दोनों के सफल समन्वय से ही मानव-जीवन कल्याणमय होता है।

१—कल्याण—हिन्दूसंस्कृति अंक, पृ० ३८१। २—कामायनी, पृ० २७७।

इच्छा, ज्ञान और क्रिया—कामायनी में इच्छा, ज्ञान और क्रिया का भी सफल समन्वय किया गया है और बतलाया गया है कि यदि मनुष्य कुछ सोचता है और कुछ करता है, तो उसकी इच्छाये कभी पूरी नही होती और वह सदैव जीवन की विडम्बनाओ का ही शिकार बना रहता है।[१] इसका कारण यह है कि इच्छा के लोक में विचरण करता हुआ वह शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध की पारदर्शिनी सुघड पुतलियो के नृत्य में ही फँसा रहता है।[२] ज्ञानलोक में उसे बुद्धि-चक्र में पिसकर भेद, निरकुशता, तर्क, उदासीनता आदि का सामना करना पडता है[३] और कर्म-लोक में नित्यप्रति एषणा के चगुल में फँसकर सतत सघर्ष, विफलता, कोलाहल, व्याकुलता आदि सहनी पडती हैं।[४] इस तरह तीनो के पृथक्-पृथक् रहने से मानव को कदापि आनन्द की प्राप्ति नही होती। किन्तु जैसे ही मानव-जीवन में इन तीनो का समन्वय हो जाता है, वैसे ही उसके स्वप्न, स्वाप, जागरण आदि भस्म हो जाते हैं और वह दिव्य अनाहत नाद को सुनता हुआ अखड आनन्द का अधिकारी हो जाता है।[५]

प्रवृत्ति और निवृत्ति—भारतीय सस्कृति मे प्रवृत्ति-निवृत्ति के समन्वय को भी अधिक महत्व दिया गया है। यहाँ प्रवृत्ति-मार्ग और निवृत्ति-मार्ग ब्रह्मचक्र के दो अश बतलाये गये हैं। प्रवृत्ति-मार्ग में मनुष्य भगवान् के विमुख 'रहता है और निरतर भोग में लीन रहकर जीवन व्यतीत करता है, जबकि निवृत्ति-मार्ग मे वह भगवान् के सम्मुख रहता है और त्यागमय जीवन व्यतीत करता है। इसे यो भी कह सकते हैं कि प्रवृत्ति मार्ग में जीव आदान (ग्रहण) से समृद्ध होता है और निवृत्ति-मार्ग में वह प्रदान (त्याग) से समृद्ध होता है।[६] किन्तु जीवन की सफलता दोनों के समन्वय में ही है। कामायनी में भी दोनो का समन्वय किया गया है, क्योंकि यहाँ काम के धर्माविरुद्ध रूप को अपनाते हुए एक ओर ससार मे प्रवृत्त होने की सलाह दी है और दूसरी ओर हिंसा, विलास, स्वार्थ आदि से दूर रहकर त्यागमय जीवन व्यतीत करते हुए निवृत्ति-मार्ग को अपनाने का भी आग्रह किया गया है। मनु के जीवन मे ये दोनो बातें स्पष्ट लक्षित होती है। ऐसे ही श्रद्धा का जीवन तो प्रवृत्ति और निवृत्ति का साकार रूप प्रस्तुत करता है, क्योकि दया, माया, ममता की वह देवी सुन्दर गृहस्थ का निर्माण करती हुई तनिक भी उसमें आसक्त नही होनी और अपने पुत्र तक का परित्याग करके पति की इच्छा-पूर्ति के लिए कैलाश-शिखर पर जाकर सात्विक जीवन

१—कामायनी, पृ० २७२। २—वही, पृ० २६२। ३—वही, पृ० २७०। ४—वही, पृ० २६६-२६७। ५—वही, पृ० २७३।
६—आर्य सस्कृति के मूलाधार, पृ० ४२७।

व्यतीत करने लगती है। साथ ही कामायनी की सारी कथा भी यही सकेत करती है कि जीवन में भोग और त्याग, प्रवृत्ति और निवृत्ति दोनो ही अपेक्षित हैं, दोनो का समन्वय हुए विना मानव ऐसे ही भटकता है जैसे कि मनु। किन्तु दोनो का समन्वय होते ही मानव अत मे मनु की भाँति अखड आनन्द का अधिकारी भी बन जाता है।

बुद्धि और हृदय—प्रसादजी ने कामायनी मे बुद्धि और हृदय का भी सुन्दर समन्वय किया है और दोनो के समन्वय से ही मानव जीवन में सिद्धि, सफलता एवं समृद्धि का होना बतलाया है। सर्वप्रथम मनु में केवल बुद्धिपक्ष की ही प्रधानता थी। वे निरतर चिंतन एव मनन मे ही लीन रहते थे, परन्तु श्रद्धा ने आकर मनु को उस चिंतन-प्रधान जीवन से मुक्त करने का प्रयत्न किया और कहा कि 'मेरा सहयोग प्राप्त करो। ससार मे शक्तिशाली होकर विजयी बनो। डरो मत, आगे बढो। देखो, सारी समृद्धि तुम्हारी ओर स्वतः खिचकर चली आवेगी।'[1] कामायनी मे श्रद्धा हृदय का प्रतीक मानी गई है। अतः मनु के बुद्धि-प्रधान जीवन में सर्वप्रथम श्रद्धा के सहयोग से हृदय और बुद्धि का समन्वय किया गया है। दूसरे, कामायनी में इडा को बुद्धि का प्रतीक कहा है और श्रद्धा-पुत्र मानव में श्रद्धा की प्रधानता मानी गई है। इडा की प्रेरणा से मनु जब सारस्वत नगर का नियमन करते हैं, तब वहाँ संघर्ष, क्रान्ति एव युद्ध उत्पन्न हो जाता है, किन्तु श्रद्धा-पुत्र मानव और इडा जब दोनो मिलकर सारस्वत प्रदेश का शासन करते हैं, तब वहाँ बडी सुन्दर व्यवस्था होती है और एक परिवार सा स्थापित हो जाता है। अतः इडा और मानव के सम्मिलन मे पुनः बुद्धि और हृदय के समन्वय का सुन्दर वर्णन मिलता है। ऐसे ही मननशील होने के कारण मनु, तर्कमयी होने के कारण इडा और तर्कशील समस्त सारस्वत नगर-निवासी ये सभी बुद्धि पक्ष की प्रधानता वाले व्यक्ति हैं और 'हृदय की अनुकृति बाह्य उदार' होने के कारण श्रद्धा तथा 'श्रद्धामय' होने के कारण कुमार ये दोनो हृदयपक्ष की प्रधानता वाले व्यक्ति हैं। किन्तु अन्त मे जाकर प्रसादजी ने इन सभी पात्रों को कैलाश-शिखर पर मिला कर एक सम्मिलित कुटुम्ब का रूप दे दिया है। इससे भी यही सिद्ध होता है कि प्रसादजी को बुद्धि और हृदय का समन्वय अभीष्ट है। इस प्रकार वैयक्तिक जीवन, समाज तथा राष्ट्र की समुचित व्यवस्था के लिए कामायनी मे बुद्धि एव हृदय का समन्वय किया गया है।

शैव और वैष्णव—कामायनी में शैव और वैष्णव दोनो सिद्धान्तो का समन्वय मिलता है। यहाँ पर शिव को एक महान् सत्ता के रूप मे स्वीकार करके स्थान-स्थान पर शैव दर्शन के अनुकूल चिति की आनन्द-क्रीडा, समरसता, संसार की

सत्यता, आनन्दवाद आदि का वर्णन मिलता है।[1] किन्तु कितनी ही बातें वैष्णव-मत की भी अपनायी गई हैं। जैसे, वैष्णव मत में पशु-वलि का विरोध, भगवान् की भक्ति तथा शरणागति का महत्व, नियमो की अपेक्षा प्रेम की प्रधानता, जाति-पाँति के बन्धन को तोड़कर कोमलता तथा पराई पीर को जानने का भाव जाग्रत किया गया है,[2] वे ही सब बातें 'कामायनी' के अन्तर्गत भी अपनायी गई हैं, क्योंकि यहाँ पर श्रद्धा मनु के पशु-वलि-प्रधान यज्ञ का विरोध करती है,[3] मनु भगवान् भूतनाथ की शरण में जाने को लालायित दिखलाये जाते हैं[4] श्रद्धा स्वय प्रेम में पगी हुई होने के कारण सर्वत्र प्रेम-भावना का प्रसार करती है[5] और 'कामायनी' में स्थान-स्थान पर प्राणीमात्र को एक समझ कर दया, करुणा, सेवा, उदारता आदि को अपनाते हुए पर-पीडा को जानने का आग्रह किया गया है।[6] इस तरह कामायनी में शैव और वैष्णव मतो का भी समन्वय मिलता है।

गार्हस्थ्य और वैराग्य—कामायनी मे जहाँ भोग और त्याग एव प्रवृत्ति और निवृत्ति का समन्वय किया गया है, वहाँ पर गार्हस्थ्य जीवन एव वैराग्य के समन्वय का भी प्रयत्न मिलता है। कबीर ने जिस प्रकार 'गृही में वैराग'[7] कहकर गृहस्थ और वैराग्य का समन्वय किया था उसी प्रकार प्रसादजी ने भी तपस्या एव साधना में लीन मनु को अन्त मे एक ऐसे गृहस्थी के रूप में चित्रित किया है, जो एक विशाल परिवार के स्वामी हैं और इडा, मानव, सारस्वत नगर निवासी आदि सब जिनके परिवार के अग बने हुए हैं, फिर भी उनकी अद्वैत भावना, तपस्या, सेवा आदि में कोई अन्तर नही आता।[8] इस तरह प्रसादजी ने मनु के अन्तिम जीवन की झाँकी द्वारा गार्हस्थ्य जीवन एव वैराग्य का भी सुन्दर समन्वय किया है।

भक्ति और ज्ञान—प्रसादजी शिव-भक्त थे। शिव की भक्ति का प्रभाव उनके हृदय पर इतना गहरा था कि उन्होने आदि-पुरुष मनु एव आद्यानारी श्रद्धा को भी 'आनन्द' सर्ग मे शिव और शक्ति के रूप मे अकित किया है।[9] इसके साथ ही उन्होंने कामायनी में यह दिखलाने का प्रयत्न किया है कि ससार में सन्तप्त प्राणी के लिए भगवान् की भक्ति ही एकमात्र अवलम्ब है। मनु भी विश्व-पीडा से पीड़ित होकर

१—कामायनी, पृ० ५३, २८८,२६४।
२—भारतीय सस्कृति की रूपरेखा, पृ० २२। ३—कामायनी, पृ० १२६-१३०।
४—कामायनी, पृ० २५४। ५—वही, पृ० १४७, २१६-२१७, २४३।
६—वही, पृ० १३२-१३३, २४४, २८८-२८६।
७—कबीर-ग्रन्थावली, पृ० ५६। ८—कामायनी, पृ० २८७।
६—कामायनी, पृ० २८६।

133

नटराज के चरणों में ही शान्ति प्राप्त करते है।[१] किन्तु आगे चलकर 'रहस्य' सर्ग मे श्रद्धा जैसे ही इच्छा, ज्ञान, क्रिया के त्रिकोण को अपनी स्मिति से एक कर देती है, वैसे ही उस त्रिकोण से प्रलयाग्नि की लपटें निकलने लगती हैं, डमरू और शृंगनाद सुनाई पड़ने लगता है और मनु भक्तिमार्ग को छोड़कर ज्ञानमार्गियो की भाँति समाधिस्थ होकर अनाहत नाद को सुनने लगते हैं।[२] इतना ही नहीं अन्तिम 'आनन्द' सर्ग मे भी भक्त मनु एक योगी या ज्ञानी की भाँति मानसरोवर के किनारे ध्यान-मग्न दिखाई देते है और श्रद्धा भक्ति की साकार मूर्ति बनकर सुमनो की अंजलि भरे हुए उनके निकट खड़ी दिखाई देती है।[३] इस तरह कामायनी मे भक्ति और ज्ञान का सुन्दर समन्वय किया गया है।

श्रेय और प्रेय—इन दोनों के बारे में कठोपनिषद् मे कहा गया है कि आनन्द स्वरूप पर-ब्रह्म की प्राप्ति के साधन को श्रेय, तथा स्त्री, पुत्र, धन, यश आदि लौकिक सुख भोग की प्राप्ति के उपाय को प्रेय कहते हैं। श्रेय आरम्भ में कटु एवं अन्त मे सुखद होता है तथा प्रेय प्रारम्भ मे सुखद एवं अन्त मे कटु होता है।[४] अतः श्रेय का सम्बन्ध आध्यात्मिकता से है और प्रेय का सम्बन्ध भौतिकता से है। प्रसादजी ने कामायनी की कथा में न तो केवल भौतिकता को ही महत्व दिया है और न यही आग्रह किया है कि सभी लोग संसार को छोड़कर जगलों में तपस्या करें, अपितु दोनों अतियों का समन्वय करके यह बतलाया है कि जीवन मे भौतिकता एवं आध्यात्मिकता को संतुलित रूप मे अपनाना चाहिए। इसके अतिरिक्त प्रसादजी तो काव्य को 'श्रेयमयी प्रेय रचना' कहते हैं।[५] अतः अपने इसी विचार के आधार पर प्रसादजी ने कामायनी मे श्रेय एवं प्रेय का भी सफल समन्वय प्रस्तुत किया है।

जड़ और चेतन—कामायनी मे जड़ और चेतन में कोई भेद नहीं माना गया है। प्रसादजी का विचार है कि ये दोनों एक ही चेतन तत्त्व के दो रूप है, जैसे जल जब जम जाता है, तब वह बर्फ के रूप मे जड़ रूप को धारण कर लेता है, किन्तु जब वह बहता रहता है तो उसे 'चेतन' कह सकते है।[६] इस सृष्टि में सर्वत्र एक चेतन-तत्त्व ही समाया हुआ है और उसी की सर्वत्र प्रधानता है, केवल स्थूल दृष्टि वालों को जड़त्व का आभास होता है। इसी कारण आप जड़-चेतन-मय जगत को भी उस चेतना-शक्ति 'चिति' का 'विराट वपु' कहते है[७] और जड़-चेतन सभी को

१—कामायनी, पृ० २५४। २—वही, पृ० २७३। ३—वही, पृ० २८५।
४—कल्याण—उपनिषद् अंक, पृ० १६६।
५—काव्य और कला तथा अन्य निबन्ध, पृ० ४४।
६—कामायनी, पृ० ३। ७—वही, पृ० २८८।

समरस कहकर सभी के अन्दर एक चेतनता को विलास करते हुए एव सभी को अखड आनन्द में मग्न देखते हैं।[१] इस तरह आपने 'कामायनी' में जड और चेतन का भी सुन्दर समन्वय किया है।

भला और बुरा—भारत के अधिकाश मनीषियो ने ससार को गुण-दोष मय बतलाया है और दोषो को छोडने तथा गुणो को ग्रहण करने का आग्रह किया है।[२] परन्तु ध्यान से देखा जाय तो एक के बिना दूसरे का महत्व प्रतीत नही होता। यही दशा भले और बुरे की है। क्योकि ये दोनो भी परस्पर एक दूसरे के महत्व को प्रदर्शित करते हैं। इसी कारण प्रसादजी ने भले और बुरे दोनो को सर्ग-अकुर के दो पल्लव कहा है और दोनो को एक-दूसरे की सीमा बतलाते हुए दोनो से प्यार करने का आग्रह किया है।[3] अत. कामायनी मे इन दोनो का भी समन्वय मिलता है।

ईश्वर और जगत—भारतीय चितन-पद्धति के अनुसार वह जगत-नियन्ता जगत के अणु-अणु और कण-कण मे व्याप्त होकर इस जगत का सचालन करता रहता है। प्रसादजी उस जगत-नियन्ता को शैव दर्शन के आधार पर शिव या 'चिति' कहते हैं तथा इस सम्पूर्ण जगत को उसका विराट् शरीर कहकर 'सत्य सतत चिर सुन्दर'[४] बतलाते हैं। उनका मत है कि उस चिति से पृथक् जगत की कोई सत्ता नही है, सारा जगत उसी का रूप है और उसकी इच्छा के अनुसार ही इस जगत का आविर्भाव-तिरोभाव होता रहता है। वैसे वह ईश्वर इस जगत मे निरन्तर लीला करता रहता है।[५] अत ईश्वर और जगत परस्पर भिन्न नही हैं अपितु पूर्णतया अभिन्न हैं। इस तरह प्रसादजी ने ईश्वर और जगत का भी समन्वय किया है।

प्रसादजी के इस समन्वयवाद में हमें एक ओर तो भारतीय चिन्तन पद्धति का अनुसरण मिलता है और दूसरी ओर उनकी कुछ मौलिक धारणायें भी दृष्टिगोचर होती हैं। जैसे ऐहिकता और आध्यात्मिकता, प्रवृत्ति और निवृत्ति या त्याग और भोग, गार्हस्थ्य और वैराग्य, भक्ति और ज्ञान, चिति और जगत के समन्वय में आपने भारतीय चिन्तन परम्परा का अनुसरण किया है, किन्तु बुद्धि और हृदय, शैव

१—कामायनी, पृ० २९४। 135

२—जड चेतन गुन दोष मय, विस्व कीन्ह करतार।
सत हस गुन गर्हाहि पय, परिहरि वारि विकार॥
—रामचरितमानस, बालकाड, दोहा ६।

३—कामायनी, पृ० २१०। ४—वही, पृ० २८८। ५—वही, पृ० ५३।

और वैष्णव, श्रेय और प्रेय, भले और बुरे आदि के समन्वय मे आपने अपने मौलिक चिन्तन का भी आभास दिया है। प्रसादजी के इस समन्वयवाद मे सर्वत्र उनकी उदारता, देशानुराग, मानवता-प्रेम, विश्व-बन्धुत्व की भावना आदि के दर्शन होते हैं, किन्तु इस समन्वयवाद में यह बात नही है कि वे स्वय कुछ झुके हो और दूसरो को भी झुकने के लिए बाध्य किया हो। आपने तो कामायनी की कथा को आदि-मानव से सम्बद्ध करके उसमे ऐसे समन्वय को स्थान दिया है, जिससे किसी को कोई आपत्ति नही हो सकती और ससार के सभी व्यक्ति अपनी-अपनी त्रुटियों को देखकर इससे लाभ उठा सकते है। प्रसादजी का यह समन्वयवाद भौतिक जीवन की सभी उलझनो को सुलझाने मे समर्थ है तथा मानव-मात्र के कल्याण-मार्ग को प्रशस्त करके उसे कर्मशील, अध्यवसायी और मानवता का पुजारी बनाने वाला है।

कामायनी में सांस्कृतिक समन्वय की जो यह भावना दिखाई देती है, उसकी प्रेरिका-शक्ति श्रद्धा है, क्योकि वह अपनी उदात्त एव सौम्य भावनाओं द्वारा अन्य सभी पात्रो के हृदय को मुग्ध कर लेती है और अपनी विचारधारा के अनुकूल बनाती हुई उन्हे हठात् असत्य से सत्य की ओर, बुराई से भलाई की ओर, भोग से त्याग की ओर, प्रवृत्ति से निवृत्ति की ओर और ऐहिकता से आध्यात्मिकता की ओर ले जाती है, परन्तु वह किसी एक बात में ही लीन रहने का आग्रह नही करती। वह ससार के दोनो पक्षो को प्यार करना सिखाती है, दोनों मे सन्तुलन लाने का प्रयत्न करती है और दोनो को अपनी-अपनी मर्यादा में ही रहने का आग्रह करती है। यही श्रद्धा द्वारा प्रतिपादित प्रसादजी का समन्वयवाद या सामरस्य-सिद्धान्त है, जिसमें भले और बुरे, जड़ और चेतन, भोगी और विरागी सभी समान भाव से आनन्द-विभोर होकर एकरूपता को प्राप्त हो जाते हैं, फिर न कोई शपित रहता है, न कोई तापित। यह जीवनरूपी वसुधा समतल प्रतीत होने लगती है और मानव को अखड आनन्द का साक्षात्कार होने लगता है।

अतः प्रसादजी की यही सबसे बडी सांस्कृतिक देन है कि आपने श्रद्धा और मनु की कथा द्वारा कामायनी मे उच्चकोटि के सांस्कृतिक समन्वय अथवा 'समरसता' के सिद्धान्त की स्थापना की है, जो विश्व भर की अशान्ति को दूर करने का एकमात्र उपाय है और जिसके द्वारा सभी मानव आनन्दमय जीवन व्यतीत कर सकते हैं।

प्रकरण ६

कामायनी का मनोवैज्ञानिक स्वरूप

मन सम्बन्धी भारतीय मत—भारतीय ग्रथो में मन का विवेचन अत्यन्त प्राचीन काल से मिलता है। ऋग्वेद मे काम से मन की उत्पत्ति बतलाई गई है और वहाँ पर काम को मन का रेतस् या मूल बीज कहा है।[1] ब्राह्मण-ग्रन्थो में काम, सकल्प, सशय, श्रद्धा, अश्रद्धा, धृति, अधृति, लज्जा, बुद्धि, भय इन सभी को 'मन' के अन्तर्गत ही माना गया है।[2] निरुक्त में यास्क ने 'मनु' धातु से मन की व्युत्पत्ति सिद्ध की है और उस का धात्वर्थ अवबोधन करना, मनन करना आदि बतलाया है।[3] उपनिषदो में मन का विशद विवेचन मिलता है। वहाँ पर कही तो मन को इन्द्रिय रूपी घोडो की लगाम कहा है,[4] कही मन को ब्रह्म बतलाया है[5] और जानने, धारणा करने, देखने, सकल्प करने आदि की अनेक शक्तियो से सम्पन्न बतलाया है[6] तथा कही पर मन को समस्त इन्द्रियो में अधिक बलशाली एव सर्वश्रेष्ठ सिद्ध किया है।[7] इतना ही नही मन को बंधन एव मोक्ष का कारण भी बतलाया है।[8] श्रीमद्भगवद्गीता में मनको अत्यन्त चचल, प्रमथन स्वभाव वाला, अतीव दृढ एव बलवान् बतलाया है तथा वायु के समान इसको वश में करना सर्वथा दुष्कर कहा है।[9] योगवाशिष्ठ मे मन को ससार का उत्पादक, अत्यन्त बलशाली एवम् सकल्प-विकल्प करने वाला बतलाया है और इसको जीत लेने पर ही शान्ति एवम् कल्याण का प्राप्त होना लिखा है।[10]

१—कामस्तदग्रे समवर्तताधि मनसो रेत प्रथम यदासीत्।
—ऋग्वेद १०।१२९।४

२—शतपथब्राह्मण १४।४।३।९

३—निरुक्त—नैगम काड ४।१।५

४—कठोपनिषद् १।३।६–७

५—छादोग्य उपनिषद् ३।१८।१

६—एतरेय उपनिषद ३।२

७—कठोपनिषद् १।३।१०, २।३।७

८—कल्याण—उपनिषद् अक, पृ० १६४।

९—श्रीमद्भगवद्गीता ६।३४

१०—योगवाशिष्ठ, पृ० १४७–१४८।

भारतीय दर्शनों में से बौद्धदर्शन में विज्ञान-स्कंध को ही चेतना या मन कहा है तथा इसे एक प्रकार का आयतन भी कहा है, जिसकी उत्पत्ति अविद्या एवं तृष्णा से मानी है।[१] न्याय एवं वैशेषिक दर्शन में मन को सुख-दुःखादि का अनुभव करने वाली साधन इन्द्रिय माना है और उसे प्रत्येक आत्मा में नियत रहने के कारण अनन्त, परमाणुरूप तथा नित्य बतलाया है।[२] सांख्य तथा योगदर्शन में मन की उत्पत्ति पंचतन्मात्राओं से मानी गयी है तथा इसे कर्मेन्द्रिय एवम् ज्ञानेन्द्रिय उभयात्मक रूपों में स्वीकार करते हुए एक ग्यारहवीं इन्द्रिय माना है, किन्तु इसे विभु एवम् व्यापक नहीं माना है।[3] वेदान्त दर्शन में अन्तःकरण के चार भेद किए गए हैं—मन, बुद्धि, चित्त और अहंकार। जिनमें से मन को एक तरह की अन्तरिन्द्रिय माना है तथा सत्व, रज तथा तम को मन के गुण कहा है। यहाँ इसके दो रूप स्वीकार किए गए हैं—शुद्ध और अशुद्ध। काम, क्रोधादि विकारों से युक्त मन अशुद्ध कहलाता है और इन विकारों से रहित मन को शुद्ध मन कहा है।[४]

अतः भारतीय चिंतन-प्रणाली में मन को भौतिक रूप दिया गया है और उसे आत्मा की सहायता करने वाली अत्यन्त चंचल, दृढ एवं बलशाली इन्द्रिय माना है। यह मन ही यहाँ मानव-जीवन का संचालक है, और इसी को मानव मात्र के लिए शुभ एवम् अशुभ गति प्रदान करने वाला कहा है। इसका मुख्य कार्य संकल्प-विकल्प या मनन करना है। यह चेतना-युक्त रहता है और मानव को सभी प्रकार के ज्ञान की प्राप्ति कराने में सहायता पहुँचाता है। यह इन्द्रियों का राजा है और इसी कारण 'मन के हारे हार है, मन के जीते जीत' कहकर इसे मानव की जय-पराजय का विधाता कहा जाता है। इसको वश में रखने से ही मानव अपने अभीष्ट कार्य में सफल होता है। किन्तु इसके तनिक अनियंत्रित हो जाने से मानव का सारा जीवन अस्त-व्यस्त हो जाता है, वह मार्ग-भ्रष्ट होकर इधर-उधर मारा-मारा फिरता है और अपने उद्देश्य में कदापि सफल नहीं होता। यही कारण है कि भारतीय मनीषियों ने सबसे अधिक मन को वश में करने का उपदेश दिया है और मन को समस्त विकारों का केन्द्रस्थान बतलाकर सत् और असत् दोनों प्रकार की प्रवृत्तियों का अनुगामी सिद्ध किया है। अतः भारतीय दृष्टिकोण ने मानव-जीवन की उन्नति एवम् अवनति मन पर ही निर्भर है और यह मन शुद्ध, नियन्त्रित एवम् शान्त होकर ही अन्त में आनन्द-लाभ करता है।

१—दर्शन-दिग्दर्शन, पृ० ५०५, ५७८।

२—तर्क-संग्रह, पृ० २५। ३—सांख्यदर्शन, १।६१, २।२६, ४।६६

सम्बन्धी पाश्चात्य मत—भारतीय दार्शनिको की भाँति पाश्चात्य दार्श-
मनोवैज्ञानिको ने भी मन के बारे में अपने-अपने विभिन्न मतो का
कया है। यूनानी दार्शनिको में पहले यह धारणा थी कि मन एक ठोस द्रव्य
त प्राणियो के अन्तर्गत विद्यमान रहता है और इसी के आधार पर मृत
त प्राणी का ज्ञान होता है। परन्तु सर्वप्रथम एनैक्सेगोरस ने इस प्राचीन
न करते हुए मन को एक ऐसी शक्ति सिद्ध किया, जोकि समस्त चेतन
र अपना अधिकार रखती है, जो असीम एवम् सर्वथा स्व-शासित है और
ी भी पदार्थ का मिश्रण नही है, यह मन ही समस्त भावो का उद्गम
यही ससार के परिवर्तन का कारण है और इसी की प्रेरणा से हलके पदार्थ
ूमा करते हैं तथा भारी पदाथ केन्द्र की ओर गिरा करते हैं।[1] इसके
ेटो ने भी मन को सर्वोपरि सिद्ध किया है। उसका मत है कि समस्त
ो प्रकार के कारण होते हैं—(१) बुद्धिगत या स्वतन्त्र तथा (२) परतन्त्र
लित। प्रथम का सम्बन्ध मन से है और यह मन ही ससार में अच्छे और
र्माता है। यह मन स्व-शासित है और सर्वथा उन्मुक्त होकर कार्य करता
अन्य सभी कार्य शारीरिक शक्ति से सचालित होते हैं। हम कठोर एवम्
ार्थो को देखते हैं और स्पर्श भी करते है, परन्तु यह मन ही हमें उन पदार्थो
तथा उनके विरोधी गुणो का ज्ञान कराता है। हम मन के द्वारा ही अन्य
्यक ज्ञान भी प्राप्त करते है।[2]

सके उपरान्त अरस्तू ने मन को विचार करने की शक्ति कहा है तथा उसे
सर्वथा भिन्न स्वीकार किया है।[3] प्लोटीनस ने मन को दैवीगुण सम्पन्न
या उसे आत्मा, इन्द्रिय, शरीर आदि से परे बतलाया है।[4] बैनेडिक्ट
ने मन को द्रव्य (substance) का विकार कहा है[5] और जान लॉक ने
व्य स्वीकार किया है।[6] जार्ज बर्कले ने मन को सबका ज्ञाता माना है तथा
उसका विचारमात्र कहा है।[7] डेविड ह्यूम मन को अविच्छिन्न प्रवाह युक्त
त्ययो (ideas) की राशि मानते है[8] तथा लिबनीज ने मन को प्रत्यक्षो
तयो से निर्मित एक चिद्बिन्दु (monad) कहा है।[9] हेगेल ने मन को

1—History of Western Philosophy, p 82

२—वही, पृ० १७४। ३—वही, पृ० १६२-१६३। ४—वही, पृ० ३१४।

5—A History of Philosophy, p 328

६—वही, पृ० ३३५। ७—वही, पृ० ३६०–३६१।

८—वही, पृ० ३७६। ९—वही, पृ० ३९०।

तर्कपूर्ण प्रत्यय (logical idea) का विकास कहा है[1] और हर्बर्ट स्पेंसर ने उसे निरपेक्ष या अज्ञेय (absolute or unknown) शक्ति का उन्मेष सिद्ध किया है।[2] स्टाउट ने मन (mind) तथा जड पदार्थ (matter) सम्बन्धी विवाद पर विचार करते हुए उसके तीन सिद्धान्तों की ओर सकेत किया है—(१) परस्पर-क्रियावाद (inter-actionism), (२) समानान्तरवाद (parallelism) और (३) जडवाद (materialism)। अन्त मे स्टाउट ने प्रथम सिद्धान्त को मानते हुए मन तथा जडपदार्थो को परस्पर एक दूसरे को प्रभावित करने वाला स्वीकार किया है।[3] इनके अतिरिक्त फ्राइड ने मन के चेतन और अचेतन दो रूप स्वीकार किए है और चेतन मन की अपेक्षा अचेतन मन को अधिक महत्वशाली सिद्ध किया है। साथ ही लिखा है कि अचेतन मन मे काम या इच्छायें दमित रूप में विद्यमान रहती है और वे स्वप्नो, दिवा-स्वप्नो, भूलों, हास्य, कला, धर्म, अन्य मानसिक उपद्रवों आदि के रूप मे प्रकट होती रहती है।[4] फ्राइड के अनुयायी युङ्ग ने भी मन के अचेतन रूप को अधिक महत्व दिया है, परन्तु वह इस अचेतन मन को दमित काम या इच्छाओ का ही स्थान नही मानता, अपितु उसे सम्पूर्ण भलाइयो का मूल एव चेतना का मूल-स्रोत भी सिद्ध करता है।[5] इसी तरह फ्राइड के दूसरे शिष्य एडलर ने भी फ्राइड की भाँति मन के अचेतन रूप को महत्व दिया है। किन्तु उसने काम-प्रवृत्ति की अपेक्षा समाज की स्व-स्थापना या शक्ति-प्राप्ति की प्रवृत्ति को अधिक प्रबल माना है।[6]

अत. पाश्चात्य विद्वान् पहले तो मन को एक आध्यात्मिक सत्ता के रूप में स्वीकार करते थे और उसे एक ऐसी स्वतन्त्र इकाई (unit) मानते थे, जो निर्णय, धारणा, अनुभव, विचार आदि कार्यो को करती थी। परन्तु आगे चलकर मनोवैज्ञानिको ने मन का अधिकाधिक अन्वेषण एव अनुशीलन किया और वे इस परिणाम पर पहुँचे कि मन एक स्वतन्त्र एव पूर्ण इकाई नही है, अपितु वह विभिन्न इकाइयो का मिश्रित रूप है। उसके चेतन और अचेतन दो रूप होते है, जिनमे से अचेतन रूप अपेक्षाकृत अधिक सशक्त और समर्थ होता है, क्योंकि उसके द्वारा ही चेतन मन की समस्त क्रियायें होती है और वही समस्त मानसिक क्रियाओ का मूल है। इसके साथ ही मन तथा शरीर का घनिष्ठ सम्बन्ध होता है, क्योंकि मन ही

1—A History of Philosophy, p 455. २—वही, पृ० ५४६।
3—Mind and Matter by Stout, p 73–75
४—मनोविज्ञान—जे० सिन्हा, पृ० ५१७। ५—वही, पृ० १३–१७।
६—वही, पृ० ४६७–४६८।

चेतना है, जिसकी इच्छा (feeling), ज्ञान (cognition) और क्रिया (conation) ये तीन प्रक्रियाये होती है। इच्छा के अन्तर्गत वेदना, सवेग, और भावना आती है। ज्ञान के अन्तर्गत सवेदन, प्रत्यक्षीकरण, स्मृति, कल्पना और विचारणा आती है तथा क्रिया के अन्तर्गत वे सभी चेष्टाये आती है, जो सवेदनात्मक, स्वाभाविक, अभ्यासजनित आदि होती है। यह चेतना का क्षेत्र दो भागो मे बँटा हुआ है—ध्यान और अनवधान। ध्यान का क्षेत्र तो स्पष्ट ही चेतना का प्रदेश है, परन्तु अनवधान का क्षेत्र चेतना की सीमा है, जहाँ वह अस्पष्ट एव धुँधले रूप में विद्यमान रहती है।[1] यही क्षेत्र मन का अचेतन प्रदेश है। मन के चेतन और अचेतन दोनो रूप ही शक्तिशाली है, क्योकि इनके द्वारा ही समस्त शारीरिक एव मानसिक क्रियाये होती हैं। यह मन ही समस्त मूर्त्त-अमूर्त्त भावो एव विचारो तथा ऐच्छिक-अनैच्छिक कर्मो का प्रेरक है। अनुभव इसका धर्म है और व्यवहार इसका कर्म। कुछ व्यवहारवादी मनोवैज्ञानिक मन का अस्तित्व न मानकर उसके स्थान पर मस्तिष्क को महत्व देते है। परन्तु सामान्य निरीक्षण यह बतलाता है कि समस्त चक्षु, नासिका आदि ज्ञानेन्द्रियो के द्वारा मन पर प्रतिक्रिया होती है, मन मे सवेदनाये उत्पन्न होती है और हम वाह्य वस्तुओ के गुणो का प्रत्यक्षीकरण करते है। इसके साथ ही यह मन ज्ञानेन्द्रियो तथा शरीर की पेशियो की सहायता से ही समस्त व्यापार किया करता है। इसीलिए मन और शरीर का घनिष्ठ सम्बन्ध है और यह मन शरीर का नियामक, सचालक एव प्रेरक है।

प्रसादजी की मन सम्बन्धी निजी धारणा—प्रसादजी ने अपनी 'मानस' कविता मे मन की तुलना सरोवर से की है तथा मन को सरोवर के समान विशाल कहा है, क्योकि जिस तरह सरोवर में अनेक तरगें उठती रहती हैं, उसी तरह मन भी नित्य तरगायित रहता है, किन्तु उनका कथन है कि सरोवर की तरगो में माधुर्य नही होता, जबकि मन की तरगें सुधा का भी तिरस्कार करती हुई अत्यन्त मधुरता से परिपूर्ण रहती है। इस मन-सरोवर के किनारे बैठकर मनुष्य उसकी अद्भुत तरगो की मीठी तान सुना करता है। प्रसादजी ने चिन्ता, हर्ष, विषाद, क्रोध, निर्वेद, लोभ, मोह, आनन्द आदि को इस मन-सरोवर के मकर-समुदाय एव महान् मत्स्य कहा है तथा आशा को रत्न और मुक्ता की खानि बतलाया है। यहाँ पर कल्पना को हस कहा है, जो बडे आनन्दपूर्वक आशा रूपी मोतियो को चुगता रहता है और 'शोच' को हसियो का समुदाय कहा है तथा लिखा है कि कभी-कभी कल्पना को उक्त महान् मत्स्य निगल जाते है, जिससे यह मन अनजाने ही दुःख से व्यथित हो उठता

१—मनोविज्ञान—ले० सिन्हा, पृ० ५७४–५७८।

है। उन्होने आगे लिखा है 'यद्यपि मन रूपी सरोवर मे उत्पन्न कमल का तन्तु अत्यन्त सूक्ष्म है, फिर भी उसमे बडे-बडे भयानक जन्तु फँस जाते हैं। इस मन रूपी सरोवर की तरगें असीम हैं, जिनमे चित्त रूपी हस बडे सुखपूर्वक क्रीडा करता रहता है।'[१] इस तरह प्रसादजी ने इसी 'मानस' कविता मे चिन्ता से लेकर आनन्द तक की स्थिति मन मे बतलाई है[२] और सम्भवत इसी कारण कामायनी मे 'चिन्ता' सर्ग से लेकर 'आनन्द' सर्ग तक मन का विवेचन किया है। इसके अतिरिक्त प्रसादजी की यह दृढ धारणा थी कि 'मन अत्यन्त चचल है और हरिण के समान चौकडी भरा करता है।'[३] वे मन को बडा ही अतृप्त मानते थे। उन्होने लिखा भी है कि 'इस मन की कभी प्यास नही बुझती।'[४] क्योकि मनुष्य बूढा हो जाता है, परन्तु मन कभी बूढा नही होता।'[५] इतना ही नही यह 'मन सदैव मछली के समान तैरता रहता है।'[६] वेदान्तियों की तरह प्रसादजी ने भी मन को सशयात्मक या सकल्प-विकल्प करने वाला माना है।[७] साथ ही वे मन को समस्त रस (आनन्द) का अधिष्ठान भी मानते थे।[८] क्योकि उनका यह दृढ विचार था कि मन सदैव सुख की ओर दौडा करता है और उसका लक्ष्य एकमात्र आनन्द की प्राप्ति करना है।[९] इतना ही नही वे यह भी मानते थे कि इस ससार मे सर्वत्र उस आनन्दघन शिव का ही निवास है। इस कारण आनन्द के अतिरिक्त मन और जा ही कहाँ सकता है?[१०]

अत भारतीय एव पाश्चात्य विद्वानो की ही भाँति प्रसादजी भी मन को समस्त मनोवृत्तियो, मनोविकारो एव सवेगो का अधिष्ठान मानते हैं। यह मन चेतन और अचेतन अवस्था मे नाना प्रकार के विकारो मे लीन रहता है तथा सौन्दर्य एवं सुख की प्राप्ति के लिए अनेकानेक अकाड-ताडव किया करता है। चिन्ता, हर्ष, विषाद, क्रोध, निर्वेद, लोभ, मोह, आनन्द आदि सभी मनोविकारो का सम्बन्ध मन से है और इनके वशीभूत होकर वह अत्यन्त चचल बना रहता है। तृष्णा और लालसा ये

१—चित्राधार, पृ० १४३।
२—चिन्ता, हर्ष, विषाद, क्रोध, निर्वेद।
लोभ, मोह, आनन्द आदि बहु भेद॥ चित्राधार, पृ० १४३।
३—चित्राधार, पृ० १७६। ४—राज्यश्री, पृ० १८।
५—चन्द्रगुप्त, पृ० ६१। ६—कामना, पृ० ६६।
७—कपाल, पृ० १६। ८—आँसू, पृ० २८।
९—एक घूँट, पृ० १७।
१०—काव्य और कला तथा अन्य निबन्ध, पृ० ५६।

दो मनोवृत्तियाँ अत्यन्त प्रबल हैं। इनके वश मे होकर मन अपना नियन्त्रण नही कर पाता और अधिकाधिक सुख या आनन्द की खोज मे पद-पद पर ठोकरे खाने लगता है। हाँ, यदि इनसे छुटकारा मिल जाय और सद्बुद्धि, सन्तोष, सरलता आदि का सत्सग हो जाय, तो इसे आनन्द-प्राप्ति में कोई बाधा उपस्थित नही होती। प्रसादजी ने आनन्द के अतरग को सरलता और बहिरग को सौन्दर्य कहा है।[1] अत यदि मन सौन्दर्य की ओर आकृष्ट होकर सरलता के साथ अपने पथ पर चले, तो सुगमता से आनन्द की प्राप्ति हो सकती है। परन्तु, यह मन सौन्दर्य-लोभी होकर कभी सरल रहना अच्छा नही समझता और अधिकाधिक आडम्बरमय जीवन व्यतीत करता हुआ अनेकानेक विकारो में लीन हो जाता है, जिससे इसे सुख की मृग-मरीचिका में कुरगवत् चक्कर काटना पड़ता है। इसी कारण प्रसादजी भी मन के निग्रह को आवश्यक समझते हैं तथा इसे महापुरुषो का स्वभाव बतलाते हैं।[2] यह मन सद्बुद्धि और हृदय के साथ मिलकर ही आनन्द-मार्ग का अनुगामी हो सकता है। यदि सद्बुद्धि का साथ छोड देगा, तो विवेक-शून्य हो जायगा और यदि हृदय का साथ छोड देगा, तो श्रद्धा-विश्वास से रहित हो जायगा। अत दोनो के योग से ही मन को गतव्य मार्ग पर सफलता प्राप्त होती है।

कामायनी मे मन का क्रमिक विकास तथा भारतीय और पाश्चात्य दृष्टि से उसका मूल्याकन

प्रसादजी ने मन सम्बन्धी अपनी बद्धमूल धारणाओ के अनुसार ही कामायनी में मन के क्रमिक विकास का चित्रण किया है। 'कामायनी' के 'आमुख' में उन्होने यह बात तो स्पष्ट शब्दो में स्वीकार की है कि 'मनु अर्थात् मन के दोनो पक्ष, हृदय और मस्तिष्क का सम्बन्ध क्रमश श्रद्धा और इडा से भी सरलता से लग जाता है।'[3] अत यहाँ पर मनु की कथा में मन की भी कथा अनुस्यूत है तथा उसका सम्बन्ध हृदय और मस्तिष्क से किस-किस प्रकार रहता है और उसके द्वारा कौन-कौन से परिणाम होते है, ये सभी बाते भी 'कामायनी' में अकित की गई हैं।

कामायनी का प्रथम सर्ग 'चिन्ता' है। प्रसादजी ने अधिकाश सर्गो के नाम मनोवृत्तियों के आधार पर ही रखे है। अतः सबसे पहले चिन्ता नामक मनोवृत्ति का चित्रण करके आपने भारतीय ग्रन्थो से सहमत होकर यह सूचित किया है कि चिन्तन या मनन मन का मूल व्यापार है। चिन्ता में मानसिक हलचल अधिक रहती

१—एक घूंट, पृ० १५। २—चन्द्रगुप्त, पृ० २०६।
३—कामायनी—आमुख, पृ० ७–८।

है और कर्म की प्रवृत्ति का अभाव रहता है। यही बात कामायनी के 'चिन्ता' सर्ग मे भी मिलती है। यहाँ पर मन रूपी मनु केवल, देवताओं के अतीत विलास-वैभव का चिन्तन करते हैं और चुपचाप हिमगिरि की उत्तुग शिखर पर बैठकर प्रलय-कारिणी लहरो का क्रमश. अवसान देख रहे हैं।[1] यह मन की किंकर्त्तव्य-विमूढ वाली स्थिति है, क्योंकि उसके सामने न तो कोई योजना है और न भविष्य के निर्माण का प्रश्न। वह तो केवल वर्तमान के कुछ भयकर दृश्यो को देखकर उनके सहारे अतीत के सुख या विलास-वैभव का चिन्तन ही कर सकता है।[2] भारतीय शास्त्रो मे लिखा भी है कि ऐश्वर्य भ्रष्ट हो जाने पर अथवा इष्ट द्रव्य की प्राप्ति न होने पर मन मे चिन्ता नामक मनोभाव उत्पन्न होता है। इसके उत्पन्न होते ही औत्सुक्य बढ जाता है, आहें निकलने लगती हैं और मन अत्यन्त सन्तप्त होता है।[3] 'चिन्ता' सर्ग में चिन्ता उत्पन्न होते ही मनु का मन भी अपने ऐश्वर्य के भ्रष्ट हो जाने पर ऐसी ही दशा मे दिखलाया गया है। दूसरे, पाश्चात्य मनोविज्ञानवेत्ता भी यही कहते है कि जब वास्तविक कर्म सम्भव नही होता, तब चिन्ता उस वास्तविक कर्म की स्थानापन्न हो जाती है अर्थात् वास्तविक कर्म के अभाव में चिन्ता का उदय होता है।[4] यहाँ भी प्रलय के कारण सब कुछ-नष्ट हो चुका है और मनु के सम्मुख जीवन का कोई उद्देश्य या कार्यक्रम नही है। अत. ऐसी परिस्थिति मे 'चिन्ता' का उदय होना स्वाभाविक है। उसके साथ ही मनोवैज्ञानिको का कथन है कि प्राय. प्रेरको की पूर्ति में परिवेशगत बाधायें (Environmental obstructions) उत्पन्न होने के कारण मानसिक हलचल उत्पन्न हो जाती है। परिवेशगत बाधाओं मे अकाल, तूफान, बाढ आदि भौतिक घटनाएँ आती हैं।[5] यहाँ 'कामायनी' मे भी प्रलयकारिणी भयंकर बाढ आई है। अत. उसके कारण जो मन के प्रेरको की पूर्ति मे परिवेशगत बाधायें उत्पन्न हुई हैं उसीके परिणामस्वरूप मन में चिन्ता, उद्वेग आदि का उठना स्वाभाविक है।

'चिन्ता' के उपरान्त दूसरा सर्ग 'आशा' है। जिसमें प्रलय-जन्य उत्पातों के बन्द होते ही प्राची मे उषा का स्वर्णिम प्रकाश दिखाई देता है, प्रकृति मे सर्वत्र नव चेतना फैल जाती है और सुप्त वनस्पतियाँ पुन. जाग्रत हो उठती हैं। प्रकृति के ऐसे चेतना-पूर्ण अनिरंजित वातावरण का प्रभाव मन पर भी पड़ता है और वह चिन्तन व्यापार को छोडकर प्रकृति के नव विकास को देखता हुआ जिज्ञासा एवं कुतूहल से भर जाता है। उसमें विराट् सत्ता के प्रति आस्था उत्पन्न होती है तथा जीवन

१—कामायनी, पृ० ६। २—वही, पृ० ९। ३—नाट्यशास्त्र ७।५०
४—मनोविज्ञान—ले० सिन्हा, पृ० ७८। ५—वही, पृ० ४८८।

की आशा के उदय के साथ-साथ अहभाव भी जाग्रत होता है। इतना ही नही उसमें नव-चेतना एव स्फूर्ति का सचार होता है और वह जीवन के दैनिक कार्यो की ओर उन्मुख हो जाता है। किन्तु एक रात्रि को प्रकृति के चन्द्र-ज्योत्स्ना-पूर्ण वैभव का दर्शन करते ही उसमें अनादि वासना जाग्रत हो उठती है। एकाकी होने के कारण उसे अधिक व्यथा होती है तथा वह इस सवेदन से घबडा उठता है। 'आशा' सर्ग में मन की इन्ही विकसित अवस्थाओ का चित्रण किया गया है। मैकडूगल का मत है कि अहभाव या आत्म-गौरव (Self-assertion) एक प्रकार की मूल-प्रवृत्ति है, जो उल्लास या गर्व नामक सवेग के रूप में प्रकट होती है। ऐसे ही जिज्ञासा या कुतूहल (Curiosity) भी एक मूल-प्रवृत्ति है, जो अज्ञात या नवीन वस्तु के देखने पर जाग्रत होती है तथा जो विस्मय सवेग द्वारा प्रगट होती है। ये सभी सवेग अपनी-अपनी प्रवृत्तियो के कार्य हैं तथा परिस्थितियो के प्रत्यक्षीकरण या स्मृति के कारण उत्पन्न हुआ करते है।[1] अत प्रकृति के चेतना-पूर्ण जागृति के वातावरण में 'अह' मूल-प्रवृत्ति का उठना तथा प्रकृति के अद्भुत एव अज्ञात रूपो एव कार्यो को देखकर मन मे जिज्ञासा या कुतूहल का जाग्रत होना अत्यन्त स्वाभाविक है। इसके अतिरिक्त द्वन्द्व की अभिलाषा (Pairing) को मैकडूगल ने मूल-प्रवृत्ति बतलाया है।[2] भारतीय शास्त्रो मे इसे 'रति' भाव कहा है और शीतल पवन का स्पर्श, चन्द्र-ज्योत्स्ना, उद्यान, वर्षा आदि के कारण इसको उद्दीप्त होते हुए बतलाया है। इसके सयोग और वियोग दो भेद किये गये है। सयोग मे यह भाव सुखकारी होता है तथा वियोग के अवसर पर या एकाकी जीवन मे यह मन मे पीडा उत्पन्न करता हुआ अपने प्रिय सहचर को प्राप्त करने की आकाक्षा उत्पन्न करता है।[3] अत 'आशा' सर्ग मे अहभाव एव रागात्मक वासना के उपरान्त प्रकृति के सुरम्य वातावरण में मन के अन्तर्गत द्वन्द्व की जो अभिलाषा जाग्रत हुई है वह सर्वथा स्वाभाविक है तथा मन के क्रमिक विकास की द्योतक है।

तीसरे सर्ग का नाम 'श्रद्धा' है। इसमे मन तथा श्रद्धा का पारस्परिक सम्बन्ध जोडा गया है। इससे पूर्व 'आशा' सर्ग में मन के अन्तर्गत रागात्मक भाव या अनादि वासना का जाग्रत होना बतलाया है। उधर रागात्मक भाव या वासना का सम्बन्ध हृदय से है। अत रागी मन का हृदय के सम्पर्क मे आना स्वाभाविक सा ही है। इसके अतिरिक्त श्रद्धा को आस्तिक्य बुद्धि या विश्वास भी कहा गया है[4] और वैदिक

१—मनोविज्ञान—ले० सिन्हा, पृ० ३७४–३८२।

२—वही, पृ० ३७४।　　३—काव्यदर्पण, पृ० २३४–२३७।

४—देखिए ऋग्वेद १०।१५१ की सायणकृत टीका।

ग्रथो मे इसी को संसार की प्रतिष्ठा बतलाया है।[१] पातजलि योगशास्त्र में श्रद्धा द्वारा योग की प्राप्ति होना लिखा है।[२] गीता मे श्रद्धावान् का ही ज्ञान प्राप्त करना बतलाया है।[३] पातंजलि योग-सूत्र के टीकाकार श्रीमद् हरिहरानन्द आरण्य ने 'चित्त की सम्प्रसाद या अभिरुचिमती निश्चय वृत्ति को श्रद्धा कहा है' और लिखा है कि शास्त्र और गुरु से लब्ध ज्ञान बहुत व्यक्तियों की औत्सुक्य निवृत्ति करता है। ऐसे औत्सुक्यवश होकर जो जाना जाता है वह श्रद्धा नहीं होती। जिस जानने के साथ चित्त का सम्प्रसाद रहता है वही श्रद्धा होती है और श्रद्धा भाव के रहने से लगातार श्रद्धेय विषयों के गुण समूह के आविष्कार द्वारा प्रीति और आसक्ति बढ़ती रहती है।'[४] उक्त सभी उदाहरणों से यह सिद्ध हो जाता है कि मन जब विश्वास, आस्तिक्य भाव, रागात्मिका वृत्ति, प्रीति एवम् आसक्ति की ओर उन्मुख होता है, तब उसका सम्बन्ध श्रद्धा से जुड़ जाता है; क्योंकि उक्त सभी गुण श्रद्धा के हैं। इसी कारण आशा के उपरान्त मन में श्रद्धा-भाव का जाग्रत होना स्वाभाविक है। तैत्तिरीयब्राह्मण में श्रद्धा को 'हृदय की सकल्प क्रिया' भी कहा है।[५] इस कथन द्वारा श्रद्धा का सम्बन्ध हृदय से जुड़ जाता है और सम्भवत. इसी कारण प्रसादजी ने भी 'हृदय की अनुकृति बाह्य उदार'[६] कहकर श्रद्धा को हृदय की उदार वृत्ति बतलाया है।

मनोवैज्ञानिकों ने श्रद्धा को धार्मिक सवेगो (Religious emotions) में स्थान दिया है और इस संवेग की उत्पत्ति ईश्वर-चिन्तन के उपरान्त बतलाई है।[७] यदि कामायनी में देखें तो 'आशा' सर्ग के अन्तर्गत मन प्रकृति के अद्भुत परिवर्तन को देखकर 'हे विराट! हे विश्व देव! तुम कुछ हो ऐसा होता भान'[८] कहता हुआ ईश्वर के अस्तित्व में विश्वास प्रकट करता है। उसके अनन्तर ही 'श्रद्धा' सर्ग आया है, जो ईश्वर-चिंतन के उपरान्त जाग्रत होने वाले श्रद्धा नामक सवेग की यथार्थता का द्योतक है। इसी कारण यहाँ यह श्रद्धा मनोभाव मन को आगामी उन्नति के लिए प्रेरणा देता हुआ उत्तरोत्तर विकास की आशा बँधाता है तथा निराशा, अकर्मण्यता, जीवन के प्रति अविश्वास, पलायनवादिता आदि का विरोध करता हुआ मन को आशा और विश्वास मे परिपूर्ण कर्मण्यता की ओर उन्मुख करता है।

कामायनी का चौथा सर्ग 'काम' है। श्रद्धा के उपरान्त मन में काम की प्रवृत्ति को जाग्रत होते हुए बतलाया है। न्याय-दर्शन मे इच्छा को ही काम कहा है।[१]

१—तैत्तिरीयब्राह्मण ३।१२।१ २—पातजलि योगदर्शन १।२०
३—श्रीमद्भगवद्गीता ४।३९ ४—पातजलि योगदर्शन, पृ० ४४।
५—तैत्तिरीयब्राह्मण २।८।८।७ ६—कामायनी, पृ० ४६।
७—मनोविज्ञान— ले० सिन्हा, पृ० ३८८–३८९।
८—कामायनी, पृ० २६। ९—तर्क-संग्रह, पृ० १४०।

हृदय या श्रद्धा से सम्बन्ध होते ही मन में भविष्य-निर्माण करने की अभिलाषा जाग्रत हुई है, क्योंकि हृदय ने उसे प्रेरणा प्रदान की है और समझाया है कि निराश और निरुपाय रहने की अपेक्षा आशामय होकर भविष्य-निर्माण करने के लिए प्रयत्नशील बनना चाहिए। इस कारण मन प्रवृत्ति-मार्ग का अनुयायी बना है। भारतीय ग्रंथों के आधार पर प्रवृत्ति-मार्ग में काम का सबसे बड़ा हाथ है, क्योंकि यह काम मन की मूल-प्रवृत्ति है तथा सृष्टि के आदि में ही इसका अस्तित्व स्वीकार किया गया है।[१] वात्स्यायन ने काम को समस्त इन्द्रियों का प्रेरक कहा है[२] और गीता में आसक्ति से काम का उत्पन्न होना बतलाया है।[३] अब जब श्रद्धा द्वारा मन में आस्तिक्य भाव या आसक्ति उत्पन्न हो गई, तब कार्य की प्रेरणा देने के लिए मन के मूल भाव 'काम' का जाग्रत होना स्वाभाविक ही है।

पाश्चात्य विद्वानों में से मैकडूगल ने काम (Sex) को मन की एक प्रकार की मूल-प्रवृत्ति कहा है,[४] परन्तु फ्राइड ने मन की केवल दो मूल-प्रवृत्तियाँ मानी हैं—(१) अहमिक प्रवृत्ति (Ego-instinct) तथा (२) काम (Libido)। फ्राइड इस 'काम' मनोवृत्ति को अत्यन्त व्यापक मानता है।[५] उसका मत है कि मानव-जीवन का अत्यधिक प्रेरणा देने वाला काम ही है। यह काम की प्रवृत्ति जब दबा दी जाती है, तब यह स्वप्नों, दिवा-स्वप्नों, भूलों, हास्य, कला, धर्म और मानसिक उपद्रवों के रूप में प्रकट होती है।[६] प्रसादजी ने भी मन की स्वप्नावस्था में ही काम का साक्षात्कार कराया है और इस काम मूल-प्रवृत्ति के दबाने के कारण ही यह स्वप्न के रूप में उस समय प्रकट हुआ है, जब हृदय (श्रद्धा) ने मन को बार-बार इस मूल-प्रवृत्ति के अपनाने का आग्रह किया है, प्रलोभन दिये हैं और प्रेरित भी किया है, परन्तु मन इस मूल-प्रवृत्ति (काम) को दबाने में ही लीन रहा है। क्योंकि कामायनी में लिखा भी है कि श्रद्धा के बहुत कुछ समझाने एवं काम को अपनाने का आग्रह करने पर भी मनु "जो कुछ हो मैं न सम्हालूँगा इस मधुर भार को जीवन के"[७] कहकर इस काम-प्रवृत्ति को दबाते हैं। अतः यह मूल-प्रवृत्ति दमित होने के कारण पुनः स्वप्न के रूप में जाग्रत होती है। इसके साथ ही स्वप्न की दशा में चेतन मन की अपेक्षा अचेतन मन में इस काम-प्रवृत्ति का उदय दिखलाया गया है, जो फ्राइड के उक्त 'स्वप्न-सिद्धान्त' से भी

१—ऋग्वेद १०।१२९।४ 	२—वात्स्यायन-कामसूत्र १, २।
३—श्रीमद्भगवद्गीता २।६२ 	४—मनोविज्ञान—सिन्हा, पृ० २७४।
५—मनोविज्ञान—ले० सिन्हा, पृ० ५३२।
६—वही, पृ० ५३६। 	७—कामायनी, पृ० ६९

मिल जाता है। अतः श्रद्धा या रागात्मिका वृत्ति के उपरान्त काम मूल-प्रवृत्ति का उदय दिखाकर प्रसादजी ने मन के क्रमिक मनोवैज्ञानिक विकास की ओर संकेत किया है।

'काम' के उपरान्त 'वासना' सर्ग आता है। वासना काम का ही व्यक्त रूप है। काम के उपरान्त होने वाली इच्छा ही वासना है। इस वासना का सात्विक रूप 'आशा' सर्ग में दिखाया गया है। यहाँ पर मन में जो तीव्र रजोगुणमयी वासना उत्पन्न होती है, उसका मूल कारण यह है कि मन ने काम का धर्माविरुद्ध सृजनात्मक रूप न अपनाकर केवल वासनामय रूप ही अपनाया है। जिसके कारण मन में मूल-प्रवृत्ति के सृजनात्मक रूप की अपेक्षा वासनात्मक रूप की प्रबलता हो गई है और वह पार्थिव सौंदर्य की ओर आकृष्ट होकर आसक्तिपूर्ण बन जाता है। आसक्ति एवम् वासना की प्रबलता के कारण रजोगुण की भी वृद्धि हुई है और इसी के फलस्वरूप मन का सारा ज्ञान काम से आवृत हो गया है। गीता में लिखा भी है कि 'मन, बुद्धि, इन्द्रियाँ आदि सभी काम के निवास स्थान हैं और यह काम इन मन, बुद्धि आदि के द्वारा ही ज्ञान को आच्छादित करके जीवात्मा को मोहित कर देता है।'[1] यह मोहित अवस्था ही यहाँ मन की वासनामयी अवस्था है, जिसका चित्रण कामायनी के 'वासना' सर्ग में इस तरह मिलता है :—

छूटती चिनगारियाँ उत्तेजना उद्‌भ्रान्त, (39)
धधकती ज्वाला मधुर, था वक्ष विकल अशान्त।[2]

पाश्चात्य मनोवैज्ञानिकों में से मैक्डूगल ने काम को मूल-प्रवृत्ति कहा है और वासना (Lust) को काम का एक संवेग कहा है, जो काम-प्रवृत्ति के उदय होते ही मन में अपना स्थान बना लेता है। उनका मत है कि प्रत्येक संवेग मूल-प्रवृत्ति का कार्य है।[3] अतः काम-प्रवृत्ति रूपी कारण से वासना रूपी कार्य का उत्पन्न होना सहज सम्भाव्य है।

'वासना' के उपरान्त 'लज्जा' सर्ग में लज्जा मनोभाव का उदय दिखाया गया है। यदि देखा जाय तो वासना काम का व्यक्त रूप है और लज्जा उस व्यक्त रूप के प्रसार को रोकने वाला मनोभाव है। साधारणतया सौंदर्य के विषय-प्रधान और विषयी-प्रधान दो पक्ष होते हैं। वासना सौंदर्य के विषयी-प्रधान-पक्ष को पुष्ट करती है और लज्जा उसके विषय-प्रधान-पक्ष को बल देती है। लज्जा वासना की अतिशयता के ऊपर एक आवश्यक 'ब्रेक' का काम करती है।[4] जैसा कि कामायनी के 'लज्जा' सर्ग में लिखा भी है :—

१—श्रीमद्भगवद्गीता ३।४० २—कामायनी, पृ० ६२।
३—मनोविज्ञान—ले० सिन्हा, पृ० ३७४। ४—प्रसादजी की कला, पृ० ८१।

मै उसी चपल की धात्री हूँ, गौरव महिमा हूँ सिखलाती,
ठोकर जो लगने वाली है, उसको धीरे से समझाती ।[1]

साहित्य-शास्त्र मे लज्जा को व्रीडा के रूप मे एक प्रकार का सचारी भाव माना गया है और स्त्रियों के मन में पुरुषो के देखने आदि से, प्रतिज्ञा-भग, पराजय, अनुचित कार्य करने आदि से इसका उदय माना गया है ।[2] इस तरह वासनाभिभूत मन का यह एक सहज व्यापार है । पाश्चात्य विद्वानो ने प्रत्येक सवेग के दो पहलू बतलाए है—(१) मानसिक तथा (२) शारीरिक । मानसिक रूप मे प्रत्येक सवेग गुप्त ही रहता है, परन्तु शारीरिक तत्त्व के मिलते ही वह अभिव्यक्त हो जाता है ।[3] इस तरह वासना नामक सवेग जबतक मन के अन्तर्गत विद्यमान रहता है, उसका कुछ पता नही चलता, परन्तु जब वह अभिव्यक्त होता है, तब लज्जा आदि के रूप में दिखाई देने लगता है । इस आधार पर यदि हम वासना को मानसिक रूप स्वीकार करें, तो लज्जा उसका शारीरिक रूप है, जो वासना की ही अभिव्यक्ति करता है और जिसका चित्रण 'वासना' के उपरान्त कामायनी में इस प्रकार किया गया है —

लाली बन सरल कपोलो मे आँखो में अजन सी लगती,
कु चित अलको में घुँघराली मन की मरोर बनकर जगती ।
चचल किशोर सुन्दरता की मै करती रहती रखवाली,
मै वह हलकी सी मसलन हूँ जो बनती कानो की लाली ।[4]

'लज्जा' के उपरान्त कामायनी के सातवें सर्ग में 'कर्म' का उल्लेख किया गया है । यहाँ पर हमें रजोगुण से पूर्णतया अभिभूत मन का अब तमोगुण की ओर उन्मुख होना दिखाई देता है, क्योकि वासना के अतिरेक के कारण वह मन आसुरी प्रवृत्तियो का दास बन जाता है तथा उसे हिंसा, मादकता, विलास-प्रियता, प्रमाद, मोह आदि रुचिकर प्रतीत होने लगते है । गीता मे तमोगुणी पुरुष के लक्षण भी यही बतलाये हैं कि "तमोगुण के बढ जाने पर अन्त करण और इन्द्रियो मे अप्रकाश, कर्त्तव्य कर्मो मे अप्रवृत्ति, प्रमाद अर्थात् व्यर्थ चेष्टा और निद्रा आदि अन्त करण की मोहिनी वृत्तियाँ उत्पन्न हो जाती है ।"[5] ऐसा पुरुष आसुरी प्रवृत्ति-सम्पन्न हो जाता है, जिसके लिए गीता मे लिखा है कि "उसे प्रवृत्ति एवम् निवृत्ति का ज्ञान नही रहता, उसमें शौच, आचार एव सत्य नही रहते, मिथ्या ज्ञान का अवलम्बन करके वह नष्टात्मा एव

१—कामायनी, पृ १०२ ।   २—काव्यदर्पण, पृ० ६१ ।
३—मनोविज्ञान—ले० सिन्हा, पृ ३४७–४८ ।
४—कामायनी, पृ०१०३ ।   ५—श्रीमद्भगवद्गीता १४।१३

अल्प-बुद्धि अहित, उग्र एव क्रूर कर्म तथा जगत के क्षय में ही लीन रहने लगता है। उसमे दम्भ और मद बढ जाता है तथा वह किसी प्रकार भी पूर्ण न होने वाली कामनाओं का सहारा लेकर अज्ञान से मिथ्या सिद्धान्तो को अपनाता हुआ भ्रष्टाचरण मे प्रवृत्त हो जाता है।"[१] कामायनी मे मनु भी आकुलि-किलात द्वारा भ्रमित होकर हिंसा, मादकता, विलासिता आदि भ्रष्ट कर्मों मे लीन हो जाते हैं और एक मात्र अपने सुख को ही सर्वस्व समझते हुए कहने लगते हैं —

तुच्छ नहीं है अपना सुख भी श्रद्धे! वह भी कुछ है,
दो दिन के इस जीवन का तो वही चरम सब कुछ है।[२]

अत भारतीय दृष्टि से यह मन की पतनोन्मुख स्थिति का यथार्थ चित्रण है। पाश्चात्य दृष्टि से यहाँ पर हमे मन की सग्रह-वृत्ति (Acquisition) का रूप दिखाई देता है। मैक्डूगल के मतानुसार यह भी मन की एक मूल-प्रवृत्ति है और स्वामित्व (Ownership) को इसका सवेग बतलाया है। इसमें लोभ अधिक बढ जाता है, स्वामी कहलाने की इच्छा तीव्र हो जाती है और सर्वत्र अधिकार स्थापित करने की लालसा जाग्रत हो जाती है।[3] इस मनोवृत्ति के अनुकूल ही फिर मन के आचरण भी होने लगते है। 'कर्म' सर्ग मे हमे मन की इसी प्रवृत्ति को पूर्ण करने वाली अभिलाषा के दर्शन होते हैं और मन इसी भावना मे प्रेरित होकर पशु-यज्ञ करता है, सोमपान करता है तथा स्वय मदोन्मत्त बनने का प्रयत्न करता है।[४] इस तरह रजोगुण एव तमोगुण की प्रबलता के कारण मन की जो अवस्था होती है, उसी का क्रमिक विकास इस 'कर्म' सर्ग में दिखलाया गया है।

'कर्म' के उपरान्त आठवाँ सर्ग 'ईर्ष्या' है। आसुरी कर्मो में रत मन के अन्तर्गत यहाँ पर ईर्ष्या भाव जाग्रत हुआ है। नाट्यशास्त्र में वर्णित असूया नामक सचारी भाव ईर्ष्या का ही पर्यायवाची है, क्योंकि दूसरे का सौभाग्य, ऐश्वर्य, विद्या, लीला आदि को देखकर उसे न सहने के कारण मन मे जो जलन या डाह उत्पन्न होती है, वही असूया कहलाती है।"[५] कामायनी में मन के अन्तर्गत भी यह ईर्ष्या श्रद्धा की उन्नति को देखने एव अपने प्रेम के बँट जाने के कारण उत्पन्न होने वाली असहिष्णुता के कारण उदित हुई है। इसीलिए मनु कहते हैं :—

"तुम फूल उठोगी लतिका सी कम्पित कर सुख सौरभ तरग,
मैं सुरभि खोजता भटकूँगा वन-वन बन कस्तूरी कुरग।

१—श्रीमद्भगवद्गीता १६।७, ६, १०

२—कामायनी, पृ० १३०। ३—मनोविज्ञान—सिन्हा, पृ० २७४।

४—कामायनी, पृ० १३७-१३८। ५—नाट्यशास्त्र ७।३६

यह जलन नही सह सकता मैं चाहिए मुझे मेरा ममत्व,
इस पचभूत की रचना में मै रमण करूँ बन एक तत्व ।"[१]

यह मनोभाव जलन के कारण तो उत्पन्न हुआ ही है, परन्तु इसकी पृष्ठ-भूमि में अहभाव भी कार्य कर रहा है। इससे पूर्व 'कर्म' सर्ग मे मन के अतर्गत आसुरी प्रवृत्ति की प्रबलता के कारण अहभाव अत्यधिक उन्नत हो चुका है और इस अहभाव के अतिरेक के कारण ही अब मन को एकमात्र अपने सुख, प्रेम, अधिकार, ऐश्वर्य, बल आदि की चिंता रहती है और दूसरो के सुख, अधिकार आदि की वह चिंता नही करता। जैसा कि गीता मे कहा भी है कि "आसुरी प्रवृत्ति वाला व्यक्ति सदैव यही सोचा करता है कि मै ईश्वर हूँ, मै ऐश्वर्य का भोगने वाला हूँ, मै समस्त सिद्धियो से युक्त हूँ, मै बलवान हूँ, मैं सुखी हूँ, मै बडा धनवान हूँ, मै बडे कुटुम्ब वाला हूँ, मेरे समान और कौन है, मै यज्ञ करूँगा, मै दान दूँगा, मैं हर्ष को प्राप्त होऊँगा आदि, इन विचारो में लीन होने के कारण वह अज्ञान से विमोहित हो जाता है।"[२] अतः अपने अधिकार पर कुठाराघात होता हुआ देखकर अथवा श्रद्धा के गर्भस्थ शिशु द्वारा अपने प्रेम को बँटा हुआ जानकर मन में ईर्ष्या भाव का उदय होना स्वाभाविक ही है।

पाश्चात्य मनोविश्लेषण-शास्त्रियो ने इस 'ईर्ष्या' मनोवृत्ति का कारण दूसरी तरह खोज निकाला है। फ्राइड का मत है कि इस ईर्ष्या के अन्दर भी काम का हाथ है, क्योंकि एक लडके में और उसके पिता मे परस्पर द्वेष की भावना जन्म से ही होती है और माता के प्रति उस लडके का आकर्षण रहता है। इसे फ्राइड ने मातृ-ग्रथि (Oedipus Complex) कहा है और बतलाया है कि यह ग्रथि प्रौढावस्था या किशोरावस्था से बहुत पहले ही बन जाती है।[३] अत मनु का श्रद्धा के प्रति आकर्षण होते हुए भी जैसे ही श्रद्धा गर्भवती होती है और उसके उदर में एक पुरुष-शिशु पलने लगता है, वैसे ही मनु मे ईर्ष्या, द्वेष आदि उत्पन्न होने लगते हैं, जो मातृ-ग्रथि की ओर सकेत करते हैं। ये मनु ही यहाँ मन के प्रतीक हैं। अतः मन में ईर्ष्या का उदय नितान्त मनोवैज्ञानिक है और वह मन के क्रमिक विकास का सूचक है।

'ईर्ष्या' के उपरान्त नवाँ सर्ग 'इडा' है। अब तक मन श्रद्धा या हृदय के क्षेत्र मे विचरण कर रहा था, परन्तु ईर्ष्या के कारण अब उसे हृदय मे कोई आकर्षण नही दिखाई देता और वह उस क्षेत्र को छोडकर बुद्धि के क्षेत्र में प्रवेश करता है।

१—कामायनी, पृ० १५३। २—श्रीमद्भगवद्गीता १६।१४-१५

३—मनोविज्ञान—ले० सिन्हा, पृ० ५३२-५३३।

कामायनी के 'आमुख' में प्रसादजी ने इडा को बुद्धि कहा है। सांख्यशास्त्र में महत्तत्व को बुद्धि बतलाया गया है और प्रकृति से उसकी उत्पत्ति मानी गई है।[१] इतना ही नही प्रकृति को त्रिगुणमयी अथवा सत्व, रज, तम से युक्त माना है।[२] अतः उससे उत्पन्न महत्तत्व या बुद्धि भी त्रिगुणात्मक स्वीकार की गई।[३] वेदान्त में अतःकरण के चार रूप माने गये हैं—मन, चित्त, बुद्धि और अहकार तथा बुद्धि का कार्य निश्चय करना बतलाया गया है।[४] न्यायशास्त्र मे बुद्धि को अर्थ का प्रकाश करने वाली एव ज्ञान प्राप्ति कराने वाली कहा है।[५] योगशास्त्र में इसे प्रज्ञा कहा गया है और श्रद्धा के साथ-साथ प्रज्ञा भी योग-सिद्धि मे सहायक बतलाई गई है।[६] आगे चलकर इसे ऋतभरा कहा गया है अर्थात् बुद्धि में सदैव साक्षात् अनुभूत सत्य का निवास माना गया है।[७] प्रसादजी ने कामायनी में 'बिखरी अलकें ज्यो तर्कजाल', 'वक्षस्थल पर एकत्र धरे ससृति के सब विज्ञान ज्ञान', 'त्रिवली थी त्रिगुण तरगमयी'[८] आदि कहकर इड़ा का चित्रण उक्त विशेषताओ से युक्त किया है। अत इडा में बुद्धि के उक्त सभी गुण विद्यमान हैं।

मनोवैज्ञानिको मे से स्टर्न का मत है कि "बुद्धि जीवन की नई समस्याओ और स्थितियो से समायोजन करने की सामान्य मानसिक योग्यता है।"[९] वेल्स का मत है कि "बुद्धि वह शक्ति है, जो हमारे व्यवहार के अंगो को इस तरह पुन सगठित करती है कि जिसमे हम नई परिस्थितियो में भी अधिक अच्छी तरह काम कर सकें।"[१०] वुडवर्थ के मत से "किसी परिस्थिति को संभालने या किसी कार्य को पूरा करने मे मनोयात्मक योग्यताओ का उपयोग बुद्धि है।"[११] वुडवर्थ ने बुद्धि के चार लक्षण बतलाये हैं—वह अतीत अनुभव का उपयोग करती है, नई परिस्थिति के उत्पन्न होने पर उसके अनुकूल बनने की शक्ति प्रदान करती है, परिस्थिति को समझाने का कार्य करती है और कार्यों को विशाल दृष्टिकोण से देखने की योग्यता

१—सांख्यदर्शन १।६१

२—सांख्यदर्शन १।१३६

३—वही, १।१२६

४—हिन्दी विश्वकोष भाग १, पृ० ५१८।

५—तर्कभाषा, पृ० ३०।

६—पातंजलि योगदर्शन १।२०

७—पातंजलि योगदर्शन २।४८

८—कामायनी, पृ० १६८।

९—मनोविज्ञान—ले० सिन्हा, पृ० ४४८।

१०—मनोविज्ञान—ले० सिन्हा, पृ० ४४८-४४९।

११—मनोविज्ञान—ले० वुडवर्थ, पृ० १९।

प्रदान करती है। इस प्रकार बुद्धि काम करने का एक ऐसा ढग है, जिससे व्यक्ति सुगमतापूर्वक अपने लक्ष्य तक पहुँच सकता है।[1]

कामायनी में मन भी जब अपनी वासना को तृप्त होता हुआ नही देखता और अपने प्रेम एव अधिकार को बँटा हुआ देखता है, तब सुख और आनन्द की प्राप्ति के लिए उसका बुद्धि की ओर बढना स्वाभाविक है, क्योकि मन के दो ही क्रीडा-क्षेत्र हैं—हृदय और बुद्धि। जब हृदय के प्रति उसका आकर्षण नही रहा है, तब बुद्धि ही उसे लक्ष्य प्राप्ति मे सहायक जान पडती है। बुद्धि का यह गुण भी है। इसीसे मन उसकी ओर आकृष्ट होकर अपने सुख-प्राप्ति के लक्ष्य की पूर्ति के लिए बुद्धि की शरण मे आ जाता है।[2] अतः 'इडा' या बुद्धि की ओर अग्रसर होने में भी मन के क्रमिक मनोवैज्ञानिक विकास का उचित रूप दिखाई देता है।

'इडा' सर्ग के उपरान्त 'स्वप्न' और 'सघर्ष' सर्ग आते हैं। इन सर्गो में प्रसादजी ने वैज्ञानिक उन्नति द्वारा मन की ऐश्वर्य एव वैभव-प्राप्ति का चित्रण किया है तथा इस भौतिक उन्नति के भयावह अन्तिम परिणाम की ओर भी सकेत किया है। मन प्रथम तो बुद्धि की प्रेरणा से वैज्ञानिक उपायो द्वारा प्रकृति पर भी अधिकार करता हुआ नगर की श्री, शोभा, सम्पन्नता आदि की वृद्धि करता है, परन्तु वह इतने से ही सतुष्ट नही होता, अपनी प्रेरक-शक्ति बुद्धि पर भी अपना अधिकार जमाना चाहता है, जिससे भयानक मानसिक सघर्ष उठ खडा होता है और मन को नीचा देखना पडता है। श्रीमद्भगवद्गीता के अनुसार 'भ्रान्तचित्त वाला मूढ व्यक्ति मोह एव विषयो मे आसक्त रहने के कारण निश्चय ही अधोगति को प्राप्त होता है, क्योकि उसका आसुरी स्वभाव उसे सदैव पतन की ओर खीचता रहता है और वाह्य रूप से उन्नति को प्राप्त होकर भी ऐसा व्यक्ति अन्त में पतन के गर्त में ही गिर पडता है।'[3]

गीता मे इस आसुरी प्रवृत्ति को जन्म देने वाले मुख्यत तीन मनोभाव माने गये हैं, जो काम, क्रोध और लोभ कहलाते हैं और इन तीनो को ही 'नरक का द्वार' कहा गया है। क्योकि ये तीनो ही मन या आत्मा का विनाश करते हैं तथा उसे अधोगति की ओर ले जाते हैं। अत श्रीकृष्ण ने अर्जुन को इन तीनो का परित्याग करने की सलाह दी है।[4] यहाँ पर भी मन काम, क्रोध एव लोभ के वशीभूत होकर, बुद्धि (इडा) पर अपना अधिकार जमाना चाहता है, जिससे भारी हलचल उत्पन्न होजाती है और वह अधोगति को प्राप्त होता है।

१—मनोविज्ञान—ले० सिन्हा, पृ० ४४८-४४९। २—कामायनी, पृ० १७२।
३—श्रीमद्भगवद्गीता १६।१६,२०　　४—श्रीमद्भगवद्गीता १६।२१

मनोवैज्ञानिकों की दृष्टि से यदि विचार करें तो फ्राइड का मत है कि अधिकांश स्वप्न सत्य होते हैं, क्योंकि वे अतृप्त इच्छाओं के नग्न प्रकाशन होते हैं। प्रौढ जीवन में कुछ स्वप्न सीधे इच्छा की पूर्ति करते हैं, परन्तु प्रौढों के अधिकांश स्वप्न उनकी दबी हुई अचेतन काम-वासनाओं एवं काम के विरोध से उत्पन्न होने वाली द्वेष-वासनाओं का वेष बदलते हुए सांकेतिक रूप में प्रकाशन करते हैं। सामाजिक बन्धनों के कारण जो काम-वासनाएँ जाग्रत अवस्था में दबी रहती हैं, वे ही स्वप्नावस्था में वेष बदल-बदल कर अभिव्यक्त हुआ करती हैं।[1] यहाँ पर श्रद्धा को जो मनु और इडा के प्रेम एवं काम-वासना से सम्बन्धित स्वप्न दिखाई देता है वह श्रद्धा की अपनी दमित वासनाओं के परिणामस्वरूप दिखाई देता है। अतः श्रद्धा का यह स्वप्न मनोवैज्ञानिक दृष्टि से सार्थक है। परन्तु सारस्वत प्रदेश में जो संघर्ष उत्पन्न हुआ है, उसका मनोवैज्ञानिक दृष्टि से क्या समाधान है? इसके लिए मनोवैज्ञानिकों का विचार है कि प्रायः मानसिक संघर्ष दो कारणों से हुआ करते हैं—प्रथम, प्रेरकों की पूर्ति में परिवेशगत बाधाओं (environmental obstructions) के होने कारण तथा दूसरे, जो व्यक्तिगत कमियाँ (personal difficiencies) प्रेरकों और संघर्षशील प्रेरकों की पूर्ति में विघ्न उपस्थित किया करती हैं, उनके कारण संघर्ष उत्पन्न होते हैं। परिवेशगत बाधाओं में अकाल, तूफान, बाढ आदि भौतिक घटनाएँ आती हैं, जिनसे हमारी शारीरिक आवश्यकताओं की पूर्ति नहीं होती और मन में संघर्ष उठ खड़ा होता है। दूसरे, नेतृत्व का अभाव या अधिकार प्राप्त न होना, निम्नकोटि की बुद्धिहीन स्मरण-शक्ति होना तथा अन्य वैयक्तिक दोषों के कारण भी हमारी आवश्यकताओं की पूर्ति में बाधा उत्पन्न होती है और मन में संघर्ष उत्पन्न हो जाता है।[2] इसी आधार पर यदि कामायनी में वर्णित संघर्ष पर विचार करें तो पता चलेगा कि यहाँ पर भी मन के सामने दोनों ही प्रकार की बाधायें उपस्थित हैं। उसने बड़े प्रयत्न एवं परिश्रम से नगर की श्री-वृद्धि की है और वह यह सोच रहा था कि इस कार्य की पूर्ति होते ही इडा पर मेरा अधिकार हो जायगा तथा मैं आनन्दमय जीवन व्यतीत करूँगा। परन्तु वहाँ एक ओर तो प्रकृति एवं उसकी प्रजा उसके विरुद्ध बाधा बनकर खड़ी हो जाती है और दूसरी ओर इडा (बुद्धि) भी उसका अधिकार स्वीकार नहीं करती, जिससे उसे अपने नेतृत्व का अभाव खटकने लगता है और इस वैयक्तिक कमी के कारण उसमें संघर्ष उत्पन्न हो जाता है। इन दोनों सर्गों में प्रसादजी ने वैयक्तिक मन के विकास के

१—मनोविज्ञान—ले० सिन्हा, पृ० २७५–२७७।

२—वही, पृ० ४८८–४८९।

साथ-साथ सामूहिक मन (Group mind) के विकास की ओर भी सकेत किया है और बतालाया है कि सामूहिक मन ही सारस्वत नगर की जनता को सगठित करके उन्हे नाना प्रकार के भौतिक उन्नति-सम्बन्धी कार्यो मे लीन करता है और वही सामूहिक मन जनता को क्षुभित करके अत्याचारी शासक के विरुद्ध क्रान्ति मचाने को प्रोत्साहित करता है। इतना ही नही जनता के इस क्षोभ, राज-द्वार पर हलचल मचाने, मनु के विरुद्ध आवाज उठाने एव युद्ध करने में जन-समूह के मनोविज्ञान (Mob-psychology) का भी आभास मिल जाता है। अत. मनोवैज्ञानिक दृष्टि से मन के सघर्ष का यह चित्रण पूर्णतया उचित एव युक्ति-सगत है।

'सघर्ष' के उपरान्त मन में 'निर्वेद' जाग्रत होता है। भारतीय शास्त्रो में निर्वेद नामक मनोभाव की उत्पत्ति उस समय बतलायी गई है, जिस समय किसी इष्ट जन का वियोग हो जाता है, दारिद्र, व्याधि या दुख घेर लेते है, अपमान होता है,[1] ईर्ष्या उत्पन्न होती है अथवा तत्त्वज्ञान उत्पन्न हो जाता है।[2] योगशास्त्र में इसे 'वैराग्य' कहा है और इसकी परिभाषा इस प्रकार की गई है कि जब चित्त स्त्री, अन्न, पान, ऐश्वर्य आदि इष्ट विषयो तथा स्वर्ग, आदि आनुश्रविक विषयो मे तृष्णा रहित हो जाता है उस समय उसे वैराग्य की प्राप्ति होती है।[3] कामायनी में भी हमें यही परिस्थिति दिखाई देती है, क्योकि यहाँ मन का समस्त ऐश्वर्य नष्ट हो जाता है,[4] आघात सहने के कारण उसे व्याधि और दुख घेर लेते है,[5] प्रजा द्वारा उसका अपमान भी होता है,[6] उसमे ईर्ष्या भी उत्पन्न होती है[7] और वह तत्वज्ञान की ओर भी उन्मुख होता है।[8] अत. मन यहाँ पूर्णतया इष्ट एव आनुश्रविक विषयो में वितृष्ण हो जाता है और इसी से उसमे निर्वेद भाव जाग्रत होता है।

मनोविज्ञान की दृष्टि से निर्वेद भी एक प्रकार की मूल-प्रवृत्ति है, जिसका सम्बन्ध मैकडूगल द्वारा प्रस्तावित विकर्षण (Repulsion) से है, क्योकि विकर्षण में अरुचि या घृणा सवेग उत्पन्न होता है[9] तथा इसके कारण व्यक्ति वस्तुओ या पदार्थों एव मनुष्यो से दूर हटता है, उनसे घृणा करता है और उन्हे देखकर नाक-भौं सिकोडने लगता है। कामायनी का 'निर्वेद' सम्बन्धी वर्णन भी उक्त सवेगो से ओतप्रोत है, क्योकि यहाँ पर भी मनु समस्त सासारिक पदार्थो से घृणा करने लगते हैं

१—नाट्यशास्त्र ७।२६ २—काव्यदर्पण, पृ० ८५।
३—पातजलि योगदर्शन १।१५ ४—कामायनी पृ० २०५।
५—कामायनी, पृ० २०७। ६—वही, पृ० २०९।
७—वही, पृ० २२०। ८—वही, पृ० २२९।
९—मनोविज्ञान—ले० सिन्हा, पृ० ३७४।

और इस छाया से बाहर भागने को उद्यत हो जाते है।[१] अत यह निश्चित है कि जो वस्तुये मन को रुचिकर नही होती अथवा जिन्हे देखकर मन को आनन्द या सुख न मिलकर उसके विपरीत कष्ट या क्लेश मिलता है, उनसे मन को घृणा होती है और यही घृणा निर्वेद का रूप धारण कर लेती है। इसी कारण 'सघर्ष' के उपरान्त 'निर्वेद' का वर्णन युक्ति-सगत प्रतीत होता है।

'निर्वेद' के पश्चात् 'दर्शन' और 'रहस्य' सर्ग आते हैं। इन दोनो सर्गो मैं मन की तत्वज्ञान के प्रति आस्था, श्रद्धा, आस्तिकता, भक्ति आदि का वर्णन मिलता है। साहित्य-शास्त्रो मे निर्वेद को शान्त रस का स्थायी भाव माना गया है और ससार से अत्यन्त निर्वेद होने पर या तत्वज्ञान द्वारा वैराग्य का उत्कर्ष होने पर शान्त रस की प्रतीति होना बतलाया गया है।[२] अत. निर्वेद की प्राप्ति के उपरान्त मन का तत्वज्ञान की ओर अग्रसर होकर शान्त रस में लीन होना स्वाभाविक है। गीता मे भी लिखा है कि 'जो पुरुष सम्पूर्ण कामनाओ को त्याग कर ममता-रहित, अहकार-रहित और स्पृहा-रहित व्यवहार करता है, वह शान्ति को प्राप्त करता है।'[३] 'दर्शन' सर्ग मे मनु के मन की भी यही स्थिति होगई है। वह ससार की समस्त कामनाओं, अहकार, ममता, स्पृहा आदि से दूर हो जाता है और उसमे एकमात्र तत्वज्ञान के प्रति आस्था हो जाने के कारण भक्ति, नम्रता, विराट् शक्ति में विश्वास आदि उत्पन्न हो जाते हैं और इसी विश्वास आदि के कारण उसे अखड-आनन्द-घन नटराज शिव का साक्षात्कार होता है।[४] शिव का साक्षात्कार होते ही मन को तत्व का आभास होने लगता है और वह ससार की इस विभीषिका एव विषमता से पूर्णतया परिचित हो जाता है, क्योकि वह जान जाता है कि इच्छा, ज्ञान और क्रिया के पृथक्-पृथक् रहने से ही ये समस्त सकट उपस्थित होते हैं और इनका समन्वय होते ही आनन्द की स्थिति प्राप्त होती है। परन्तु यह तत्वज्ञान श्रद्धा के बिना प्राप्त नहीं होता। जैसा कि गीता मे लिखा भी है कि 'श्रद्धावान् ही ज्ञान प्राप्त करता है।'[५] योगशास्त्र में भी श्रद्धा द्वारा योग की प्राप्ति बतलाई है।[६] त्रिपुरा-रहस्य मे भी यही लिखा है कि 'श्रद्धा को प्राप्त करके ही आत्यन्तिक सुख मिलता है।'[७] इसी कारण यहाँ पर मन को जब पुन श्रद्धा की प्राप्ति होती है तभी वह तत्वज्ञान, योग एव सुख को प्राप्त करता है।

१—कामायनी, पृ० २१६। २—काव्यदर्पण पृ० २८०।
३—श्रीमद्भगवद्गीता २।७१ ४—कामायनी, पृ० २५४।
५—श्रीमद्भगवद्गीता ४।३६ ६—पातजलि योगदर्शन १।२०
७—त्रिपुरारहस्य, ज्ञानखंड, अध्याय, ६।२३–२५

मनोविज्ञान की दृष्टि से 'दर्शन' और 'रहस्य' सर्ग मे वर्णित मन का ईश्वर सम्बन्धी विश्वास, आस्था, तत्वज्ञान, सासारिक विषमता की जानकारी आदि ये सभी बातें धार्मिक सवेगो (Religious emotions) के अन्तर्गत आती हैं। इन सवेगो की उत्पत्ति ईश्वर-चिन्तन से होती है। ईश्वर सत्य, शिव, सुन्दर के आदर्शों की शाश्वत मूर्ति है। अत धार्मिक सवेगो में बौद्धिक, नैतिक तथा सौन्दर्यात्मक सवेगो का समावेश होता है। ये धार्मिक सवेग कई प्रकार के होते हैं, जैसे अतिप्राकृत शक्ति का भय, ईश्वर के रूप को देखकर आश्चर्य, ईश्वर की प्रशसा और उसमे श्रद्धा, ईश्वर के सम्मुख नत मस्तक होना, आत्म-समर्पण करना, अपने साथियो के प्रति सहानुभूति तथा सदिच्छा प्रकट करना, ईश्वर के प्रति प्रेम और भक्ति का होना आदि।[1] कामायनी के इन दोनो सर्गो मे लगभग उक्त सभी धार्मिक सवेगो का वर्णन मिलता है, जो 'निर्वेद' सर्ग में ईश्वर-चिन्तन के उपरान्त मन के अन्तर्गत उत्पन्न हुए हैं।

इसके अतिरिक्त पाश्चात्य मनोवैज्ञानिक भी मन की तीन प्रवृत्तियाँ मानते हैं, जो क्रमश ज्ञान (Cognition), इच्छा (Feeling)[2] और क्रिया (Conation) कहलाती हैं। इन तीनो के पारस्परिक सम्बन्ध के बारे मे प्रो० सली का विचार है कि ये तीनो प्रवृत्तियाँ अन्योन्याश्रित रहती हैं और तीनो की आंगिक एकता ही मन है। उक्त तीनो मनोवृत्तियो के परस्पर सलग्न रहने से ही मन का विकास होता है। यदि इन तीनो मनोवृत्तियो मे परस्पर विषमता हो जाती है, तो मन मे भी विषमता उठ खडी होती हैं।[3] कामायनी के 'रहस्य' सर्ग में भी यही दिखाया गया है कि इच्छा, क्रिया और ज्ञान के परस्पर दूर रहने से ही जीवन मे विडम्बना एव विषमता पैदा होती हैं।[4] यदि इन तीनो का समन्वय कर दिया जाय, तो समस्त मानसिक जगत में समता, सुख और आनन्द छा जाते हैं। यहाँ अन्तर इतना ही है कि शैवागमो में तो 'इच्छति, जानाति, करोति' के आधार पर पहले इच्छा, फिर ज्ञान और अन्त में क्रिया को रखा गया है और बतलाया गया है कि इच्छा के उपरान्त ही ज्ञान की उत्पत्ति होती है। यह इच्छा ही ज्ञान का उत्पत्ति-स्थान है और ज्ञान के उपरान्त वह इच्छा ही क्रिया के रूप में बाहर प्रस्फुटित होती है।[5] मनोविज्ञान में इन तीनो का

१—श्रीमद्भगवद्गीता ४।३९

२—यहाँ Feeling को क्रिया की प्रेरक होने तथा क्रिया से पूर्व आने के कारण 'इच्छा' का पर्यायवाची माना गया है।

३—मनोविज्ञान—ले० सिन्हा, पृ० ७९—८१।

४—कामायनी, पृ० २६२—२७२। ५—तन्त्रालोक भाग २, पृ० ९१।

क्रम इस प्रकार रखा गया है कि पहले ज्ञान (cognition) फिर इच्छा (feeling) और इसके उपरान्त क्रिया (conation) आती है। जैसे, यदि हम एक गुलाब का फूल देखते हैं, तो हमें उस फूल का ज्ञान होता है और उसे देखते ही हमें सुख मिलता है, यही फीलिंग या इच्छा है। फिर सुख के कारण उस फूल को देखने के लिए हम उस पर ध्यान देते हैं, यही हमारी क्रिया या चेष्टा है।[1] परन्तु कामायनी में दोनों से भिन्न इच्छा, क्रिया और ज्ञान—यह क्रम रखा गया है और पहले भावलोक में इच्छा का प्राधान्य, कर्मलोक में सतत क्रिया का प्राधान्य और फिर ज्ञानलोक में ज्ञान-प्राप्ति का प्राधान्य दिखलाया गया है और तीनों ही एक-दूसरे के कारण आनन्द से वंचित कहे गये हैं। संभवतः प्रसादजी यहाँ मन का क्रमिक विकास दिखाना चाहते हैं। इसी कारण उन्होंने पहले मन के सम्मुख शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध आदि विषयों एवं रागमय माया राज्य से परिपूर्ण भावलोक का दिग्दर्शन कराया है, जो मानव-जीवन की भूमिका है और जिसे संसार का अत्यन्त निम्न भाग कह सकते हैं। इसके उपरांत कर्मलोक आता है, जिसमें कर्मों की प्रधानता है और सभी प्राणी नाना कर्मों में निरन्तर लीन रहते हैं। निस्सन्देह केवल इच्छा करने की अपेक्षा कार्य करना श्रेष्ठ है और गीता में भी इच्छा करने की अपेक्षा कर्म को श्रेष्ठ कहा है।[2] इसी कारण प्रसादजी ने भी भावलोक की अपेक्षा कर्मलोक को कुछ उन्नत बतलाया है। इसके अनन्तर ज्ञानलोक आता है, जो भाव और कर्म से अधिक ऊँचा है और जहाँ उक्त दोनों लोकों से विरक्त होकर प्राणी जीवन का चरम उद्देश्य प्राप्त करने का प्रयत्न करते हैं। इन्हें गुणों की दृष्टि से देखा जाय तो प्रथम भावलोक में माया, मोह, राग आदि की प्रधानता होने के कारण उसे तमोगुण-युक्त संसार मान सकते हैं। कर्मलोक में एषणाओं तथा उनके अनुकूल सतत कार्य करने की प्रधानता होने के कारण रजोगुणपूर्ण संसार कह सकते हैं और ज्ञानलोक में तपश्चर्या, साधना आदि का प्राधान्य होने के कारण उसे सत्वगुणमय संसार मान सकते हैं। अतः भले ही 'रहस्य' सर्ग में शैवागमों एवं मनोविज्ञान के क्रमानुसार इच्छा आदि का उल्लेख न हुआ हो, परन्तु व्यावहारिक दृष्टि से वह सर्वथा उपयुक्त है तथा मन के क्रमिक विकास का द्योतक है।

कामायनी का अन्तिम सर्ग 'आनन्द' है। यहाँ पर श्रद्धायुक्त भक्ति, आस्तिक्य भाव, पवित्रता, संसार की वास्तविकता का ज्ञान आदि उत्पन्न हो जाने पर मन को अन्त में आनन्द प्राप्त करते हुए दिखलाया है। यह मन के क्रमिक विकास की अन्तिम

१—मनोविज्ञान—ले० सिन्हा, पृ० ७६। २—श्रीमद्भगवद्गीता ३।१६

अवस्था है। मुडकोपनिषद् मे लिखा है कि 'सम्पूर्ण प्राणियो के प्राण और शरीर का नियमन करने वाले वे परमेश्वर मन मे व्याप्त रहने के कारण मनोमय कहलाते है और हृदय का आश्रय लेकर अन्नमय स्थूल शरीर मे प्रतिष्ठित हैं। बुद्धिमान मनुष्य विज्ञान द्वारा उस परमब्रह्म को भली-भाँति प्रत्यक्ष कर लेते हैं, जो आनन्दमय होकर अविनाशी रूप से सर्वत्र प्रकाशित है। ऐसे आनन्द स्वरूप ब्रह्म को तत्वज्ञान द्वारा जान लेने पर हृदय की समस्त ग्रथियाँ खुल जाती है सम्पूर्ण सशय नष्ट हो जाते हैं और शुभाशुभ कर्म भी समाप्त हो जाते है अर्थात् समस्त सासारिक बन्धनो से पूर्णतया उन्मुक्त होकर मन परमानन्द का अधिकारी हो जाता है।'[1] अत यहाँ मन को हृदय में व्याप्त आनन्द रूप ब्रह्म का विशेषज्ञान द्वारा साक्षात्कार होता है। गीता में भी लिखा है कि 'जो व्यक्ति जितेन्द्रिय, तत्पर एव श्रद्धावान् होता है, वही ज्ञान को प्राप्त होकर तत्क्षण परम शान्ति अथवा परमानद को प्राप्त होता है।'[2] प्रत्यभिज्ञा-हृदयम् मे भी लिखा है कि 'प्राणशक्ति या ब्रह्मनाडी के विकास से चिदानन्द लाभ होता है।'[3] शिवसूत्रविमर्शिनी मे वतलाया गया है कि 'समाधिसुख ही लोकानन्द है'[4] अर्थात् समाधि द्वारा प्राप्त सुख को ही लोक मे प्राप्त आनन्द कह सकते हैं। योगशास्त्र मे पतजलि भी कहते हैं कि 'वैराग्य उत्पन्न होने के उपरान्त जव समस्त दोषो के बीज नष्ट हो जाते हैं, तब कैवल्य की प्राप्ति होती है और योगियो का यह कैवल्य ही मोक्ष या अखड आनन्द-धाम है। यह बुद्धि या मन की सबसे उत्कृष्ट अवस्था है। इस अवस्था में पहुँच कर योगी स्वरूप-प्रतिष्ठ चितिशक्ति रूप हो जाता है।'[5] वेदान्त मे भी आनन्द-स्वरूप ब्रह्म की प्राप्ति ऐसी ही है। उसमें भी आत्मा समस्त उपाधियो से रहित होकर सत्य ज्ञान को प्राप्त करता हुआ ब्रह्ममय हो जाता है और अखड आनन्द-लाभ करता है।[6] कामायनी मे भी मन की आनन्दावस्था का ऐसा ही वर्णन मिलता है कि 'वह चेतन मन चिरमिलित प्रकृति से पुलकायमान होता हुआ निज शक्ति से तरगायित शोभाशाली आनन्द-अम्बुनिधि का स्वरूप प्राप्त कर

१—मुंडकोपनिषद् २।२।७-८

२—श्रद्धावाँल्लभते ज्ञान तत्पर. सयतेन्द्रिय·।
ज्ञान लब्ध्वा परा शान्तिमचिरेणाधिगच्छति ॥ गीता ४।३९

३—मध्यविकासाच्चिदानदलाभ । प्रत्यभिज्ञाहृदयम्, १७।

४—लोकानन्द समाधिसुखम्। शिवसूत्रविमर्शिनी १।१८

५—[illegible] योगदर्शन, पृ० २५६।

लेता है।'[1] कामायनी मे मन को यह आनन्द की प्राप्ति उसी क्षण होती है, जब वह श्रद्धायुक्त होकर इन्द्रियों पर विजय प्राप्त करता है, काम-क्रोधादि से मुक्त हो जाता है, आत्मा रूप शिव का साक्षात्कार कर लेता है, समाधि-सुख मे लीन हो जाता है और वैराग्य द्वारा अपने समस्त दोषो के बीजो को नष्ट कर लेता है। इन सभी बातो को अपनाने के कारण ही मन में समरसता का सचार होता है, अपने-पराये की भावना तिरोहित होकर पूर्ण अद्वैत भाव उत्पन्न होता है और वह जड-चेतन में सर्वत्र एक चेतनता का विलास देखता हुआ अखड आनन्द मे लीन हो जाता है।[2]

पाश्चात्य मनोवैज्ञानिको की दृष्टि मे 'आनन्द' एक प्रकार की सुख की अनुभूति है।। प्राय सुख की उत्पत्ति के बारे में विभिन्न मत मिलते हैं। जैसे, अरस्तू का मत है कि शरीर के अन्दर शक्ति की एक स्थिर मात्रा होती है, जो न बढती है और न घटती। सुख की उत्पत्ति उस शक्ति के साधारण व्यापार या परिमित उपयोग से होती है और दुःख की उत्पत्ति इस शक्ति की न्यून क्रिया या अति क्रिया से होती है। स्पिनोजा, कांट, बेन और हर्बर्ट स्पेंसर का मत है कि सुख जीवन-शक्ति की वृद्धि का सूचक है और दुःख जीवन शक्ति के क्षय का। बेन का मत है कि 'आनन्द' रक्त-सचार, पाचन और श्वसन आदि सभी जीवन व्यापारो को उत्तेजित करता है और शोक इसके विपरीत प्रभाव उत्पन्न करता है।[3] परन्तु मनोवैज्ञानिको की राय उक्त दार्शनिको से भिन्न है। हर्बर्ट का विचार है कि मन मे विचार अथवा विचार-शक्तियाँ होती हैं, जो चेतना की अन्तिम तत्व कहलाती है। सुख की उत्पत्ति विचारो की संगति से और दुःख की उत्पत्ति विचारो के तनाव से होती है। इस तरह यह विचारो के कार्य को ही सुख-दुःख की अनुभूति मानता है। स्टाउट का विचार है कि सुख की उत्पत्ति मानसिक क्रिया की सफलता से होती है और दुःख की उत्पत्ति मानसिक क्रिया की विफलता से होती है। वार्ड का मत है कि ध्यान के कारण सुख या दुःख उत्पन्न होते है। प्रभावपूर्ण ढग से दिए हुए अधिक से अधिक ध्यान के द्वारा सुख की प्राप्ति होती है और विघ्नो, धक्को या दूषित समायोजनो के कारण ध्यान मे बाधा होने से दुःख की प्राप्ति होती है।[4] इस तरह सुख की अनुभूति का सम्बन्ध मन और शरीर

१—चिर मिलित प्रकृति से पुलकित वह चेतन पुरुष पुरातन,
निज शक्ति तरङ्गायित था आनन्द अम्बुनिधि शोभन। 132
—आनन्द सर्ग, पृ० २८६।

२—कामायनी, पृ० २६४। 136

३—मनोविज्ञान—सि० सिन्हा, पृ० ३३७-३३८।

४—वही, पृ० ३३८-३४०।

दोनो से जोडा गया है, परन्तु अनुभूति मन की एक ऐसी मौलिक एवम् स्वतन्त्र प्रक्रिया है, जिसका एक ओर ज्ञान और क्रिया से घनिष्ठ सम्बन्ध रहता है और दूसरी ओर जीवन-क्रिया से ।[1] अत. यहाँ आनन्द की जो प्राप्ति हुई है, वह मन की मौलिक एव स्वतन्त्र क्रिया द्वारा हुई है और उसका सम्बन्ध ज्ञान से भी रहा है।

इसके अतिरिक्त कामायनी के अन्तर्गत मन को जो अन्त में अत्यन्त आनन्द प्राप्त करते हुए दिखलाया है, उसका समाधान गेस्टाल्टवादी मनोवैज्ञानिको के अतरालपूर्ति (closing the gap) वाले नियम से किया जा सकता है। इस नियम के अन्तर्गत वे यह मानते है कि जब कोई व्यक्ति किसी काम को करने का भार लेता है, तब उसके मन मे तनाव उत्पन्न हो जाते हैं, जिनकी शान्ति काम के पूरा हो जाने पर होती है। जैसे आप एक पत्र अपनी जेब में इस उद्देश्य से रखते है कि आप उसे डाक में छोडेगे। यह कार्य आपके मन में तनाव उत्पन्न कर देता है। जब आपने पत्र को अपनी जेब में रखा था, उस समय आपके व्यवहार में एक अन्तराल या रिक्तता उत्पन्न हुई थी। परन्तु जैसे ही आप उस पत्र को डाक मे छोड देते है, आपके अन्तराल या रिक्तता की पूर्ति हो जाती है और आपके मन मे सन्तुलन स्थापित हो जाता है।[2] यही नियम कामायनी मे भी कार्य कर रहा है। प्रारम्भ में सुख या आनन्द के अभाव से मनु के मन में अन्तराल या रिक्तता उत्पन्न होती है और उसमे हमे तनाव भी दृष्टिगोचर होता है, परन्तु अन्त में भौतिकता का आवरण छोड कर आध्यात्मिकता की ओर उन्मुख होने पर अथवा शिव के चरणो मे आजाने पर मन के अन्तराल की पूर्ति हो जाती है और वह आनन्द-विभोर हो जाता है।

निष्कर्ष यह है कि प्रसादजी ने कामायनी में चिन्तित एव व्यथित मन को भावनाओ, प्रवृत्तियो, मनोवृत्तियो आदि के विभिन्न क्षेत्रो में पर्यटन करते हुए अन्त मे जो आनन्द-लोक तक पहुँचाया है और इस यात्रा में मन के क्रमिक विकास का जो रूप अकित किया है, वह भारतीय एव पाश्चात्य दार्शनिकों एव मनोवैज्ञानिकों की दृष्टि से उपयुक्त एव न्याय-सगत है। उसमे मानव-मनोविज्ञान के आधार पर ही व्यावहारिक रूप से मन के क्रमिक विकास का उल्लेख हुआ है। इतना अवश्य है कि प्रसादजी ने मनोविज्ञान की सभी शाखाओ का अध्ययन करके यह महाकाव्य नही लिखा। इसलिए हम प्रत्येक पहलू से इसे मनोवैज्ञानिक नही कह सकते। परन्तु फिर भी उनके अधिकाश वर्णन मनोवैज्ञानिक विकास के द्योतक हैं और उनमें हमे परिस्थितियो द्वारा उत्पन्न मन की क्रमिक दशाओ का रूप मिल जाता है। इतना होने पर भी प्रसादजी का यह मन सम्बन्धी वर्णन अधिकतर मानव के व्यावहारिक जीवन

---

१ — मनोविज्ञान—ले० सिन्हा, पृ० ५१९। २ — वही, पृ० ३४१।

एव भारतीय शास्त्रो पर ही आधारित है। यह दूसरी बात है कि उनके विवेकशील होने के कारण ये वर्णन पाश्चात्य मनोविज्ञान की दृष्टि से भी असगत नही हैं।

कामायनी और फ्राइड का मनोविज्ञान

मनोविज्ञान के क्षेत्र मे फ्राइड (Fraud) के अन्वेषणो का भी एक विशिष्ट स्थान है। फ्राइड मूलत एक चिकित्सक थे और मृगी के रोगियो की चिकित्सा का अन्वेषण करते हुए आपने मनोविज्ञान की एक नवीन पद्धति का अन्वेषण किया था।[1] आपकी यह नवीन पद्धति मनोविश्लेपण-विज्ञान (Psycho-analysis) के नाम से प्रसिद्ध है। इस पद्धति के आधार पर आपका मत है कि चेतना की एकता के भग या खडित होने के कारण प्रायः उन्माद, मृगी आदि मानसिक रोग उत्पन्न हुआ करते हैं। चेतना के खडित होने से आपका अभिप्राय यह है कि मन अपनी क्रियाओ के दो या दो से अधिक प्रतिद्वन्द्वी और स्वतत्र समूहो में विभक्त हो जाता है, जिससे चेतना की एकता भग हो जाती है। इस भग करने की क्रिया में सबसे बडा हाथ काम (Libido) का रहता है। इस काम-प्रवृत्ति का बचपन से ही अतृप्त रहने के कारण दमन होता रहता है और यह दमित वासना मन के अचेतन स्तर में एकत्रित होती रहती है। किन्तु यह वासना कभी नष्ट नही होती और अचेतन स्तर में स्थित रहते हुए समयानुसार मन के चेतन जीवन में भी दिवा-स्वप्न (day-dreams) हास्य-विनोद, कहने की भूल, लिखने की भूल आदि मे प्रकट होती रहती है। स्वप्न भी इसी दमित काम-प्रवृत्ति का साकेतिक प्रकाशन है।[2]

मनोविज्ञान के क्षेत्र में फ्राइड के पाँच सिद्धान्त प्रसिद्ध हैं; जो स्वप्न-सिद्धान्त (Theory of Dreams), काम-सिद्धान्त (Libido Theory), भूल-सिद्धान्त (Theory of Slips) हास्य-विनोद-सिद्धान्त (Theory of wit) तथा अहं-सिद्धान्त (Ego Theory) के नाम से पुकारे जाते हैं।

स्वप्न-सिद्धान्त—स्वप्नो के बारे मे फ्राइड का यह विचार है कि प्राय सभी स्वप्न हमारी बचपन की दमित इच्छाओं के प्रकाशन होते हैं। प्रौढ जीवन मे कुछ स्वप्न (जैसे, आराम के स्वप्न) सीधे इच्छा की पूर्ति किया करते हैं, परन्तु अधिकाश स्वप्न हमारी उन काम-वासनाओ के नग्न प्रकाशन होते है, जो सामाजिक प्रतिबधो के कारण दबा दी जाती हैं तथा जो दमित होने के कारण नष्ट न होकर मन के

1—Historical Introduction to Modern Psychology by G. Murphy, p 307.

२—मनोविज्ञान—ले० डा० यदुनाथ सिन्हा, पृ० ३०।

अचेतन स्तर में एकत्रित रहती हैं। जाग्रत अवस्था में तो ये काम-वासनायें प्रतिरोधकों (censors) द्वारा रोक दी जाती हैं, परन्तु निद्रा आते ही ये प्रतिरोधक शिथिल हो जाते हैं। अत अचेतन में स्थित ये दबी हुई काम-वासनाएँ वेप बदल-बदल कर स्वप्न में अभिव्यक्त होने लगती हैं और परोक्ष रूप से अपनी तृप्ति किया करती हैं। इसी कारण फ्राइड स्वप्न को अचेतन मे स्थित दमित काम-वासनाओ अथवा लिबिडो (Libido) का साकेतिक प्रकाशन मानता है।[1]

कामायनी मे हमे स्वप्न का वर्णन दो स्थलो पर मिलता है। प्रथम तो 'काम' सर्ग मे मनु के स्वप्न का वर्णन आया है। मनु को यह स्वप्न उस समय दिखाई देता है, जिस समय वे श्रद्धा के आत्म-समर्पण के बाद अत्यधिक सोच-विचार में पडे हुए हैं और यह निश्चय नही कर पा रहे हैं कि श्रद्धा को अपनाकर पुन सासारिक जीवन व्यतीत करना चाहिए अथवा नही। अभी वे इतना ही सोच पाये हैं कि 'चाहे कुछ भी हो जाय, जीवन के इस मधुर भार को मै नही सम्हालूँगा, यदि बाधायें आती हैं तो आने दो, उनका भी सामना करूँगा।'[२] बस इसी क्षण उन्हे नीद आ जाती है और यह स्वप्न दिखाई देता है कि स्वय काम उनके पास आया है और कह रहा है कि 'मै अभी तक प्यासा हूँ, मुझे देवो के वासना सम्बन्धी तीव्र प्रवाह से भी सतोष नही हुआ है। वह प्रवाह तो नष्ट हो गया, परन्तु मेरी तृष्णा अभी तक तृप्त नही हुई है। रात-दिन मेरा ही अनुसरण करने के कारण देवो की सृष्टि का भी नाश हो चुका है। मै उनको उन्मत्त होकर रात-दिन घेरे रहता था, परन्तु अभी तक मेरा अतिचार बन्द नही हुआ है। आज न तो वे देवता ही है और न मेरे मनोविनोद के साधन ही है। मै अगहीन हो गया हूँ, परन्तु मुझ में चेतनता अभी तक शेप है। मै अपना अस्तित्व लिए हुए आज इधर-उधर भटक रहा हूँ और अपनी इच्छा-पूर्ति करना चाहता हूँ। मै पहले तो वासना की आँधी के रूप मे देवताओ के मन में विद्यमान रहता था, परन्तु अब ससृति के विकास का साधन बनना चाहता हूँ और मानवता का विकास करके मै अपने ऋण का शोधन भी करना चाहता हूँ। ' अब यदि तुम मेरे कार्य मे सहायक होना चाहते हो, तो मेरी पुत्री श्रद्धा के साथ अपना सम्बन्ध स्थापित करो। मेरी पुत्री अत्यन्त सुन्दर और भोली-भाली है। वह फूलो की डाल के समान कोमल और कमनीय है। उसके द्वारा समस्त जड चेतनता की गाठें खुल जायेंगी और समस्त भूलो का सुधार हो जायगा, क्योंकि वह जीवन के ऊष्ण विचारो को शीतलता एव शान्ति प्रदान करने वाली है। अब यदि तुम उसे पाना

1—Historical Introduction to Modern Psychology, p 311–314

२—कामायनी, पृ० ६६।

चाहते हो, तो उसके लिए योग्यता धारण करो।'[1] इतना कहकर काम चुप हो जाता है और मनु की आँखें खुल जाती हैं।

दूसरा स्वप्न-वर्णन हमें 'स्वप्न' सर्ग के अन्तर्गत मिलता है। यहाँ पर श्रद्धा के स्वप्न का उल्लेख किया गया है। मनु श्रद्धा को अकेला छोडकर चले गये हैं। जाते समय श्रद्धा आसन्न-गर्भा थी। अब श्रद्धा को पुत्र-रत्न प्राप्त हो चुका है। श्रद्धा का पुत्र कुछ बडा हो गया है और इधर-उधर खेलने भी जाने लगा है। परन्तु श्रद्धा को प्रियतम का वियोग अत्यन्त दुखदायी प्रतीत होता है और वह दुखिया रात को यह स्वप्न देखती है कि 'मनु इडा के पास पहुँच गये हैं। इडा उनके सामने अग्नि ज्वाला सी देदीप्यमान होकर बडे उल्लास के साथ बैठी है तथा मनु को आगे बढने के लिए उत्तेजित कर रही है।·· ···उसकी प्रेरणा से मनु ने नगर की श्री-वृद्धि की है, शासन-सूत्र सँभाला है, सुन्दर व्यवस्था की है, प्रकृति के साथ सघर्ष करना सीखा है और समस्त विभूति के स्वामी बन गये हैं।····· इतना ही नही, वह मनु को चषक पर चषक भरकर पिला रही है और मनु का तृषित कठ पी-पीकर भी सन्तुष्ट नहीं हो रहा है।' अन्त मे मनु अतृप्त वासना के परिणामस्वरूप इडा के साथ भी असामाजिक आचरण करने के लिए उद्यत हो जाते हैं, जिससे कुपित होकर रुद्र हुँकार कर उठते हैं, आकाश में देव-शक्तियाँ क्षुब्ध हो जाती हैं, रुद्र का तीसरा नेत्र खुल जाता है, वे अपने 'अजगव' पर शिंजिनी चढा लेते हैं, सारा नगर थरथर काँपने लगता है, सभी आश्रय पाने के लिए व्याकुल हो उठते हैं, स्वय मनु भी सन्देह में डूब जाते हैं और यह आशका करने लगते हैं कि कही फिर प्रलय जैसी घटना न हो जाय।'[2] स्वप्न मे यह दृश्य देखते ही श्रद्धा काँप उठती है, उसकी आँखें खुल जाती हैं और वह पुकार उठती है :—

"यह क्या देखा मैंने ? कैसे वह इतना हो गया छली ?"[3]

यदि उक्त दोनो स्वप्नो का विश्लेषण करे तो यही ज्ञात होगा कि दोनो स्वप्नो के अन्तर्गत काम-वासना मन के अचेतन-स्तर में विद्यमान है। प्रथम स्वप्न में मनु की काम-वासना प्रलय होने के कारण अतृप्त रह गई है, उसे तृप्ति का संयोग प्राप्त नहीं हुआ है और तप आदि के द्वारा मनु ने उसे दमन करने का प्रयत्न किया है। इसी कारण वे पहले भी जैसे ही रात्रि के माधुर्यपूर्ण, मादक एव उद्दीपनकारक वातावरण को देखते हैं, वैसे ही उनके हृदय में वह अनादि-वासना जाग्रत हो जाती है।[4] इसके अनन्तर पुन मनु जैसे ही अद्वितीय सौंदर्य से ओतप्रोत युवती श्रद्धा को

१—कामायनी, पृ० ७१-७७। २—वही, पृ० १८१-१८५।
३—वही, पृ० १८६। ४—वही पृ० ३४।

देखते हैं, वैसे ही मन में सघर्ष उठ खडा होता है, परन्तु श्रद्धा के सम्मुख जाग्रत अवस्था में उनकी काम-वासना प्रतिरोधको (censors) द्वारा रोक दी जाती है और वे सहसा श्रद्धा को स्वीकार करने के लिए उद्यत नही होते। परन्तु जब उन्हे निद्रा घेर लेती है, तब उनके प्रतिरोधक शिथिल पड जाते हैं और उनकी काम-वासना स्वप्न मे उस सौंदर्यशालिनी श्रद्धा को प्राप्त करने के लिए लालायित हो उठती है। अत फ्राइड के आधार पर मनु की अतृप्त काम-वासना ही मन के अचेतन-स्तर में विद्यमान रहने के कारण स्वय काम का रूप धारण करती हुई उन्हे श्रद्धा को प्राप्त करने की प्रेरणा देती है।

दूसरे, यदि हम श्रद्धा के स्वप्न का विश्लेषण करें तो ज्ञात होगा कि श्रद्धा के स्वप्न मे भी अचेतन मन के अन्दर स्थित काम-वासना ही मनु और इडा के प्रेम का रूप धारण करके यहाँ उपस्थित हुई है, क्योंकि श्रद्धा मनु के प्रेम से वचित है, वह वियोगिनी है, पतिप्राणा है और वह यह जानती है कि मनु की वासना की तृप्ति न होने के कारण ही वे उसे छोड गये हैं। इसी कारण उसे स्वप्न में अपने स्थान पर किसी अन्य स्त्री का ध्यान आता है तथा वह मनु और इडा के प्रेम-व्यापार सम्बन्धी स्वप्न देखने लगती है। सच पूछा जाय तो यह स्वप्न श्रद्धा की अतृप्त वासना का ही नग्न-प्रदर्शन है, परन्तु प्रसादजी ने उसे सच्चा रूप दे दिया है और इडा से उसका सम्बन्ध जोडकर कथा को आगे बढाने का अवसर निकाल लिया है। क्योंकि प्रसादजी ने स्वय भी श्रद्धा के स्वप्न का विश्लेषण करते हुए यही कहा है —

"स्वजन स्नेह मे भय की कितनी आशकाएँ उठ आती।"[1]

अत इडा और मनु के असामाजिक आचरण मे श्रद्धा के मन मे स्थित आशका ही कार्य कर रही है, जिसे फ्राइड अचेतन मन मे स्थित दबी हुई काम-वासना कहता है। श्रद्धा की काम-वासना एक ओर तो मनु के चले जाने के कारण दमित हो गई है। दूसरे, पुत्र के सम्मुख वह अपनी वियोग-भावना भी व्यक्त नही कर सकती। इस कारण उसकी काम-वासनाओ के दब जाने से तथा जाग्रत-अवस्था में प्रतिरोधको द्वारा अवरुद्ध हो जाने से वे वासनाएँ ही स्वप्न में नया वेष बदल कर उपस्थित हुई हैं।

काम-सिद्धान्त—फ्राइड का दूसरा सिद्धान्त 'काम-सिद्धान्त' के नाम से प्रसिद्ध है। इस सिद्धान्त के अनुसार फ्राइड का मत है कि काम (Libido) अत्यन्त व्यापक है। वह प्रेम का पर्यायवाची है और उसके अन्तर्गत माता-पिता का प्रेम, कामुक व्यक्तियो का प्रेम, मित्रो का प्रेम, पशुओ का प्रेम और जड वस्तुओ का प्रेम भी

सम्मिलित है। उसमें अँगूठा चूसने से लेकर मलमूत्रोत्सर्ग तक समस्त सुख आ जाते हैं। फ्राइड का कथन है कि सर्वप्रथम बच्चे मे अपने शरीर से प्रेम होता है और वह अन्य किसी मे प्रेम नही करता। उसकी यह दशा आत्मरति (auto-eroticism) कहलाती है। धीरे-धीरे उसके प्रेम का विकास होता है। वह पहले तो अपने जैसे बच्चे से प्रेम करता है अर्थात् एक लडका लडके से प्यार करता है और एक लडकी लडकी से प्यार करती है, जिसे फ्राइड समलिंग-कामुक-स्थिति (homo-sexual stage) कहता है। किन्तु जैसे ही बच्चा बडा होने लगता है, उसमे फिर समलिंग-कामुकता (homo-sexuality) नही रहती। फिर एक लड़का एक लडकी से प्रेम करने लगता है और एक लडकी एक लडके से प्रेम करने लगती है, जिसे फ्राइड विपमलिंग-कामुक-स्थिति (hetro-sexual stage) कहता है। इस तरह यह काम ही भिन्न-भिन्न स्थितियो मे एक बच्चे के अन्तर्गत प्रेम-भाव उत्पन्न किया करता है।[1]

उक्त स्थितियो के अतिरिक्त फ्राइड ने काम का विश्लेषण एक और ढग मे किया है। थीबा (Thebes) के राजा ओडीपस (Oedipus) की कहानी के आधार पर उसने काम-सम्बन्धी एक और खोज की है। उस कहानी में राजा ओडीपस अपने पिता का वध कर डालता है और अपनी माता से विवाह कर लेता है। अत इस कहानी के आधार पर फ्राइड ने यह सिद्धान्त बनाया है कि एक लडके मे अपनी माता के प्रति आकर्षण होता है और पिता के प्रति द्वेष-भावना रहती है। जिसे वह 'ओडीपस-कम्पलैक्स' (Oedipus Complex) कहता है। ऐसे ही एक लडकी में अपने पिता के प्रति आकर्षण रहता है और माता के प्रति द्वेष-भावना रहती है। इसे वह 'इलैक्ट्रा-कम्पलैक्स' (Electra Complex) कहता है। उक्त 'कम्पलैक्स' की भावना एक शिशु मे युवा होने से बहुत पहले ही उत्पन्न हो जाती है और समय आने पर वह प्रकट भी होती रहती है।[2]

फ्राइड के उक्त काम-सम्बन्धी सिद्धान्त के आधार पर जब कामायनी काव्य का अनुशीलन किया जाता है तो पता चलता है कि यहाँ पर एक शिशु तथा प्रौढ दोनो के प्रेम का चित्रण किया गया है। श्रद्धा के पुत्र कुमार के प्रेम मे हमें प्रारम्भ से ही विपमलिंगीय कामुकता के दर्शन होते हैं, क्योंकि वह अपनी माँ को अधिक प्यार करता है। यहाँ तक कि जब माँ श्रद्धा मनु को पुनः प्राप्त करके फिर खो देती है और वहाँ अन्यमनस्क एवं शोकाकुल सी दिखाई देती है, तब 'कुमार' बड़े प्रेम के साथ यही कहता है :—

1—Historical Introduction to Modern Psychology, p 318

२—वही, पृ० ३१८।

"माँ ! क्यो तू है इतनी उदास, क्या मैं हूँ तेरे नही पास।"[1]

किन्तु इस प्रेम मे फ्राइड के वासनात्मक काम की गध नही आती।. यहाँ तो शुद्ध मातृ-प्रेम की धारा बह रही है, परन्तु यह प्रेम विषमलिंगीय ही माना जायेगा।

फ्राइड द्वारा वर्णित 'ओडीपस कम्पलैक्स' का रूप भी हमें कामायनी के 'ईर्ष्या' सर्ग में दिखाई देता है, क्योंकि वहाँ पर श्रद्धा का आकर्षण अपने गर्भस्थ पुरुष-शिशु की ओर दिखाया गया है। इसी कारण तो वह सुन्दर कुटीर का निर्माण करती है, वस्त्र बनाती है और मनु से कहती है:—

"झूले पर उसे झुलाऊँगी दुलरा कर लूँगी वदन चूम,
मेरी छाती से लिपटा इस घाटी मे लेगा सहज घूम।"[2]

और मनु उस गर्भस्थ पुरुष-शिशु से ईर्ष्या करते हैं, क्योंकि वह उनके प्रेम को बाँटने वाला बन गया है तथा उसके प्रति श्रद्धा का हृदय अधिक आकर्षित रहता है, जिससे वह मनु को अब उतना प्यार नही करती। इसीलिए मनु कहते हैं —

"यह जलन नही सह सकता मै चाहिए मुझे मेरा ममत्व,
इस पचभूत की रचना में मैं रमण करूँ बन एक तत्व।"[3]

अन्त में इसी विचार के कारण मनु श्रद्धा को छोड़कर चले जाते हैं। अत. प्रसादजी का यह ईर्ष्या सम्बन्धी वर्णन फ्राइड के 'ओडीपस कम्पलैक्स' के सर्वथा-समकक्ष दिखाई देता है।

भूल-सिद्धान्त—फ्राइड का तीसरा सिद्धान्त 'भूल-सिद्धान्त' के नाम से प्रसिद्ध है। उसका प्रतिपादन आपने 'दैनिक जीवन का मनोविज्ञान' (The Psychology of every day life) नामक पुस्तक में किया है। इस सिद्धान्त के आधार पर फ्राइड का मत है कि केवल स्नायविक रोगी के लक्षणो (neurotic symptoms) को ही नही, अपितु साधारण मनुष्यो के दैनिक कार्यो को देखकर यह पता चलता है कि जब कोई मनोवृत्ति चेतना में उठ खडी होती हैं, तब वह अपनी अभिव्यक्ति के लिए बराबर प्रयत्न करने लगती है, किन्तु जब उसकी अभिव्यक्ति नही हो पाती, तब वह विचार और कार्य को प्रभावित करने लगती है। इसी के परिणामस्वरूप कितने ही प्रकार की साधारण, असाधारण या आकस्मिक भूले हुआ करती है। जैसे, जिह्वा या लेखनी की भूलें, परिचित नामो की विस्मृति तथा अन्य छोटी-बडी त्रुटियाँ जो हमारे विचारे हुए उद्देश्य में बाधा डाल देती है।[4]

१—कामायनी, पृ० २३४। २—वही, पृ० १५२। ३—वही, पृ० २७४।
4—Historical Introduction to Modern Psychology, p 315

कामायनी में प्रसादजी ने भी 'भूल' को चेतना के कौशल का स्खलन कहा है और बतलाया है कि भूल के परिणामस्वरूप मनुष्य को अनेक विषाद एवं दुःख उठाने पड़ते हैं।[1] इसी कारण यहाँ मनु की कितनी ही भूलों का चित्रण किया गया है। उनके मन में जो सुखी होने की प्रवृत्ति अभिव्यक्ति के लिए छटपटाती रहती है, वही मनु से नाना प्रकार की भूलें कराती है। जैसे, पहले तो वे आकुलि-किलात नामक असुर पुरोहितों के बहकावे में आकर श्रद्धा के पशु का वध कर डालते हैं। यहाँ श्रद्धा को सुखी बनाकर अपने सुखी होने की भावना मनु के हृदय में काम कर रही है क्योंकि मनु सोचते भी यही हैं कि इस यज्ञ से 'एक विशेष प्रकार, कुतूहल होगा श्रद्धा को भी।'[2] दूसरे, श्रद्धा के बहुत कुछ समझाने-बुझाने पर भी वे आखेट-कर्म से विरत नहीं होते और जैसे श्रद्धा को प्रसन्न करने के लिए वे पशु-यज्ञ करने लगे थे, वैसे ही श्रद्धा को सुखी देखने की अभिलाषा से आखेट में भी अधिकाधिक व्यस्त रहते हैं। क्योंकि कहते भी हैं :—

"तुम बीज बीनती क्यों ? मेरा मृगया का शिथिल हुआ न कर्म।"[3] तीसरी भूल आसन्न-गर्भा श्रद्धा का परित्याग करने में दिखाई देती है। यहाँ भी वही प्रेरक भावना मनु के मन में कार्य कर रही है और वे यह सोचते हैं कि श्रद्धा के पास मुझे सुख नहीं मिल सकता, कहीं और जाकर अपने सुख की खोज करनी चाहिए। चौथी, भूल इड़ा के साथ असामाजिक व्यवहार में दिखाई देती है। यहाँ पर भी वही अचेतन मन में स्थित सुख की लालसा है, जो यह भूल कराती है और जिसके परिणामस्वरूप सारा वैभव नष्ट-भ्रष्ट हो जाता है। साथ ही मनु को भी पर्याप्त आघात सहना पड़ता है। पाँचवीं भूल, फिर वे दुबारा श्रद्धा के निकट से भागकर करते हैं। यहाँ भी उन्हें सुख की लालसा घृणा तथा निर्वेद के भावों से ओतप्रोत कर देती है और वे श्रद्धा का साथ छोड़ देते हैं। परन्तु श्रद्धा तो स्वयं 'सुलझन है भूल सुधारो की।'[4] इसी कारण वह अन्त में मनु की सारी भूलें सुधार देती है और उनकी उन अतृप्त सुख की लालसा को तृप्त कर देती है। इस प्रकार कामायनी के अन्तर्गत फ्राइड के भूल-सिद्धान्त के अनुकूल भी वर्णन मिल जाते हैं।

हास्य-विनोद-सिद्धान्त—फ्राइड का चौथा सिद्धान्त 'हास्य-विनोद-सिद्धान्त' के नाम से प्रसिद्ध है। इस सिद्धान्त के आधार पर भी फ्राइड का यही मत है कि "अचेतन मन के स्तर में दबी हुई वासनाएँ अकस्मात् हास्य या विनोद का रूप धारण कर लेती हैं।"[5] कामायनी में फ्राइड के इस सिद्धान्त का प्रतिपादन नहीं मिलता।

१—कामायनी, पृ० १२२। २—वही, ११५।
३—वही, पृ० १४६। ४—वही, पृ० ७७।
5—Historical Introduction to Modern Psychology by G. Murphy, p. 316

इसका कारण यह है कि प्रसादजी की गभीर प्रकृति कामायनी मे कही भी हास्य रस को स्थान नही दे सकी है। अत यहाँ हमे थोडा सा भी हास्य का पुट दिखाई नही देता।

अह-सिद्धान्त—फ्राइड का पाँचवाँ सिद्धान्त 'अह-सिद्धान्त' के नाम से प्रसिद्ध है। इसके आधार पर फ्राइड का मत है कि मन का चेतन अश जब परिवेश (environment) के सम्पर्क में रहता है, तब वह वास्तविकता के नियमो का पालन करता रहता है, किन्तु उसकी जो इच्छाये दबी रहती हैं और सामाजिक बधनो के कारण जिनकी पूर्ति नही होती, वे मन के अचेतन अश में स्थित रहती हैं। पहले फ्राइड मन के इस चेतन अश को ही अह (Ego) कहता था और उसके अचेतन अश को 'इड' (Id) नाम देता था। परन्तु पीछे अनुसधान करने पर उसे यह ज्ञात हुआ कि यह अह (Ego) चेतन ही नहीं है, अचेतन भी है। क्योकि अह चेतन होता है और जो इच्छायें (काम) उसे स्वीकृत नही होती, उनका वह दमन करता है तथा प्रतिरोधपूर्वक उन्हे अचेतन मे स्थित रखता है। किन्तु कई रोगियों में प्रतिरोध-अचेतन पाया गया। अतएव आरम्भ के दमन को भी अचेतन होना चाहिए। इस प्रकार 'अह' को दमन और प्रतिरोध करने में अचेतन रूप से भी कार्य करता हुआ माना गया। इसीसे फ्राइड उसे अशत चेतन और अशत अचेतन मानने लगा। इसका चेतन अश समाज के नियमानुसार कार्य करता रहता है, किन्तु अचेतन अश मन के आन्तरिक प्रदेश अथवा 'इड' (Id) में डूबा रहता है और सुख के नियम का पालन करता है। यह 'अह' समाज और 'इड' की मध्यस्थता करने की कोशिश करता है, क्योकि एक ओर तो यह चेतनतापूर्वक 'इड' की इच्छाओ का पालन करता है और दूसरी ओर 'इड' की उन असस्कृत इच्छाओ का दमन करता है, जो सामाजिक परिवेश के नियमो से मेल नही खाती। यदि 'अह' सफलता के साथ 'इड' के परिवेश की माँगो के साथ सामजस्य स्थापित कर लेता है, तो वह सगतिपूर्ण, सुव्यवस्थापित और परिवेश से समायोजित रहता है। यदि ऐसा नहीं करता, तो उसमें अव्यवस्था उत्पन्न हो जाती है, क्योकि 'इड' तो सदैव अचेतन और अव्यवस्थित रहता है। इसमे व्यक्ति के जीवन की सभी मूल-प्रेरक-शक्तियाँ एव जीवन और मृत्यु की प्रवृत्तियाँ निवास करती हैं।[1]

फ्राइड ने इन 'अह' और 'इड' के अतिरिक्त एक 'उच्च अह' (Super-ego) और माना है। यह 'अह' का आदर्श है और यह चेतना (Conscience) के समान है। इस 'उच्च अह' में विधि और निषेध रहते हैं, जिनका वह 'अह' से पालन कराने

का प्रयत्न किया करता है। यह 'उच्च अह' केवल व्यक्तियों में ही पाया जाता है और इसका भी मूल 'ओडिपस कम्पलैक्स' में ही माना जाता है। यह 'उच्च अह' 'अह' का एक विकसित रूप है और नैतिक दृष्टि से 'अह' से महान् होने के कारण तथा 'अह' पर बलपूर्वक शासन करने के कारण इसे 'उच्च अह' कहा जाता है।[1] कभी-कभी यह 'इड' तथा 'अह' दोनों की सम्मिलित शक्ति पर नियंत्रण करने में भी सफल होता है।[2]

इस तरह फ्राइड ने 'अह सिद्धान्त' के अन्तर्गत मन की तीन शक्तियों का प्रतिपादन किया है, जो क्रमशः 'अह', 'इड' और 'उच्च अह' कहलाती हैं। 'अह' सामाजिक नियमों का पालन करता हुआ अचेतन 'इड' की इच्छापूर्ति में लगा रहता है। 'इड' पूर्णतया दमित वासनाओं का भंडार है और 'उच्च अह' दोनों पर नियंत्रण करके मन की अव्यवस्था को दूर करता है। कामायनी के पात्रों द्वारा यदि इन तीनों की व्याख्या की जाय, तो ये तीनों क्रमशः मनु, इडा और श्रद्धा के स्वरूप से बहुत कुछ मिल जाते हैं। जैसे, मनु मन का चेतन और अचेतन अंश है जो 'ईगो' कहलाता है। जहाँ तक मनु सामाजिक नियमों का पालन करते हैं, वहाँ तक उनमें चेतन अंश विद्यमान रहता है और जैसे ही वे सामाजिक नियमों का उल्लंघन करके इडा पर भी अपना अधिकार जमाना चाहते हैं, वैसे ही वे मन के अचेतन प्रदेश में डूब जाते हैं। फ्राइड ने मन के इसी अचेतन प्रदेश को 'इड' कहा है और वह इस 'इड' को जीवन की सभी मूल-प्रेरक-शक्तियों एवम् दमित वासनाओं का स्थान मानता है। कामायनी की इडा को यद्यपि बुद्धि का प्रतीक माना गया है और इस दृष्टि से तो फ्राइड के 'इड' से इडा का तादात्म्य नहीं होता, फिर भी जहाँ तक इडा का सम्बन्ध सारस्वत नगर के राज्य की प्रारंभिक अवस्था से है अथवा जहाँ वह मनु को चषक पर चषक पिलाकर अपने रूप-सौंदर्य से मुग्ध करती है और अपनी इच्छानुसार सारी कार्य-व्यवस्था कराती है, वहाँ उसे हम बहुत कुछ फ्राइड के 'इड' के समकक्ष रख सकते हैं। क्योंकि कामायनी की इडा सारस्वत नगर की रानी है, उसका राज्य भौतिक हलचलों से छिन्न-भिन्न हो चुका है और वह स्वयं उस राज्य की व्यवस्था नहीं कर सकती। अतः अह (Ego) रूप मनु से अपने राज्य की शासन-व्यवस्था कराती है। किन्तु यह 'अह' वहाँ सुव्यवस्थित नहीं रहता, क्योंकि वह 'इड' या इडा के संकेतों पर चलता है और योग-क्षेम की नई-नई रीतियों द्वारा प्रकृति के साथ संघर्ष करने के नये-नये ढंग निकालता है तथा निर्बाधित अधिकार भोगने की चेष्टा करता है, जिससे वहाँ पर

1—Historical Introduction to Modern Psychology, p. 324

२—वही, पृ० ३२६।

राज्य मे अव्यवस्था फैल जाती है। परन्तु श्रद्धा यहाँ फ्राइड के 'उच्च अह' (Super-ego) के समकक्ष दिखाई देती है, क्योंकि वह अपनी शक्ति द्वारा मनु तथा इडा अथवा ईगो और इड दोनो का नियमन करती है। वह अपने पुत्र मानव को इडा के समीप छोड कर इडा के अव्यवस्थित राज्य को पुन व्यवस्थित कराती है, जिससे वहाँ एक कुटुम्ब-सा स्थापित हो जाता है और उधर 'अह' रूप मनु, जो अव्यवस्थित हो गया था, उसे भी उचित मार्ग पर ले आती है। इसके अतिरिक्त फ्राइड ने 'उच्च अह' मे कुछ नैतिक गुण भी अधिक बतलाए है। यहाँ श्रद्धा मे भी हमे उक्त दोनो पात्रो की अपेक्षा दया, ममता, सेवा, त्याग आदि नैतिक गुण भी अधिक दिखाई देते हैं। अत फ्राइड के 'अहवादी सिद्धान्त' के आधार पर यह कहा जा सकता है कि मनु 'ईगो' (Ego) है, इडा इड (Id) है और श्रद्धा सुपर-ईगो (Super-ego) है तथा इन तीनो पात्रो के द्वारा मन की तीनो शक्तियो का विवेचन कामायनी मे हुआ है, जो बहुत कुछ फ्राइड के विचारो से मिलता-जुलता है।

साराश यह है कि कामायनी के अन्तर्गत फ्राइड के मनोविज्ञान सम्बन्धी सभी सिद्धान्तो का अक्षरश पालन तो नही मिलता, किन्तु फ्राइड के अधिकाश सिद्धान्तो के अनुकूल हमें कामायनी के मनोवैज्ञानिक वर्णन दिखाई देते हैं। परन्तु इसका यह अर्थ नही है कि प्रसादजी ने फ्राइड के मनोविश्लेषण-सिद्धान्त को पूर्णतया हृदयगम करके फिर कामायनी की रचना की है। यहाँ जो कुछ सम्बन्ध दिखाई देता है, वह आकस्मिक ही है। उस पर फ्राइड का प्रभाव मानना असगत है। हाँ, इतना अवश्य है कि कामायनी के अधिकाश मनोविज्ञान सम्बन्धी वर्णन फ्राइड के मनोविज्ञान से जो मिल जाते है, वे मनोवैज्ञानिक सत्यो के साथ-साथ प्रसादजी के निजी मनोविश्लेषण सम्बन्धी ज्ञान के भी परिचायक है।

काम के विभिन्न रूप और उसकी श्रेणियाँ

भारतीय वाङ्मय में 'काम' के विभिन्न रूपो में दर्शन होते है। सर्व प्रथम ऋग्वेद के नासदीय सूक्त मे काम को सृष्टि के आदि मे उत्पन्न होने वाला तथा मन या बुद्धि का रेतस् अथवा मूलतत्व बतलाया है।[1] यजुर्वेद में काम का उल्लेख देवताओं की श्रेणी मे हुआ है।[2] अथर्ववेद में काम का विस्तृत वर्णन मिलता है। वहाँ पर काम को सर्वप्रथम उत्पन्न होने वाला, देवता, पितर एव मर्त्यो में ज्येष्ठ,

---

१—कामस्तदग्रे समवर्तताधि मनसो रेत. प्रथम यदासीत्।

—ऋग्वेद १०।१२९।४

२—शुक्लयजुर्वेदसहिता २४।३९

महान्, पृथ्वी, आकाश और जल मे सर्वत्र व्याप्त, श्रेष्ठ नेता, वीर्यशाली, उग्र ईशान अथवा सभी जगह शासन करने वाला, बलिष्ठ, ओजस्वी, धनप्रदाता, शत्रु-विनाशक, सुन्दर, कल्याणकारी आदि बतलाया है।[१]

ब्राह्मण ग्रंथों मे भी काम का अत्यत विस्तृत वर्णन मिलता है। ऋग्वेद के ऐतरेयब्राह्मण में लिखा है कि सृष्टि-रचना से पूर्व प्रजापति के हृदय मे सर्वप्रथम काम ही इच्छा के रूप में उत्पन्न हुआ और इसी की प्रेरणा से प्रजापति को अपनी प्रजा या सृष्टि रचना करने के लिए उद्यत होना पडा।[२] कृष्णयजुर्वेद के तैत्तिरीय ब्राह्मण में काम का अधिक विस्तार के साथ उल्लेख हुआ है। वहाँ पर काम को सभी का प्रेरक, दाता एव प्रतिगृहीता बतलाया है, क्योंकि प्रत्येक मनुष्य काम से प्रेरणा पाकर ही कुछ देता एव ग्रहण करता है। साथ ही इस काम को, अनन्त समुद्र, भूत और भविष्य का सम्राट् तथा ससार का उत्पादक बतलाया है। इसके अतिरिक्त काम को वहाँ समस्त कामानाओं को पूर्ण करने वाला, घृत-स्वरूप एव यज्ञ करने से यजमान को पूर्ण काम बनाकर सर्वस्व प्रदान करने वाला भी कहा है।[३] शतपथ-ब्राह्मण मे भी प्रजापति के हृदय में सर्वप्रथम काम का निवास बतलाया है, क्योंकि प्रजा की सृष्टि करने से पूर्व प्रजापति के हृदय मे काम ने ही इस सृष्टि-रचना के लिए इच्छा उत्पन्न की थी।[४]

१—कामो जज्ञे प्रथमो नैनं देवा आपु पितरो न मर्त्या ।
ततस्त्वमसि ज्यायान् विश्वहा महांस्तस्मै ते काम नम इत् कृणोमि ॥
—अथर्ववेद ९।२।१९

दुष्वप्न्यं काम दुरितं च कामाप्रजस्ताम स्वगतामवर्तिम् ।
उग्र ईशान. प्रति मुञ्च तस्मिन् यो अस्मभ्यमंहूरणा चिकित्सात् ॥
—अथर्ववेद ९।२।३।३

त्वं काम सहसासि प्रतिष्ठितो विभुर्विभावा सख आ सखीयते ।
त्वमुग्र पृतनासु सासहि. सह ओजो यजमानाय धेहि ॥
—अथर्ववेद १९-५२।२

२—प्रजापतिरकामयत प्रजायेय भूयांस्स्यामीति । ऐतरेयब्राह्मण ४।४।२३

३—कामः कामायेत्याह । कामेन हि ददाति । कामेन प्रतिगृह्णाति । कामो दाता काम. प्रतिग्रहीतेत्याह । समुद्र इव हि काम. । नैव हि कामस्यान्तोऽस्ति न समुद्रस्य ।......कामो भूतस्य भव्यस्य सम्राडेको विराजति । स इदं प्रतिपप्रथे । ऋतूनुत्सृजते वशी । —तैत्तिरीयब्राह्मण २।२।५।५–६, २।४।१।६–१०

४—शतपथब्राह्मण २।४।४।१

उपनिषदो मे भी काम का एक आध्यात्मिक शक्ति एव इच्छा या कामना इन दोनो रूपो में उल्लेख मिलता है। ऐतरेय उपनिषद् में काम को ब्रह्म के जानने की एक शक्ति बतलाया है। वहाँ प्रज्ञान ब्रह्म की सत्ता का ज्ञान प्राप्त कराने वाली मज्ञान, विज्ञान, प्रज्ञान, मेधा आदि १६ शक्तियाँ मानी गई हैं। इन शक्तियो में 'काम' को भी एक शक्ति माना है।[१] साथ ही मुडकोपनिषद् मे काम को केवल इच्छाशक्ति या कामना के रूप में ही स्वीकार किया है और लिखा है कि जो कामो अथवा भोगो को आदर देता है, जो उसकी कामना करता है, वह उन कामनाओ के कारण कर्मानुमार इस जगत में जन्म लेता है, परन्तु जो पूर्णकाम हो जाता है, उस विशुद्ध अन्त करण वाले पुरुप की सम्पूर्ण कामनाएँ यही सर्वथा विलीन हो जाती हैं।[२] इसके अतिरिक्त तैत्तिरीयोपनिषद् से भी यही सिद्ध होता है कि ब्रह्मा के हृदय में प्रजा उत्पन्न करने की प्रेरणा देने वाला यह काम सर्वप्रथम कामना के रूप में विद्यमान था, इमी कारण प्रजापति के हृदय में सृष्टि निर्माण की इच्छा उत्पन्न हुई।[3]

वात्स्यायन ने अपने कामसूत्रो में काम को एक ऐसी प्रवृत्ति कहा है, जिसके बिना जीवन का कोई भी कार्य नही होता। पाँचो इन्द्रियाँ—कान, जिह्वा, आँख नासिका त्वचा अपने-अपने कार्य मन की प्रेरणा के अनुसार काम की प्रवृत्ति से ही करती हैं। अत यहाँ काम को दैनिक कार्यो मे भी प्रमुखता दी गई है।[४]

महाभारत में काम का अत्यत उदात्त रूप मिलता है। वहाँ पर काम का जो उल्लेख आया है वह 'काम-गीता' के नाम से प्रसिद्ध है। काम स्वय कहता है कि 'मै अद्वितीय हूँ। मुझे कोई जीत नही सकता। बिना योगाभ्यास किए अथवा आत्म-माक्षात्कार किए कोई भी मनुष्य मेरा नाश नही कर सकता। जो मनुष्य यज्ञ-कर्म द्वारा मेरा विनाश करना चाहता है, उसे मैं धोखे मे डालकर यह अनुभव कराने लगता हूँ कि वह बडा ही पुण्यात्मा एव धर्मात्मा है तथा मैं सदैव उसके हृदय में निवास करता हूँ। यदि कोई मनुष्य सत्य से मुझे पराजित करना चाहता है, तो मैं स्वय उसके मन का रूप धारण कर लेता हूँ और उसे इतना प्रभावित करता हूँ कि वह मुझे पुन खोज नही पाता। यदि कोई तपस्वी तप द्वारा मेरा विनाश करना चाहता हैं, तो मैं स्वय तप का रूप धारण करके अपनी रक्षा कर लेता हूँ। यदि कोई व्यक्ति मोक्ष-प्राप्ति द्वारा मेरा विनाश करना चाहता है, तो मैं स्वय उसकी मोक्ष की अभिलापा एव अधीरता का रूप धारण करके उसके सम्मुख हँसा करता हूँ।'[५]

१—ऐतरेय उपनिषद् ३।२ २—मुडक ३।२।२ ३—तैत्तिरीय २।१।६
४—वात्स्यायन कृत कामसूत्र १।१–२
5—The Vision, Vol XXII, No 10, July 1955, last page

इस प्रकार महाभारत मे काम के अजर-अमर रूप का वर्णन किया गया है। किन्तु 'शान्ति पर्व' मे काम के वासनात्मक रूप का वर्णन भी मिलता है और एक वृक्ष के रूप मे काम की कल्पना करते हुए लिखा है कि "मनुष्य की हृदय-भूमि मे मोहरूपी बीज मे उत्पन्न एक विचित्र वृक्ष है, जिसका नाम काम है। उसके क्रोध और अभिमान महान् स्कंध हैं। कुछ करने की इच्छा उसमे जल सींचने का पात्र है। अज्ञान उसकी जड है। प्रमाद उसे सींचने वाला जल है। दूसरो के दोष देखना उस काम-वृक्ष के पत्ते हैं तथा पूर्व जन्म मे किए हुए पाप उसके सार-भाग है। शोक उसकी शाखा, मोह और चिन्ता उसकी डालियाँ तथा भय उसके अकुर हैं और सदैव तृष्णा रूपी लताये उससे लिपटी रहती हैं।"[1] इसके साथ ही श्रीमद्भगवद्गीता मे भगवान् कृष्ण ने काम के धर्माविरुद्ध रूप को अपनी ही विभूति बतलाया है[2] तथा उसके धर्म-विरुद्ध वासनात्मक रूप की अत्यत निंदा करते हुए उसे मानव का शत्रु बतलाया है।[3]

मनुस्मृति में काम के उदात्त रूप मे दर्शन होते हैं, क्योकि वहाँ बतलाया है क जो भी कर्म किया जाता है, वह सब काम की ही चेष्टा है। इतना ही नही त्रिवर्ग (धर्म, अर्थ, काम) में गणना करके काम को श्रेयस्कर भी बतलाया है।[4] वाल्मीकि रामायण मे भी काम के अनुशीलन को बुरा नही कहा है। वहाँ भगवान् म चित्रकूट मे आए हुए भरत जी को धर्म, अर्थ तथा काम का उचित महत्व बतला र तीनो का सम्यक् सेवन करने का उपदेश देते हैं।[5]

शिवपुराण मे काम को ब्रह्मा, विष्णु एव महेश इन त्रिदेवो का मूर्त्तिमन्त स्वरूप माना है। वहाँ पर लिखा है कि 'सबकी उत्पत्ति काम से होती है और काम मे ही सबका अध्यवसान होता है। त्रिदेव भी वस्तुतः काम के ही स्वरूप हैं। यह काम सुषुप्ति एव जागृति दोनो अवस्थाओ में वर्तमान रहता है। दिव्य या स्वर्गीय आनन्द, जिसे हम ब्रह्म अथवा परमात्मा के नाम से पुकारते हैं, काम का ही विकार है। यही इच्छा, ज्ञान, क्रिया रूप शक्ति-त्रय है। यह काम ही सकल्प, इच्छा और कल्पना है, जिससे यह सृष्टि उत्पन्न होती है और जिसके बिना कोई भी स्पन्दन संभव नही है।'[6] इस प्रकार शिवपुराण मे काम के उदात्त रूप का वर्णन मिलता है, किन्तु अन्य

१—महाभारत, शान्ति पर्व २५४।१-३
२ श्रीमद्भगवद्गीता ७।११ ३—वही, ३।४३
४—मनुस्मृति २।४, २।२३४
५—वाल्मीकि रामायण, अयोध्याकाण्ड १००।६१-६२
६—शिवपुराण, धर्म-संहिता, अध्याय ८।

पुराणो मे काम का इतना उदात्त रूप नही मिलता, अपितु उसे देवता कहते हुए भी वासना का ही प्रतीक अधिक माना है। अन्य पुराणो के अनुसार काम की पत्नी का नाम रति माना गया है, जो इच्छा या कामना की देवी कहलाती है। इस काम ने समाधिस्थ शिव के हृदय मे प्रवेश करके पार्वती के लिए शिव को आसक्त करने का प्रयत्न किया था। इस अपराध के कारण शिव ने कुपित हो काम को अपने तीसरे नेत्र द्वारा भस्म कर दिया। परन्तु जब काम-पत्नी रति ने शिवजी की बहुत करुणा के साथ प्रार्थना की, तब शिवजी को दया आगई और काम के पुन प्रद्युम्न के रूप में जन्म लेने का वरदान दिया। इस प्रकार दूसरे जन्म में काम श्रीकृष्ण के पुत्र प्रद्युम्न के रूप में उत्पन्न हुआ। इस काम को अप्सराओ का स्वामी भी कहा है। यह सदैव धनुष-बाण धारण करके सुशोभित होता है। इसका धनुष इक्षुदण्ड का तथा प्रत्यचा भ्रमरो की मानी गई है। कही-कही पुष्प का ही धनुष एव पुष्प के ही बाण बतलाये गये हैं। इसी कारण इसे 'पुष्पधन्वा' कहते हैं। यह सदैव सुन्दर युवक के रूप मे कबूतर पर चढकर अप्सराओ से घिरा हुआ भ्रमण करता है। इसकी ध्वजा पर मीन का चिह्न रहता है तथा वह ध्वजा एक अप्सरा लेकर सदैव इसके साथ चलती है। यह इच्छायें जाग्रत करने वाला माना गया है। इसी कारण इसे इश्म, काम, कजन, किंकिर, मद, राम, रमण, स्मर आदि नामो से पुकारतें हैं। मस्तिष्क या हृदय से उत्पन्न होने के कारण यह भाव-ज या मनोज भी कहलाता है। कृष्ण का वशज होने से यह कार्ष्णि, लक्ष्मीपुत्र होने से मायी, मायासुत, तथा श्रीनन्दन भी कहलाता है। शिव के द्वारा भस्म हो जाने के कारण इसे 'अनग' भी कहा गया है। इसके अतिरिक्त इसके अभिरूप, दर्पक, गृघु, गृत्स, कदर्प, कलाकेलि, मार, मधुदीप, ससार-गुरु, कुसुमायुध, मकरकेतु, मीन-केतन, पुष्पकेतन आदि अनेक नाम मिलते हैं।[1]

बौद्ध ग्रन्थो मे काम का बहुधा गर्हित रूप ही मिलता है, क्योकि मज्झिम-निकाय में तीन भव माने गये हैं, जो कामभव, रूपभव तथा अरूपभव कहलाते हैं। इनमें से कामभव वह है जिसमें समस्त मानावादि से लेकर छै दिव्यलोक तक स्त्री-सभोग रहता है।[2] इसी तरह बौद्धो ने चार उपादान माने हैं, जो काम, दृष्टि, शीलव्रत, और आत्मवाद कहलाते हैं। इनमे से कामोपभोग में आसक्ति रखना ही काम-उपादान है। ऐसे ही बौद्धो ने तीन आस्रव माने हैं, जो कामास्रव, भवास्रव

1—Classical Dictionary of Hindu Mythology and Religion, Geography, History and Literature by Dowson, p 146—147

२—जैन-बौद्ध तत्व-ज्ञान, पृ० ८४।

तथा अविद्यास्रव कहलाते है। इनमे से कामास्रव वह है, जिसमे भोगेच्छा की प्रबलता रहती है।[1] किन्तु जैन ग्रन्थों में काम के उदात्त रूप का भी वर्णन मिलता है। जिनसेनाचार्य ने महापुराण मे लिखा है कि 'धर्म रूपी वृक्ष का फल अर्थ है और उस फल का रस काम है। धर्म का इच्छुक ही काम-सम्पन्न होता है तथा धर्म मे ही काम एवं अर्थ की स्थिति है।'[2] अतः धर्म के साथ काम भी मानवजीवन में महत्व रखता है।

शैवागमो मे सर्वत्र काम का उदात्त रूप ही अपनाया गया है। वहाँ पर काम को अक्षर, अव्यक्त, स्वयभू, सुसूक्ष्म, व्यापक, शुद्ध, प्राणतत्व का वाचक, चित्त में स्थित होकर देव, किन्नर, गधर्वादि सभी को वश मे करने वाला, नित्यानन्द-रसास्वाद कराने वाला, नाद या ध्वनि के रूप में सम्पूर्ण ससार का बीज, शिव रूप आदि कहा है।[3] इसके साथ ही कामकला के रूप मे काम को शुद्ध प्रेम एव सौन्दर्य का प्रतीक मानते हुए उसकी पूजा का विधान किया गया है। शैवदर्शनो मे 'कामकला' को ही ससार की उत्पादिका शक्ति माना है और उसे 'त्रिपुरसुन्दरी' भी कहा गया है। जैसा कि 'कामकला-विलास' मे लिखा भी है :—

इति कामकला विद्या देवी चक्र क्रमात्मिका सेयम्।
विदिता येन स मुक्तो भवति महात्रिपुरसुन्दरी रूप ॥८॥

इस तरह शैवागमो में काम के रूप मे आनन्द, सौन्दर्य एव प्रेम की उपासना का प्रचार मिलता है और काम के हेय एव गर्हितरूप की अपेक्षा उसका श्रेष्ठ एवं सृजनात्मक रूप स्वीकार किया गया है।

भारतीय ग्रन्थों के अतिरिक्त अंग्रेजी साहित्य मे काम को क्यूपिड (Cupid) कहते हैं, जो वहाँ केवल काम-वासना का प्रतीक है। किन्तु ग्रीक पौराणिक गाथाओं में एक Eros नामक देवता का उल्लेख मिलता है, जिसे ग्रीस मे सृष्टि का उत्पादक माना जाता है और जो प्रेम का देवता है। इस Eros देवता को काम का उदात्त रूप माना जा सकता है।[4] इसके अतिरिक्त मनोविज्ञान-शास्त्री फ्राइड ने काम को लिबिडो (Libido) कहा है। फ्राइड [illegible] वासनात्मक रूप माना है। [illegible] प्रतीक नही है, अपितु वह [illegible] है। इसी के अन्तर्गत आसक्ति, विषयोपभोग का [illegible] [illegible], दम्भ, दर्प, मोह, परनिन्दा आदि आते हैं, जो आसुरी वृत्ति

१—मज्झि [illegible]
२—महा[illegible]तरेयब्राह्मण ४।४।२३ — २—मनुस्मृति २।२३४
4—Cl. [illegible]रघुवंश १।४ — ४—कामायनी, पृ० ५३।
History and Literat[illegible]मायनी, पृ० ७२-७४।
५—मनो[illegible]

के परिचायक हैं। यही काम क्रोध-मद-मात्सर्य आदि षड् रिपुओ का जन्मदाता है और इसी को गीता में स्मृति-विभ्रम, बुद्धिनाश एव सर्वस्वनाश करने वाला कहा है।[१] यही धर्म का विरोधी है और इसी के कारण न भक्ति होती है और न ज्ञान की प्राप्ति ही हो सकती है। इसी को जैन एव बौद्ध धर्मानुयायियों ने आस्रव कहा है। कबीरदास ने इसी काम को भक्ति का विगाडने वाला, हीरा जैसे जन्म को नष्ट करने वाला, जीवात्मा के सार को खाजाने वाला आदि कहा है।[२] यही फ्राइड के 'ओडीपस कम्पलैक्स' का मूल है। वात्स्यायन ने भी इसी वासनात्मक काम के दो भेद किए हैं—सामान्य और विशेष। पाँच इन्द्रियो के पाँचो विषयो—स्पर्श, रूप, रस, गध और शब्द में प्रकृति-अनुकूल सुखद पदार्थों के अनुभव की इच्छा को सामान्य काम वतलाया है और जिसमें स्पर्श-सुखानुभूति का प्राधान्य होता है, उसे विशेष काम कहा है।[३]

कामायनी में हमें इस वासनात्मक काम के सामान्य एव विशेष दोनो रूप मिल जाते हैं। सामान्य काम की प्रवृत्तियो मे जिन पाँच विषयो के प्रति आसक्ति देखी जाती है। कामायनी में इसी सामान्य काम को अपनाने के कारण ही मनु "पीता हूँ, हाँ मैं पीता हूँ, यह स्पर्श, रूप, रस, गध भरा"[४] आदि कहते हैं। उक्त पाँचो विषयो में प्रवृत्त कराने के कारण ही यह वासनात्मक काम 'पचशर' कहलाता है और इसी का विनाश करने के लिए भगवान् शकर का तीसरा नेत्र खुला था। कामायनी में भी यह वासनात्मक काम मनु के हृदय में प्रविष्ट होकर जब उन्हें इडा के साथ अनैतिक आचरण करने की प्रेरणा देता हुआ अपनी चरमसीमा पर पहुँच जाता है, तब यहाँ पर भी शकर या रुद्र का तीसरा नेत्र खुल जाता है और वे मनु के हृदय में स्थित इस वासनात्मक काम को अपने नाराच या वाण द्वारा नष्ट कर देते हैं।[५]

वात्स्यायन ने वासनात्मक काम का जो दूसरा विशेष रूप वतलाया है और जिसमें स्पर्शसुखानुभूति की प्रतीति को महत्व दिया है, उसका वर्णन कामायनी के 'वासना' सर्ग मे मिलता है। जहाँ मनु श्रद्धा का कर-स्पर्श करके उन्मत्त से होकर यह कहने लगते हैं :—

आह ! वैसा ही हृदय का वन रहा परिणाम,
पा रहा हूँ, आज देकर तुम्ही से निज काम।

१—श्रीमद्भगवद्गीता १६।१६-२०, २।६२-६३

२—कवीर-ग्रन्थावली, पृ० ४०।

३—वात्स्यायन कामसूत्र १।२।११-१२ ४—कामायनी, पृ० ६६।

५—कामायनी, पृ० १८५, २०२, २१६।

आज ले लो चेतना का यह समर्पण दान,
विश्वरानी ! सुन्दरी नारी "जगत की मान।"[1]

कामायनी में काम के इस वासनात्मक रूप का चित्रण बड़ी विशदता के साथ किया गया है। उसके स्वरूप एवं उसके परिणाम को दिखाकर प्रसादजी ने काम के इस वासनात्मक रूप अथवा विलासिता की निन्दा की है। देवों की सृष्टि का विनाश तो इसी वासनात्मक काम को अपनाने के कारण ही हुआ था, परन्तु मनु के पतन का कारण भी यही वासनात्मक काम बनता है। 'इडा' सर्ग में काम स्वयं आकर मनु को समझाता भी है कि 'तुम परिणय से प्राप्त होने वाले मेरे सुन्दर सृजनात्मक रूप को न अपनाकर जड़ देहमात्र के सौन्दर्य में लीन रखने वाले मेरे वासनात्मक रूप को अपनाते रहे, जिससे तुम्हारे हृदय में स्वार्थ, लोभ, मोह, दम्भ, अबोधता आदि ने अपना घर बना लिया और तुम 'पूर्णकाम' न हो सके। अब तुम्हारा सारा प्रजातन्त्र शाप से भरा चलेगा, जिसमें निरन्तर पारस्परिक भेद, कोलाहल, कलह, असन्तोष, अविश्वास, अनिश्चित दुखद खेद, एकता का विनाश, अभिलषित वस्तु से दूर रहना, एक दूसरे को न पहँचानना, सब कुछ पास भी हो परन्तु तुष्टि का सदैव दूर रहना आदि बने रहेंगे और तुम्हारी यह संकुचित दृष्टि तुम्हें अत्यन्त दुख देगी।'[2]

साराश यह है कि प्रसादजी ने कामायनी में वासनात्मक काम की अत्यन्त निन्दा की है और सृजनात्मक काम को अपनाने का आग्रह किया है। इसका कारण यह है कि सृजनात्मक काम में काम के उक्त तीनों रूप अत्यन्त सन्तुलित अवस्था में समन्वित रहते हैं, क्योंकि दाम्पत्य प्रेम के रूप में उनके अन्तर्गत काम का भौतिक रूप विद्यमान रहता है, जिसमें सृजन करने की इच्छा एवं वासना दोनों अत्यन्त सन्तुलित रूप में रहते हैं और समाज सेवा, परोपकार, देश-प्रेम, ईश्वर-भक्ति, ज्ञान-प्राप्ति की इच्छा तथा अन्य सामाजिक कार्यों की अभिलाषा आदि के रूप में काम का आध्यात्मिक रूप उपस्थित रहता है। इस तरह सृजनात्मक काम में उक्त तीनों रूपों का सुन्दर समन्वय रहता है। इसी कारण प्रसादजी ने इसे 'पूर्ण काम' कहा है, और काम-पुत्री कामायनी या श्रद्धा को "पूर्णकाम की प्रतिमा"[3] बतलाया है, जिसमें हमें काम के आध्यात्मिक, सृजनात्मक एवं वासनात्मक तीनों रूपों का सुन्दर एवं संतुलित साकार समन्वय मिलता है, क्योंकि यही श्रद्धा मानव-सृष्टि का विकास करने वाली है, यही मनु की अतृप्त आकांक्षा को तृप्त करती है और यही अन्त में

१—कामायनी, पृ० ६२–६३। २—वही, पृ० १६२–१६४।
३—वही, पृ० २६०।

मनु को सात्विकता, सरलता, सेवा-भाव आदि से परिपूर्ण आध्यात्मिक जीवन व्यतीत करने मे पूर्ण सहायक सिद्ध होती है। यदि काम के उक्त तीनो रूपो मे से सृजनात्मक काम का इच्छा से, आध्यात्मिक काम का ज्ञान से और वासनात्मक काम का क्रिया से सम्बन्ध स्थापित करे, तो कामायनी मे जिस तरह इच्छा, ज्ञान और क्रिया का समन्वय श्रद्धा के रूप में किया गया है, उसी तरह काम के उक्त तीनो रूपो का समन्वय करते हुए ही प्रसादजी ने इच्छा-ज्ञान-क्रिया-स्वरूपा त्रिपुरसुन्दरी श्रद्धा को पूर्ण काम की प्रतिमा कहा है। अत प्रसादजी ने जहाँ काव्य, सस्कृति और दर्शन सम्बन्धी विचारो मे भौतिकता और आध्यात्मिकता अथवा प्रवृत्ति-निवृत्ति के समन्वय की स्थापना की है, वहाँ पर वे मनोविज्ञान के अतर्गत भी भौतिकता एव आध्यात्मिकता अथवा प्रवृत्ति एव निवृत्ति का समन्वय करते हुए काम का निरूपण करते है। इसी कारण उनका यह 'काम' शैवागमो की भाँति मगलमय, श्रेयस्कर, अक्षर, व्यापक विशुद्ध एव विश्व का मूल है, इसी कारण उन्होने काम की निन्दा न करके सर्वत्र वासना की निन्दा की है और इसी कारण वे काम को गर्हित, तुच्छ एव हेय न मान कर सभी तरह से ससृति की प्रगति करने वाला मानते हैं।

बुद्धि और श्रद्धा का ज्ञान मे सापेक्ष महत्व

ज्ञान का साधारण अर्थ है जानना, बोध, पदार्थ का ग्रहण करने वाली मन की वृत्ति, आत्म-साक्षात्कार आदि।[१] आगम-शास्त्रो मे यह वस्तु यही है, कुछ और नही है, इस तरह का सुनिश्चित बोध कराने वाली शक्ति को ज्ञान-शक्ति कहा गया है।[२] आगमो में ज्ञान के दो भेद किए गए हैं—प्रत्यक्ष ज्ञान और परोक्ष ज्ञान।[३] साधारण भाषा में हम उन्हें भौतिक ज्ञान और आध्यात्मिक ज्ञान भी कह सकते हैं। न्यायशास्त्र में प्रत्यक्ष ज्ञान को प्रमा कहा है और यथार्थ अनुभव को उसका लक्षण बताया है। वहाँ पर इस यथार्थ अनुभव के अतिरिक्त सशय, विपर्यय, तर्कज्ञान आदि को अयथार्थ ज्ञान या अज्ञान बतलाया है। साथ ही अनुभव को तो प्रमा के अन्तर्गत लिया है, परन्तु स्मृति को प्रमा के अन्तर्गत नही माना है।[४] अत प्रत्यक्ष ज्ञान के अन्तर्गत यथार्थ अनुभव या भौतिक ज्ञान आता है तथा परोक्ष ज्ञान के अन्तर्गत स्मृति-ज्ञान को ले सकते है। उपनिषदो मे ज्ञान को विद्या कहा है और विद्या दो प्रकार की बताई गई है—अपराविद्या तथा पराविद्या। इसमें से अपराविद्या के अन्तर्गत ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद, अथर्ववेद, शिक्षा, कल्प, व्याकरण, निरुक्त, छन्द, ज्योति

१—बृहत् हिन्दीकोश, पृ० ४९६। २— तन्त्रालोक, भाग १, पृ० १९
३—अहिर्बुध्न्य संहिता १३।१३—१४ ४— [illegible]

आदि का ज्ञान आता है और अक्षर एवं अविनाशी ब्रह्म के ज्ञान को परा विद्या कहा है।[१] इनमें से प्रथम का सम्बन्ध स्पष्ट ही प्रत्यक्ष या भौतिक ज्ञान से है तथा दूसरे का सम्बन्ध परोक्ष या आध्यात्मिक ज्ञान से स्थापित किया गया है।

न्याय-शास्त्र में प्रत्यक्ष ज्ञान के भी दो भेद किए गए हैं—निर्विकल्पक ज्ञान तथा सविकल्पक ज्ञान। नाम, जाति आदि की योजना से हीन ज्ञान को निर्विकल्पक ज्ञान कहा है और नाम, जाति आदि की योजना-सहित ज्ञान को सविकल्पक ज्ञान बतलाया है। वहाँ दोनों प्रकार के प्रत्यक्ष ज्ञान के लिए यह क्रम बतलाया है कि जब आत्मा का मन से तथा मन का कान, चक्षु, जिह्वा, नासिका और त्वचा इन पाँच ज्ञानेन्द्रियों से तथा पाँच ज्ञानेन्द्रियों का अपने-अपने अर्थ से सम्बन्ध होता है, तब पहले नाम, जात्यादि योजनाहीन निर्विकल्पक ज्ञान होता है और इसके अनन्तर किसी पदार्थ का नाम, जात्यादि योजना-सहित सविकल्पक ज्ञान होता है।[२] परन्तु इस पंचेन्द्रिय ज्ञान से परे भी कोई ऐसा ज्ञेय तत्त्व है, जो पंचेन्द्रियों एवं मन आदि के द्वारा नहीं जाना जाता, उसी को उपनिषदों में परोक्ष ज्ञान, आध्यात्मिक ज्ञान या ब्रह्म-ज्ञान कहा है, जो निश्चय, विश्वास, आस्तिक्य भाव आदि के द्वारा हृदय में प्रकट होता है,[३] जिसके प्रकट होते ही हृदय की समस्त ग्रंथियाँ भली-भाँति खुल जाती हैं, सम्पूर्ण संशय नष्ट हो जाते हैं और सभी शुभाशुभ कर्म भी क्षीण हो जाते हैं।[४]

अब देखना यह है कि इस परोक्ष या आध्यात्मिक ज्ञान में बुद्धि और श्रद्धा का क्या महत्व है? तैत्तिरीयोपनिषद् में ब्रह्म को सत्य, ज्ञान एवम् अनन्त कहा है।[५] इसी सत्य का एक पर्यायवाची शब्द 'ऋत' भी मिलता है, जिसके आधार पर 'अनृत' का अर्थ असत्य और 'ऋत' का अर्थ सत्य लगाया जाता है। यजुर्वेद में इस ऋत या सत्य के अन्तर्गत श्रद्धा का निवास बतलाया है।[६] इतना ही नहीं तैत्तिरीयब्राह्मण में श्रद्धा को इस ऋत से ही सर्वप्रथम उत्पन्न होने वाली बतलाया है।[७] अतः ऋत या सत्य से श्रद्धा का घनिष्ठ सम्बन्ध प्रतीत होता है और जब ऋत या सत्य ही ज्ञान अथवा ब्रह्म है, तब ब्रह्मज्ञान या आध्यात्मिक ज्ञान की प्राप्ति में भी श्रद्धा का सर्वाधिक योग दिखाई देता है। सम्भवतः इसी कारण गोस्वामी तुलसीदास ने भी रामचरित-मानस के प्रारम्भ में ही लिखा है कि श्रद्धा विश्वास के बिना सिद्धों को भी अपने

१—मुण्डकोपनिषद् १।१।४–५
२—तर्कभाषा, पृ० ५–६।
३—कठोपनिषद् २।३।१३–१५
४—मुण्डकोपनिषद् २।२।८
५—तैत्तिरीयोपनिषद् २।१।१
६—शुक्ल यजुर्वेद १९।७७
७—तैत्तिरीयब्राह्मण ३।१२।३।२

हृदयस्थ ब्रह्म का साक्षात्कार नही होता।[१] इसके अतिरिक्त ऋग्वेद में इडा (बुद्धि) को ज्ञान एवं चेतना प्रदायिनी माना है।[२] शिव-सूत्रो में स्पष्ट ही "धीवशात् सत्व-सिद्धि"[३] कहकर बुद्धि द्वारा ही सत्व या आध्यात्मिक ज्ञान की सिद्धि होना बतलाया है। अत बुद्धि या इडा का भी आध्यात्मिक ज्ञान से सम्बन्ध जुड जाता है।

इस आध्यात्मिक ज्ञान की प्राप्ति के विषय मे उपनिषदो में अत्यन्त विस्तृत विवेचन मिलता है। छांदोग्य उपनिषद् में लिखा है कि "जिस समय मनुष्य मनन करता है, तभी वह विशेष रूप से जानता है, बिना मनन किये कोई नहीं जानता, अपितु मनन करने पर ही जानता है। अत मति या बुद्धि की ही विशेष -रूप से जिज्ञासा करनी चाहिए। और जिस समय मनुष्य श्रद्धा करता है तभी वह मनन करता है, बिना श्रद्धा के कोई मनन नही करता, अपितु श्रद्धा करने वाला ही मनन करता है। अत. श्रद्धा की ही विशेष रूप से जिज्ञासा करनी चाहिए।"[४] इस कथन से यह स्पष्ट ज्ञात हो जाता है कि ज्ञान की प्राप्ति मनन पर निर्भर है, मनन मति या बुद्धि द्वारा होता है तथा यह मनन करने की प्रेरणा देने वाली श्रद्धा है, क्योंकि बिना श्रद्धा के कोई मनन नही करता। अतः उपनिषदो के आधार पर हमें आध्यात्मिक ज्ञान की प्राप्ति में श्रद्धा एवम् बुद्धि दोनो का सापेक्ष महत्व दिखाई देता है।

श्रीमद्भगवद्गीता में सतोगुण, रजोगुण तथा तमोगुण के आधार पर ज्ञान, बुद्धि तथा श्रद्धा तीनो के तीन-तीन भेद किए गये है और उनमें से सात्विक ज्ञान, सात्विकी बुद्धि एव सात्विकी श्रद्धा को श्रेष्ठ कहा है।[५] इसके साथ ही बतलाया है कि मनुष्य मे जैसी श्रद्धा होती है, वह उसी के अनुकूल सभी कार्य करता है, उसी के अनुसार उसकी बुद्धि बनती है, उसी के अनुकूल उसे ज्ञान की प्राप्ति होती है, साथ ही ससार मे ज्ञान के समान पवित्र करने वाला कुछ भी नही है। यह ज्ञान उसी को प्राप्त होता है, जो जितेन्द्रिय, तत्पर, एव श्रद्धावान् होता है।[६] इसके अतिरिक्त श्रीमद्भगवद्गीता मे बुद्धि को व्यवसायात्मिका बतलाया है, जिसका अर्थ श्री शकराचार्य ने 'निश्चय स्वभावा' किया है।[७] अत' गीता में आध्यात्मिक ज्ञान की प्राप्ति में जहाँ सात्विकी श्रद्धा का महत्व स्वीकार किया है, वहाँ

१—रामचरितमानस, बालकाड, श्लोक २।

२—ऋग्वेद १०। ११०।८

३—शिवसूत्रविमर्शिनी ३।१२

४—छांदोग्य उपनिषद् ७।१८–१९

५—श्रीमद्भगवद्गीता १८।२०–२२, ३०–३२, १७।२

६—वही १७।३, ४।३८, ४।३९

७—वही, शकराचार्यकृत टीका, पृ० ४५।

सात्विकी बुद्धि द्वारा भी ज्ञान की प्राप्ति होना संभव कहा है, क्योंकि यह बुद्धि ही अपने निश्चय-स्वभाव के कारण एक साधक को जितेन्द्रिय एवं ज्ञान-प्राप्ति के लिए तत्पर होने की प्रेरणा प्रदान करती है और इसी निश्चय-स्वभावा बुद्धि के द्वारा साधक अपनी साधना में उत्तरोत्तर वृद्धि करता हुआ श्रद्धा एवं विश्वास के कारण उस अनन्त ब्रह्म का ज्ञान प्राप्त कर लेता है। इस कारण श्रीमद्भगवद्गीता के अनुसार भी ज्ञान-प्राप्ति में श्रद्धा और बुद्धि दोनों का सापेक्ष महत्व दिखाई देता है।

योगसूत्रकार पतंजलि ने अपने योगदर्शन में लिखा है कि 'श्रद्धा, वीर्य, स्मृति, समाधि तथा प्रज्ञा इन सब उपायों द्वारा असम्प्रज्ञात योग सिद्ध होता है।'[1] इसका अभिप्राय यह है कि 'श्रद्धा चित्त का सम्प्रसाद है, वह योगी को कल्याणी माँ के समान पालती है। इस तरह श्रद्धायुक्त विवेकार्थी के वीर्य होता है। वीर्यवान् की स्मृति उपस्थित होती है। स्मृति की उपस्थिति में चित्त अनाकुल होकर समाहित होता है। समाहित चित्त ही समाधि है, समाहित चित्त में ही प्रज्ञा, विवेक या विशिष्टता उत्पन्न होती है और विवेक से ही योगी वस्तु का यथार्थ ज्ञान प्राप्त करते हैं।'[2] इस तरह श्रद्धा को हम ज्ञान का मूलाधार कह सकते हैं और उसके द्वारा ही पुष्ट होकर प्रज्ञा या विवेक-बुद्धि ज्ञान को प्राप्त करती है। अतः योगदर्शन के मतानुसार भी ज्ञान में बुद्धि और श्रद्धा का सापेक्ष महत्व सिद्ध होता है।

शैवग्रंथों में ज्ञान तीन प्रकार का बतलाया गया है, जो क्रमशः आणवज्ञान, शाक्तज्ञान एवं शांभवज्ञान के नाम से प्रसिद्ध हैं। इनमें से आणवज्ञान को भेदज्ञान, शाक्तज्ञान को भेदाभेदज्ञान और शांभवज्ञान को अभेदज्ञान कहा गया है।[3] आणव या भेदज्ञान वह है जिसमें सांसारिक मल एवं बाह्याचारों का अवलम्बन करके बुद्धि विकल्पपूर्ण रहती है और शाक्त अथवा भेदाभेदज्ञान वह है जिसमें बुद्धि के सांसारिक मल तो दूर हो जाते हैं, इस कारण अभेदता आजाती है, किन्तु बुद्धि विकल्पात्मक बनी रहती है। इसी से उसमें भेदता भी रहती है,[4] परन्तु शांभव या अभेद ज्ञान वह है जहाँ बुद्धि में किसी प्रकार के भी विकल्प नहीं रहते और पूर्णतया निर्विकल्प होकर उसका आनन्द-शक्ति में पर्यवसान हो जाता है।"[5] इसी ज्ञान को श्रेष्ठ एवं परम ज्ञान कहा है। इसी को शैवागमों में 'अनुत्तरावस्था' कहा है।[6] इतना ही नहीं इन तीनों का सम्बन्ध इच्छा, ज्ञान और क्रिया से भी है क्योंकि ये तीनों शिव की तीन

१—पातंजलि योगदर्शन १।२० २—पातंजलि योगदर्शन, पृ० ४४।
३—तंत्रालोक भाग १, पृ० २४८। ४—तंत्रालोक भाग १, पृ० २४२।
५—वही, पृ० २३९। ६—वही, पृ० २५६।

शक्तियाँ मानी गई हैं। इनमें से आणव ज्ञान मे क्रिया की प्रधानता रहती है, जिससे भेद-बुद्धि उत्पन्न होती हैं। शाक्त में क्रिया एव ज्ञान की प्रधानता रहती है, जिससे भेद और अभेद दोनो प्रकार की बुद्धि रहती है और शाभव में केवल इच्छा की प्रधानता रहती है,[1] इसी कारण भेद का नाश होकर अभेद बुद्धि ही शेष रह जाती है और हृदय में 'शिवोऽहम्' की अनुभूति होने लगती है। उस समय इच्छा, ज्ञान एव क्रिया तीनो का समन्वय हो जाता है, बुद्धि के समस्त विकल्प समाप्त हो जाते हैं और हृदय में आनदानुभूति होने लगती है। यही शैवदर्शन का परमज्ञान है, जिसमें बुद्धि एव हृदय दोनो का समन्वय हो जाता है, क्योकि यहाँ आकर बुद्धि के समस्त विकल्पो का हृदय मे ही पर्यवसान हो जाता है। इसके अतिरिक्त तन्त्रो में जहाँ-जहाँ ध्यान, धारणा, समाधि आदि का वर्णन मिलता है, वहाँ-वहाँ यह भी बतलाया गया है कि योगी को अनन्य बुद्धि से हृदय मे ही शिव, सूर्य, कमल या चन्द्र आदि के बिम्ब का ध्यान करना चाहिए। इस तरह ध्यान करते-करते धारणा स्थिर हो जाती है, उसकी समाधि लग जाती है और समाधि के उपरान्त वह शिवत्व या परमज्ञान को प्राप्त कर लेता है।[2] यहाँ पर ध्यान का सम्बन्ध बुद्धि से है और उस ध्यान का स्थान हृदय बतलाया गया है। अत बुद्धि और हृदय या श्रद्धा दोनो ज्ञान-प्राप्ति मे सहायक होती हैं। 'त्रिपुरा रहस्य' में भी "सतर्कजनिता श्रद्धा प्राप्येह फलभाङ् नर"[3] अर्थात् सतर्कजन्य श्रद्धा को प्राप्त करके ही कोई व्यक्ति सफल होता है, यह कहकर सतर्क का सम्बन्ध सद्बुद्धि से जोडा गया है। अत बुद्धियुक्त श्रद्धा से ही कोई व्यक्ति सफलता या ज्ञान प्राप्त करता है, अन्ध-श्रद्धा से नही। इसी कारण शैवागमो के आधार पर भी यही सिद्ध होता है कि ज्ञान प्राप्ति में बुद्धि एव श्रद्धा दोनो का सापेक्ष महत्व है।

अब यदि कामायनी की ओर दृष्टि डालें, तो उसके अनुशीलन से एक साधारण पाठक को यही ज्ञात होता है कि प्रसादजी ने केवल श्रद्धा द्वारा ही मन या मनु को ज्ञान की प्राप्ति करायी है, क्योकि बुद्धि या इडा के समीप रहने पर तो मनु और भी अज्ञानाधकार मे डूब जाते है। परन्तु विमल ज्योतिस्वरूपा श्रद्धा आकर जब उन्हे पुनः सम्हालती है और अपने साथ कैलाश-गिरि की उन्नत चोटी पर ले जाती है, तभी मनु को आध्यात्मिक ज्ञान की प्राप्ति होती है। अत इससे यही सिद्ध होता है कि बुद्धि या इडा द्वारा मनु को ज्ञान प्राप्त नही होता, अपितु श्रद्धा द्वारा

१—तन्त्रालोक भाग १, पृ० २५५।

२—मालिनीविजयोत्तरतन्त्र १६।२, ५, १३, ३०

३—त्रिपुरा-रहस्य, ज्ञान-खड ७।७

ही उन्हे सच्चे ज्ञान एवं अखंड आनन्द की प्राप्ति होती है। परन्तु तनिक गंभीरता-पूर्वक विचार करें, तो यही ज्ञात होगा कि मन या मनु की ज्ञान-प्राप्ति मे श्रद्धा और बुद्धि या इडा दोनो का हाथ है। क्योंकि मनु को सर्वप्रथम प्रत्यक्षज्ञान या भौतिकज्ञान की जानकारी प्राप्त कराने का श्रेय बुद्धि या इडा को ही है। वह प्रथम भेंट के अवसर पर तुम 'जडता को चैतन्य करो विज्ञान सहज साधन उपाय'[1] कहकर मनु को वैज्ञानिक उन्नति की ओर अग्रसर करती है। आगे चलकर उसकी प्रेरणा के अनुसार मनु कार्य करते हैं और वे सारस्वत नगर की श्री-वृद्धि करते हुए भौतिक ज्ञान-विज्ञान मे पर्याप्त उन्नति करते हैं। परन्तु उन्हे आध्यात्मिक ज्ञान प्राप्त नही होता। वे विज्ञानमयी बुद्धि के द्वारा भौतिकज्ञान की चरमसीमा पर तो पहुँच जाते हैं, परन्तु आध्यात्मिक ज्ञान के अभाव मे उन्हे सुख, संतोष, तृप्ति, शान्ति आदि का अनुभव नही होता और जब भौतिक विज्ञान की प्रेरक बुद्धि द्वारा मनु इस निष्कर्ष पर पहुँच जाते हैं कि इससे न तो मुझे तृप्ति हुई है और न आनन्द या सुख ही मिला है, तभी वे श्रद्धा की ओर उन्मुख होकर आध्यात्मिक ज्ञान को प्राप्त करने के लिए आतुर होते हैं। अत श्रद्धा की ओर उन्मुख होने की प्रेरणा बुद्धि या इडा से ही मिलती है, क्योंकि भौतिक उन्नति के दुष्परिणाम को दिखलाने का कार्य यदि बुद्धि या इडा न करती, तो कभी मनु वास्तविक ज्ञान की प्राप्ति के लिए लालायित न होते। अतः मनु की ज्ञान-प्राप्ति मे श्रद्धा के साथ-साथ बुद्धि या इडा का भी महत्त्व हमें मानना पडेगा।

इसके अतिरिक्त कामायनी मे प्रसादजी ने सारस्वत नगर की पुन श्री-वृद्धि दिखलाई है और इस श्री-वृद्धि मे श्रद्धा-पुत्र कुमार तथा इड़ा या बुद्धि दोनो का संतुलित सहयोग दिखलाया है। दोनो के प्रयत्नो मे ही 'समरसता' का प्रचार होता है और फिर सारस्वत नगर मे एक कुटुम्ब सा स्थापित हो जाता है, जिसमे न कही कोई कलह है और न कोई संघर्ष। इसके विषय में श्रद्धा ने पहले ही अपने पुत्र को यह शिक्षा दी थी :—

यह तर्कमयी तू श्रद्धामय, तू मननशील कर कर्म अभय
इसका तू सब संताप निचय, हरले, हो मानव भाग्य उदय
सबकी समरसता कर प्रचार, मेरे सुत! सुन माँ की पुकार।[2]

प्रसादजी के उक्त कथन में स्पष्ट ही श्रद्धा और इड़ा अथवा श्रद्धा एवं बुद्धि दोनो के महत्त्व की स्वीकृति दिखलाई दे रही है, क्योंकि वे 'समरसता' के लिए दोनो की स्थिति अनिवार्य मानते है। यह 'समरसता' ही शैवागमो की अखंड आनन्दावस्था

१—कामायनी, पृ० १७१। २—वही, पृ० ९४४।

है।[1] और इसी को प्रसादजी ज्ञान की चरमावस्था अथवा वास्तविक ज्ञान का स्वरूप मानते है। इसके लिए प्रसादजी ने तर्कशीला वुद्धि एव श्रद्धा दोनो का सम्मिलन एक वार तो सारस्वत नगर की व्यवस्था के लिए कराया है और दूसरी वार इडा जव अपने समस्त कुटुम्ब के साथ कैलाश पर मनु के समीप पहुँचती है और श्रद्धा एव मनु जब इडा तथा अपने कुमार से पुन मिलते हैं, तव प्रसादजी मनु से इस 'समरसता' की ओर सकेत कराते हैं।[2]

अत मनु को इस आध्यात्मिक ज्ञान या अखड आनन्द की उपलब्धि उस समय होती है जवकि इडा या वुद्धि अपने कुटुम्ब को लेकर मनु एव श्रद्धा के समी पहुँचती है। इससे पहले वे श्रद्धा के साथ केवल तपस्या मे लीन रहे आते है औ तन्मय होकर जीवन व्यतीत करते हैं। इस कारण जहाँ श्रद्धा उन्हें ज्ञान-प्राप्ति लिए तन्मय होने एव समाधि में सलग्न रहने की प्रेरणा देती है, वहाँ बुद्धि या इडा आगमन द्वारा मनु को 'समरसता' या आनन्दानुभूति की प्राप्ति होती है। यहाँ पर इ पूर्णतया प्रज्ञा के समान है और इस प्रज्ञा के प्राप्त होते ही मनु को यथार्थ ज्ञा प्राप्त हुआ हैं। जैसा कि योगदर्शन के टीकाकार श्रीमद् हरिहरानन्द आरण्य ने लिखा है कि 'श्रद्धा से वीरत्व होता है। जिनकी जिस विषय में अच्छी श्रद्धा न रहती, वे उस विषय में वीरत्व नहीं कर सकते। वीरत्व अथवा वार-वार कष्ट सह पूर्वक चित्त को एकाग्र करते-करते चित्त मे स्मृति होती है। स्मृति ध्रुवा या अचल होने से समाधि होती है। समाधि से प्रज्ञा-लाभ और प्रज्ञा के द्वारा हेय पदार्थ यथार्थ ज्ञान होकर निर्विकार द्रष्टा पुरुष मे स्थित या कैवल्य-सिद्धि होती है।'[3] इ कथन के आधार पर जब हम कामायनी पर विचार करते हैं, तब पता चलता है कि सारस्वत नगर मे जिस समय श्रद्धा पुन मनु के समीप आती है, उसी समय श्रद्धा देखकर मनु के हृदय मे आध्यात्मिक ज्ञान प्राप्ति के लिए वीरत्व की भावना उद होती है और वे श्रद्धा के साथ-साथ कैलाश की ऊँचाई पर चढने के कष्टो को साहस के साथ सहन करते हैं। जब कुछ कष्ट सहन करके वे कैलाश की उच्च शिख पर पहुँच जाते हैं और वहाँ से इच्छा, कर्म तथा ज्ञान के तीनो लोको का पृथक्-पृथ व्यवहार देख लेते हैं, तव उनके चित्त मे स्मृति होती है और अपने जीवन विडम्बना का भी पूरा चित्र उनके सामने अकित हो जाता है। किन्तु स्मृति के अच हो जाने पर वे समाधि में लीन हो जाते है। उधर इच्छा, क्रिया और ज्ञान का समन्वय हो जाता है। अत उनका चित्त समाधि मे तन्मय दिखाई देने लगता है

१—तन्त्रालोक, भाग २, पृ० २८–२९। २—कामायनी, पृ० १८८
३—पातजलि योगदर्शन, पृ० ४६–४७।

इस समाधि के उपरान्त ही 'आनन्द' सर्ग मे इड़ा या बुद्धि अपने परिवार के साथ मनु के समीप आती है। यहीं पर मन रूपी मनु को समाधि के उपरान्त प्रज्ञा-लाभ होता है। जब बुद्धि या प्रज्ञा की भी प्राप्ति हो जाती है तब उन्हे वास्तविक या यथार्थ ज्ञान की भी प्राप्ति होती है और वे कैवल्य-सिद्धि-स्वरूप समरसता के अखड आनन्द का अनुभव करने लगते हैं। जैसा कि कामायनी के 'आनन्द' सर्ग के अत में लिखा भी है —

समरस थे जड या चेतन सुन्दर साकार बना था,
चेतनता एक विलसती आनन्द अखड घना था।

निष्कर्ष यह है कि प्रसादजी ने कामायनी में केवल श्रद्धा द्वारा ही मनु को ज्ञान प्राप्त होते हुए नही दिखलाया है, अपितु इडा या बुद्धि भी मनु को ज्ञान-प्राप्ति में अपना उचित योग प्रदान करती है। इडा या बुद्धि के द्वारा ही वे भौतिक सघर्ष के वास्तविक रूप से परिचित होते हैं, इसी के द्वारा उनके मस्तिष्क का विकास होता है, इसी के सहारे वे नियामक, शासनकर्त्ता एव प्रकृति पर भी अपना अधिकार स्थापित करने वाले बनते हैं और इस बुद्धि की प्रेरणा से ही वे निर्वेद को प्राप्त होकर पुन: श्रद्धा के निकट पहुँचते हैं। यदि इडा या बुद्धि उन्हे विज्ञानमय न बनाती, यदि इडा की प्रेरणा से वे भौतिक विज्ञान की उच्च शिखर पर न पहुँचते और वहाँ पहुँचकर अतृप्ति, असन्तोष आदि का अनुभव न करते, तो यह कदापि संभव न था कि मनु यथार्थ ज्ञान-प्राप्ति की ओर उन्मुख हो पाते। इसी कारण आध्यात्मिक ज्ञान-प्राप्ति में यदि श्रद्धा का योगदान अधिक है, तो उसकी पृष्ठभूमि के निर्माण करने मे इडा या बुद्धि का भी योगदान कम नही है। इसीलिए ये दोनो ज्ञान की पूरक हैं और इससे यही सिद्ध होता है कि प्रसादजी ने भी कामायनी के अन्तर्गत ज्ञान-प्राप्ति के लिए बुद्धि एव श्रद्धा दोनो का सापेक्ष महत्व स्वीकार किया है।

प्रकरण ७

कामायनी की दार्शनिकता

निगमों और आगमो का स्वरूप—निगम शब्द 'नि' उपसर्गपूर्वक गम् से अण् प्रत्यय करने पर बना है। विश्व-कोप में इसकी व्युत्पत्ति इस प्रका है—'निगम्यते ज्ञायतेऽनेनेति निगम' अर्थात् जिससे कुछ जाना जाता है, वह ि है और इसका शब्दार्थ वेदशास्त्र किया है। यास्क ने भी ऋग्वेद की अनुक्रमणिव आद्य नैघटुक काण्ड द्वितीय नैगम तथा' कहकर निगम का अर्थ वेद किया है।[1] अतिरिक्त वाचस्पति मिश्र ने तत्त्ववैशारदी में आगम शब्द की व्याख्या इस प्र की है—'आगच्छन्ति बुद्धिमारोहन्ति यस्माद् अभ्युदयनि.श्रेयसोपायाः स आग अर्थात् आगम वह शास्त्र है जिसके द्वारा भोग और मोक्ष के उपाय बुद्धि में हैं। इस व्युत्पत्ति से भी आगम और निगम का भेद स्पष्ट हो जाता है अर्थात् उपासना और ज्ञान के स्वरूप को निगम (वेद) बतलाता है तथा इनके स भूत उपायो को आगम सिखलाता है।[2] 'आगमो' को तन्त्र भी कहा जाता है। सुनीतिकुमार चटर्जी ने भी निगम और आगम का भेद करते हुए लिखा है 'हिन्दुओ में धार्मिक विचारो, दर्शन, उपासना-पद्धतियो तथा अन्य धार्मिक क्रि के आधार पर दो भेद मिलते है—निगम और आगम। निगम से तात्पर्य विचारो से है, जिसमें वैदिक यज्ञ, कर्मकाण्ड, होम आदि आते हैं। आगम से त तान्त्रिक एव पौराणिक रहस्यमय धर्म से है। निगम-धर्म ही शुद्ध वैदिक है, आगम धर्म पर केवल वैदिक प्रभाव ही दिखाई देता है।[3]

व्युत्पत्ति की दृष्टि से—निगम और आगम दोनो पर्यायवाची शब्द है तान्त्रिक ग्रन्थो मे दोनो समान अर्थ मे प्रयुक्त हुए है। यहाँ केवल इतना ही है कि जिन ग्रन्थो मे एक शिष्या की भाँति पार्वती प्रश्न करती है और ए

१—हिन्दी विश्व-कोप—स० नगेन्द्रनाथ वसु, भाग ११, पृ० ७३२।

२—आर्य-सस्कृति के मूलाधार, पृ० ३०५।

3—The Vedic Age, p 159-160

की भाँति शिव उन प्रश्नो का उत्तर देते हैं, उन्हे तो 'आगम' कहते हैं तथा जहाँ पर शिव प्रश्न करते है और एक गुरु की भाँति पार्वती उत्तर देती हैं, उनको 'निगम' कहते हैं।[1] किन्तु यह बात तन्त्रो तक ही सीमित है। सर्वसाधारण मे 'आगमो' से तन्त्रशास्त्र का ही अर्थ लिया जाता है और 'निगम' वेदशास्त्रो को कहते हैं। इनके अतिरिक्त मेरुतन्त्र मे स्पष्ट ही तन्त्रो या आगमो को वेद का एक अग कहा है। इसके साथ ही कौलार्णव तन्त्र मे भी लिखा है कि वेद-विद्या मे महान् और कोई विद्या नही है तथा कौलदर्शन मे महान् कोई दर्शन नही है।[2] मनुस्मृति के प्रसिद्ध टीकाकार कुल्लूक भट्ट ने भी यही लिखा है कि श्रुति दो प्रकार की है—वैदिकी और तान्त्रिकी।[3] इन आधार पर आगम या तन्त्र भी वेदो के ही अग प्रतीत होते हैं।

उक्त विवेचन के आधार पर 'निगम' शब्द वेद का तथा 'आगम' शब्द तत्र का पर्यायवाची सिद्ध होता है। अत वेदो के आधार पर विकसित ब्राह्मण, आरण्यक, उपनिषद् आदि ग्रथो को 'निगम' कहा जाता है और तत्रो के आधार पर विकसित कामिक, योगज, चित्य, स्वच्छद, नेत्र, मृगेन्द्र, मातग, विज्ञान-भैरव आदि ग्रथो को 'आगम' कहा जाता है। भारतवर्ष में निगमो एव आगमो पर आधारित विचारधाराये अत्यत प्राचीन काल से प्रवाहित होती हुई लक्षित होती हैं। कुछ विद्वानो का विचार है कि उक्त दोनो धाराये दर्शन के इतिहास में आदिकाल के अन्तर्गत ही मिल जाती हैं और दोनो ही पूर्णतया स्वतन्त्र एव परस्पर एक दूसरे के विरुद्ध प्रवाहित हुई हैं।[4] इसके विरुद्ध कुछ विद्वानो की राय यह है कि निगमो की विचारधारा अत्यन्त प्राचीन है और आगमो का विकास निगमो के अन्तर्गत आने वाले ब्राह्मण-ग्रन्थो से उसी प्रकार हुआ है, जिस प्रकार कि उपनिषद्-ग्रन्थो का माना जाता है। परन्तु ये आगम ग्रन्थ उपनिषदो के कुछ बाद में ही विकसित हुए हैं।[5] इसके अतिरिक्त विद्वानो का एक तीसरा विचार और मिलता है। उनके आधार पर यह ज्ञात होता है कि आगमो का निर्माण उपनिषदो की व्याख्या करने तथा उनके विचारो को विकसित करने के लिए हुआ है। इन दोनो का सम्बन्ध उसी प्रकार है जैसे ईसाईयो के धर्म-ग्रन्थ बाइबिल के प्राचीन एवं नवीन (Old

---

1—A History of Indian Literature Vol I, p 592

2—Dr C. Kunhan Raja Presentation Volume, p 75

३—वही, पृ० ७५।

4—The Sivadvaita of Srikantha by S S Suryanarayana Sastri, p 1.

५—वही, पृ० २।

Testament and New Testament) दोनों रूपों का है, क्योंकि नवीन रूप प्राचीन रूप पर ही आधारित है। इस प्रकार उपनिषदों में केवल जिज्ञासा उत्पन्न की गई है और आगमों में उसकी पूर्ति की गई है। उपनिषदों में केवल चर्या, क्रिया और योग का ही वर्णन है, जबकि आगमों में इनके अतिरिक्त ज्ञान का भी वर्णन मिलता है। उपनिषदों में केवल जाग्रत, स्वप्न, सुषुप्ति तथा तुर्यावस्था का ही उल्लेख मिलता है, जबकि आगमों में उनके आगे 'तुर्यातीत' नामक पाँचवीं अवस्था का और उल्लेख किया गया है।[1] इस तरह आगम ग्रन्थ उपनिषदों के ही विकसि-रूप हैं।

निगमों अथवा वैदिक ग्रंथों से आगमों को पृथक् मानने वालों में वे विद्व आते हैं, जो आगमों को सर्वप्रथम तामिल भाषा में लिखा हुआ मानते हैं। उन मत है कि सर्वप्रथम आगम ग्रंथ तामिल भाषा में ही थे, किन्तु जब उनका संस्कृ रूपान्तर हुआ, तब संस्कृत जानने वाले विद्वानों ने उनमें वैदिक विचारों का समावे कर दिया, जो कुछ तो स्वाभाविक रूप से हुआ और कुछ जान बूझ कर राजनीति कारणों से किया गया। कालान्तर में तामिल भाषा के मूल ग्रंथ तो लुप्त हो गये अ आज केवल संस्कृत भाषा के ग्रंथ ही प्राप्त हैं, जिन्हें देखकर उनका विकास आ निगमों से ही जान पड़ता है।[2] अतः इन विद्वानों का विचार है कि शैवमत के आगम वेदों से पूर्णतः भिन्न थे। वे 'आगम' शब्द की व्युत्पत्ति ही यह करते हैं 'आगम' का अर्थ आना है। अतः जो वस्तु परम्परा से अथवा स्वयं सर्वोच्च सत्ता शिव से आई है या प्राप्त हुई है, उसे 'आगम' कहा जाता है। इस कारण आग को वेदों की भाँति ही प्रामाणिक एवं प्राचीन मानना चाहिए। इसके अतिरि आगमों में वैदिक क्रियाओं के विरुद्ध शिक्षा दी है और वेदों को पढ़ने का अधिक केवल द्विजातियों को ही है, जबकि आगम ग्रंथों को सभी व्यक्ति और सभी जाति पढ़ सकती हैं।[3] इससे सिद्ध है कि वेदों या निगमों से आगम सर्वथा पृथक् है।

दूसरे तथा तीसरे मत वाले विद्वानों में केवल इतना ही अंतर है कि प्र तो आगमों को उपनिषदों के साथ ही विकसित होता हुआ बतलाते हैं और दू उपनिषदों के उपरान्त आगमों का विकास सिद्ध करते हैं, परन्तु दोनों मत व विद्वान् अधिकांश आगमों का विकास वैदिक ग्रंथों या निगमों के आधार पर ही मा हैं। दक्षिण के विद्वानों में तिरुमुलर, श्रीकंठ, हरदत्त शिवाचार्य आदि विद्वान् आग

1—*The Sivadvaita of Srikantha by S S Suryanarayana Sastri, p 6*

२—वही, पृ० ४।

३—शैव-परिभाषा—भूमिका, पृ० ४–५।

तथा निगमो मे कोई विशेष अन्तर नही मानते। तिरुमुलर का कथन है कि "आगमो एव वेदो मे सत्य भरा हुआ है और दोनो ही ईश्वर के शब्द हैं। वेदो मे साधारण और आगमो मे विशेष सिद्धान्तों का प्रतिपादन हुआ है। देखने में दोनो भिन्न-भिन्न प्रतीत होते है, परन्तु वैसे दोनो ही अभिन्न हैं।"[१] श्रीकंठ भी यही कहते है कि "वेदो तथा आगमो मे कोई विशेष अतर नही हैं, दोनो मे ही ईश्वर की वाणी का सग्रह है। केवल अन्तर इतना ही है कि आगमो को सभी लोग पढ सकते है, जबकि वेद केवल द्विजातियो के लिए ही बने है।"[२] श्री हरदत्त शिवाचार्य ने अपने तात्पर्यसग्रह ग्रथ में पूर्णरूप से यह प्रतिपादन किया है कि आगमो तथा वेदो के विचारो मे कोई अन्तर नही और आगमो के विचारो का स्रोत वेद ही हैं। कुछ आगम ग्रथो मे भी यही बात मिलती है कि आगमो का विकास वेदो के आधार पर ही हुआ है। जैसे सुप्रभेदागम में 'सिद्धान्तो वेदसारवत्' तथा मुकुटागम मे 'वेदान्तार्थमिद शास्त्र सिद्धान्त परम मतम्' कहकर आगमो को वेदो का ही विकसित रूप बतलाया गया है।[3] इसके अतिरिक्त आचार्य अभिनवगुप्त ने भी अपने तत्रालोक मे यह स्पष्ट लिखा है "सभी मनुष्य वेद मार्ग के अनुयायी हैं, परन्तु जो आगम वेद-बाह्य कहलाता है वह वचक है।"[४] अत आगमो का विकास वेद-बाह्य नही, अपितु वेदो के आधार पर ही हुआ है।

तीसरे मत के मानने वालो में डा० वी० वी० रामनन शास्त्री का नाम प्रसिद्ध है। उनका विचार है कि आगमो मे केवल उपनिषदो के विचारो का ही विकास है और उनके अतिरिक्त कोई स्वतन्त्र विचारधारा नही है।[५]

उपर्युक्त तीनो विचारधाराओ के आधार पर आज यही ज्ञात होता है कि जो आगम ग्रंथ भारतवर्ष में प्रचलित है, उनका विकास पहले भले ही स्वतन्त्र रूप से हुआ हो, परन्तु आज वे निगमो से सर्वथा भिन्न नहीं है। उनमे भी वैदिक क्रियाओ का ही वर्णन है। वे भी वेदो या निगमो से ही अनुप्राणित है। प्रसादजी ने भी इसी मत को स्वीकार करते हुए लिखा है कि "श्रुतियो का और निगम का काल समाप्त होने पर ऋषियो के उत्तराधिकारियो ने आगमो की अवतारणा की"......"आगम

1—The Sivadvaita of Srikantha, p. 9

२—वही, पृ० ६।

३—निगमारत्न-चंद्रिका, भूमिका, पृ० २६७।

४—तंत्रालोक भाग ४, पृ० २५२।

५—निगमारत्न-चंद्रिका, भूमिका, पृ० २६७।

के अनुयायियो ने निगम के आनंदवाद का अनुसरण किया, विचारो में भी और क्रियाओ में भी।"[1]

मुख्यतः आगम-ग्रथ तीन-भागो मे विभक्त किए जाते हैं, जो शैव, वैष्णव तथा शाक्त के नाम से प्रसिद्ध हैं। शैवागमो मे शिव को, वैष्णवागमो में विष्णु को तथा शाक्तागमो में शक्ति को सर्वोपरि सिद्ध किया गया है। शैव और शाक्तागमो में प्रतिपादित सिद्धान्तो का वर्णन करने वाले शिव ही माने जाते हैं, जिन्होंने पार्वती या अपने पुत्र षण्मुख से ये आगम सम्बन्धी विचार कहे हैं।[2]

शैवागमो का प्रचार भारत के उत्तरी तथा दक्षिणी दोनों भागो में पाया जाता है। दक्षिणी भारत में मुख्यत २८ आगमो को अधिक प्रसिद्ध एव प्रामाणिक माना जाता है, जो दो भागो में विभक्त हैं। उनमे से १० आगमो को शिव द्वारा कहा हुआ जाना माता है और शेष १८ आगमो को रुद्र द्वारा कहा हुआ बतलाया जाता है। जो इस प्रकार है —

शिव द्वारा कथित आगम—(१) कामिक, (२) योगज, (३) चित्य, (४) कारण, (५) अजित, (६) दीप्त, (७) सूक्ष्म, (८) साहस्रक, (९) अशुमान, (१०) सुप्रभ।

रुद्र द्वारा कथित आगम—(११) विजय, (१२) निश्वास, (१३) स्वायभुव, (१४) आग्नेयक, (१५) भद्र, (१६) रौरव, (१७) माकुत, (१८) विमल, (१९) चन्द्रहास, (२०) मुख्युगविम्व, (२१) उद्गीत, (२२) ललित, (२३) सिद्ध, (२४) सन्तान, (२५) नारसिंह, (२६) परमेश्वर, (२७) किरण, (२८) पर या पारहिता।[3]

इनके अतिरिक्त उत्तरी भारत में जिन शैवागमो की प्रामाणिकता मानी जाती है, उनकी सख्या भी पर्याप्त है। जिनमें से कुछ प्रमुख आगम ये हैं —

(१) मालिनीविजयोत्तर, (२) स्वच्छद, (३) विज्ञान भैरव, (४) उच्छुश्म भैरव, (५) आनन्द भैरव, (६) मृगेन्द्र, (७) मतग, (८) नेत्र, (९) नैश्वास, (१०) स्वायभव, (११) रुद्रयामल।[4]

इस तरह शैवागमो के अनेक ग्रथ प्रसिद्ध हैं। शैवागमो की ही भाँति वैष्णवागमो की भी सख्या पर्याप्त मात्रा में बतलाई जाती है। प० राजवली पांडेय का मत है कि वैष्णवागमों की सख्या १८ है, जो पाचरात्र आगम के नाम से प्रसिद्ध

१—काव्य और कला तथा अन्य निवध, पृ० ५५।

२—लिगधारण-चद्रिका, नोट्स, पृ० २३०।

3—The Sivadvaita of Srikantha, p 9, 10

हैं। वैष्णवागमो को पांचरात्र इसलिए कहा जाता है कि यहां पर प्रमुख पांच तत्वो का निरूपण किया गया है, जो वासुदेव, सकर्षण, प्रद्युम्न, अनिरुद्ध और ब्रह्म कहलाते हैं। इनमें से वासुदेव को ही परब्रह्म कहा जाता है और उनसे ही शेष तत्वो का विकास हुआ है।[1] श्री बलदेव उपाध्याय का मत है कि वैष्णवागमो की सख्या २१५ है।[2] परन्तु अभी तक १३ ग्रथ ही प्रकाशित हुए हैं, जो इस प्रकार हैं —

(१) अहिर्बुध्न्य संहिता, (२) ईश्वर सहिता, (३) कपिजल सहिता, (४) जयाख्य सहिता, (५) पराशर सहिता, (६) पाद्मतत्र, (७) बृहद् ब्रह्म सहिता, (८) भारद्वाज सहिता, (९) लक्ष्मीतत्र, (१०) विष्णुतिलक, (११) श्री प्रश्न सहिता, (१२) विष्णुसहिता, (१३) सात्वत सहिता।[3]

वैष्णवागमो के अतिरिक्त शाक्तागमो की सख्या भी हजार से ऊपर बतलाई जाती है। परन्तु शाक्तपूजा-पद्धति अत्यन्त गोपनीय एव गुरुमुखैकगम्य होने के कारण शाक्तो की यह धारणा है कि शाक्त-तत्रो के प्रकाशित हो जाने पर अनर्थ होने की अधिक सभावना है। इसी कारण शाक्तागम अधिक प्रकाशित नहीं हुए हैं। इतना अवश्य है कि शाक्तो का साहित्य भी अत्यन्त विस्तृत जान पडता है। अभी तक जो शाक्तागम प्रकाशित हुए हैं, उनमे से ये प्रसिद्ध हैं :—

(१) कुलचूडामणि, (२) कुलार्णवतन्त्र, (३) तत्रराज, (४) काशीविलास, (५) ज्ञानार्णव, (६) वामकेश्वर, (७) महानिर्वाणतन्त्र, (८) रुद्रयामल, (९) त्रिपुरा-रहस्य, (१०) दक्षिणामूर्ति सहिता।[4]

इस तरह आगम ग्रन्थो की सख्या पर्याप्त है। इन आगम ग्रन्थों में अपने विषय का प्रतिपादन चार भागो मे विभक्त करके किया गया है, जो ज्ञान, क्रिया, योग और चर्या कहलाते हैं।[5] भगवान् का जानना ही ज्ञान है और इसी ज्ञान से मुक्ति मिलती है। अत. प्रथम ज्ञानपाद में भगवान् या परब्रह्म अथवा परमशक्ति को जानने के लिए दार्शनिक विचारो का सग्रह किया गया है। दूसरे क्रियापाद में मन्दिर निर्माण के लिए भूमि जोतने से लेकर मूर्ति-स्थापना तक की विधियाँ आती हैं। योगपाद मे चित्त को अक्षुब्ध करके किसी एक विषय मे स्थिर करने की विधि का वर्णन मिलता है और चतुर्थ चर्यापाद मे पूजाविधि का विधान बतलाया गया है।[6] लगभग

१—कल्याण—वेदान्त अंक पृ० ३३४–३३६।
२—भारतीय दर्शन, पृ० ४५६। ३—वही, पृ० ४५६–४६०।
४—भारतीय दर्शन, पृ० ५५६। ५—मृगेन्द्र-तन्त्र, पृ० ८।
६—कल्याण—वेदान्त अक, पृ० ३३६।

सभी आगम-ग्रथो मे इसी प्रकार के चार पादो में अपने विषय का विवेचन मिलता है।

इसके अतिरिक्त सभी आगमो में जीव या पशु, वधन या पाश और ईश्वर या पशुपति का विवेचन मिलता है। क्योकि सभी ने जीव या पशु की स्थिति का विवेचन करके, उसके ऊपर पडे हुए वधनो या पाशो को समझाया है तथा उनसे मुक्त होने के लिए ईश्वर या पशुपति के स्वरूप को समझाया है। मृगेन्द्रतन्त्र में लिखा भी है कि "समस्त महातन्त्रो मे तीन पदार्थो अर्थात् पशु, पाश और पशुपति का विवेचन चार पादो में अर्थात् ज्ञान, क्रिया, योग, चर्या नामक पादो में पहले सक्षेप में करके पुन विस्तार के साथ किया गया है।"[1] इसके साथ ही वैष्णव और शैव या शाक्त सभी आगमो की एक सबसे बडी विशेषता यह है कि वहाँ पर परब्रह्म के साथ ही उसकी शक्ति का भी महत्व स्वीकार किया गया है और परब्रह्म को सर्वत्र शक्ति-सयुक्त ही बतलाया है। दूसरे, जीवात्माओ की श्रेणियाँ मानी गई हैं तथा समस्त आगमो में ससार को सत्य बतलाया गया है।[2] इसके साथ ही सर्वत्र परब्रह्म के पाँच कार्यो की ओर सकेत मिलता है अर्थात् वे सृष्टि, स्थिति, सहार, तिरोभाव और अनुग्रह का कार्य किया करते हैं।[3] इतना अवश्य है कि शाक्तागमों में शक्ति को ही परब्रह्म कहा है।

इस तरह निगमो के अन्तर्गत जहाँ वेद, ब्राह्मण, आरण्यक, उपनिषद्, स्मृति, पुराणादि अनेकानेक ग्रथ आते हैं, वहाँ आगमो में भी अनेक ग्रन्थ-रत्न भरे पडे हैं। दोनो में भक्ति, ज्ञान, मोक्ष आदि का विवेचन विस्तृत रूप मे मिलता है और दोनो में ही जीव को नाना प्रकार के कष्टो से मुक्त होने के विधान बतलाए गए है। अत. निगमो एव आगमो के स्वरूप-भेद का निरूपण करना तो अत्यन्त कठिन है। हाँ, इतना अवश्य है कि जहाँ निगमो में भिन्न-भिन्न वैदिक देवी-देवताओ की पूजा का विधान मिलता है, वहाँ पर आगमो में केवल शिव, विष्णु, गणपति एव शक्ति की ही उपासना को महत्व दिया गया है। निगमो में पूजा-अर्चना आदि की प्रणाली अत्यन्त स्पष्ट एव सरल है, किन्तु आगमो में रहस्यमयी एव गोपनीय पूजा-विधि का भी वर्णन मिलता है। निगमो में शुद्ध आचार-विचार एव सात्विक क्रियाओ की ही प्रधानता है, जवकि आगमो मे पच मकारो—मास, मदिरा, मत्स्य, मैथुन और मुद्रा के सेवन का विधान होने से वामाचार की ओर भी सकेत मिलते हैं, परन्तु वहाँ

१—मृगेन्द्रतन्त्र, विद्यापाद १।२

२—लिंगधारण-चन्द्रिका, भूमिका, पृ० २११।

३—कल्याण—वेदान्त अक, पृ० ३३६।

इनको भी आध्यात्मिक रूप दिया गया है। निगमों के पठन-पाठन एवं उनके सिद्धांतों के अनुकूल आचरण करने का अधिकार केवल ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्यों को ही है, जबकि आगम-ग्रन्थों की रचना प्रत्येक वर्ण के लिए तथा शूद्र एवं स्त्रीजनों के लिए विशेष रूप से हुई है। निगमों में गुरु एवं दीक्षा का महत्व तो है, किन्तु वहाँ इन दोनों पर इतना बल नहीं दिया गया है, जितना कि आगमों में मिलता है। आगमों में तो गुरु से दीक्षा लिए बिना न तो उनका ज्ञान प्राप्त होता है और न कोई साधक मोक्ष का ही अधिकारी होता है।[1] निगमों में केवल जाग्रत, स्वप्न, सुषुप्ति तथा तुर्यावस्था का ही उल्लेख मिलता है, जबकि आगमों में पंचमावस्था 'तुर्यातीत' और मानी गई है, जिसमें पूर्णता की प्राप्ति होती है और जीव आनन्द-निर्भर होकर परम-पद को प्राप्त कर लेता है।[2] निगमों में अधिक से अधिक २५ तत्वों का ही वर्णन मिलता है, जैसा कि सांख्य-दर्शन में प्रतिपादन हुआ है, किन्तु आगमों में ३६ तत्वों का विवेचन मिलता है, जिनमें से कुछ तत्व तो सांख्य के ही हैं, शेष कुछ आगमों में स्वतन्त्र रूप से मान लिए गये हैं, जिनका विवेचन आगे किया जायेगा। इसके साथ ही निगमों में दार्शनिक दृष्टि से वेदान्त-दर्शन को अन्तिम विकास माना जाता है, जहाँ पर अत्यन्त शुद्ध, निरुपाधि, अद्वैतब्रह्म का प्रतिपादन हुआ है, वहाँ आगमों में भी ब्रह्म को द्वैत और अद्वैत दोनों प्रकार का माना गया है, परन्तु जहाँ अद्वैत माना है, वहाँ सर्वत्र उसे शक्ति से समन्वित करके उसकी अद्वैतता सिद्ध की गई है।

अतः निगमों और आगमों में कोई मौलिक भेद नहीं दिखाई देता। यह भेद केवल बाह्य है। इसी कारण ये परस्पर एक दूसरे के पूरक हैं और ऐसा जान पड़ता है कि वैदिक दर्शन तथा वैदिक प्रक्रियाओं को ही व्यावहारिक रूप देने के लिए तथा उन्हें सर्वजनसुलभ बनाने के लिए आगमों का निर्माण हुआ है।

शैवों का दार्शनिक चिन्तन—शैव मतावलम्बियों की दार्शनिक विचारधारा का विकास शिव को परात्पर ब्रह्म मानते हुए आगम-ग्रन्थों के आधार पर हुआ है। वैसे शिव की अनन्त शक्ति का उल्लेख वैदिक काल से ही मिलता है। ऋग्वेद में शिव के रुद्र रूप का विस्तृत विवेचन करते हुए शिव को अनन्त शक्ति-सम्पन्न एवं सबका शासक बतलाया है।[3] यजुर्वेद में शतरुद्रीय अध्याय के अन्तर्गत शिव की और भी अधिक प्रशंसा की गई है। शतपथ तथा कौषीतकि ब्राह्मण में शिव के आठ नामों की चर्चा मिलती है, जिनमें से रुद्र, शर्व, उग्र और अशनि ये चार नाम संहार-सूचक

१—तन्त्रालोक, भाग ८, पृ० १२४।
२—तन्त्रालोक, भाग ७, पृ० १८८।
३—ऋग्वेद २।३३

तथा भव, पशुपति, महादेव और ईशान ये चार नाम मगल-सूचक बतलाये गये है। तैत्तिरीयारण्यक मे समस्त जगत को रुद्र रूप कहा है[1] और श्वेताश्वतर उपनिषद् मे शिव की एकमात्र सत्ता बतलाते हुए उसे ससार का उत्पादक, पालक एव सहारक बतलाया है।[2] इससे यही ज्ञात होता है कि शैव दर्शन सबधी विचार वैदिक काल में ही विद्यमान थे।

शैवो के मुख्यतया पाँच सम्प्रदाय प्रसिद्ध हैं, जो शैव, पाशुपत, कालामुख, कापालिक और वीरशैव कहलाते हैं। इनमें से शैव सम्प्रदाय का मुख्य गढ तामिल प्रदेश है। वहाँ पर इस मत के तामिल भाषा में लिखे हुए २८ तत्र तथा २०८ आगम सहिताएँ प्रसिद्ध हैं, जिनमें इस मत के सिद्धान्त एव शिवाराधना की विभिन्न विधियों का उल्लेख मिलता है।[3] दूसरे, पाशुपत सम्प्रदाय के सस्थापक नकुलीश या लकुलीश कहलाते हैं। इस मत का मुख्य केन्द्र गुजरात है। इस मत में भगवान शकर के १८ अवतार माने गये हैं, जिन मे से 'नकुलीश' को आद्य अवतार कहा गया है।[4] इनके अतिरिक्त कालामुख तथा कापालिक मतो का अधिक विवरण नही मिलता। इनके सभी सिद्धान्त एव क्रियायें आरम्भ से ही अत्यन्त गुप्त रखी गई हैं, जिससे इनकी परम्परा नष्ट हो गई है।[5] पाँचवें, वीरशैवमत का प्रचार कर्नाटक प्रदेश में है। इस मत के अनुयायी शिव लिंग को गले में डालते हैं और इनमे शिव-लिंग की पूजा का ही अधिक प्रचार है। इसी कारण इसके अनुयायी 'लिंगायत' कहलाते हैं। इस मत के आदि प्रचारक 'बसव' है, जो कलचुरी के राजा बिज्जल के मत्री माने जाते हैं। इस मत का मुख्य ग्रन्थ 'बसव पुराण' है।[6]

श्रीमाधवाचार्य ने सर्वदर्शनसग्रह में चार शैवदर्शनो का उल्लेख किया है, जो क्रमश नकुलीश पाशुपतदर्शन, शैवदर्शन, प्रत्यभिज्ञादर्शन और रसेश्वरदर्शन के नाम से प्रसिद्ध है।[7] इनमें से चतुर्थ 'रसेश्वरदर्शन' का सम्बन्ध शैवदर्शन से अधिक नही दिखाई देता, क्योंकि वहाँ पर इसको परमानन्ददाता, परमज्योतिस्वरूप, अविकल्प, समस्तक्लेशादि से रहित, ज्ञेय, शान्त एव स्वसवेद्य बतलाया है, जिसके मन में स्फुरित

१—भारतीय दर्शनशास्त्र का इतिहास, पृ० ४८२।

२—एको हि रुद्रो न द्वितीयाय तस्थुर्य इमाँल्लोकानीशत ईशनीभिः।
प्रत्यङ्जनास्तिष्ठति सचुकोपान्तकाले ससृज्य विश्वा भुवनानि गोपा.॥
—श्वेताश्वतर उपनिषद् ३।२

३—आर्य-सस्कृति के मूलाधार, पृ० ३२६। ४—वही, पृ० ३२८।

५—वही, पृ० ४६१। ६—वही, पृ० ३३२

७—सर्वदर्शनसग्रह, पृ० ६०–७८।

होते ही अखिल चिन्मयजगत का दर्शन हो जाता है और समस्त कर्म बंधनों से रहित होकर जीवात्मा ब्रह्मत्व को प्राप्त कर लेता है।[1] यहाँ केवल रस को ही प्रधानता दी गई है किन्तु इसके मानने वाले कुछ शैव या माहेश्वर हैं इसी से इसे शैव दर्शनों मे सम्मिलित कर लिया है। इसके अतिरिक्त दक्षिण मे वीर-शैवमतावलम्बियो के आधार पर एक लिंगायत-दर्शन का और विकास हुआ है, जो सम्भवतः माधवाचार्य के समय मे विकसित नहीं हुआ था। इसी कारण इसका उल्लेख सर्वदर्शनसंग्रह मे नहीं हुआ है। इस प्रकार मुख्यतया चार शैवदर्शनो का विकास भारत मे हुआ है :—

(१) नकुलीश पाशुपतदर्शन (२) शैवदर्शन
(३) लिंगायतदर्शन, और (४) प्रत्यभिज्ञादर्शन।

इनमे से प्रथम नकुलीश पाशुपतदर्शन का विकास शैवों के पाशुपत सम्प्रदाय में हुआ है। इसमें शंकर के १८ अवतार माने गये हैं, जिनमे से लकुलीश या नकुलीश सर्वप्रथम हैं। इन अवतारो को तीर्थेश भी कहा जाता है। इस दर्शन में पाँच पदार्थ माने गये हैं—कारण, कार्य, विधि, योग और दुःखान्त। इनमें से कारण ही परमेश्वर शिव हैं। संसार मे जो कुछ परतन्त्र है वह सब कार्य है। इनमें से कारण ही परमेश्वर शिव हैं। संसार मे जो कुछ परतन्त्र है वह सब कार्य है। धर्मार्थ के साधक व्यापार को विधि कहा है। चित्त द्वारा आत्मा एवं ईश्वर के सम्बन्ध-हेतु को योग कहा है और समस्त दुःखो के पूर्णतया उच्छेद एवं ज्ञानशक्ति तथा क्रियाशक्ति की प्राप्ति को दुःखान्त कहा है। यह दुःखान्त ही यहाँ मोक्ष बतलाया गया है।[2]

दूसरे शैवदर्शन का विकास तमिल प्रदेश के शैव सम्प्रदाय के अन्तर्गत हुआ है। यह दर्शन 'शैव सिद्धान्त' भी कहलाता है। इस दर्शन में पति, पशु और पाश—ये तीन पदार्थ माने गये है, जिनका विवेचन आगमो के विद्या, क्रिया, योग एवं चर्या नामक चार पादों मे किया गया है। इनमें से शिव ही पति हैं, जो शक्ति समन्वित होकर निरन्तर उदय, स्थिति, संहार, तिरोधान और अनुग्रह नामक पंच कार्यो मे लीन रहते हैं। जीव को पशु कहा गया है, जो मलो एवं पाशो से आवृत रहता है और मलो तथा पाशो से मुक्त होने पर ही शिवत्व को प्राप्त कर लेता है। तीसरे पदार्थ पाश को ही मल कहा गया है जो आणव, कार्म तथा मायीय तीन प्रकार का होता है। इस दर्शन में ३६ तत्व माने गये हैं, परन्तु उनका विकास शिव की माया शक्ति से माना है, जो शुद्ध और अशुद्ध दो रूपो से समस्त तत्वो को उत्पन्न करती है।[3]

तीसरे, लिंगायतदर्शन का विकास वीर शैव सम्प्रदाय में हुआ है। सिद्धान्त

1—सर्वदर्शनसंग्रह, पृ० ८३। 2—वही, पृ० ६२-६४।
3—The Idea of God in Shaiva Siddhanta p 1-8.

की दृष्टि से यह दर्शन 'शक्ति-विशिष्टाद्वैतवाद' भी कहलाता है। इसमें शक्ति विशिष्ट शिव को परम सत्य माना गया है। इस दर्शन की पारिभाषिक संज्ञा 'स्थल' है। 'स्थ' शब्द इस बात का द्योतक है कि शिव जगत की स्थिति का आधार हैं और 'ल' शब्द लय का बोधक है अर्थात् शिव से उत्पन्न होकर प्रकृति, महत्तत्व आदि पुन. शिव मे ही लीन हो जाते हैं।[१]

चौथे, प्रत्यभिज्ञादर्शन का विकास काश्मीर में हुआ है। इसी कारण देश-विशेष के नाम पर इसे काश्मीर-शैवदर्शन भी कहते हैं। प्रसादजी पर काश्मीर के इसी शैवदर्शन का प्रभाव अत्यधिक पडा है। इसी कारण आपने अपने लेखो में काश्मीर के शैव दार्शनिको में से उत्पलाचार्य, क्षेमराज, माहेश्वराचार्य, अभिनवगुप्त आदि का स्थान-स्थान पर उल्लेख किया है[२] और प्रत्यभिज्ञादर्शन के कुछ प्रमुख ग्रथो, जैसे शिव-सूत्र-विमर्शिनी, स्पन्दशास्त्र आदि की भी चर्चा की है।[३] इसके अतिरिक्त प्रसादजी के परम मित्र श्री रायकृष्णदासजी ने भी लिखा है कि 'प्रसादजी के परिवार की मुख्य दार्शनिक विचारधारा प्रत्यभिज्ञादर्शन की परम्परा मे ही थी, क्योंकि ये लोग शैवदर्शनो में से काश्मीर के प्रत्यभिज्ञादर्शन को ही अत्यन्त पुष्ट और प्रबल मानते थे।'[४] अत. 'कामायनी' पर भी प्रत्याभिज्ञादर्शन का ही गहरा प्रभाव पडा है। इसलिए अब प्रत्यभिज्ञादर्शन का ही तनिक विस्तारपूर्वक विवेचन किया जायेगा।

प्रत्यभिज्ञादर्शन—इस दर्शन के प्रवर्तक आचार्य वसुगुप्त माने जाते हैं और कहा जाता है कि जिन ७७ शिव-सूत्रो के आधार पर यह दर्शन विकसित हुआ है, वे सूत्र काश्मीर मे महादेव गिरि पर अंकित थे। शिवजी ने वसुगुप्त को स्वप्न मे उन सूत्रो के बारे मे बतलाया और वहाँ मे वसुगुप्त ने इनका उद्धार करके अपनी स्पन्द-कारिका मे इनका सग्रह किया।[५] वसुगुप्त के दो प्रधान शिष्य हुए—कल्लट और सोमानन्द। कल्लट ने स्पन्द-शास्त्र का प्रवर्तन किया और वसुगुप्त की स्पन्द-कारिका पर 'स्पन्दसर्वस्व' नामक वृत्ति लिखी। यही पुस्तक इस मत का सर्वस्व है। दूसरे सोमानन्द ने प्रत्यभिज्ञा-शास्त्र का प्रवर्तन किया। इस शास्त्र का मूल ग्रथ 'शिवदृष्टि' है। इनके शिष्य उदयाकर ने इस पर सूत्र बनाये और अभिनवगुप्ताचार्य

१—भारतीय दर्शन शास्त्र का इतिहास, पृ० ४९८–५०१।

२—काव्य और कला तथा अन्य निबन्ध, पृ० ४३, ५६, ७६।

३—वही, पृ० ४३, ५६, ५८।

४—हिमालय, दीपावली अक, सं० २००३, पृ० ६।

५—शिवसूत्रविमर्शिनी, पृ० २, ३।

ने उन 'प्रत्यभिज्ञासूत्रों' पर ईश्वर-प्रत्यभिज्ञा-विमर्शिनी नामक टीका तथा तन्त्रालोक, तन्त्रसार, परमार्थसार आदि अनेक महत्वपूर्ण ग्रन्थ लिखे। इन दोनों शास्त्रों या मतों में कोई सैद्धान्तिक भेद नहीं है। केवल इतना ही भेद है कि स्पन्दशास्त्र वाले ध्यान के द्वारा मन से समस्त मलों के दूर हो जाने पर भैरव स्थिति या शिव-साक्षात्कार की स्थिति का उत्पन्न होना मानते हैं, परन्तु प्रत्यभिज्ञा-शास्त्र वाले यह मानते हैं कि जब जीव को यह प्रत्यभिज्ञान हो जाता है कि 'मैं शिव हूँ' उसी समय उक्त स्थिति उत्पन्न होती है।[1]

काश्मीर देश में विकसित इस दार्शनिक विचारधारा को प्रत्यभिज्ञा-दर्शन स्पन्द-दर्शन, त्रिक्-दर्शन एवं षडर्ध-दर्शन नाम से भी अभिहित किया जाता है। कहीं-कहीं पर इसे 'ईश्वराद्वयवाद' तथा 'अभेदवाद' भी कहा गया है। इनमें से प्रत्यभिज्ञा-दर्शन तथा स्पन्द दर्शन नाम पड़ने का कारण तो यह है कि इस दर्शन का विकास ही उक्त प्रत्यभिज्ञा-शास्त्र तथा स्पन्दशास्त्र के आधार पर हुआ है। इसके अतिरिक्त त्रिक् या षडर्ध नाम पड़ने का पहला कारण तो यह है कि इस दर्शन में भी तमिल प्रदेश के शैवदर्शन की भाँति पति, पशु और पाश इन तीन पदार्थों का विवेचन हुआ है। दूसरे, अभिनवगुप्ताचार्य द्वारा लिखित तन्त्रालोक के टीकाकार श्री जयरथ के मत से "सिद्धा-नामक-मालिन्यात्म खण्डत्रयात्मकत्वात् त्रिविधम्" के आधार पर सिद्धातन्त्र, नामक तन्त्र तथा मालिनीतन्त्र इन तीन तन्त्रों को ही इस दर्शन में प्रधानता दी गई है और उनके सार को लेकर ही इसका विकास हुआ है। अत. तीन तन्त्रों के आधार पर विकसित होने के कारण इसे त्रिक् या षडर्ध दर्शन कहते हैं।[2] इसके अतिरिक्त इस दर्शन में ईश्वर और जीव तथा ईश्वर और जगत की अद्वैतता तथा अभेदता का निरूपण भी विस्तारपूर्वक किया गया है। इसी कारण इसे 'ईश्वराद्वयवाद' तथा 'अभेदवाद' भी कहते हैं। इस दर्शन की प्रमुख विचारधारा संक्षेप में इस प्रकार है :—

आत्मा—शिवसूत्रों में 'चैतन्यात्मा'[3] कहकर आत्मा को चैतन्यस्वरूप माना गया है। इसके अतिरिक्त अन्य शैव-ग्रन्थों में आत्मा को विमर्शरूपा,, पराशक्ति, चिति, स्वतन्त्ररूपा, विश्वोत्तीर्ण, विश्वात्मक, परमानन्दमय, प्रकाशैकघन, परमेश्वर, परासंवित, परमशिव, सर्वकृत्, शान्त, सर्वज्ञ, प्रभु, अनन्तशक्ति समग्र आदि कहा है।[4] नेत्रतन्त्र में इसे परमधाम, परमपद, परमवीर्य, परमामृत, परमतेज, परम-

1—Collected Works of Sir R. G. Bhandarkar Vol. IV, p. 184–186

2—तन्त्रालोक, भाग १, पृ० ४९।   3—शिवसूत्रविमर्शिनी, पृ० ४।

4—देखिए प्रत्यभिज्ञाहृदयम्, पृ० २, ८ तथा मालिनीविजयोत्तरतंत्र, पृ० ३।

ज्योति आदि नामों से अभिहित किया गया है।[1] यह आत्मा अपनी इच्छा से ही शिव से लेकर धरणि पर्यन्त छत्तीस तत्वों में अभेदता के साथ स्फुरित होती है। जैसा कि 'शिव-दृष्टि' मे लिखा भी है —

आत्मैव सर्वभावेषु स्फुरन् निर्वृत चिद् विभु ।
अनिरुद्धेच्छाप्रसर प्रसरद् दृक्-क्रिया शिव. ।।[2]

और इसी कारण प्रत्यभिज्ञाहृदयम् मे 'चिति स्वतन्त्रा विश्वसिद्धिहेतु' कहकर इस चिदात्मा को सर्वथा स्वतन्त्र एव विश्व की निष्पत्ति अथवा विश्व के प्रकाशन का कारण बतलाया है तथा 'स्वेच्छया स्वभित्तौ विश्वमुन्मीलयति' कहकर इस चिति को अपनी इच्छा से स्वतन्त्रतापूर्वक अपनी भित्ति पर ही अर्थात् अपने अन्तर्गत ही विश्व का उन्मीलन करते हुए कहा है।[3] साथ ही इस विमर्शरूपिणी आत्मा के पाँच कृत्य माने गये हैं अर्थात् वह निरन्तर सृष्टि, स्थिति, सहार, विलय (तिरोधान) और अनुग्रह नामक पाँच कार्य करती रहती है।[4] अभिनवगुप्ताचार्य का मत है कि जिस तरह दर्पण में नगर, वृक्ष आदि का प्रतिबिम्ब दिखाई देता है, उसी भाँति इस चिदात्मा में ससार का प्रकटीकरण होता है और जैसे दर्पण में प्रतिबिम्बित नगर, वृक्ष आदि दर्पण से पूर्णतया अभिन्न रहते हैं, उसी प्रकार यह ससार भी उस चिद्शक्ति से पूर्णतया अभिन्न रूप में विद्यमान रहता है।[5]

विश्व के उन्मीलन या विकास के बारे में शैवदर्शन में इस आत्मा का एक और रूप माना गया है, जो शक्ति के नाम से पुकारा जाता है और जो उस परमात्मा या परमशिव से पूर्णतया अभिन्न है। यद्यपि इस चिद् शक्ति के अनन्त रूप माने गये हैं, परन्तु उनमें मे पाँच रूप प्रमुख है जो चित्, आनन्द, इच्छा, ज्ञान और क्रिया कहलाते हैं। अभिनवगुप्ताचार्य ने इन पाँचो शक्तियो के बारे में 'तन्त्रसार' के अन्तर्गत लिखा है कि 'प्रकाशरूपता चिच्छक्ति' अर्थात् आत्मा की प्रकाशरूपता को चित् शक्ति कहते हैं, क्योंकि इसी शक्ति के कारण वह आत्मा सर्वत्र प्रकाशित होती है। दूसरी 'स्वातन्त्र्यम् आनन्दशक्ति' अर्थात् जिस शक्ति के द्वारा वह आत्मा स्वतन्त्रता पूर्वक निरपेक्ष आनन्द का अनुभव करती है, उसे आनन्दशक्ति कहते हैं। तीसरी 'तच्चमत्कार इच्छाशक्ति' अर्थात् आत्मा के चमत्कार को इच्छाशक्ति कहते हैं। वह इसी इच्छाशक्ति के कारण विश्व के निर्माण आदि के बारे मे सकल्प करती है कि अब क्या करना है या क्या बनाना है। चौथी 'आमर्शात्मकता ज्ञानशक्ति'

१—नेत्रतन्त्र, भाग १, पृ० ५४–५५। २—शिवदृष्टि १।२
३—प्रत्यभिज्ञाहृदयम, पृ० २, ५। ४—प्रत्यभिज्ञाहृदयम्, पृ० २२।
५—तन्त्रालोक, भाग २, पृ० ५३–५४।

अर्थात् जिस शक्ति के द्वारा वह आत्मा पदार्थों का ज्ञान प्राप्त करती है अथवा जिस शक्ति के द्वारा सभी पदार्थ उस चिति के सम्पर्क में आते है या परस्पर एक दूसरे से सम्बन्धित होते हैं वह ज्ञानशक्ति है और पांचवी 'सर्वाकारयोगित्व क्रियाशक्ति' अर्थात् जिस शक्ति के द्वारा वह आत्मा नाना रूप धारण करती है उसे क्रियाशक्ति कहते है।[1]

जीव—जब यह आत्मा आणव, कार्म तथा मायीय नामक तीन प्रकार के मलों एव तीन प्रकार के कञ्चुकों अर्थात् आणवमल वाले प्रथम कञ्चुक से, मलाधिष्ठायक निरोधशक्ति नामक द्वितीय कञ्चुक से तथा तीनों प्रकार के मलों[2] से युक्त माया नामक तृतीय कञ्चुक से आवृत रहता है,[3] तब इसे जीव सज्ञा प्राप्त होती है। इन मलो को पाश भी कहा जाता है। अतएव इन पाशों से आबद्ध जीव को प्रत्यभिज्ञादर्शन मे 'पशु' भी कहा गया है।[4] यह जीव इस भूत जगत तक सीमित रहकर अपने को समस्त सासारिक क्रियाओं का कर्ता मानता है तथा षट् कञ्चुकों से सकुचित रहता है। इसी कारण इसे प्रमाता, अणु, पुमान् आदि भी कहते है।[5] प्रत्यभिज्ञादर्शन में इस जीव की विमुक्ति के लिए तीन उपाय बताये गये हैं, जो शांभव, शाक्त एव आणव कहलाते है। शाभव उपाय मे जिस समय गुरु दीक्षा देकर शिष्य को 'शिवोऽहम्' कहकर सुनाता है, तो इसके सुनते ही जीवात्मा मे शिवोऽहम् का आवेश हो जाता है और वह स्वय को शिवरूप या आत्मा का स्वरूप जानता हुआ यह समझने लगता है कि यह सम्पूर्ण विश्व मुझमे ही उदित हुआ है, मुझ मे ही प्रतिबिंबित है और मुझसे सर्वथा अभिन्न है।[6] दूसरे शाक्तोपाय में निरन्तर ध्यान, पूजा, अर्चना द्वारा जीवात्मा अपने विकल्प रूपी दर्पण मे बार-बार अपने स्वरूप का साक्षात्कार करता है तथा उससे तन्मयीभाव को प्राप्त होजाता है। यही शाक्तोपाय द्वारा प्राप्त मोक्ष का स्वरूप है।[7] तीसरा आणवोपाय वह है, जिसमें जीवात्मा पहले तो विकल्पपूर्ण रहता है तथा जड और चेतन मे भेद मानता रहता है, परन्तु दीक्षा, मन्त्रो के उच्चारण, जप, पूजा आदि के द्वारा धीरे-धीरे फिर वह यह समझने लगता है कि शिव की शक्ति ही सर्वत्र जड-चेतन में स्थित है। तदुपरान्त ज्ञान के उदय होते ही

१—तन्त्रसार पृ० ६।
२—तन्त्रालोक, भाग ५, पृ० २००।
३—तन्त्रालोक, भाग ६, पृ० १६६-१६७।
४—ईश्वरप्रत्यभिज्ञाविमर्शिनी, भाग २, पृ० २२०।
५—तन्त्रालोक, भाग ६, पृ० १६५।
६—तन्त्रालोक, भाग २, पृ० २५१-२५३।

उसके जड रूप का तिरोधान हो जाता है, उसे सर्वत्र चैतन्यभाव दिखाई देने लगता है और वह उसी में लीन हो जाता है। यही आणवोपाय द्वारा प्राप्त मुक्ति का स्वरूप है।[१] किन्तु 'तन्त्रालोक' मे आगे चल कर यह बतलाया गया है कि यह ठीक है कि तीनो उपायो द्वारा मोक्ष की प्राप्ति होती है, फिर भी आणव एव शाक्त की अपेक्षा शाम्भवोपाय ही सर्वश्रेष्ठ है, क्योंकि उसी उपाय द्वारा स्वरूपज्ञान होता है।[२]

त्रिक् दर्शन मे जीव की पांच अवस्थायें मानी गई हैं—जाग्रत, स्वप्न, सुषुप्ति, तुरीय तथा तुर्यातीत।[३] जाग्रत अवस्था वह है जिसमे जीव प्रमाता, प्रमेय, प्रमाण एव प्रमा से युक्त होकर इस स्थावरजगमात्मक विश्व की स्थिति मानता है।[४] शिव-सूत्रो में भी 'ज्ञान जाग्रत्' कहकर सर्वसाधारण विषयो के बाह्येन्द्रियो से उत्पन्न ज्ञान को जाग्रतावस्था कहा है।[५] दूसरी स्वप्नावस्था वह है जिसमे जीव की विकल्पात्मक स्थिति रहती है और इसमें प्रमाण की प्रधानता रहती है।[६] शिवसूत्रो में 'स्वप्नो विकल्पा' कहकर इसमे विकल्पो की प्रधानता स्वीकार की है।[७] तीसरी सुषुप्ति अवस्था वह है जिसमे जीवात्मा प्रमेय एव प्रमाणादि के क्षोभ से परे अपनी आत्मा-मात्र में विश्रान्ति वा अनुभव करता है।[८] शिवसूत्रों में 'अविवेको मायासौषुप्तम्' कहकर इसमे अविवेक, माया या मोह का होना बतलाया है।[९] चौथी तुरीयावस्था वह है, जिसमें प्रमाता कुछ और उन्नत होकर केवल प्रमात्मक रूप को प्राप्त कर लेता है और जिसमें परामर्श रूप शक्ति समावेश की प्रधानता रहती है। यह सवित्प्रकाश की अवस्था है। अत इसमे प्रमाता, प्रमेय एव प्रमाण तीनो से भिन्न केवल प्रमा ही शेष रहती है।[१०] इसके अनन्तर पाँचवी तुर्यातीत अवस्था आती है। यह पूर्णता की अवस्था है। इसमें जीव 'पूर्णानवच्छन्नवपुरानन्दनिर्भर' अर्थात् पूर्ण एव अनवच्छन्न आनन्द को प्राप्त होता है। इसी को परमपद भी कहा गया है।[११] साथ ही यही अवस्था 'अनुत्तरावस्था' भी कहलाती है अर्थात् इससे आगे और कोई अवस्था नही होती और इसी अवस्था में पहुँचकर जीवात्मा पूर्णानन्दनिर्भर हो जाता है। इसे

१—तन्त्रालोक, भाग ३, पृ० ३१२-३२१।

२—वही, भाग १२, पृ० ३५२-३५३।

३—वही, भाग ७, पृ० १५७।

४—वही, भाग ७, पृ० १५९।

५—शिवसूत्रविमर्शिनी १।८

६—तन्त्रालोक, भाग ७, पृ० १६७-१६८।

७—शिवसूत्रविमर्शिनी १।९

८—तन्त्रालोक, भाग ७, पृ० १७५-१७६।

९—शिवसूत्रविमर्शिनी १।१०

'महाप्रचयावस्था' भी कहा गया है। इस अवस्था में पहुँचकर जीव निष्प्रपंच, निराभास, शुद्ध, सर्वातीत होकर अपनी आत्मा मे स्थित शिव का साक्षात्कार करता हुआ शिवत्व को प्राप्त होकर ससार से मुक्त हो जाता है।[1]

वैसे तो जीव भी आत्मा ही है। इसीलिए यह आत्मा की भांति, स्वतन्त्र, व्यापक, सूक्ष्म, निर्गुण आदि है। परन्तु आणव, कार्म तथा मायीय तीनो मलो से आवृत होने के कारण यह मलिन, अस्वतन्त्र, अशक्तिमान, अशुद्ध आदि हो जाता है।[2] प्रत्यभिज्ञाहृदयम् में सर्वकर्तृत्व, सर्वज्ञत्व, पूर्णत्व, नित्यत्व, व्यापकत्व आदि शक्तियों के संकुचित होजाने से अथवा मलो के कारण उक्त शक्तियो से दरिद्र हो जाने के कारण जीव को 'ससारी' कहा है।[3] प्रत्यभिज्ञादर्शन में इस जीव की चार संज्ञायें बतलाई गई हैं—सकल, प्रलयाकल, विज्ञानाकल और शुद्ध।[4] सकल जीव वह है जिसमे उक्त तीनो मल रहते हैं। प्रलयाकल जीव वह है, जिसमें केवल आणव और कार्म दो मल शेष रहते हैं, माया का मल नही रहता और जो ससार के विलीन हो जाने पर भी विद्यमान रहता है। तीसरा विज्ञानाकल जीव वह है जिसमें केवल आणवमल ही शेष रहता है। जीव को यह स्थिति योग सन्यासादि के कारण प्राप्त होती है, क्योंकि यहाँ यह कर्म तथा माया के क्षेत्र से ऊँचा उठ जाता है तथा शुद्ध-माया के क्षेत्र में अथवा सद्विद्या के क्षेत्र मे आ जाता है। यहाँ आ जाने के उपरान्त वह पुन अपनी सकलावस्था मे नही जाता। इस स्थिति में आने पर वह शिव के अनुग्रह के योग्य बन जाता है।[5] इसके उपरान्त जीव का चतुर्थ शुद्ध, बुद्ध चैतन्य-स्वरूप वह है, जिसमे वह समस्त ज्ञान, क्रिया आदि से स्वतन्त्र होकर परमशिवत्व को प्राप्त कर लेता है।[6]

सृष्टि—प्रत्यभिज्ञादर्शन मे सृष्टि या विश्व को चिति का ही स्वरूप माना गया है, जो अपनी इच्छा से इसका उदय या उन्मेष करती है।[7] दार्शनिक भाषा में विश्व के उन्मेष को 'आभासन या आभास' कहा गया है, जो वेदान्त के विवर्त्त से सर्वथा भिन्न है। वेदान्त में विश्व को विवर्त्त बतलाते हुए केवल नामरूपमात्र कहा है और माया के कारण प्रतीत होने से असत्य या मिथ्या ठहराया है, जबकि प्रत्यभिज्ञादर्शन मे इसे चिति का आभास मानते हुए भी सत्य कहा है।[8] अभिनवगुप्ताचार्य का मत

१—तन्त्रालोक, भाग ७, पृ० १८६–१६२।

२—नेत्रतंत्र, भाग २, पृ० १८१ ३—प्रत्यभिज्ञाहृदयम्, पृ० २१–२२।

४—तन्त्रालोक, भाग १, पृ० २१६। ५—तंत्रालोक, भाग ६, पृ० ६१, १०६।

६—शिवसूत्रविमर्शिनी, पृ० ४। ७—प्रत्यभिज्ञाहृदयम्, पृ० ५–६।

8—Kashmir Shaivaism, p. 54

है कि जिस तरह निर्मल दर्पण मे भूमिजलादि पदार्थ प्रतिबिम्बित होते हैं, वैसे ही पूर्ण संविद् रूप परमेश्वर मे यह विश्व भी अभिन्न रूप से अवभासित होता है, जैसा कि ईश्वरप्रत्यभिज्ञाविमर्शिनी में लिखा भी है —

'चेतनो हि स्वात्मदर्पणे भावान् प्रतिबिम्बवद् आभासयति, इति सिद्धान्त।"[1]

इसके अतिरिक्त शिवसूत्रो में 'शक्तिसंधाने शरीरोत्पत्ति' कहकर इस बात की ओर संकेत किया गया है कि जब वे परमशिव सृष्टि की इच्छा से इच्छा, ज्ञान, क्रियारूपा शक्ति में दृढतापूर्वक तन्मयीभाव को प्राप्त होते हैं, तब उसी शक्ति के सहारे यथाभिमत शरीरो की सृष्टि करते हैं।[2] प्रत्यभिज्ञाहृदयम् में भी 'स्वेच्छया स्वभित्तौ विश्वमुन्मीलयति' कहकर यह स्पष्ट संकेत किया है कि इस विश्व का उन्मीलन चिति शक्ति की इच्छा पर निर्भर है। जब उसकी इच्छा होती है, तभी वह अपनी भित्ति पर या अपने अंतर्गत ही इस समस्त विश्व का प्रकाशन करती है।[3] तन्त्रालोक मे स्पष्ट लिखा है कि यह सारी सृष्टि उस अनन्त शक्तिसम्पन्न शिव मे ही विराजमान है, शिव सागर के तुल्य हैं और उस सागर की अनन्त ऊर्मियो के तुल्य यह सारा विश्व है। अत यहाँ कार्य-कारण-भाव नही है, अपितु ब्रह्म या आत्मा और सृष्टि मे पूर्णतया अभेद है।[4] इस तरह जो कुछ भी जडाजडात्मक विश्ववैचित्र्य तथा सृष्टि की जाग्रत आदि अवस्थायें है वे सभी परमेश्वर की शक्ति के प्रसार हैं। वे सर्वत्र व्यापक हैं और उनसे रहित कुछ भी नही है।[5] इसके साथ ही अभिनवगुप्ताचार्य का मत है कि वे शिव स्वय प्रकाश रूप हैं और जिन पदार्थो को वे प्रकाशित करते हैं वे पदार्थ भी अप्रकाशरूप नही हैं। क्योकि अप्रकाशित पदार्थ कैसे प्रकाशित हो सकते हैं। जैसे, जो श्वेत प्रासाद नही हैं, उन्हे कोई कैसे श्वेत प्रासाद के रूप मे प्रकाशित कर सकता है।[6] अत यहाँ पर सृष्टि को शिव से अभिन्न कहकर उसे भी प्रकाशरूप माना गया है।

वेदान्त की भाँति प्रत्यभिज्ञादर्शन मे भी सम्पूर्ण सृष्टि का निर्माण माया द्वारा ही माना गया है। परन्तु वेदान्त में माया को 'सदसद्भ्यामनिर्वचनीय' कहकर उसके किसी निश्चित रूप का उल्लेख नही किया गया है, जबकि प्रत्यभिज्ञादर्शन में श्री अभिनवगुप्ताचार्य ने उसे 'तदवभासकारिणी च परमेश्वरस्य माया नाम शक्ति.' कहकर स्पष्ट ही परमेश्वर की एक शक्ति बतलाया है और 'मायातत्वात् विश्वप्रसव'

१—ईश्वरप्रत्यभिज्ञाविमर्शिनी, भाग २, पृ० १५३।

२—शिवसूत्रविमर्शिनी १।१९ ३—प्रत्यभिज्ञाहृदयम्, पृ० ५-६।

४—तन्त्रालोक, भाग २, पृ० १४७।

५—तन्त्रालोक, भाग १, पृ० १३१-१३४। ६—वही, पृ० ८९।

कहकर इस मायातत्व से ही सम्पूर्ण विश्व की उत्पत्ति सिद्ध की है।[1] यह माया-शक्ति ही जीव एवं परमेश्वर में भेद-डालने का कार्य करती है।[2] परन्तु यह स्वतंत्र नहीं है, परमेश्वर पर आश्रित है और चित् शक्ति का अधिष्ठान हुए बिना यह किंचित् मात्र भी कोई कार्य नहीं करती।[3] अत: माया परमेश्वर की सृजन-शक्ति है, जो वेदान्त की भांति सत् और असत् से अनिर्वचनीय न होकर शिव मे अभिन्न रूप से स्थित होने के कारण सत् स्वरूपा है। इसके अतिरिक्त जिस तरह स्त्रीतत्व एवं पुरुषतत्व के योग से साधारण संतति की उत्पत्ति होती है, उसी तरह प्रत्यभिज्ञादर्शन मे भी आनन्दरूपा शक्ति एवं चित् रूप शिव को सोमतत्व तथा अग्नितत्व एवं नाद तथा बिन्दु कहकर दोनों के पारस्परिक संघट्टनात्मक सामरस्य से सम्पूर्ण विश्व का विकास सिद्ध किया है।[4] किन्तु जिस आनन्दरूपा शक्ति से यह विश्व उत्पन्न होता है, उसे शैवदर्शन मे 'कामकला' कहा गया है। यही मूल शक्ति है और इसे 'महात्रिपुरसुन्दरी' भी बतलाया है। श्रीपुण्यानंद ने "कामकला-विलास" में 'सित शोण बिन्दु युगल विविक्त शिवशक्ति सकुचत्प्रसरम्' कहकर नादरूपा शक्ति एवं बिन्दुरूपा शिव अथवा सितबिन्दु-रूपा रजोमयी शक्ति एवं शोणबिन्दुरूपा वीर्यमय शिव दोनों के पारस्परिक संयोग से सृष्टि का विकास सिद्ध किया है और बतलाया है कि शिव ही काम हैं और शक्ति कला है। अतः 'काम-कला' के रूप में शिव-शक्ति के सामरस्य से ही सृष्टि का विकास होता है।[5] इतना ही नहीं इस काम-कला रूपा मूलशक्ति को ही 'सैय त्रिकोण रूप' कहकर त्रिकोण अर्थात् इच्छा-ज्ञान-क्रिया-रूपा भी बतलाया है और 'आसीना बिन्दुमये चक्रे सा त्रिपुरसुन्दरीदेवी' कहकर इसे बिन्दुमय चक्र मे सदैव आसीन बतलाया है।[6]

तीन पदार्थ—अन्य शैवदर्शनों की भांति प्रत्यभिज्ञादर्शन में भी पशु, पाश तथा पशुपति इन तीन पदार्थों को स्वीकार किया गया है। परन्तु जैसे 'शैवसिद्धान्त' मे इन तीनों तत्वों को शाश्वत कहा है,[7] वैसा प्रत्यभिज्ञादर्शन नहीं मानता। यहाँ यद्यपि मलों को पाश कहा है और ये पशु अर्थात् जीव को आबद्ध करते है, फिर भी जब पशु या जीवात्मा तीनों के रहस्य को जानकर मुक्त हो जाता है तथा उसे यह प्रत्यभिज्ञान

१—तंत्रसार, पृ० ७७-७९। २—तंत्रालोक, भाग ९, पृ० १३६।
३—तंत्रालोक, भाग ८, पृ० २९।
४—तन्त्रालोक, भाग २, पृ० ९८, १२८, १९२, १९३।
५—कामकलाविलास, श्लोक ६। ६—वही, श्लोक ३७।
७—सर्वदर्शन संग्रह, पृ० ६५।

हो जाता है कि 'मैं ही शिव हूँ' तब न पाश रहते हैं और न उसकी पशु संज्ञा ही रहती है, अपितु वह पशुपति या शिवरूप हो जाता है। अत प्रत्यभिज्ञादर्शन में पशुपति या शिव को ही शाश्वत पदार्थ कहा है और वे ही बधन मे डालते एव मुक्त करते हैं, ऐसा बतलाया गया है। वे स्वय ही मुक्ति एव मुक्ति है। वे अकेले ही सर्वत्र व्याप्त हैं और सर्वथा स्वतन्त्र होकर अपने ही प्रकाश से प्रकाशित रहते हैं।[1] इस तरह पाशो से आबद्ध पशु को अपनी पूर्णता या शिवता अथवा पशुपति-भाव का प्रत्यभिज्ञान कराने के कारण ही इस दर्शन का नाम प्रत्यभिज्ञा-दर्शन पडा है।

छत्तीस तत्व—प्रत्यभिज्ञादर्शन मे ३६ तत्व माने गये हैं। यहाँ परम शिव को देश-कालादि से परे विश्वोत्तीर्ण, परम स्वतन्त्र, सत्य, आनन्द एव ज्ञानस्वरूप बतलाया है, परन्तु जब वे सृष्टि की कामना करते हैं, तब विश्वोत्तीर्ण से 'विश्वरूप बन' जाते हैं। जब उनमें सृष्टि के निर्माण की अनुभूति जाग्रत होती है, तब उन्हें शिवतत्व कहा गया है और उनसे ही क्रमश अन्य तत्वो का विकास होता है। प्रत्यभिज्ञादर्शन के वे ३६ तत्व इस प्रकार हैं—

(१) शिव, (२) शक्ति, (३) सदाशिव, (४) ईश्वर, (५) शुद्धविद्या या सद्विद्या, (६) माया, (७) काल, (८) नियति, (९) कला, (१०) विद्या, (११) राग, (१२) पुरुष, (१३) प्रकृति, (१४) बुद्धि, (१५) अहकार, (१६) मन, (१७–२१) पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ अर्थात् नासिका, जिह्वा, चक्षु, त्वक् और श्रवण, (२२–२६) पाँच कर्मेन्द्रियाँ अर्थात् वाक्, पाणि, पाद, पायु उपस्थ (२७–३१) पाँच तन्मात्रायें अर्थात् शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गध और (३१–३६) पाँच स्थूल भूत अर्थात् आकाश, वायु, अग्नि, जल और पृथ्वी।

(१) शिव—प्रत्यभिज्ञादर्शन मे भी उपनिषदो की भाँति जब वे परम शिव या ब्रह्म इस विश्व के उन्मेष की कामना करते हैं, तब उन्हें शिवतत्व कहा जाता है। यह शिव-तत्व ही सृष्टि का मूलतत्व है। यही समस्त विश्व का निर्माता एव चित् रूप है और अपनी इच्छा से ही यह अपने अतर्गत व्याप्त विश्व को प्रकाशित करता है।[2] यही ससार का कारण है, इसके समान अन्य कौन बलवान हो सकता है, यही समस्त मत्रो का आलय है और सर्वसिद्धिदायक है।[3] इस शिवतत्व का अनुभव केवल 'अहम्' द्वारा किया जा सकता है, क्योंकि यह अनन्योन्मुख, स्वात्मप्रकाशपूर्ण एव शुद्ध आद्य-

---

१—तन्त्रालोक, भाग ८, पृ० ८२–८३।

२—तन्त्रालोक, भाग ६, पृ० ८–११।

३—नेत्रतन्त्र, भाग १, पृ० ५४–५५।

विमर्श है। इसके साथ 'अस्मि' लगाने से किसी प्रकार के सम्बन्ध की सम्भावना हो सकती है। अत. इसका अनुभव एकमात्र 'अहम्' द्वारा किया जाता है।[१] विश्व के उन्मेष में यह शिवतत्व प्रथम स्थिति का द्योतक है। इसी तत्व के सहारे चित्शक्ति विश्व मे प्रस्फुटित होती है। इसे 'इच्छाशक्तिमयः शिवः' कहकर इसमें एकमात्र इच्छा-शक्ति का होना ही बतलाया है।[२]

(२) शक्ति—यह दूसरा तत्व है, जो शिव का अभिन्न अग माना जाता है। यह तत्व शिव के साथ ही विकसित होता है तथा इसकी कोई पृथक् सत्ता नही है। प्रत्यभिज्ञादर्शन में परमेश्वर की पांच शक्तियां मानी गई हैं—चित्, आनन्द, इच्छा, ज्ञान और क्रिया। उनके बारे में श्री अभिनवगुप्ताचार्य का मत है कि परमेश्वर में चित्शक्ति की प्रधानता होने से वह शिव-तत्व कहलाता है, आनन्द-शक्ति की प्रधानता होने पर शक्ति-तत्व कहलाता है, इच्छाशक्ति की प्रधानता होने पर सदाशिव-तत्व कहलाता है, ज्ञानशक्ति की प्रधानता होने पर ईश्वर-तत्व कहलाता है और क्रिया-शक्ति की प्रधानता होने पर वही परमेश्वर विद्या-तत्व के नाम से अभिहित किया जाता है। जैसा कि उन्होने 'तत्रसार' में लिखा भी है :—

'चित् प्राधान्ये शिवतत्वम्, आनन्द प्राधान्ये शक्ति तत्वम्, इच्छा प्राधान्ये सदा-शिवतत्वम्, ज्ञानशक्ति प्राधान्ये ईश्वरतत्वम्, क्रियाशक्ति प्राधान्ये विद्यातत्वम् इति।'[3]

अत' उक्त पाँचो तत्व परमेश्वर की शक्ति के ही विकसित रूप है। यह शक्ति-तत्व ही समस्त भुवनो का आधार है। यह अत्यन्त सूक्ष्म एव अमृत रूप माना गया है।[४] इस तत्व के द्वारा ही कोई व्यक्ति इन्द्रियों का सयमन करके अतीत एव अनागत का ज्ञान प्राप्त करता है। यह तत्व इच्छा, ज्ञान एव क्रिया से सम्पन्न है और चिन् रूप शिव के साथ सर्वत्र व्याप्त है। इतना ही नही इसी तत्व द्वारा अद्भुत आनन्द का प्रसार होता है।[५] इस शक्ति तत्व का अनुभव 'अह' के साथ 'अस्मि' लगाकर होता है अर्थात् 'अहमस्मि' या 'मै हूं' का अनुभव इस शक्तितत्व का द्योतक है।[६] शिव तथा शक्ति दोनो तत्व शाश्वत हैं और सदैव एकरूप होकर साथ रहते है, न शिव शक्ति रहित है और न शक्ति शिव से पृथक् है। केवल व्यवहार के लिए पृथक्-पृथक् वर्णन किया जाता है।[७] इसके साथ ही शिवतत्व को 'प्राण' कह सकते है, इसी

१—ईश्वरप्रत्यभिज्ञाविमर्शिनी, भाग २, पृ॰ १६६।

2—Kashmir Shaivaism, p 63

३—तन्त्रसार, पृ० ७३-७४।

४—स्वच्छन्दतन्त्र, भाग ५ (ब), पृ० ५३५।

५—नेत्रतंत्र, भाग १, पृ० १६४-१६५। 6—Abhinavagupta, p. 241.

७—शिवदृष्टि, पृ० ६६।

कारण वह 'प्रथम स्पन्द' भी कहलाता है और शक्तितत्व उस स्पन्द या प्राण को रोकने वाला, नियन्त्रण करने वाला तथा व्यवस्थित रखने वाला माना जाता है।[१]

(३) **सदाशिव**—तीसरा तत्व सदाशिव कहलाता है, जिसका विकास शिव शक्ति से ही हुआ है। यह नाद रूप है, क्योकि अदृष्ट शिव की मूर्ति से जो स्फोट ध्वनि ससार में व्याप्त होकर फैल रही है उसे नाद कहते हैं और वह नाद ही सदाशिव है।[२] ससार के निमेष या प्रलय को भी सदाशिव-तत्व कहा गया है।[३] इस तत्व का अनुभव 'अहमिदम्' द्वारा होता है। इसमें 'अह' शिव का द्योतक है और 'इद' विश्व का परिचायक है। इस तत्व को इच्छा-प्रधान बतलाया गया है। इसकी तुलना हम उन अस्पष्ट रेखाओ से कर सकते हैं, जिन्हे एक कलाकार चित्र अकित करने से पूर्व चित्रफलक पर खीच लेता है।[४]

(४) **ईश्वर**—चौथा तत्व ईश्वर माना गया है। इसका विकास भी शिव-शक्ति से ही हुआ है। इसमे ज्ञान-शक्ति की प्रधानता रहती है। इस तत्व का अनुभव 'इद' द्वारा होता है, क्योंकि सदाशिव-तत्व मे 'इद' का अनुभव अत्यत अस्फुट दशा में होता है, जबकि ईश्वर-तत्व मे 'इद' अर्थात् विश्व का स्फुट रूप से ज्ञान होने लगता है।[५] इस तत्व को विकास की दृष्टि से विश्व के उन्मेष का द्योतक कह सकते हैं।[६] इस प्रकार ईश्वर-तत्व मे 'इदमह' अर्थात् 'यह मैं हूँ' का अनुभव स्पष्ट रूप से होने लगता है।[७] सदाशिव तथा ईश्वर-तत्व के अनुभव में क्रमश 'अहमिदम्' तथा 'इदमहम्' शब्दो का प्रयोग किया है। इनमें अन्तर यह है कि प्रथम में 'अह' की महत्ता है और 'इद' गौण रूप में आया है और दूसरे मे 'इद' या विश्व की प्रधानता है और 'अह' गौण हो गया है।[८]

(५) **सद्विद्या**—इस विद्यातत्व को पाँचवाँ तत्व माना गया है। मृगेन्द्रतत्र में इसकी व्याख्या करते हुए लिखा है, 'सम्पूर्ण पदार्थो की ज्ञान-प्राप्ति के उपरान्त जिस शक्ति द्वारा अणु जीव को परमेश्वर का ज्ञान प्राप्त होता है उसे विद्या कहते हैं।'[९] इसमें क्रियाशक्ति का प्राधान्य रहता है और जीवात्मा को इस भेद से परे

1—Kashmir Shaivaism, p 65 २—नेत्रतत्र, भाग २, पृ० २८७-२८८।
३—ईश्वरप्रत्यभिज्ञाविमर्शिनी, भाग २, पृ० १९४—१९५।
४—तत्रालोक, भाग ६, पृ० ५०। ५—तत्रालोक, भाग ६, पृ० ५०।
६—ईश्वरप्रत्यभिज्ञाविमर्शिनी, भाग २, पृ० १९४।
७—तत्रालोक, भाग ६, पृ० ५०।
8—Kashmir Shaivaism, p 71 ९—मृगेन्द्रतत्र ११९६८—१६९।

अभेदतत्व का भी स्फुरण होने लगता है। यहां उसे यह ज्ञान प्राप्त होता है कि 'अहमिदमस्मि' अर्थात् 'मैं यह (विश्व) हूँ।' इस तत्व के अन्तर्गत समधृततुलापुट न्याय से विश्व और अहं दोनों की सत्ता रहती है, पूर्ण अभेदत्व यहां नहीं होता[1] और जिस तरह सदाशिव-तत्व प्रलय का द्योतक है, ईश्वरतत्व केवल उदय का द्योतक है, वैसे ही सद्विद्यातत्व में प्रलय तथा उदय या निमेष तथा उन्मेष दोनों रहते हैं।[2]

उक्त पांचों तत्वों को तन्त्रालोक में क्रमशः शाम्भव, शक्तिज, मन्त्रमहेश, मन्त्रनायक तथा मन्त्र भी कहा गया है और ये विशुद्धतत्व बतलाये गये हैं।[3] इनका नाम 'शुद्धाध्वन्' अर्थात् शुद्धमार्ग भी दिया गया है और इनके अतिरिक्त शेष ३१ तत्वों को 'अशुद्धाध्वन्' अर्थात् अशुद्धमार्ग बतलाया है।[4] इसका कारण यह है कि उक्त पांचों [illegible] का सीधा सम्बन्ध शिव से है और शेष माया से लेकर पृथ्वी तक ३१ तत्वों का सम्बन्ध माया से माना गया है, जो अपने त्रिविध मलों द्वारा शेष तत्वों को आवृत किये रहती है।[5]

(६) माया—यह छठा तत्व भेद-सृष्टि का द्योतक है। इसे शिव की एक ऐसी शक्ति माना गया है, जो शिव से अभिन्न होकर भेदपूर्ण सृष्टि उत्पन्न करती है। इसकी व्याख्या इस प्रकार की गई है "मीनास्ति हिनस्ति इति माया शक्तिरुच्यते"[6] अथवा "स्वात्माभिन्नमपि भावमंडलं शिवो यया मिमीते भिदा व्यवस्थापयति इति च माया"[7] अर्थात् जो भेद उत्पन्न करती है, उसे माया कहते हैं। भेदावभास करने के कारण इसे 'परानिशा' भी कहा गया है। यह जड़ बतलाई गई है, क्योंकि स्वयं यह भेदरूप जड़ कार्य करती है। वैसे यह सूक्ष्म एवं व्यापक है और शिव-शक्ति से अभिन्न होकर विश्व का मूल कारण मानी गई है।[8] इससे ही आगामी तत्वों का विकास होता है और यही समस्त विश्व को उत्पन्न करती है।[9] यह माया अध, ऊर्ध्व सर्वत्र स्थित रहती है और तीनों पाशों का जन्म भी इसी माया से होता है।[10] इसे विमोहिनी शक्ति भी बतलाया गया है, जिससे पूर्ण प्रकाशित चित् शक्ति का प्रकाश आच्छादित हो जाता है और जीवात्मा उसे हृदयंगम नहीं कर पाता।[11]

१—तन्त्रालोक, भाग ६, पृ० ५०।

२—ईश्वरप्रत्यभिज्ञाविमर्शिनी, भाग २, पृ० १९६–१९७।

३—तंत्रालोक, भाग ६, पृ० ५२। ४—तंत्रालोक, भाग ६, पृ० ५५।

५—वही, पृ० ५६–५७। ६—वही, पृ० ११६।

७—वही, पृ० ११६। ८—वही, पृ० ११६–११७।

९—वही, पृ० १२८।

१०—स्वच्छन्दतन्त्र, भाग २, पृ० ४७४–७५।

११—ईश्वरप्रत्यभिज्ञाविमर्शिनी, भाग १, पृ० ३७।

दक्षिण के शैवसिद्धान्त की भाँति यहाँ पर माया के शुद्ध और अशुद्ध दो भे नही किये गये हैं।[1] प्रत्यभिज्ञादर्शन में इसका केवल एक शुद्ध रूप ही स्वीका किया गया है और उससे उत्पन्न पाँचो तत्व—कला, राग, विद्या, काल और निया भी यहाँ शुद्ध माने गये हैं।[2] इसके अतिरिक्त वेदान्त की भाँति यहाँ माया व अस्ति और नास्ति वाला रूप भी स्वीकार नहीं किया गया है। माया को ईश्वर व विश्वसृजनशक्ति कहकर यहाँ स्पष्ट ही उसका आस्तिक रूप माना गया है।

(७) **कला**—यह सातवाँ तत्व है। इसकी उत्पत्ति माया से होती है और य माया की प्रथम सृष्टि है। इसे 'किंचित्कर्तृत्वलक्षणा' कहा गया है अर्थात् जिस सम माया के कारण जीवात्मा अपने स्वरूप को नही जान पाता, उस समय उसके पू ज्ञान एव क्रिया तिरोहित हो जाते हैं और वह किंचित्कर्तृत्व धारण हो जाता है यह तत्व जीवात्मा को ऊर्ध्व स्थिति मे ले जाने वाला माना गया है।[3] यह तत जीवात्मा को इस स्थिति में पहुँचा देता है, जिससे वह यह अनुभव करने लगता है कि 'मैं किंचित् जानता हूँ', 'मैं किंचित् कर्म करता हूँ' इत्यादि।[4] मृगेन्द्रतन्त्र में कला व दीपक के तुल्य बतलाया हैं। जैसे घने अधकार में दीपक से कुछ प्रकाश मिलता वैसे ही माया द्वारा प्रसारित घने अधकार में कला द्वारा क्रिया एवं ज्ञान के लि किंचित् प्रकाश की प्राप्ति होती है।[5]

(८) **विद्या**—यह आठवाँ तत्व है। इसकी उत्पत्ति कला से होती है।[6] य तत्व पाशों से आबद्ध परतन्त्र जीवात्मा के अतर्गत ऐश्वर्य स्वभाव को प्रकाशित करत है।[7] यह बुद्धि रूपी दर्पण में नाना पदार्थों, दुःख, सुख मोहादि के प्रतिबिम्ब प्रस्तु करके जीवात्मा को सुखादि प्रत्ययो से परिचित करता है।[8] अत बुद्धि में जित भाव गोचरीभूत होते हैं, उन सभी को उत्पन्न करने वाली शक्ति को विद्या कहते ह क्योंकि इसी के कारण बुद्धि में भावो के प्रतिबिम्ब उपस्थित होते हैं और यही बुद्धि को उनका ज्ञान कराती है।[9]

1—The Idea of God in Saiva-Siddhanta, p 5

२—तन्त्रालोक, भाग ६, पृ० १३४।

३—तन्त्रालोक, भाग ६, पृ० १३५–१३७।

४—ईश्वरप्रत्यभिज्ञाविमर्शिनी, भाग २, पृ० २०८–२०९।

५—मृगेन्द्रतन्त्र १।१०।४–५।   ६—तन्त्रालोक, भाग ६, पृ० १६१।

७—ईश्वरप्रत्यभिज्ञाविमर्शिनी, भाग २, पृ० २०२–२०३।

८—तन्त्रालोक, भाग ६, पृ० १५०।

९—तन्त्रालोक, भाग ६, पृ० १५६।

(९) राग—यह नवाँ तत्व । इसकी उत्पत्ति भी माया-जन्य कला से मानी गई है ।[1] इसका कार्य यह है कि यह तत्व प्रमाता, देहादि एव प्रमेयो में गुणो का आरोपण करता है ।[2] इस तत्व को 'अवराग्य' या वैराग्य का अभाव नही कह सकते ; क्योकि यह तो वराग्य के अतर्गत भी सूक्ष्म रूप से विद्यमान रहता है और धर्मादि मे जो वासना रहती है, उसके अतर्गत भी इस रागतत्व की विद्यमानता मानी जाती है ।[3] इसी कारण मृगेन्द्रतत्र में इसे सभी प्रकार के भोग्य पदार्थो एवं चित्शक्ति आदि के लिए अभिलाषा उत्पन्न करने वाला तत्व कहा है ।[4]

(१०) काल—यह दसवाँ तत्व है । यह जीवात्मा या प्रमाता को परिमित बनाने वाला है । इसे कार्यविच्छेदक तत्व भी कहते हैं अर्थात् इसी के कारण यह 'घट क्रिया है', यह 'पट क्रिया है' आदि का विभाजन होता है ।[5] यही क्रम का सूचक है क्योकि इसी के द्वारा 'मैं कृश हो गया था, मैं स्थूल हो गया हूँ, मैं स्थूलतर हो जाऊँगा' आदि क्रमो का विभाजन होता है ।[6] इसकी उत्पत्ति माया-जन्य कला से होती है[7] और निमेष, मुहूर्त्त, घडी दि प्रत्ययो का ज्ञान भी इसी तत्व द्वारा माना गया है ।[8]

(११) नियति—यह ग्यारहवाँ तत्व है । इसकी उत्पत्ति भी कला से ही होती है । तन्त्रालोक में "नियति र्योजना धत्ते विशिष्टे कार्यमडले" कहकर इसे विशिष्ट-विशिष्ट कार्य-कारणो की योजना करने वाली कहा है अर्थात् 'इस कारण से यह कार्य होगा' इसकी योजना करने का कार्य नियति-तत्व करता है ।[9] इसे शिव की नियमन करने वाली शक्ति भी बतलाया गया है ।[10] मालिनी-विजयोत्तर-तन्त्र मे 'नियति र्योजयत्येन स्वके कर्मणि पुद्गलम्' कहकर इसे प्रत्येक जीव को अपने-अपने कर्मों में सलग्न करने वाला कहा है ।[11] मृगेन्द्रतन्त्र मे भी इसे नियामक या कार्य-निष्पादक माना गया है ।[12]

१—तन्त्रालोक, भाग ६, पृ० १६१ ।
२—ईश्वरप्रत्यभिज्ञाविमर्शिनी, भाग २, पृ० २०९ ।
३—तन्त्रालोक, भाग ६, पृ० १५७–१५८ ।
४—मृगेन्द्रतन्त्र ११।१०।११ ५—तन्त्रालोक, भाग ६, पृ० १५९ ।
६—ईश्वरप्रत्यभिज्ञाविमर्शिनी, भाग २, पृ० २०८ ।
७—तन्त्रालोक, भाग ६, पृ० १६१ । ८—मृगेन्द्रतन्त्र ११।१०।१४
९—तन्त्रालोक, भाग ६, पृ० १६०–१६१ ।
१०—ईश्वरप्रत्यभिज्ञाविमर्शिनी, भाग २, पृ० २०९ ।
११—मालिनीविजयोत्तरतन्त्र, पृ० ४ । १२—मृगेन्द्रतन्त्र ११।१०।१७

यहाँ तक माया, कला, विद्या, राग, काल तथा नियति नामक जिन छै तत्वो का विवेचन किया गया है, उन्हे प्रत्यभिज्ञादर्शन में षट् कचुक नाम दिया गया है और लिखा है कि इनके द्वारा ही आवृत होकर आत्मा परिमित हो जाता है। इस परिमित आत्मा की ही 'अणु' सज्ञा दी गई है और उक्त ६ कचुको को आणव-मल कहा गया है।[1]

(१२) पुरुष—यह अणु सज्ञा वाली आत्मा ही बारहवां तत्व 'पुरुष' कहलाती है। इसी को जीव, प्रमाता, पुमान्, पुद्गल आदि नामो से भी पुकारा गया है।[2] इसे जब यह प्रत्यभिज्ञान हो जाता है कि 'मैं शिव हूँ' उस समय यह समस्त पाशो से मुक्त होकर स्वरूप-स्थिति को प्राप्त हो जाता है। परन्तु इस प्रत्यभिज्ञान की प्राप्ति में यहाँ "शक्तिपात" का बडा महत्व स्वीकार किया गया है। वैसे तो यह शक्तिपात वैष्णवो के अनुग्रह से बहुत कुछ मिलता-जुलता है, क्योंकि चिन्शक्ति का अनुग्रह होना ही 'शक्तिपात' है और अनुग्रह को आत्मा के अन्य नित्य पचकृत्यो में से एक कार्य बतलाया है, परन्तु 'शक्तिपात' में आत्मा या शिव उद्धारकर्त्ता या त्राणकर्त्ता की भाँति अपनी शक्ति द्वारा जीव को व्यामोहित कर देते हैं, जिससे जीव अपनी निजी शक्ति से मोक्ष प्राप्त नही करता, अपितु उसकी मोक्ष-प्राप्ति चिति पर ही निर्भर हो जाती है।[3] प्रत्यभिज्ञादर्शन का यह पुरुषतत्व सम्बन्धी विवेचन बहुत कुछ सांख्यदर्शन के समान है, क्योंकि जैसे सांख्य में आत्माओ को असख्य माना गया है, वैसे ही यहाँ पर भी पुरुष को असख्य बतलाया है। परन्तु दोनो में कुछ अन्तर भी है। जैसे सांख्य मे आत्माओ की स्वतन्त्र सत्ता मानी गई है, जबकि प्रत्यभिज्ञादर्शन में इन्हें एकमात्र चिति का ही प्रस्फुरण बतलाया गया है। दूसरे वहाँ पर तो पुरुष अप्रभावित रहता है और पूर्णतया चेतन है, किन्तु यहाँ पर पुरुष चेतन होकर भी सर्वथा अप्रभावित नही रहता। इसके अतिरिक्त सांख्य की अपेक्षा यहाँ छै कचुको तथा तीन मलो का वर्णन अपनी विशेषता रखता है। इस तरह यह पुरुषतत्व एकमात्र सीमित व्यक्तिगत आत्मा का द्योतक है।

(१३) प्रकृति—सांख्य दर्शन में जिस तरह सत्व, रज और तम की साम्यावस्था को प्रकृति कहा है, वैसे ही प्रत्यभिज्ञादर्शन में भी प्रकृति तत्व में सत्व, रज और तम के साम्यात्मक या अक्षुब्ध रूप की प्रधानता स्वीकार की गई है। परन्तु सांख्य दर्शन में प्रकृति को जिस तरह स्वतन्त्रता-पूर्वक अपने कर्म मे लीन होते हुए बतलाया है, वैसा प्रत्यभिज्ञादर्शन नही मानता। यहाँ पर तो प्रकृति को ईश्वर की

१—तन्त्रालोक, भाग ६, पृ० १६४–१६५। २—वही, पृ० १६५।

३—प्रत्यभिज्ञाहृदयम् (आड्यार लाइब्रेरी) भूमिका, पृ० १६।

इच्छा के अनुसार ही पुरुष के प्रति लौकिक भाव रखते हुए बतलाया है तथा इस स्वतन्त्रेश या शिव की इच्छा से ही प्रकृति में क्षोभ का उत्पन्न होना स्वीकार किया है अर्थात् प्रकृति से जिन बुद्धि या महत्तत्वादि की उत्पत्ति होती है, उनमें भी यहाँ चिति की इच्छा का होना अनिवार्य माना गया है।[1]

(१४–३६) बुद्धि से पृथ्वी तक—इसके अतिरिक्त महत्तत्व या बुद्धितत्व से लेकर पृथ्वी तक जिन २३ तत्वों का वर्णन प्रत्यभिज्ञादर्शन में मिलता है, वह पूर्णतया सांख्यदर्शन के ही समान है अर्थात् सांख्य की भाँति यहाँ पर भी प्रकृति से बुद्धितत्व ; बुद्धि से अहंकार , अहंकार से मन, पांच ज्ञानेन्द्रियाँ, पांच कर्मेन्द्रियाँ तथा पाँच तन्मात्रायें और पांच तन्मात्राओं से पंचभूतों अर्थात् आकाश, वायु, अग्नि, जल और पृथ्वी की उत्पत्ति मानी गई है।

निष्कर्ष यह है कि प्रत्यभिज्ञादर्शन में चिति को सर्वोपरि माना गया है। शिव और शक्ति के सामरस्य के रूप में चिति का ही वर्णन मिलता है। इन दोनों को 'सूर्य एवं उसकी किरणें, अग्नि एवं उसकी अर्चियाँ तथा सागर और उसकी लहरों के तुल्य सदैव अभिन्न रूप में विद्यमान रहते हुए माना है। ये शिव ही अन्तिम एवं परमतत्व हैं, परमब्रह्म हैं और चित्, आनन्द, इच्छा, ज्ञान, क्रिया रूप हैं। यह जीवात्मा उनका ही परिमित रूप है, जो कंचुकों एवं मलों से आवृत रहने के कारण अपने वास्तविक रूप को नहीं जानता। जिस समय इसे अपने वास्तविक रूप का प्रत्यभिज्ञान हो जाता है, उस समय यह भी शिव रूप को प्राप्त होकर चैतन्य-गुण-युक्त अनन्त-शक्ति-सम्पन्न हो जाता है। यह सारा विश्व उसी चैतन्यात्मा या चिति का ही आभास या प्रतिबिम्ब है, उसी शिव का रूप है और जिस तरह शिव सत्य और चिरन्तन हैं, उसी प्रकार संसार भी सत्य और शाश्वत है। उस चिति या शिव की इच्छा से ही संसार का उन्मेष या निमेष, उदय या प्रलय अथवा उन्मीलन या निमीलन होता रहता है। इस संसार की उत्पत्ति और संहार दोनों चिति या शिव की इच्छा पर निर्भर हैं, क्योंकि वे नित्यप्रति सृष्टि, स्थिति, संहार, विलय और अनुग्रह नामक पांच कार्य करते रहते हैं। जिस तरह समुद्र में लहरें, फेन एवं बुदबुद उत्पन्न होते और विलीन होते रहते हैं, उसी भाँति यह विश्व भी उस अनन्त चेतनाशील चिति या शिव के अन्तर्गत ही उत्पन्न और विलीन होता रहता है। अतः यह विश्व उस विमर्शरूपिणी चिति की इच्छा का ही परिणाम है, जो उसकी इच्छा या क्षोभ से उत्पन्न होता और विलीन होता रहता है। इस प्रत्यभिज्ञादर्शन में जीव और ब्रह्म तथा ब्रह्म और जगत की अभेदता पर

१—तन्त्रालोक, भाग ६, पृ० १७७–१८१।

अधिक बल दिया गया है और अभिनवगुप्ताचार्य ने अपने तन्त्रालोक आदि ग्रन्थो में सर्वत्र भेद में अभेदता की स्थापना की है।

शांकर वेदान्त तथा प्रत्यभिज्ञादर्शन का अंतर—शाकर वेदान्त तथा प्रत्यभिज्ञादर्शन का प्रतिपाद्य विषय लगभग एक ही है। दोनो दर्शनो मे परमात्म-तत्त्व को श्रेष्ठ सिद्ध करते हुए जीवात्मा को परमात्म-भाव प्राप्त करने की युक्तियाँ बतलाई गई हैं और दोनो दर्शनो ने अद्वैत-सिद्धि को चरम लक्ष्य बनाया है। वेदान्त में 'अहब्रह्मास्मि' की स्थिति को जीव की अन्तिम स्थिति सिद्ध किया गया है, वैसे ही प्रत्यभिज्ञादर्शन में 'शिवोऽहम्' की स्थिति को जीव का अन्तिम लक्ष्य सिद्ध किया है और दोनो मे जीव, ब्रह्म और जगत की अद्वैतता को तर्कपूर्ण युक्तियो द्वारा सिद्ध किया है। परन्तु दोनो में कुछ सैद्धान्तिक भेद भी दिखाई देता है। जैसे, शाकर वेदान्त में आत्मा विश्वोत्तीर्ण, सच्चिदानद, एक, सत्य, निर्मल, निरहकार, अनादि, अनन्त, शान्त, सृष्टि-स्थिति-सहार का हेतु, भावाभावविहीन, स्वय-प्रकाश, नित्यमुक्त है, किन्तु उसमें कर्तृत्व नही है। परन्तु प्रत्यभिज्ञादर्शन में विमर्श ही आत्मा का स्वभाव है। ज्ञान और क्रिया उसके लिए समान हैं। उसकी क्रिया ही ज्ञान है, क्योकि वह ज्ञाता का धर्म है तथा उसके कर्तृस्वभाव होने के कारण उसका ज्ञान ही क्रिया है। इस ज्ञान और क्रिया की उन्मुखता का नाम इच्छा है। इसी कारण वह आत्मा इच्छामय है अथवा इच्छा-ज्ञान-क्रिया तीनो शक्तियो से युक्त स्वातन्त्र्यमय है। ऐश्वर्य, विमर्श, पूर्णाहन्ता प्रभृति इसी स्वातन्त्र्य के नामान्तर हैं। इसके साथ ही यहाँ आत्मा पचकृत्यकारी मानी गई है, जबकि शाकर वेदान्त में आत्मा इस प्रकार के स्वभाव वाली नही है।[1] दूसरे, शाकर वेदान्त में माया को ब्रह्म की शक्ति तो माना है, परन्तु सत् असत् से विलक्षण एव अनिवर्चनीय कह कर यह बतलाने की चेष्टा नही की है कि उसका विकास कैसे हुआ तथा उसका स्थान कहाँ है? जबकि प्रत्यभिज्ञादर्शन में माया को शिव की एक शक्ति माना है, जिससे ससार का विकास होता है। इसकी प्रवृत्ति आकस्मिक नही है, वह आत्मा का स्वातन्त्र्यमूलक एव स्वेच्छा परिगृहीत रूप है और इससे कभी अद्वैत भग नही होता।[2] तीसरे, शाकर वेदान्त में 'ब्रह्मसत्य जगन्मिथ्या' अर्थात् ब्रह्म सत्य है और ससार मिथ्या है, जबकि प्रत्यभिज्ञादर्शन में ब्रह्म के साथ-साथ ससार को भी सत्य बतलाया गया है, क्योकि वह शिव का ही रूप है।[3] इन आधारो पर यही ज्ञात होता है कि इस प्रत्यभिज्ञादर्शन का विकास शाकर वेदान्तदर्शन के कुछ विचारो का तत्वत निरूपण करने के लिए एव उनके

१—कल्याण—शिवाङ्क, पृ० ८३। २—वही, पृ० ८३।
३—तन्त्रालोक, भाग १, पृ० ४६।

अभाव की पूर्ति के लिए ही हुआ है। दूसरे, यह वेदान्तदर्शन व्यावहारिक जीवन से कुछ दूर हो गया था। अत: इस प्रत्यभिज्ञादर्शन ने उसे व्यावहारिक रूप देने का प्रयत्न किया है।

प्रत्यभिज्ञादर्शन और कामायनी

कामायनी में प्रसादजी के दार्शनिक विचारो पर सबसे अधिक प्रभाव प्रत्यभिज्ञादर्शन का पड़ा है। क्योंकि प्रत्यभिज्ञादर्शन में आत्मा का जो रूप निश्चित किया गया है, उसी आधार पर प्रसादजी ने कामायनी में भी उसे महाचिति कहकर सदैव लीलामय आनन्द करने वाली,[१] अपनी इच्छा से ही जगत का निर्माण करने वाली,[२] इच्छा-ज्ञान-क्रिया-रूपिणी आदि कहा है।[3] इसी तरह प्रत्यभिज्ञादर्शन में जीव का जो रूप निश्चित किया गया है, उसी आधार पर कामायनी में भी प्रसादजी ने मनु का वर्णन करते हुए पहले उन्हें तीनो प्रकार के मलों एव छै कचुको से आवृत दिखलाया है, जिसके परिणामस्वरूप वे अपने स्वरूप को भूलकर इधर-उधर मारे-मारे फिरते हैं। क्योंकि 'निर्वेद' सर्ग तक उनकी आणव स्थिति रहती है, जिसमें भेद-बुद्धि का प्राधान्य दिखाई देता है। 'निर्वेद' से लेकर 'रहस्य' सर्ग तक वे शाक्त स्थिति में रहते हैं, जिसके कारण उनमें भेद और अभेद दोनो का प्राधान्य प्रतीत होता है, परन्तु जब श्रद्धा अपनी मुस्कान से इच्छा, ज्ञान और क्रिया के त्रिकोण को मिलाकर एक कर देती है, उसी क्षण से उनमें शाभव स्थिति उत्पन्न हो जाती है, जिसके उन्मेष से वे शिवरूप होकर अखड आनन्दमय हो जाते हैं। 'आनन्द' सर्ग में उनके इसी शाभव रूप के दर्शन होते हैं। इस के अतिरिक्त प्रत्यभिज्ञादर्शन के सृष्टि सम्बन्धी विचारो के आधार पर ही प्रसादजी ने यहाँ भी विश्व को उस चिति की 'इच्छा का परिणाम' कहा है, इसकी उत्पत्ति उसी 'मूलशक्ति' से सिद्ध की है, जिसको 'कामकला' न कहकर 'काम' को प्रेम का पर्यायवाची मानने के कारण 'प्रेमकला' कहा है।[४] साथ ही शिव की इस इच्छा-शक्ति या कामकला को इच्छा, ज्ञान, क्रिया के

१—कर रही लीलामय आनन्द महाचिति सजग हुई सी व्यक्त।
—श्रद्धा सर्ग, पृ० ५३।

२—सर्ग, इच्छा का है परिणाम। श्रद्धासर्ग पृ० ५३।

३—इस त्रिकोण के मध्यबिन्दु तुम शक्ति विपुल क्षमता वाले ये।
एक-एक को स्थिर हो देखो इच्छा, ज्ञान, क्रिया वाले ये॥
—रहस्य सर्ग, पृ० २६२।

४—यह लीला जिसकी विकस चली वह मूल शक्ति थी प्रेम कला।
—काम सर्ग, पृ० ७६।

त्रिकोण के मध्य में बैठकर मुस्कराने वाली माया बतलाया है, जो समस्त भाव-चक्र का संचालन करती है और सारे विश्व का निर्माण करती है।[1] इतना ही नहीं इस इच्छा से उत्पन्न विश्व को 'माया-राज्य' कहकर स्पष्ट ही प्रत्यभिज्ञादर्शन की उस मायाशक्ति की ओर भी संकेत किया है, जिससे सम्पूर्ण विश्व का उदय होता है और सम्पूर्ण जगत को चिति का विराट् वपु, सत्य एवं सतत चिर सुन्दर कहकर प्रत्यभिज्ञा-दर्शन की जगत सम्बन्धी मान्यताओं की ओर भी संकेत किया है। परन्तु वे भारत की अन्य दार्शनिक विचारधाराओं से भी प्रभावित हुए हैं। इतना अवश्य है कि अन्य दर्शनों की बातें उन्होंने केवल गौण रूप में ही स्वीकार की हैं, जबकि प्रत्यभिज्ञादर्शन के अधिकांश विचारों को उन्होंने प्रमुख रूप से अपनाया है। किन्तु इसका यह अर्थ नहीं है कि कामायनी में प्रत्यभिज्ञादर्शन को पूर्णरूपेण अपनाया गया है। प्रसादजी ने इस दर्शन के भी प्रमुख-प्रमुख विचारों को ही एक सारग्राही संत की भाँति लेकर कामायनी में उन्हें स्थान दिया है। उनके वे दार्शनिक विचार इस प्रकार हैं —

नियतिवाद—प्रसादजी की इस नियतिवाद सम्बन्धी विचारधारा का विकास मुख्य रूप से शैवागमों के आधार पर हुआ है। माहेश्वराचार्य अभिनवगुप्त ने नियति को विशेष-विशेष कार्यों की योजना करने वाली अर्थात् भिन्न-भिन्न कार्यों के लिए भिन्न-भिन्न कारणों की योजना करने वाली शक्ति बतलाया है।[2] इसे प्रत्यभिज्ञादर्शन में ग्यारहवाँ तत्त्व माना गया है और मालिनीविजयोत्तरतन्त्र,[3] मृगेन्द्रतन्त्र,[4] स्वच्छन्द-तन्त्र[5] आदि में भी इसे विश्व के समस्त कार्य-कलापों की योजना करने वाली शक्ति बतलाया है। परन्तु स्वच्छंदतन्त्र में नियति तत्त्व के अन्तर्गत शिव के दस रूपों की स्थिति बतलाई है, जो विश्व के कर्मों की योजना करते हैं। उनके नाम क्रमशः इस प्रकार हैं—वामदेव, शर्व, भव, उद्भव, वज्रदेह, प्रभु, धाता, क्रम, विक्रम और

१—घूम रही है यहाँ चतुर्दिक चल चित्रों की संसृति छाया,
जिस आलोक विन्दु को घेरे वह बैठी मुसक्याती माया।
भाव-चक्र यह चला रही है इच्छा की रथ-नाभि घूमती,
नव-रस भरी अराएँ अविरल चक्रवाल को चकित चूमतीं।
यहाँ मनोमय विश्व कर रहा रागारुण चेतन उपासना,
मायाराज्य ! यही परिपाटी पाश बिछाकर जीव फाँसना।
—रहस्य सर्ग, पृ० २६४।

२—नियतिर्योजनां धत्ते विशिष्टे कार्यमण्डले। तन्त्रालोक भाग ६, पृ० १६०।

३—मालिनीविजयोत्तरतन्त्र, पृ० ४। ४—मृगेन्द्रतन्त्र, पृ० २१४।

५—स्वच्छंदतन्त्र, भाग ५ (ब), पृ० ४६०।

सुप्रभेद ।[१] इससे यही सिद्ध होता है कि नियति-शक्ति के द्वारा विश्व के भिन्न-भिन्न कार्यों की योजना के लिए शिव भिन्न-भिन्न रूप धारण किया करते हैं। इसके साथ ही योगवाशिष्ठ में भी 'यथा स्थितं ब्रह्मतत्व सत्ता नियतिरुच्यते' कहकर नियति को ब्रह्म तत्त्व की ऐसी सत्ता बतलाया है जो सर्वत्र समान रूप से स्थित रहती है। इतना ही नहीं 'योगवाशिष्ठ' मे इसे महाचिति, महाशक्ति, महादृष्टि, महाक्रिया, महोद्भव, महास्पंद आदि भी कहा है और लिखा है कि 'तृण से लेकर महारुद्र पर्यन्त जितना भी विश्व है उसमें सर्वत्र नियति के ही नियमों का पालन दिखाई देता है।'[२] यहाँ महारुद्र का उल्लेख होने के कारण 'योगवाशिष्ठ' पर भी शैवागमों का प्रभाव प्रतीत होता है। इस प्रकार शैवागमों में नियति को जिस तरह सम्पूर्ण विश्व का नियमन करने वाली एक अत्यन्त व्यापक एव महान् शक्ति बतलाया है, उसी तरह प्रसादजी ने भी नियति को स्वीकार किया है और कामायनी में लिखा है कि इस नियति का शासन सर्वत्र व्याप्त है। यह मानव के जीवन-यापन की योजना बनाती हुई उसके कर्मचक्र का प्रवर्त्तन करती है,[३] जिससे वह विवश होकर नियति के इस एकान्त शासन में धीरे-धीरे चलने लगता है।[४] इसके समस्त कार्य पूर्णतया बंधन-मुक्त या स्वतन्त्र होते हैं।[५] अत: यह विश्व-नियंता की एक ऐसी नियामिका शक्ति है, जो एक ओर तो सम्पूर्ण विश्व के जीवन-क्रम की योजना करती है और दूसरी ओर विश्व में उत्पन्न दम्भ, अहकारादि का भी नियमन करती है। इस कार्य के लिए वह एक नटी की भाँति भीषण अभिनय करती है[६] और रुद्र या अन्य प्राकृतिक शक्तियों के रूप में प्रकट होकर तीव्र गति से ताडव नृत्य करती हुई अपने विकर्षणमय कार्यों द्वारा सम्पूर्ण जगतीतल को त्रस्त एव व्याकुल बना देती है।[७]

इसके अतिरिक्त शैवागमों में नियति-तत्त्व को केवल सीमित आत्मा का ही

१—स्वच्छंदतन्त्र, भाग ५, पृ० ४६०–४६१।

२—योगवाशिष्ठ २।१०।१, ३।६२।६–११, ६।३७।२१।

३—नियति चलाती कर्म-चक्र यह। रहस्य सर्ग, पृ० २६७।

४—उस एकान्त नियति शासन में चले विवश धीरे-धीरे।

—आशा सर्ग, पृ० ३४।

५—देखते थे अग्निशाला से कुतूहल युक्त,
मनु चमत्कृत निज नियति का खेल बंधन मुक्त। वासना सर्ग, पृ० ८३।

६—इस नियति-नटी के अति भीषण अभिनय की छाया नाच रही।

—इड़ा सर्ग, पृ० १५८।

७—नियति विकर्षणमयी, त्रास से सब व्याकुल थे। संघर्ष सर्ग, पृ० २००।

नियन्त्रण करने वाला बतलाया है और जैसे ही जीवात्मा अपनी सीमित अवस्था से उन्नत होकर शिवतत्व की ओर बढने लगता है, फिर वह नियति के नियन्त्रण से परे हो जाता है। प्रसादजी ने भी 'रहस्य' सर्ग मे श्रद्धा की सहायता से हिमगिरि की उन्नत चोटी कैलाश पर पहुँचा कर नियति-तत्व के नियन्त्रण से जीवात्मा के परे हो जाने का उल्लेख किया है और बतलाया है कि शिवतत्व के निकट पहुँच जाने पर जीवात्मा नियति के बंधनमय शासन से दूर हो जाता है और उसे फिर नियति के ये खेल नही देखने पडते।[1]

साराश यह है कि प्रसादजी के नियतिवाद में नियति परमात्मा की एक ऐसी नियामिका शक्ति है, जो समस्त विश्व का शासन अथवा नियन्त्रण करती है, जिसके हाथ मे विश्व का समस्त उत्थान-पतन रहता है और जिसकी स्वतन्त्र सत्ता के सामने कोई भी दम्भी या अहकारी व्यक्ति अपनी इच्छा से कुछ नही कर सकता। यह नियति आत्मा को परिमित बनाकर उसे स्वभावानुकूल भिन्न-भिन्न कार्यों में नियोजित करती रहती है तथा उसके सभी कार्यों की बागडोर अपने हाथ में रखती है। इस नियति का शासन-क्षेत्र परिमित विश्व ही है, जैसे ही जीवात्मा इस परिमित विश्व से ऊपर उठकर अपरिमित शिव तत्त्व की ओर बढने लगता है, तब उसके ऊपर से नियति का नियन्त्रण हट जाता है और वह सद्विद्या के क्षेत्र में पहुँच जाता है, जो जीवात्मा को शिवत्व की प्राप्ति में सहायक होती है। इस प्रकार नियति दम्भ एव अहकार का नियन्त्रण करके विश्व की व्यवस्था ठीक रखती है और जीवात्मा को उसके दम्भ एव अहकार के भीषण परिणाम दिखाकर शिव या परम तत्त्व की ओर बढने की प्रेरणा प्रदान करती है।

स्वातन्त्र्यवाद—प्रत्यभिज्ञादर्शन मे चित् को परमस्वतन्त्र एव विश्व-सिद्धि का हेतु बतलाया गया है अर्थात् वह चित् शक्ति स्वेच्छा से ही विश्व का निर्माण, स्थिति सहार, तिरोधान, अनुग्रह आदि कार्य करती है।[2] स्वच्छन्दतन्त्र में लिखा है कि यह चिति परिपूर्ण होने के कारण किसी भी फल की अभिलाषा न करके अपनी स्वतन्त्र लीला द्वारा स्थावर-जगम समस्त जगत का निर्माण करती है।[3] ईश्वर-प्रत्यभिज्ञा-विमर्शिनी में चिति को इच्छा, ज्ञान, क्रिया आदि से परिपूर्ण एव स्वतन्त्र

१—निराधार हैं, किंतु ठहरना हम दोनों को आज यहीं है,
नियति खेल देखूँ न, सुनो अब इसका अन्य उपाय नहीं है।
—रहस्य सर्ग, पृ० २६०।

२—चिति. स्वतन्त्रा विश्व-सिद्धि-हेतु। प्रत्यभिज्ञाहृदयम् १।१

३—स्वच्छन्दतन्त्र, भाग ६, पृ० ४।

बतलाया है तथा उसके सृष्टि सम्बन्धी कार्य को 'विमर्श' कहा है।[1] इस तरह चिति की स्वतन्त्र इच्छा से विश्व के विकास आदि कार्यों के होने के कारण इस विचारधारा को 'स्वातन्त्र्यवाद' कहा जाता है।[2]

शैवदर्शन की इसी विचारधारा को प्रसादजी ने भी अपनी कामायनी में स्थान दिया है और चिति के स्वतन्त्रतापूर्वक किये जाने वाले कार्य-कलापों का वर्णन करते हुए लिखा है कि यह चिति सजग एवं व्यक्त होकर नित्य लीलामय आनन्द करती रहती है। उसकी स्वतन्त्र इच्छा से ही इस विश्व का अभिराम उन्मीलन होता है और उसकी स्वतन्त्र इच्छा से इसी में सब अनुरक्त होते हैं।[3] साथ ही देश और काल की सभी सीमायें उस चिति या महाचेतना में जाकर लीन हो जाती हैं और वह अनन्त चेतना उन्मत्तता के साथ स्वतन्त्रतापूर्वक सदैव नृत्य करती रहती है।[4]

अभेदवाद एवं आभासवाद—प्रत्यभिज्ञादर्शन में शिव से लेकर पृथ्वी तक छत्तीस तत्त्वों को एक, चिति रूप परमानन्दमय प्रकाशैक-घन शिव से अभेद रूप में स्फुरित होते हुए बतलाया है। विश्व में जो नानारूपात्मक परिमित पदार्थ दृष्टिगोचर होते हैं, वे सभी प्रकाश रूप शिव ही हैं। उनसे रहित किसी पदार्थ की सत्ता नहीं है। एकमात्र शिव ही नाना प्रकार की विचित्रताओं के साथ स्फुरित हो रहे हैं।[5] वह चिति रूप एक आत्मा ही देशकालादि भेद से भिन्न-भिन्न रूपों में दिखाई देती है। जैसे, प्रकाशरूपता एवं संकोचशीलता के कारण वह कहीं दो रूपों में दिखाई देती है, तो आणव, मायीय और कार्म मल से आवृत होने के कारण तीन रूपों में दिखाई देती है। ऐसे ही शून्य, प्राण, पुर्यष्टक और शरीर के स्वभाव से चार रूपों में दिखाई देती है तथा वही शिव के स्वभाव के कारण ३५ तत्त्वों के रूप में दृष्टिगोचर होती

१—ईश्वरप्रत्यभिज्ञाविमर्शिनी, भाग १, पृ० २३३।

2—History of Philosophy—Eastern and Western, Vol. I, p 383.

३—कर रही लीलामय आनन्द महाचिति सजग हुई सी व्यक्त,
विश्व का उन्मीलन अभिराम इसी में सब होते अनुरक्त।
—श्रद्धा सर्ग, पृ० ५३।

४—देश-कल्पना काल-परिधि में होती लय है,
काल खोजता महाचेतना में निज क्षय है। संघर्ष सर्ग, पृ० १९३।

५—श्रीमत्परमशिवस्य पुनः विश्वोत्तीर्ण-विश्वात्मक-परमानन्दमय-प्रकाशैक-घनस्य एवं विधमेव शिवादि-धरण्यन्तम् अखिलम् अभेदेनैव स्फुरति। न तु वस्तुतः अन्यत् किंचित् ग्राह्यं ग्राहकं वा; अपितु श्रीपरमशिवभट्टारक एव इत्थं नानावैचित्र्यसहस्रैः स्फुरति। प्रत्यभिज्ञाहृदयम्, पृ० ८।

है। परन्तु वास्तव मे वह एक ही है और अभेद रूप से सर्वत्र विद्यमान हैं।[१] इस अभेदवाद का अनुभव 'अहमिति' द्वारा किया जा सकता है, क्योंकि समस्त बाह्य एव अन्तर दृश्य जगत 'अह' या शिव के वपु के अतिरिक्त और कुछ नही है। जिस तरह एक पूर्णविकसित मयूर के सभी अग एव नीलादि रगो का विकास उसके अडे से ही होता है और मयूर के अडे मे ही मयूर के अग एव रगो की स्थिति अभेद रूप से रहती है, वैसे ही यह विश्व उस चिति के अतर्गत अभेद रूप से विद्यमान रहता है।[२] अथवा जिस तरह बीज मे ही अकुर तथा वह्नि मे ही धूम की सत्ता रहती है, वैसे ही स्वतत्र चिति रूप शिव मे अभेद रूप से विश्व की सत्ता मानी गई है।[3] इसी कारण इसे अभेदवाद कहते हैं।

शैवदर्शन का यह अभेदवाद आभासवाद भी कहलाता है। इसका कारण यह है कि समस्त विश्व दर्पण में प्रतिबिम्बित नगर, वृक्षादि के समान है। अभिनवगुप्ताचार्य का मत है कि जिस तरह निर्मल दर्पण में भूमि, जलादि पदार्थ प्रतिबिम्बित होते हैं, वैसे ही पूर्ण सवित् रूप चिति में यह सम्पूर्ण विश्व अभिन्न रूप से अवभासित होता है।[४] नेत्रतत्र में भी लिखा है कि यह सारा विश्व शिवाश्रय है, शिव-शक्ति की प्रेरणा से ही कार्यशील होता है और शिव द्वारा ही निर्मित है। अत यह शिवरूप कहलाता है।[५] इसके अतिरिक्त ईश्वर-प्रत्यभिज्ञा-विमर्शिनी में भी लिखा है कि 'वह चिति ही अपने दर्पण में समस्त पदार्थो को प्रतिबिम्बवत् आभासित करती है,[६] इसी कारण यह 'आभासवाद' कहलाता है।

प्रत्यभिज्ञादर्शन के इस अभेदवाद एव आभासवाद की सबसे बडी विशेषता यह

१—स चैको द्विरूपास्त्रिमयश्चतुरात्मा सप्तपञ्चकस्वभावः।

—प्रत्यभिज्ञाहृदयम् १।७

२—एव देहे बाह्ये च सर्वत्र अस्य मयूराण्डरसवद् अविभक्तैव प्रतिपत्तिर्भवति।

—शिवसूत्रविमर्शिनी, पृ० ३२।

—ईश्वरप्रत्यभिज्ञाविमर्शिनी, भाग २, पृ० १७२।

—निर्मले मुकुरे यद्वद् भान्ति भूमिजलादय।
अमिश्रास्तद्वदेकस्मिश्चिन्नाथे विश्ववृत्तय॥
सद्दश भाति नयनदर्पणाम्बरवारिषु।
सथाहि निर्मले रूपे रूपमेवावभासते॥ तन्त्रालोक ३।३।४–५

—नेत्रतत्र, भाग २, पृ० ३६–३७।

—'चेतनो हि स्वात्मदर्पणे भावान् प्रतिबिम्बवद् आभासयति' इति सिद्धान्तः।

—ईश्वरप्रत्यभिज्ञाविमर्शिनी, भाग २, पृ० १५३।

है कि यहाँ सम्पूर्ण जड-चेतन पदार्थों को उसी एक चिति का स्वरूप माना गया है। यह जगत भी उसी का रूप है। अतः चिति की भाँति यह जगत भी सत्य है। प्रत्यभिज्ञादर्शन की इस विचारधारा को प्रसादजी ने भी पूर्णतया अपनाया है। सर्वप्रथम वे जनमेजय के नागयज्ञ मे यह कहते हुए दिखाई पडते है कि 'यह पूर्ण सत्य है कि जड़ के रूप में चेतन प्रकाशित होता है। अखिल विश्व एक सम्पूर्ण सत्य है। असत्य का भ्रम दूर करना होगा, मानवता की घोषणा करनी होगी, सबको अपनी समता मे ले आना होगा।'[१]

कहने की आवश्यकता नही कि प्रसादजी के ये ही अभेदवादी विचार कामायनी मे आकर पूर्णतया विकसित हुए है और उन्होंने असत्य के भ्रम को दूर करने तथा मानवता की समता के बारे मे जो प्रतिज्ञा की थी, कामायनी मे आकर उसका पूरा-पूरा पालन किया है। यहाँ वे आरम्भ से ही इस अभेदवाद का पालन करते हुए जड और चेतन में कोई भेद नही मानते और 'एक तत्व की ही प्रधानता कहो उसे जड या चेतन'[२] कहते हुए सर्वत्र एक चेतनता का ही प्राधान्य मानते है।

इसके अतिरिक्त जिस तरह उपनिषदों में कहा गया है कि पहले वह आत्मा एक ही थी। उसके सिवाय और कोई भी चेष्टा करने वाला न था। तब उसने समस्त लोकों के रचने की इच्छा की और उनकी इच्छा के परिणाम-स्वरूप ही समस्त लोक बने।[३] इसी तरह प्रत्यभिज्ञादर्शन भी सम्पूर्ण सृष्टि को उस विराट् सत्ता या महाचिति की इच्छा का परिणाम बतलाता है।[४] साथ ही जब चिति ही विश्व के रूप में प्रकट होती है तब इस विश्व का तिरस्कार करना मानो उस विराट् सत्ता का ही तिरस्कार करना है अथवा इस संसार की उपेक्षा करना मानो उस चिति की ही उपेक्षा करना है। इसी कारण प्रसादजी ने भी कामायनी में लिखा है कि "इच्छा रूप काम या महाचिति से मंडित होने के कारण यह संसार श्रेयस्कर है। यह उसी चिति की इच्छा का परिणाम है। अत इसका तिरस्कार करके और इस चिति को भूलकर तुम भवधाम को असफल बना रहे हो।"[५]

१—जनमेजय का नागयज्ञ, पृ० १२-१३। २—कामायनी, पृ० ३।

३—ऐतरेयोपनिषद् १।१।१-२

४—स्वेच्छया स्वभित्तौ विश्वमुन्मीलयति। प्रत्यभिज्ञाहृदयम् १।२

५—काम मंगल से मंडित श्रेय सर्ग, इच्छा का है परिणाम,
निरस्कृत कर उसको तुम भूल बनाते हो असफल भवधाम।

—श्रद्धा सर्ग पृ० ५२।

प्रसादजी का तो स्पष्ट मत है कि जब तक मानव इस ईश्वर एव विश्व सम्बन्धी पूर्ण अद्वैतता को नही समझता अथवा अभेदवाद की विचारधारा को नही अपनाता, तब तक उसे सुख और शान्ति नही मिल सकती, क्योकि द्वयता के कारण ही तो आज मनुष्य ससार से भागने का प्रयत्न कर रहा है, नाना प्रकार की समस्याओ मे फँस रहा है, वर्णों एव वर्गो की सृष्टि कर रहा है, जिसमे एकता नष्ट होती जा रही है और परस्पर भेद-भाव बढ रहे हैं। इतना ही नहीं इस सकुचित दृष्टि के कारण ही कोई किसी को नही पहँचानता तथा सब कुछ पास होते हुए भी सभी लोग असतुष्ट बने हुए है।[1]

इसी कारण मानव-कल्याण की भावना को सम्मुख रखकर प्रसादजी ने कामायनी के अन्त में अभेदवाद एव आभासवाद का समर्थन करते हुए लिखा है कि "जिस तरह ज्योत्स्ना के समुद्र में बुद्वुद् सा रूप बनाकर अपनी-अपनी आभा से चमकते हुए असख्य नक्षत्र दिखाई देते हैं, उसी तरह इस अभेद-सागर में जीवो की सृष्टि का क्रम चलता है और सब घुल-मिल कर चेतनता का एक रसमय चरम भाव विद्यमान रहता है। इसके साथ ही उन्होने अपने सुख-दुःख से पुलकित इस चराचर जगत को उस विराट् चिति का ही स्वरूप बतलाया है, इसे 'सत्य सतत चिर सुन्दर' कहा है और लिखा है कि यहाँ सबकी सेवा करना किसी अन्य की सेवा करना नही है वह भी अपनी ही सुख-ससृति है, क्योकि यहाँ का अणु-अणु और कण-कण सब अपना ही है तथा यहाँ कही भी द्वयता को स्थान नही है, वह द्वयता तो भुला देने की वस्तु है। यदि मनुष्य इसी तरह भेद-भाव को भूलकर सम्पूर्ण दुख-सुख को दृश्य बनाता हुआ अपनी इस अभेदता वाली वास्तविक स्थिति को समझ जाय, तो यह सारा ससार एक नीड बन जायेगा,[2] कही भी भेद-भाव न रहेगा और पूर्ण अभेदता की दृष्टि प्राप्त हो जायेगी, जिससे उसे सर्वत्र जड और चेतन समरस प्रतीत होने लगेंगे, एक चेतनता ही विलास करती हुई दृष्टिगोचर होगी और अखड आनन्द की प्राप्ति हो सकेगी।'[3]

१—यह अभिनव मानव प्रजा-सृष्टि
द्वयता में लगी निरन्तर ही वर्णों की करती रहे वृष्टि
अनजान समस्यायें गढ़ती रचती हो अपनी ही विनष्टि
कोलाहल कलह अनन्त चले, एकता नष्ट हो बढ़े भेद,
अभिलषित वस्तु तो दूर रहे, हाँ मिले अनिच्छित दुखद खेद।
—इडा सर्ग, पृ० १६४।

२—कामायनी, पृ० २८८—२८९। ३—वही, पृ० २९४।

समरसता—प्रत्यभिज्ञादर्शन मे समरसता का सिद्धान्त भी एक विशिष्ट स्थान रखता है। स्वच्छन्दतन्त्र मे लिखा है कि 'जैसे एक नदी समुद्र मे मिलकर समरसता को प्राप्त होती है और समुद्र तथा उस नदी में किसी प्रकार की भी पृथक्ता या भिन्नता नही रहती, उसी प्रकार जब आत्मा परमात्म-भाव को प्राप्त होकर पूर्णत एक शिवरूप हो जाती है, उसे सामरस्य कहते हैं।'[1] स्वच्छन्दतन्त्र के टीकाकार श्री क्षेमराज ने लिखा है कि "समो रसो यस्मिन् स समरसो लोलीभाव"[2] अर्थात् जिसमे समान रस हो, ऐसे लोलीभाव या ललक की भावना को सामरस्य कहते हैं। श्री उत्पलदेव ने समरसता की व्याख्या इस प्रकार की है कि 'भावानामेकैकस्य निर्वाणेऽपि परमेश्वरस्पर्शरसो खडित एवेति सामरस्यम्'[3] अर्थात् निर्वाण हो जाने पर प्रत्येक पदार्थ का परमेश्वर के स्पर्श-रस से अखडित या अभिन्न हो जाना सामरस्य कहलाता है। नेत्रतन्त्र मे समरसता का उल्लेख इस प्रकार मिलता है :—

नाहमस्मि न चान्योऽस्ति ध्येय चात्र न विद्यते।
आनन्दपदसलीन मन. समरसीगतम् ॥[4]

अर्थात् जिस समय योगी यह जानने लगता है कि न तो मैं हूं, न कोई अन्य है और न ध्येय ही यहां विद्यमान है, अपितु उसका मन आनन्दपद में लीन होकर समरसता को प्राप्त हो जाता है, उसी अवस्था को सामरस्य कहते हैं। अभिनवगुप्ताचार्य का मत है कि 'आनन्दशक्ति विश्रान्ते योगी समरसो भवेत्'[5] आनन्दशक्ति मे विश्रान्ति पाने पर ही योगी को समरसता की स्थिति प्राप्त होती है तथा 'चित्ते समरसी भूते द्वयोरौन्मनसी स्थिति.'[6] अर्थात् समरसता की स्थिति प्राप्त होते ही चित्त मे द्वैत के प्रति उन्मनीभाव जाग्रत हो जाता है अथवा वह पूर्ण अद्वैत को प्राप्त हो जाता है। साथ ही अभिनवगुप्ताचार्य के मत से समरसता ही अनुत्तरावस्था है, क्योंकि इस स्थिति में पहुंचकर योगी के लिए फिर और कुछ शेष नही रहता और वह अखड आनन्दघन शिव रूप हो जाता है। यही बात श्रीमत् शंकराचार्य ने सौन्दर्यलहरी मे 'समरसपरानन्दपरयोः'[7] कहकर स्वीकार की है और समरसता द्वारा आनन्द का प्राप्त होना बतलाया है। 'बोधसार' मे श्री नरहरि स्वामी ने भी इस सामरस्य का उल्लेख करते हुए लिखा है :—

१—स्वच्छन्दतन्त्र, भाग २, पृ० २७६–२७७। २—वही, पृ० १६१।
३—शिवदृष्टि, पृ० १६ ४—नेत्रतन्त्र, भाग, १, पृ० १६८।
५—तन्त्रालोक, भाग १, पृ० २६। ६—तन्त्रालोक ११।२६।२७४
७—सौन्दर्यलहरी, ३४।

ही शेष रहता है।'[1] अतः इस स्थिति में पहुँचने से पूर्व जीवात्मा समरसता के स्थान पर विषमता की स्थिति मे रहता है और वह तीन मलो तथा षट् कञ्चुको से आवृत होकर विषमता की स्थिति में पड़ा रहता है। यह विषमता ही ससार की अवस्था है, जिसमे भेद की प्रधानता रहती है और सारा विश्व जिससे स्पदित होता रहता है। किन्तु यह विषमता की स्थिति भी उसी चिति या भूमा से उत्पन्न है, क्योकि वह चिति अपनी मायाशक्ति से निरन्तर इसका सृजन करती रहती है और जीवात्मा को व्यामोहित करके विषमता की पीडा से व्यस्त होकर उसे सतत स्पदनशील बनाती है, जिससे वह सुख-दु:ख में लीन रहकर विश्व के कार्यो मे लगा रहता है।[2]

दूसरे शब्दो में यदि कहे तो विषमता लघुत्व या सकुचित अवस्था की सूचक है और इसके विपरीत समरसता बहुत्व या स्वतन्त्रावस्था की सूचक है। यह लघुत्व या सकुचित अवस्था जीवात्मा की स्थिति की ओर सकेत करती है और बहुत्व या भूमा तथा स्वतन्त्रावस्था परमात्मभाव या शिवत्व की सूचक है। विषमता की सकुचित अवस्था में सुख और दु:ख दोनो रहते हैं, जबकि समरसता की स्वतंत्रावस्था में केवल सुख ही सुख अथवा आनद ही आनद रहता है। छादोग्यउपनिषद् में भी 'नाल्पे सुखमस्ति, भूमा वै सुखम्'[3] कहकर उक्त दोनो स्थितियो का स्पष्टीकरण करते हुए बतलाया है कि अल्प में या लघुत्व मे सुख नही है, निश्चय ही जो भूमा है वही सुख है। कामायनी में भी इसी कारण इस सुख-दुःखात्मक जगत को भूमा का मधुमय दान कहकर इस बात की ओर सकेत किया है कि विषमता में से ही समरसता की ओर जाने का मार्ग गया है, भूमा की प्राप्ति भी इसी विषमता से आगे बढने पर हो सकती है और तभी अखड आनन्द भी प्राप्त हो सकता है। किन्तु इस विषमता की स्थिति से छूटकर जीव समरसता कैसे प्राप्त करे ?

इस प्रश्न का समाधान प्रसादजी ने कामायनी मे बड़े सुन्दर ढग से किया है। इसके लिए उन्होंने सभी क्षेत्रो में समरसता की स्थापना पर बल दिया है और इस दार्शनिक विचारधारा को व्यावहारिक जीवन के अनुकूल बनाकर लिखा है कि गृहस्थ जीवन मे नारी और पुरुष के अन्तर्गत रहने वाली विषमता को दूर करके समरसता

१—न दुःखं न सुखं यत्र न ग्राह्यं ग्राहको न च।
न चास्ति मूढभावोऽपि तदस्ति परमार्थत ॥ स्पंदकारिका १।५

२—विषमता की पीड़ा से व्यस्त हो रहा स्पंदित विश्व महान्,
यही दुख सुख विकास का सत्य यही भूमा का मधुमय दान।
—श्रद्धा सर्ग, पृ० ५४।

३—छादोग्य उपनिषद् ७।२३

की स्थापना होना आवश्यक है तथा सामाजिक जीवन मे अधिकारी या अधिकृत अथवा शासक या शासित के अतर्गत व्याप्त विषमता का उच्छेद करके समरसता की स्थापना होना अत्यत आवश्यक है।[1] इतना ही नही वे जानते थे कि बुद्धिवाद के द्वारा मानव का कल्याण नही हो सकता, क्योकि बुद्धिवाद विषमता को जन्म देता है और इसी को अपनाने के कारण विश्व में सर्वत्र सघर्ष, विप्लव, युद्ध आदि दिखाई देते हैं। इसी कारण उन्होने इस बुद्धिवाद के साथ श्रद्धावाद का समन्वय करके अथवा तर्कमयी बुद्धि के साथ श्रद्धामय हृदय का समन्वय करके अथवा तर्कपूर्ण बुद्धि और भाव-सवलित हृदय का समन्वय करके मानवमात्र के लिए समरसता की योजना प्रस्तुत की है।[2]

इस सामाजिक एव सासारिक विषमता के अतिरिक्त उन्होने व्यक्तिगत विषमता का भी अनुशीलन किया है और कामायनी के 'रहस्य' सर्ग में एक व्यक्ति के विषमतापूर्ण जीवन की विडम्बना का उल्लेख करते हुए वतलाया है कि '—

ज्ञान दूर कुछ, क्रिया भिन्न है इच्छा क्यो पूरी हो मन की,
एक दूसरे से न मिल सके यह विडम्बना है जीवन की।[3]

किन्तु इन तीनो—इच्छा, ज्ञान और क्रिया का समन्वय करके उन्होंने अन्त में व्यक्ति के हृदय में व्याप्त विषमता को दूर करके उसके स्थान पर भी समरसता की स्थापना की है और इन तीनो के समन्वय द्वारा मनु की स्थिति का वैसा ही चित्रण किया है, जैसा कि शैवागमो में समरसता को प्राप्त एक योगी की स्थिति का वर्णन मिलता है ; क्योकि कामायनी में भी समरसता को प्राप्त होकर मनु के 'अह' का 'इद' मे पर्यवसान हो जाता है, ममत्व-परत्व का भेद-भाव नही रहता, जीवन-वसुधा समतल हो जाती है और उन्हे सभी पदार्थ समरस प्रतीत होने लगते हैं।[4] फिर वहाँ न कोई ज्ञाता रहता है और न ज्ञेय, न कोई ध्याता रहता है और न ध्येय, अपितु वह चेतन-

---

१—समरसता है सम्बन्ध बनी अधिकार और अधिकारी की।
—इडा सर्ग, पृ० १६२।

२—यह तर्कमयी तू श्रद्धामय, तू मननशील कर कर्म अभय,
इसका तू सव सताप निचय, हरले, हो मानव भाग्य उदय,
सबकी समरसता कर प्रचार, मेरे सुत ! सुन माँ की पुकार।
—दर्शन सर्ग, पृ० २४४।

३—कामायनी, पृ० २७२।

४—वही, पृ० २८७–२८८।

पुरुष-पुरातन अपनी चिरमिलित प्रकृति से पुलकित होता हुआ शोभायमान आनन्द-अम्बुनिधि की भाँति अपनी ही शक्ति से तरंगायित दिखाई देता है।[1]

इसके अनंतर प्रसादजी ने कामायनी में समरसता की उस अन्तिम स्थिति का भी उल्लेख किया है, जहाँ अणु-अणु आनन्द-सुधा-रस मे आप्लावित रहते हैं। अति मधुर गन्धवह चलता रहता है, प्रकृति सर्वत्र आनन्द-उल्लास मे लीन दिखाई देती है, जीवन की मुरली से मनोहर संगीत उठने लगता है, जहाँ अपरिचित भी सब पहचाने से प्रतीत होते हैं, जड और चेतन का भेदभाव मिट जाता है, सर्वत्र एक चेतनता विलास करती हुई दृष्टिगोचर होती है और अखंड आनन्द छाया रहता है।[2] यह स्थिति ही जीव की मुक्तावस्था है, इसी को अनुत्तरावस्था कह सकते हैं और यही वह शिवत्व की अवस्था है, जिसे समरसता द्वारा इसी जगत मे प्राप्त किया जा सकता है।

आनन्दवाद—शैवो के इस आनन्दवाद का मूल रूप उपनिषदो में दिखाई देता है। क्योंकि तैत्तिरीयोपनिषद् में लिखा है कि "आनन्द ही ब्रह्म है। आनन्द से ही समस्त प्राणी उत्पन्न होते हैं, उत्पन्न होकर आनन्द से ही जीते हैं तथा इस लोक से प्रस्थान करते हुए अन्त में आनन्द मे ही प्रविष्ट हो जाते हैं।"[3] इसी तरह नेत्र-तन्त्र मे कहा है कि 'वह ब्रह्म परमानन्द रूप है।"[4] साथ ही आगे लिखा है कि "शिव की वह शक्ति ही चित रूप शिव से अभिन्न होकर अद्भुत आनन्द का प्रसार करती है और समरसता को प्राप्त होकर योगी आनन्दपद में सलीन हो जाता है।"[5] श्री शंकराचार्य ने भी सौन्दर्य-लहरी में 'चिदानन्दाकारं शिव युवति भावेन बिभृषे'[6] कहकर शिव को चिदानन्द रूप बतलाया है। तन्त्रालोक में अनुत्तरावस्था के अन्तर्गत आनन्द की प्राप्ति होना लिखा है[7] और बतलाया है कि शिव की विमर्श शक्ति ही

१—चिर मिलित प्रकृति से पुलकित वह चेतन पुरुष पुरातन,
निज शक्ति तरंगायित था आनन्द अम्बुनिधि शोभन।
—आनन्द सर्ग, पृ० २८६।

२—कामायनी, पृ० २९०–२९४।

३—आनन्दो ब्रह्मेति। आनन्दाद्ध्येव खल्विमानि भूतानि जायन्ते। आनन्देन जातानि जीवन्ति। आनन्दं प्रयन्त्यभिसंविशन्तीति।
—तैत्तिरीय उपनिषद् ३।६

४—यत्तत्तदिति ब्रह्म परमानन्द रूपम्। नेत्रतन्त्र, भाग २, पृ० २९।

५—नेत्रतंत्र, भाग २, पृ० १६५, १६८।   ६—सौंदर्यलहरी, ३५।

७—अनुत्तर यत्तत्रैक तच्चिदानन्द भूतये। तंत्रालोक २।३।१६०

आनन्द रस का स्फुरण करती है। इस आनन्द-स्फुरण करने वाली शक्ति को आनन्द-शक्ति कहा गया है, जो शिव की प्रधान पाँच शक्तियो में से एक है और जिसके द्वारा हृदय में आनन्द का स्पदन इस प्रकार होता है, जिस प्रकार किसी मधुर गीत के सुनने अथवा चदन आदि के सुन्दर स्पर्श करने पर हृदय की मध्यस्थता या तटस्थता दूर हो जाती है और उसके द्वारा व्यक्ति के हृदय में आनन्द स्पदन होने लगता है।[1] यहाँ पर स्पष्ट ही माहेश्वराचार्य अभिनवगुप्त ने आनन्द और रस का सम्बन्ध स्थापित किया है, क्योकि आनन्द की अभिव्यक्ति होने पर जो दशा हृदय की यहाँ बतलाई गई है वही दशा रस की अभिव्यक्ति होने पर भी हो जाती है।

तन्त्रालोक में प्राणायाम की विधि द्वारा भी अखड आनन्द की ओर क्रमश बढने का उल्लेख मिलता है। वहाँ लिखा है कि यद्यपि यह आनन्द रस की भाँति अपने हृदय में ही स्थित है, फिर भी शून्यता में विश्रान्ति होने के कारण पहले योगी निरानन्द रहता है, परन्तु जब वह प्राणायाम द्वारा प्राणवायु के प्रदेश मे प्रवेश करता है, तब उसे 'परानन्द' की प्राप्ति होती है। अपान वायु के क्षेत्र में पहुँचकर वह परानन्द से कुछ आगे बढता है, परन्तु समान-वायु के क्षेत्र में पहुँचते ही वह 'ब्रह्मानन्दमय' हो जाता है। इसके अनन्तर उदानवायु के क्षेत्र मे पहुँचते ही उसे 'महानन्द' की प्राप्ति होती है और व्यानवायु के क्षेत्र में विश्रान्ति करते ही वह समस्त उपाधियो से रहित होकर 'चिदानन्द' प्राप्त करता है।[2] शैवो की यह चिदानन्दावस्था ही मोक्ष की अवस्था है। क्योकि मृगेन्द्रतन्त्र में लिखा भी है कि 'जिस समय योगी योग-विधि द्वारा समस्त चिन्ताओ से परे होकर अपने हृदय में निज रूप का साक्षात्कार करता है, उस समय वह ज्ञान-क्रिया रूप अखण्ड आनन्दमय अव्यय रूप को प्राप्त हो जाता है। वही उस योगी की 'शिवोऽहम्' की स्थिति है, क्योकि उस स्थिति को प्राप्त होते ही योगी अखण्ड आनन्दघन शिव से एक रूप होकर अखण्ड आनन्द का अनुभव करने लगता है और फिर उसे अशिव या अमगलकारी दु खो की ओर लौटकर नही आना पडता।[3] ईश्वरप्रत्यभिज्ञाविमर्शिनी में भी योगी की इस अन्तिम स्थिति का उल्लेख करते हुए बतलाया है कि अन्त में योगी उस अनन्त तत्वसमूह रूपी शिवतत्व मे लीन

१—तथाहि मधुरे गीते स्पर्शे वा चन्दनादिके।
मध्यस्थ विगमे यासौ हृदये स्पन्दमानता।
आनदशक्ति सैवोक्ता यत सहृदयो जन ॥

—तत्रालोक २।३।२०९–२१०

२—तन्त्रालोक, भाग ३, पृ० ३४८–३५०।

३—मृगेन्द्रतन्त्र, योगपाद, पृ० ४२।

हो जाता है, जो चिदानन्दघन एवं परमाक्षरविग्रह हैं।[1] इस तरह प्रत्यभिज्ञादर्शन मे शिव को चिदानन्दघन कहा है और चिदानन्दघन रूप शिवत्व की प्राप्ति को ही मोक्ष की प्राप्ति कहा है। इसके अतिरिक्त शैवागमो के आधार पर ही श्री नरहरिस्वामी ने 'बोधसार' मे शिव की आनन्द-सागर से तुलना करते हुए लिखा है कि "शिव आनन्दसागर हैं, उनकी शक्ति उस सागर का आनन्द-वारि है और उनके भूतगण उस आनन्दसागर के जल की बूँदे हैं।"[2] अतः शैवदर्शन में शिव एव शक्ति तथा उनके समस्त अवयवों को पूर्णतया आनन्द-स्वरूप माना गया है।

प्रसादजी ने भी शैवो की इसी आनन्दवादी विचारधारा के आधार पर अपनी 'विनय' नामक कविता मे शक्तिमान परमेश्वर को सदैव आनन्द की तरल वीचियो मे विहार करते हुए बतलाया है।[3] कामायनी में भी शिवत्व को प्राप्त हुए मनु की स्थिति का चित्रण करते हुए 'निज शक्ति तरंगायित था आनन्द अम्बुनिधि शोभन"[4] कहकर इसी आनन्दसागर की ओर सकेत किया है। प्रसादजी ने 'प्रेमपथिक' में तो अपने इस उद्देश्य को भी व्यक्त कर दिया है कि मानव-जीवन का चरम लक्ष्य 'श्रान्त भवन मे टिक रहना नही, किन्तु उस सीमा तक पहुँचना है, जिसके आगे राह नही है अथवा उस आनन्द-भूमि मे पहुँचना है जिसकी सीमा कही नही है।'"[5]

कहने की आवश्यकता नही कि प्रसादजी ने अपने इसी उद्देश्य की पूर्ति कामायनी मे की है, क्योंकि यहाँ वे मानव-जीवन के चरम उद्देश्य को पूर्ण करते हुए आनन्द-भूमि तक पहुँचे है। किन्तु इस उद्देश्य-पूर्ति से पूर्व कामायनी में उन्होने जीवात्मा के मार्ग की उन बाधाओ का भी चित्रण किया है, जो उसे आनन्द-भूमि तक नही पहुँचने देती तथा जिनमे बचकर निकलना अत्यन्त कठिन हो जाता है। ये बाधाएँ 'सौदर्यमयी चचल कृतियों' के रूप में आती है, जो अपने मधुर आकर्षण से जीवात्मा को मोहित करके आगे नही बढने देती।[6] दूसरे, आसुरी प्रवृत्तियाँ उसकी

१—ईश्वरप्रत्यभिज्ञाविमर्शिनी, भाग २, पृ० २६८।

२—आनन्दसागर. शम्भुस्तच्छक्ति र्द्रव उच्यते।
शीकरा इव तामुद्रा स्तदानन्दकणाः गणाः ॥ बोधसार, पृ० ५७५।

३—जो पुण्य और पय पापन को विचारै।
आनन्द के तरल वीचिन में विहारै ॥ चित्राधार, पृ० १५३।

४—कामायनी, पृ० २८६।   ५—प्रेमपथिक, पृ० १६–१७।

६—सौन्दर्यमयी चंचल कृतियाँ बनकर रहस्य हैं नाच रही,
मेरी आँखों को रोक वहीं आगे बढने मे जाँच रही।
—काम सर्ग, पृ० ६६।

पथ-प्रदर्शक बनकर उसे व्यर्थ का सुख-स्वप्न दिखाती हुई मार्ग-भ्रष्ट कर देती है और यह जीवात्मा अबोध होने के कारण उनके बहकावे में आकर प्रसन्नता से नाच उठता है।[1] तीसरे, तर्कमयी बुद्धि उसको अपने तर्कपूर्ण विचारो द्वारा अपनी ओर ऐसा आकृष्ट करती है कि वह जो बुद्धि कहे उसको मानकर अपने यश को अखिल लोक में फैलाने की इच्छा से लोकेषणा में अनुरक्त हो जाता है और अपने गतव्य मार्ग को ही भूल जाता है। इतना ही नही वह यह समझने लगता है कि बुद्धि ने तो मेरे लिए सुख-साधन के सभी द्वार खोल दिये हैं। अत इसे छोड कर आनन्द कहाँ है?[2] कठोपनिषद् में भी कहा है कि 'वह आत्मा तर्कशील बुद्धि से (मेधया) प्राप्त नही होती।'[3] अत. इन बाधाओ के कारण ही जीवात्मा उस आनन्दघन शिव तक नहीं पहुँच पाता।

इसके अतिरिक्त प्रसादजी ने आनन्द-पथ की ओर जाने वाले जीवात्मा के हेतु उन सभी आवश्यक बातो का भी सकेत किया है, जिनको अपनाने के कारण वह सहज में असीम आनन्द-भूमि तक पहुँच सकता है। इसके लिए वे सर्वप्रथम 'कर्म का भोग, भोग का कर्म यही जड का चेतन आनन्द'[4] कहकर जीवात्मा को प्रकृति की ही भाँति सदैव कर्मशील बनने का आग्रह करते हैं और बतलाते हैं कि निरन्तर उचित कर्मों में लीन रहकर ही कोई व्यक्ति विजयी और शक्तिशाली होता हुआ मगलमय वृद्धि एव सुख-समृद्धि को प्राप्त कर सकता है, यह भी आनन्द की एक स्थिति है। दूसरे, वासनात्मक प्रेम की अपेक्षा वे हृदय के शुद्ध प्रेम को अपनाने की सलाह देते हैं और बतलाते हैं कि यह वासनात्मक प्रेम हिंसा, स्वार्थ, अहकार आदि की ओर लेजाकर जीवात्मा को केवल 'जड देह मात्र' के सौन्दर्य में ही अनुरक्त कर देता है, जिससे वह आत्मीयता से दूर होकर ममत्व या 'कुछ मेरा हो' की रागमयी भावना को महत्व देने लगता है और जिसका परिणाम यह होता है कि वह जीवात्मा अपनी अबोधता एव अपूर्णता के कारण समुद्र मे भटकने वाले क्षुद्र यान की भाँति इधर-उधर मारा-मारा फिरता है।[5] परन्तु शुद्ध प्रेम उसे पतन के गर्त्त से उठाकर आनन्द की उच्च एव असीम भूमि मे ले जाता है, जैसा कि श्रद्धा के प्रयत्न द्वारा मनु को आनन्द प्राप्त करते हुए दिखलाया है। तीसरे, आनन्द-भूमि मे पहुँचने के लिए उन्होंने इच्छा, ज्ञान और क्रिया के समन्वय को आवश्यक बतलाया है और कहा है इनकी पृथक्ता के कारण ही जीवात्मा को जीवन की विडम्बना में फँसना पडता है और उसकी मनु की

१—कामायनी, पृ० ११५। २—वही, पृ० १६८–१७२।
३—कठोपनिषद् २।२३ ४—कामायनी, पृ० ५६।

सी दशा होती है। किन्तु जैसे ही वह इन तीनों का समन्वय करके जिसकी मन में इच्छा करता है, उसी को जानने का प्रयत्न करता है और वैसी ही क्रियायें करता है, वैसे ही उसके जीवन में सन्तुलन आता है और वह आनन्द-पथ का अनुयायी हो जाता है। चौथे, आनन्द-प्राप्ति के लिए वे बुद्धि और हृदय के सन्तुलित समन्वय पर अधिक जोर देते हैं और बतलाते हैं कि इन दोनों के समन्वय बिना न तो वैयक्तिक जीवन आनन्दमय होता है और न सामाजिक जीवन ही। क्योंकि कोरे बुद्धिवाद के कारण मानव विभाजन-प्रणाली को अपनाने लगता है, जिससे आत्मीयता नष्ट हो जाती है और सभी भ्रान्त पथ पर चलने लगते हैं।[1] परन्तु जब बुद्धि और हृदय का समन्वय हो जाता है, तभी जीवात्मा को यह ज्ञान होता है कि यह संसार उस चिति का ही स्वरूप है और इसके परिवर्तित रूपों में भी उल्लासपूर्ण अखण्ड आनन्द सतत समाया हुआ है।[2]

इसके अनन्तर प्रसादजी ने जीवात्मा की उस आनन्द-भूमि का भी उल्लेख किया है, जिसे वह आत्म-साक्षात्कार अथवा आत्मीयता का अनुभव करके प्राप्त करता है और जिसकी समता शाम्भव स्थिति में पहुँचे हुए एक योगी तथा रस की पूर्णावस्था का अनुभव करने वाले आनन्द-विभोर सहृदय से की जा सकती है। क्योंकि उस स्थिति में पहुँच कर जीवात्मा और परमात्मा, विश्व और ब्रह्म, जड़ और चेतन आदि में कोई भेद नहीं रहता, प्रकृति और पुरुष दोनों शिव-शक्ति की भाँति सामरस्य को प्राप्त होकर अभिन्न हो जाते हैं और अपनी शक्ति रूपी तरंगों में तरंगायित होकर वह जीवात्मा अखंड आनन्द सागर का रूप धारण कर लेता है। उस क्षण उसे सर्वत्र आनन्द ही आनन्द दृष्टिगोचर होता है, जड़ और चेतन सभी समरस प्रतीत होने लगते हैं, सर्वत्र एक चेतनता विलास करती हुई दिखाई देने लगती है और वह स्वयं चिति रूप होकर आनन्दपद में लीन हो जाता है।[3]

साराश यह है कि प्रसादजी ने प्रत्यभिज्ञादर्शन के उक्त विचारों को काव्य रूप देकर कामायनी में उन्हें इस तरह चित्रित किया है कि जिससे वे विचार दर्शन और काव्य दोनों का समन्वित स्वरूप प्रगट करते हुए व्यावहारिक होकर मानव-जीवन के अत्यन्त निकट आगए हैं और जिन्हें अपनाकर मानव इसी जीवन एवं इसी जगत में सुख और आनन्द को प्राप्त कर सकता है।

१—कामायनी, पृ० २३९–२४१। २—वही, पृ० २४२।

३—समरस थे जड़ या चेतन सुन्दर साकार बना था,
चेतनता एक विलसती आनन्द अखण्ड घना था।

—आनन्द सर्ग, पृ० २९४।

अन्य दार्शनिक विचारधारायें तथा कामायनी

दु खवाद—दुःखवाद का प्रचारक बौद्ध दर्शन है। बौद्ध दर्शन में ससार को दु खपूर्ण वतलाया गया है। महात्मा बुद्ध ने चार आर्य सत्य वतलाये हैं, जिनका मूल आधार दु ख है। वे चार आर्य सत्य क्रमश दु ख, दु ख-समुदय, दु ख-निरोध और दु ख-निरोध-गामिनी प्रतिपद कहलाते हैं। गौतम बुद्ध इस दु ख का वर्णन करते हुए कहते हैं कि 'हे भिक्षुओ! दु ख प्रथम आर्य सत्य है। जन्म भी दु ख है। वृद्धावस्था भी दु ख है। मरण भी दु ख है। शोक, परिदेवना, दौर्मनस्य, उपायास (हैरानी) भी दु ख है। अप्रिय से सयोग होना भी दु ख है। प्रिय से वियोग होना भी दु ख है। ईप्सित वस्तु का न मिलना भी दुःख है। सक्षेप में यह कह सकते हैं कि राग द्वारा उत्पन्न पाँचो स्कध (रूप, वेदना, सज्ञा, सस्कार तथा विज्ञान) भी दु ख हैं।[1] इस तरह गौतम बुद्ध ससार के प्रत्येक कार्य एव प्रत्येक गति-विधि को दुःखपूर्ण मानते हैं।

बौद्धो की इस विचारधारा से प्रभावित होकर ही प्रसादजी ने 'अजातशत्रु' में 'दु ख का भँवर चला कराल चाल में'[2] लिखा है, तो 'स्कदगुप्त' में 'उमड रहा इस भूतल पर दु ख का पारावार'[3] कहा है और 'आँसू' मे तो वे यहाँ तक कह जाते हैं कि 'वेदना विकल फिर आई मेरी चौदहो भुवन में, सुख कही न दिया दिखाई विश्राम कहाँ जीवन में।'[4] इतना ही नही 'चन्द्रगुप्त' में वे स्पष्ट ही लिख गये हैं कि 'मैं स्वय हृदय से बौद्ध मत का समर्थक हूँ, केवल उसकी दार्शनिक सीमा तक—इतना ही कि ससार दु खमय है।'[5]

कामायनी में भी इस दु खवादी विचारधारा का यत्र-तत्र सकेत मिल जाता है। वैसे वे सुख और दु ख को दिन और रात की भाँति निरन्तर आते-जाते बतलाते हैं,[6] परन्तु वे ससार में दु ख की प्रवलता स्वीकार करते है। इसी कारण कभी वे "दु ख जलधि का नाद अपार"[7] सुनते हैं, तो कभी "व्यथा की नीली लहरो बीच विखरते सुख मणिगण द्युतिमान"[8] कहते है, ऐसे ही कभी उन्हे "नभ-नील लता की डालो में इस दुखमय जीवन का प्रकाश"[9] उलझा हुआ दिखाई देता है, तो कभी "कलियाँ जिनको मै समझ रहा वे काँटे विखरे आस पास"[10] प्रतीत होते हैं। इसी

१—बौद्धदर्शन, पृ० ६४।
२—अजातशत्रु, पृ० ९३।
३—स्कदगुप्त, पृ० ४१।
४—आँसू, पृ० ५५।
५—चन्द्रगुप्त, पृ० ७१।
६—कामायनी, पृ० ५३।
७—कामायनी, पृ० ८।
८—वही, पृ० ५४।
९—वही, पृ० १५८।
१०—वही, पृ० १५८

भाँति कभी उन्हे यह विश्व हलचल से विक्षुब्ध दिखाई देता है,[1] तो कभी इस विश्व के अन्दर 'दुख की आँधी" एव "पीडा की लहरे" उठती हुई दिखाई देती हैं।[2] ऐसे ही कभी उन्हे जीवन एक "विकट पहेली" जान पडता है, तो कभी ससार इन्द्रजाल प्रतीत होता है और इसमे व्यथायें भरी हुई दिखाई देती है।[3]

साराश यह है कि कामायनी मे बौद्धदर्शन के दु खवाद का सकेतमात्र ही है। वैसे प्रसादजी बौद्धो की भाँति ससार में केवल दु ख ही दु ख नही मानते। वे ससार को सुख-दुःखमय कहते हैं। इतना अवश्य है कि उनकी दृष्टि मे ससार के अन्तर्गत सुख की अपेक्षा दु ख का आधिक्य है और इसी दु ख से मुक्ति पाने के लिए अथवा जीवन को सुखमय या आनन्दमय बनाने के लिए अन्त में उन्होने प्रत्यभिज्ञादर्शन की आनन्दवादी विचारधारा को महत्त्व दिया है।

क्षणिकवाद—क्षणिकवाद का प्रबल प्रचारक भी बौद्धदर्शन है, क्योंकि वहाँ ससार के साथ ही आत्मा को भी क्षणिक एव परिवर्तनशील बतलाया गया है और इसकी तुलना "दीप-शिखा" से की है। 'मिलिंद-प्रश्न' मे लिखा है कि जिस समय राजा मिलिंद ने नागसेन से प्रश्न किया "जो उत्पन्न होता है, क्या यह वही व्यक्ति है या दूसरा ?" इस पर नागसेन उत्तर देते है, "न वही है और न दूसरा।' इस बात को वे 'दीप-शिखा' के उदाहरण से समझाते हैं। "जो दीपक रात के प्रथम प्रहर मे जलता है, क्या रात भर वही दीपक जलता रहता है। साधारण दृष्टि मे यही दिखाई देता है कि रात भर दीपक की एक ही लौ विद्यमान रहती है, परन्तु वस्तुस्थिति यह बतलाती है कि रात के पहले क्षण की दीप-शिखा दूसरी थी, दूसरे और तीसरे क्षण की दीप-शिखा क्रमशः उससे भिन्न थी। फिर भी दीपक जलता रहा। अत. दीपक एक है, परन्तु उसकी शिखा या लौ क्षण-क्षण में परिवर्तनशील है। यही दशा आत्मा की भी है। साधारणतया किसी भी पदार्थ की एक अवस्था उत्पन्न होती है और एक विलीन होती है। यह उत्पत्ति-विनाश का क्रम बराबर चलता रहता है और इस प्रवाह की दोनो अवस्थाओं मे एक क्षण का भी अतर नही रहता। अतः ससार की प्रत्येक वस्तु क्षण-भगुर एव क्षणिक है। विज्ञान की लड़ी प्रतिक्षण परिवर्तित होती रहती है और एक जन्म के अन्तिम विज्ञान के लय होते ही दूसरा जन्म उठ खड़ा होता है।"[4]

बौद्धदर्शन की इस विचारधारा के भी सकेत प्रसाद-साहित्य मे यत्र-तत्र मिलते हैं। जैसे, 'अजातशत्रु' नाटक मे वे लिखते हैं कि 'अणु परमाणु, दुख सुख चचल,

---

१—कामायनी, पृ० २२१। २—वही, पृ० २२२।
३—वही, पृ० २२६। ४—बौद्धदर्शन, पृ० १०४–१०५।

वह चीटी से लेकर हाथी तक सभी प्राणियो के दुःख का अनुभव करने लगता है और तब तक मोक्ष नही चाहता, जबतक कि एक भी प्राणी उसे दुःखी दिखाई देता है। उसका हृदय करुणा से इतना आर्द्र हो जाता है कि वह दुःखी प्राणियो के दुःख की आँच से तुरन्त पिघल उठता है।[1] इसके अतिरिक्त बौद्धतत्रो मे आदिबुद्ध की चार भावनाये बतलाई गई हैं—(१) करुणा, (२) मैत्री, (३) मुदिता और (४) उपेक्षा। इनमें से करुणा को ही सर्वश्रेष्ठ कहा है, क्योकि इसी भावना के साथ विशुद्ध योग की प्राप्ति होती है।[2] बौद्धदर्शन की उक्त चारो बातो का उल्लेख पातजलि-योगदर्शन में भी मिलता है। वहाँ मैत्री, करुणा, मुदिता और उपेक्षा इन चारो को चित्त का परिष्कार करने वाली बतलाया है। अर्थात् सुखी व्यक्ति में मैत्री की भावना से, दुःखी व्यक्ति मे करुणा की भावना से, पुण्यवान् व्यक्ति में मुदिता (प्रसन्नता) की भावना से तथा अपुण्यवान् व्यक्ति मे उपेक्षा की भावना रखने से चित्त का प्रसादन अथवा परिष्कार होता है।[3] इस तरह योगदर्शन मे करुणा का कार्य चित्त का प्रसादन अथवा परिष्कार करना बतलाया गया है। श्रीमद्भगवद्गीता में करुणा को शान्ति प्राप्त योगी का एक लक्षण बतलाया है और कहा है कि जो व्यक्ति परमशान्ति को प्राप्त कर लेता है वह समस्त प्राणियो से द्वेष रहित हो जाता है, सबका मित्र बन जाता है और सभी के प्रति करुणा का भाव रखने लगता है।[4]

वैष्णवो में इस करुणा का अत्यधिक महत्व है। वैष्णवों की इसी करुणा का उल्लेख करते हुए नरसी मेहता ने लिखा है कि 'वैष्णव जन तो तेणे कहिए जे पीड़ पराई जाणे रे।' महात्मा गाँधी को भी यह गीत बहुत प्रिय था। इसमें वैष्णवो की कोमल एव उदार प्रवृत्ति से भरी हुई करुणा का सजीव चित्र अकित किया गया है।[5]

अत बौद्ध एव वैष्णव सभी भारतीय विचारको ने करुणा को एक ऐसा उदार भाव बतलाया है, जिसके उदय होते ही व्यक्ति के हृदय में सर्वभूत-हित की भावना जाग्रत होती है, इससे चित्त इतना परिष्कृत हो जाता है कि किसी भी प्राणी की पीडा देखकर वह तुरन्त द्रवीभूत हो जाता है। दूसरे, करुणा की भावना आत्मीयता का सचार करती है और प्रत्येक जीव के दुःखो को अपना दुःख बनाकर उनको दूर कराने का प्रयत्न करती है।

करुणा की इसी उदार भावना को प्रसादजी ने अपने ग्रथो मे स्थान दिया

१—बौद्ध दर्शन, पृ० १४४–१४५।   २—वही, पृ० ४५७–४५८।
३—पातजलि योगदर्शन १।३३   ४—श्रीमद्भगवद्गीता १२।१३
५—भारतीय सस्कृत की रूपरेखा, पृ० २२।

उनका मत है कि 'मानव सृष्टि का विकास करुणा के लिए ही हुआ है, क्योकि ा या हिंसा आदि कार्य मानव के लिए नही अपितु हिंस्र पशुओ के लिए बने हैं।'[1] करुणा प्राणिमात्र में समदृष्टि का प्रसार करती है, इसी के कारण उपा एव सध्या रंजित प्रतीत होती हैं, यही शिशु के मुख पर चन्द्रकान्ति की वर्षा करती है, तारो से ओस की बूंद गिराया करती है, यही निष्ठुर जीवो को पराजित करती ार इसी करुणा के कारण मानव का महत्व ससार मे फैला हुआ है।[2] इस ा के कारण ही मानव अपने कर्त्तव्य-पथ से कभी विचलित नही होता[3] और के कारण मानव सदैव अपने जीवन का वलिदान तक करने के लिए तैयार ा है।[4] यह करुणा ही मानव के हृदय को द्रवीभूत करके अन्य दु:खी हृदयो की र सुनने के लिए वाध्य करती है। कारण यह है कि दु:खी हृदय के नीरव क्रंदन सुनना ही वास्तव मे करुणा है।"[5]

कामायनी मे भी करुणा की यही भावना विद्यमान है। जिस समय मनु द्वारा पालित पशु का वध करके श्रद्धा के समीप आते हैं, उस समय करुणा के र भाव से ओत-प्रोत श्रद्धा मनु को यही समझाती है कि मानव करुणा से रहित र ही एकान्त स्वार्थ मे लीन हो जाता है। यह एकान्त स्वार्थ अत्यन्त भीषण है मानव का शत्रु है। भला ऐसे स्वार्थमय जीवन द्वारा कभी किसी का विकास ा है? इस करुणा की उपेक्षा करने के कारण ही मानव अन्य प्राणियो की पीड़ा देखकर भी उनकी ओर से मुख मोड़ लेता है, इससे वह अपने सुख को सीमित लेता है और अन्य प्राणियो को भी दु:खी बनाया करता है। अत: सदैव दूसरो सुखी एव प्रसन्न रखने का प्रयत्न करना ही मानव का परम कर्त्तव्य है।[6]

इन उक्त विचारो मे श्रद्धा स्पष्ट ही करुणा की उदार-मूर्ति दिखाई देती है, पशु की कातर वाणी सुनकर करुणा से द्रवीभूत हो गई है। इसके साथ ही णा-पूर्ण प्राणी में समदृष्टि आजाती है और वह अपने शत्रु को भी शत्रु न कर हितैषी मानता है एव उन पर अपना सर्वस्व न्योछावर करने को तैयार हो ा है। कामायनी मे जिस समय श्रद्धा इडा के समीप पहुँच कर यह देखती है कि इडा ने ही अपने रूप-सौंदर्य से मुग्ध करके मेरे सुहाग को छीना था। परन्तु जब पने विपरीत आचरण करने वाली इडा की भी दीन-हीन दशा देखती है,

---

१—अजातशत्रु, पृ० २४।
२—अजातशत्रु, पृ० ३०।
३—वही, पृ० ६१।
४—वही, पृ० ६१।
५—प्रतिध्वनि, पृ० ३६।
६—कामायनी, पृ० १३२।

तब उसका हृदय करुणा से भर आता है, वह विचलित हो उठती है और उसके व्यथाभार को दूर करने के लिए अपनी सम्पूर्ण निधि—अपना प्रिय पुत्र तक उसे सौंप देती है।[1]

इस तरह प्रसादजी ने श्रद्धा के रूप मे करुणा का चित्रण करते हुए उसे अत्यन्त उदार एव विस्तृत व्यापार वाली सिद्ध किया है। उनकी कामायनी या श्रद्धा सचमुच विश्व की करुण-कामना-मूर्ति है, जो अत्यन्त आकर्षणपूर्ण होने के कारण अपने स्पर्श से जड में भी स्फूर्ति पैदा करने की क्षमता रखती है।[2] वह अत्यन्त उदार-हृदया है, इसी कारण मनु को पशुत्व के जाल से मुक्त करके एक सच्चा मानव बनाती है, अव्यवस्थित जगत की सुन्दर व्यवस्था करती है और अपने त्याग, तपस्या एव बलिदान-भावना द्वारा जगत का कल्याण करती है।[3] अत. कामायनी में हमे श्रद्धा के रूप में करुणा की समग्र विशेषताएँ एक स्थान पर ही सगृहीत मिलती हैं। इसी कारण हम कह सकते हैं कि प्रसादजी ने कामायनी या श्रद्धा के रूप में पूर्णतया करुणा का चित्रण किया है।

परिमाणुवाद—प्रसादजी ने कामायनी मे न्याय-वैशेषिक के परिमाणुवाद की ओर भी सकेत किया है। न्याय वैशेषिक-दर्शन में सृष्टि के विकास का वर्णन करते हुए बतलाया है कि 'पृथ्वी, जल, अग्नि और वायु का निर्माण क्रमशः परमाणुओ द्वारा हुआ है। सर्वप्रथम दो परमाणुओ के सयोग से द्वयणुक की उत्पत्ति हुई। जिसके दो परमाणु समवायि कारण थे, उनका सयोग असमवायिकारण था और अदृष्ट आदि निमित्त कारण थे। तदुपरान्त तीन द्वयणुको की क्रिया के सयोग से त्र्यणुक की उत्पत्ति हुई। जिसके तीन द्वयणुक समवायिकारण थे, शेष असमवायि तथा निमित्त कारण पूर्ववत् ही थे। इसी प्रकार चार त्र्यणुको द्वारा चतुरणुक की उत्पत्ति और चतुरणुक के उपरान्त क्रमश स्थूलतर एव स्थूलतम पदार्थ उत्पन्न होते गये इसी क्रम से अन्त मे महान् पृथ्वी, जल, अग्नि एव वायु भी उत्पन्न हुए।'[4] अत परमाणुओ से ही समस्त कार्यद्रव्य उत्पन्न हुये हैं।

कामायनी में इसी परमाणुवाद की ओर सकेत करते हुए प्रसादजी ने लिखा है कि जैसे ही वह मूलशक्ति अपने आलस्य का परित्याग करके सृष्टि करने को उद्यत हुई, वैसे ही अणु-परमाणु भी दौडने लगे, सभी विद्युत पारस्परिक आकर्षण के कारण मिलते हुए द्वयणुक या त्र्यणुक की भाँति पदार्थ

मे लीन हो गये, समस्त ध्वनित एव विश्लेषित पदार्थ पुन. सश्लिष्ट होने लगे और सृष्टि-रचना आरम्भ होगई।[१]

यहाँ पर अणु-परमाणु के मिलने एव उनके सश्लिष्ट स्वरूप द्वारा सृष्टि के बनने का जो उल्लेख किया है, उसमे न्याय-वैशेषिक के परमाणुवाद की ओर सकेत अवश्य मिलता है। परन्तु मूलशक्ति के जाग्रत होने पर ही अणुओ के मिलने का वर्णन किया है। न्याय-वैशेषिक मे अणुओं के अतिरिक्त किसी अन्य शक्ति की कल्पना नही की गई है और अणुओ का स्वत मिलना बतलाया गया है। परन्तु कामायनी मे मूलशक्ति का उल्लेख करके स्पष्ट ही प्रत्यभिज्ञादर्शन की ओर सकेत किया गया है। वहाँ मूलशक्ति को ही 'चिति' कहा है, जो अपनी इच्छा से जाग्रत होकर सृजन-कार्य करती है। इसी शक्ति को शैवदर्शन मे 'कामकला' भी कहा है और प्रसादजी काम को 'इश्क' (Love) का प्रतीक न मानकर प्रेम का प्राचीन वैदिक रूप मानते हैं।[२] इसी कारण उन्होने 'कामकला' के स्थान पर उस मूलशक्ति को 'प्रेमकला' कहा है[३] और उसी की इच्छा से इस सृष्टि का विकास होना लिखा है। अतः यहाँ पर न्याय-वैशेषिक के परमाणुवाद की ओर सकेत भले ही हो, किन्तु मूल विचारधारा प्रत्यभिज्ञादर्शन से अनुप्राणित है।

भौतिकवाद—कामायनी मे भौतिकवादी विचारधारा की ओर भी कुछ सकेत मिलते हैं। इस विचारधारा का मूल आधार यह है कि ससार मे जो कुछ हमे दिखाई देता है एव हमें अनुभव होता है वह सब भौतिक पदार्थ (Matter) और गति (Motion) द्वारा ही उत्पन्न हुआ है। विश्व के निर्माण में द्रव्य (Substance) का हाथ है और इसी से समस्त भौतिक पदार्थ, मानव शरीर, जीवन, मन आदि का निर्माण हुआ है। यह विचारधारा अध्यात्मवाद के पूर्णत. विरोध में विकसित हुई है। अध्यात्मवादी जहाँ मन, आत्मा या चेतन शक्ति से समस्त विश्व का विकास सिद्ध करते हैं, वहाँ भौतिकवादी भौतिक पदार्थ से ही विश्व का विकसित होना बतलाते है।

१—यह मूलशक्ति उठ खड़ी हुई अपने आलस का त्याग किये,
परमाणु बाल सब दौड़ पड़े जिसका सुन्दर अनुराग लिए।
+ + + +
प्रत्येक नाश विश्लेषण भी सश्लिष्ट हुए बन सृष्टि रही।
—काम सर्ग, पृ० ७२-७३।

२—काव्य और कला तथा अन्य निबन्ध, पृ० ४७।

३—यह लीला जिसकी विकस चली वह मूल शक्ति थी प्रेमकला।
—काम सर्ग, पृ० ७६।

और वे भौतिक पदार्थ के अतिरिक्त किसी भी आध्यात्मिक सत्ता का होना स्वीक नही करते ।[1]

पहले इस भौतिकवादी विचारधारा के दर्शन हमे यूनानी दार्शनिक एपीकुर होते हैं। उसका मत था कि विश्व का निर्माण असख्य भौतिक परमाणुओ से हु है। उसके पीछे कोई ज्ञानशक्ति या विराट्सत्ता ऐसी नही है, जो इनका मिश्रण कर विश्व का निर्माण करे। ये स्वय ही जब मिलते हैं, तो निर्माण-कार्य होता है अ जब विच्छिन्न हो जाते हैं, तो विनाश होता है। जीवन के अन्त में ये परमाणु बिर जाते हैं। अत. मानव को इस जीवन के उपरान्त सुख या आनन्द प्राप्त करने, अवसर नहीं मिलेगा, इससे यहां अधिकाधिक सुखी जीवन व्यतीत करने की चेष्ट करनी चाहिए।[2] यह विचारधारा भारतीय चार्वाक मत से बहुत मिलती है भारतवर्ष में चार्वाको का मत भी भौतिकवादी माना जाता है और उस मत में ससार के अतिरिक्त किसी अन्य आध्यात्मिक सत्ता को स्वीकार नही किया गया और इस जीवन को ही महत्व देकर इसे हर एक ढग से सुखी बनाने का प्रयत्न कि गया है।

आधुनिक भौतिकवाद का प्रबल प्रवर्त्तक कार्ल मार्क्स (Carl Marx) ꞉ कार्ल मार्क्स का दर्शन द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद (Dialectical Materialisr कहलाता है। इसका कारण यह है कि मार्क्स के इस दर्शन का विकास हेगेल द्वन्द्वात्मक तथा फ्वेरवाख के भौतिकवाद के आधार पर हुआ है।[3] यद्यपि मार्क्स दर्शन का विकास हेगेल के आधार पर ही हुआ है, फिर भी हेगेल तथा मार्क्स आकाश-पाताल का अन्तर है। जहाँ हेगेल आत्मवाद को मूलतत्व मानता है, व मार्क्स प्रकृतितत्व को मूलतत्व कहता है। हेगेल वस्तु-जगत को विचारतत्व का बाह्य रूप मानता है, जबकि मार्क्स विचार-जगत को वस्तु-जगत का प्रतिबिम्ब कहता है। मार्क्स का मत है कि हमारे चिन्तन की रूप-रेखा बाह्य परिस्थिति आधारित होती है। भौगोलिक स्थितियो का सामाजिक जीवन पर प्रभाव प और सामाजिक भित्ति पर नैतिक, धार्मिक और दार्शनिक सिद्धान्त बनते हैं, कारण आध्यात्मिक विचारो के मूल-स्रोत भौतिक व्यापार हैं। वैसे भी मार्क्स दर्शन भौतिकवादी ही है, क्योंकि वह इस जगत को भौतिक तत्त्वो का विकास मा है। मार्क्स के अनुसार सृष्टि का कोई कर्त्ता या नियन्ता नही है। ईश्वर हा

1—The Principles of Philosophy by H M Bhattacharya, p 219, 224

२—दर्शन-दिग्दर्शन—ले० राहुल साकृत्यायन, पृ० ३०–३१।

3—The Chief Currents of Contemporary Philosophy, p 502

मस्तिष्क की उपज है। धार्मिक सिद्धान्त सदैव सामाजिक परिस्थितियों के आधार पर बनते हैं और सभ्यता तथा संस्कृति का रूप आर्थिक अवस्था पर निर्भर रहता है। इस तरह मार्क्सवाद भी बहुत कुछ अंशों में चार्वाक-दर्शन का ही अभिनव संस्करण प्रतीत होता है।[1]

मार्क्स का मत है कि पशु एवं मानव सभी प्राकृतिक नियमों के आधार पर जीवन व्यतीत करते हैं। पशु तो उन नियमों का पालन अनजाने ही किया करते हैं, किन्तु मानव उन नियमों को जानता है तथा उस ज्ञान का प्रयोग स्वयं प्रकृति पर भी नियन्त्रण करने के लिए करता है। मुक्ति या स्वतन्त्रता का अर्थ यह है कि हम अपने ऊपर तथा बाह्य प्रकृति के ऊपर अपना पूर्ण नियन्त्रण करें। मार्क्स की दृष्टि में समाज के अन्तर्गत केवल दो ही वर्ग हैं—एक शोषित (exploited) तथा दूसरा शोषक (exploiters) वर्ग। दोनों वर्गों का संघर्ष चिरन्तन है। इस संघर्ष का अंत समाजवादी व्यवस्था में ही हो सकता है। मार्क्स का आदर्श है वर्ग-हीन समाज, जिसमें न कोई शोषक हो और न कोई शोषित। इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए वह क्रान्ति को आवश्यक समझता है। जब कोई आर्थिक व्यवस्था जीर्ण होकर प्रगति के पथ में बाधक होती है, तब उसके विरुद्ध समाज में क्रान्ति पैदा होती है। इस प्रकार क्रान्ति भी प्रगति की सीढ़ी है। मार्क्स का कहना है कि धर्म में भी समाज की आर्थिक स्थिति प्रतिबिम्बित होती है। धार्मिक अंधविश्वास ऐसे ही व्यक्तियों में मिलता है, जो अज्ञानी एवं असहाय होते हैं तथा अपनी आर्थिक स्थिति को नहीं जानते। अत. धर्म का मिथ्या आवरण केवल अज्ञान एवं असहाय स्थिति के दूर कर देने पर हटाया जा सकता है और ऐसा उसी समय सम्भव है जबकि विश्वभर में समाजवादी व्यवस्था स्थापित हो जाय।[2]

इन भौतिकवादी विचारधारा के आधार पर जब हम कामायनी का अनुशीलन करते हैं, तब ज्ञात होता है कि प्रसादजी ने यहाँ 'चिन्ता' सर्ग में सर्वप्रथम देवताओं का चित्रण भौतिकवाद के अनुयायियों के रूप में किया है। क्योंकि देवगण यहाँ अपने से महान् किसी भी अन्य आध्यात्मिक सत्ता को नहीं मानते और केवल अपने सुखों के संग्रह में ही अहर्निशि लिप्त रहते हैं। इन देवताओं ने समस्त विश्व पर अपना अधिकार कर लिया था, उनकी कीर्ति चारों ओर छाई हुई थी और वे अपार धन, वैभव एवं आनन्दयुक्त जीवन व्यतीत करने के कारण यह भूल गए थे कि हमसे भी

१—युरोपीय दर्शन—भूमिका, पृ० १२।

2—The Chief Currents of Contemporary Philosophy, p 508.

परे कोई विराट् शक्ति है ।[1] इस प्रकार घोर भौतिकवादी जीवन की झाँकी सर्वप्र हमें देवताओं के जीवन में मिलती है ।

इसके अनन्तर प्रसादजी ने 'कामायनी' मे दूसरा चित्र इडा के सारस्वत न का अकित किया है, जिसमें प्रसादजी ने पुन भौतिकवादी विचारधारा के आधार उस नगर का विकास एव ह्रास दिखलाया है । यहाँ इडा प्रथम भेंट के अवसर ही मनु को भौतिकवाद के अनुसार उस विराट् सत्ता के अस्तित्व में अविश्वास क के लिए आग्रह करती है । वह कहती है कि ऐसा सुना जाता है कि इस आकाश परे कोई प्रकाश का लोक है, जहाँ इस नाशमयी सृष्टि का कोई अधिपति रहता है अपनी किरणों से सबको प्रकाश प्रदान करता है, परन्तु क्या कभी वह किसी दु प्राणी की पुकार सुनता है ? क्या वह किसी की सहायता करता है ? यह सब मा का केवल भ्रम है, उसकी दुर्बलता है । मानव को तो अपने पैरों पर खडे होकर बढना चाहिए और अपनी बुद्धि के आधार पर अपनी उन्नति करनी चाहिए ।[2] प्रकृति अत्यन्त रमणीय एव अखिल सौंदर्य से भरी हुई है । अत इसका अन्वे करके इस पर अपना अधिकार करते हुए अपनी शक्ति को बढाने का प्रयत्न क इसके तुम नियामक एव निर्णायक बनो और विज्ञान के सहज साधनो से जडता भी चैतन्य बनाओ, जिससे तुम्हारा यश सारे विश्व में फैले ।[3]

मनु इसी भौतिकवादी विचारधारा के आधार पर सारस्वत नगर की व्यव करते हैं, और श्रम-विभाजन करके नगर की पर्याप्त उन्नति करते हैं । परन्तु व्यवस्था मार्क्स के भौतिकवादी दृष्टिकोण पर विकसित होकर भी समाजवाद आधार पर सगठित नही होती, अपितु पूँजीवाद के अनुकूल सगठित होती जिससे उसमे वर्ग-सघर्ष, क्रान्ति एव विप्लव उत्पन्न हो जाते हैं । मार्क्स ने f चिरन्तन वर्ग-सघर्ष का उल्लेख किया है, वह सारस्वत नगर मे भी उत्पन्न हो ज है, इसका कारण भी वही है कि सारस्वत नगर में विज्ञानमयी अभिलाषा

१—कामायनी, पृ० ८-९ ।   २—कामायनी, पृ० १७० ।

—यह प्रकृति परम रमणीय अखिल ऐश्वर्य भरी शोधक विहीन
तुम उसका पटल खोलने में परिकर कसकर बन कर्मलीन
सबका नियमन शासन करते बस बढ़ा चलो अपनी क्षमता
तुम ही इसके निर्णायक हो, हो कहीं विषमता या समता
तुम जडता को चैतन्य करो विज्ञान सहज साधन उपाय
यश अखिल लोक में रहे छाय ।

—इडा सर्ग, पृ० १९

लगाकर उड़ने लगी है, जिससे सभी वर्ग जीवन की असीम आशाओं में उलझने लगे हैं। साथ ही अधिकारों की सृष्टि होने के कारण वर्गों में ऐसी खाइयाँ उत्पन्न हो गई है, जो कभी जुड़ नहीं सकती।[1] इस वर्ग-भेद की खाई को दूर करने के लिए तथा पूँजीपति शोषक को सही रास्ते पर लाने के लिए प्रसादजी ने मार्क्सवाद की क्रान्ति को ही आवश्यक बतलाया है। यहाँ पर वे गाधीवाद की भाँति निष्क्रिय सघर्ष को महत्व नही देते, अपितु मार्क्सवाद की भाँति सक्रिय प्रतिरोध के मार्ग को अपनाते हुए राजा और प्रजा के रक्तमय सघर्ष को आवश्यक बतलाते हैं।[2] यहाँ प्रजा अपने आततायी एव दुराचारी राजा के विरुद्ध युद्ध करती है और अन्त मे उसे धराशायी करके विजय प्राप्त करती है।

अत कामायनी में प्रसादजी ने भौतिकवाद के आधार पर सारस्वत नगर-निवासियो की क्रान्ति एव उनकी विजय का तो उल्लेख किया है, परन्तु अन्त में समाजवादी व्यवस्था का चित्र अकित नही किया है। इसका कारण यह है कि वे भौतिकवाद को मानव-उत्कर्ष के लिए सर्वथा अपेक्षित नहीं समझते। इसी कारण उन्होने देवो की सृष्टि का विनाश एव सारस्वत नगर में मनु एव उनकी शासन-व्यवस्था का विनाश दिखलाया है। प्रसादजी की धारणा के अनुसार भौतिकवाद के साथ-साथ अध्यात्मवाद का समन्वय होने पर ही मानव का उत्कर्ष सभव है। इसीलिए उन्होने अन्त मे भौतिकवादी विचारधारा पर आधारित वर्गहीन समाजवाद का चित्र अकित न करके सारस्वतनगर निवासियो को भी कैलाश शिखर पर पहुँचा कर भौतिक एव आध्यात्मिक जीवन के समन्वय द्वारा उन्हे अखण्ड आनन्द का अनुभव करते हुए दिखलाया है। इस तरह कामायनी मे भौतिकवाद का सकेत तो अवश्य है, परन्तु वह अध्यात्मवाद के पोषक के रूप में आया है, क्योंकि यहाँ उस विचारधारा के आधार पर मानव-सृष्टि का पतन दिखाकर उसे उन्नति प्राप्त करने के लिए अध्यात्मवाद की ओर भी उन्मुख किया गया है।

निष्कर्ष यह है कि प्रसादजी ने यद्यपि अन्य दर्शनो के विचारो से प्रभावित होकर कामायनी में उनकी ओर सकेत अवश्य किये है, फिर भी उनकी मूल दार्शनिक

१—वह विज्ञानमयी अभिलाषा, पंख लगाकर उड़ने की,
जीवन की असीम आशायें कभी न नीचे मुड़ने की।
अधिकारों की सृष्टि और उनकी वह मोहमयी माया,
वर्गों की खाई बन फैली कभी नहीं जो जुड़ने की।
—स्वप्न सर्ग, पृ० १८६।

२—लोकजीवन और साहित्य, पृ० ४५।

विचारधारा पर प्रत्यभिज्ञादर्शन का ही अत्यधिक प्रभाव है और इसी कारण उन्होंने दार्शनिक दृष्टि से श्रद्धा को सद्विद्या के रूप मे अकित करते हुए मनु और इडा को ऐसे साधारण जीवात्माओ के रूप मे चित्रित किया है, जो अपने निजी रूप को भूले हुए हैं और तीनो मलो अथवा पट् कचुको से आवृत होकर इस माया-राज्य मे भटकते रहते हैं, परन्तु जब वे सद्विद्या की शरण में जाते हैं, तो उन्हें अपने वास्तविक रूप का प्रत्यभिज्ञान होता है, तभी उन्हे चिति का साक्षात्कार होता है, उनके समस्त मल एव कचुक दूर होते हैं और वे स्वय अखड आनन्दघन शिव रूप होकर सर्वत्र एक चिति के विलास का दर्शन करते हैं। इस तरह कामायनी के अन्त में इडा, मनु आदि सभी पात्रों को अपने निजी रूप का साक्षात्कार कराकर शैवदर्शन की अनुत्तरावस्था में पहुँचे हुए जीवो की भाँति अकित किया गया है। इसी कारण दार्शनिक विचारो की दृष्टि मे कामायनी की कथा का विकास प्रत्यभिज्ञा-दर्शन के आधार पर ही हुआ है।

आधुनिक विज्ञान और कामायनी

आधुनिक युग विज्ञान का युग है। सर्वत्र वैज्ञानिक आविष्कारों एव अनुसधानो की धूम है। नित्य नये आविष्कार हो रहे हैं तथा नित्य उनके प्रयोगो द्वारा मानव प्रकृति पर विजय प्राप्त करने की तैयारी कर रहा है। पहले जिन बातो की हम केवल कल्पना ही किया करते थे, वे सभी बातें आज हमें अपनी दृष्टि के सम्मुख सत्य दिखाई देती हैं। विज्ञान ने अपने अद्भुत कार्यों द्वारा मानव को नई सभ्यता, नई सस्कृति, नये विचार, जीवन-यापन के नये-नये साधन, नये-नये अनुभव आदि प्रदान किये हैं, जिनके द्वारा वह उत्तरोत्तर उन्नति करता हुआ द्रुतगति से प्रकृति के रहस्यो का उद्घाटन करता चला जा रहा है। परन्तु प्रकृति इतनी रहस्यमयी है कि उसके सभी रहस्यों का ज्ञान मानव प्राप्त नही कर सका है, फिर भी विज्ञान की इस द्रुतगामी प्रगति से ससार का कोई भी कोना अछूता नही बचा है और क्या धर्म, क्या समाज, क्या व्यक्ति और क्या उसके विचार सभी पर कुछ न कुछ प्रभाव इस विज्ञान का पड़ा है।

जब सर्वत्र विज्ञान की दुन्दुभी बज रही है, तब भारतीय मानव और उसके विचारो पर भी विज्ञान का प्रभाव पड़ना कोई आश्चर्य की बात नही। यही कारण है कि आधुनिक युग के महाकाव्य कामायनी मे भी यत्र-तत्र हमें आधुनिक विज्ञान के कतिपय सिद्धान्तो की झलक मिल जाती है। यद्यपि साहित्य और विज्ञान दो पृथक् धारायें हैं, फिर भी विज्ञान का प्रवेश साहित्य के अन्तर्गत भी है, क्योकि साहित्य समाज का दर्पण है और समाज वैज्ञानिक प्रभाव से प्रभावित है। अत

साहित्य में भी वैज्ञानिक अनुसंधानों एवं आविष्कारों की चर्चा होना आश्चर्य की बात नहीं। इसीलिए कामायनी में भी कुछ वैज्ञानिक सिद्धान्त मिल जाते हैं, जो इस प्रकार हैं :—

गुरुत्वाकर्षण का सिद्धान्त—प्रसिद्ध वैज्ञानिक गैलिलियो ने यह सिद्ध किया था कि ग्रह, नक्षत्र आदि किसी समय अतीत में किसी प्रकार गतिशील हो गये थे, तब से वे बिना किसी बाहरी शक्ति की सहायता के ही निरन्तर चलायमान रहते हैं। अधिक से अधिक उन्हें केवल एक ऐसी शक्ति की आवश्यकता है, जो उन्हें सीधे एक ही दिशा में न जाने देकर सूर्य की परिक्रमा करने के लिए विवश करदे।[1] परन्तु यह शक्ति कहाँ से आती है? इस बात का ज्ञान गैलिलियो को नहीं हुआ था। न्यूटन ने एक बार उल्स्थाप के एक उद्यान में एक सेब को पृथ्वी पर गिरते हुए देखा और वह उसमें इस निष्कर्ष पर पहुँचा कि सेब के गिरने का कारण पृथ्वी का आकर्षण है। फिर तो उसने गणित द्वारा यह सिद्ध कर दिया कि आकर्षण-शक्ति-सम्पन्न पदार्थ का एक गोलाकार पिंड अपने बाहर की वस्तुओं को इस प्रकार आकर्षित करता है, मानो उसकी सारी पदार्थ-मात्रा केन्द्र में ही स्थित हो। इस आविष्कार द्वारा उसने पता लगाया कि संसार का प्रत्येक पदार्थ आकर्षण-सम्पन्न है और आकाश में प्रत्येक ग्रह आकर्षण के कारण ही सूर्य की परिक्रमा किया करता है। यहाँ तक कि पुच्छल तारे भी आकर्षण के सिद्धान्त के अनुसार ही भ्रमण किया करते हैं।[2]

कामायनी में भी ग्रह-नक्षत्रों की गतिशीलता का मुख्य कारण आकर्षण बतलाया गया है और "छिप जाते हैं और निकलते आकर्षण में खिंचे हुए" कहकर सम्पूर्ण ग्रह, नक्षत्र विद्युत्कण आदि को पारस्परिक आकर्षण के कारण अंतरिक्ष में चक्कर लगाते हुए बतलाया है।[3] अतः कामायनी में हमें न्यूटन के गुरुत्वाकर्षण सम्बन्धी सिद्धान्त की ओर संकेत मिल जाता है।

अणु, परमाणु एवं विद्युत्कण सम्बन्धी सिद्धान्त—वैज्ञानिकों ने सूक्ष्म अनुसंधान द्वारा यह पता लगाया है कि सृष्टि का विकास अणु-परमाणुओं द्वारा हुआ है। प्रत्येक अणु में कितने ही परमाणु होते हैं। जैसे मट के एक अणु में लगभग २५००० परमाणुओं की संख्या बतलाई गई है। ये परमाणु बड़े भयानक वेग से चक्कर लगाया करते हैं। एक छोटी सी ककड़ी भी कितने ही अणुओं से बनी हुई है और उन अणुओं में कितने ही परमाणु वेग-पूर्वक चक्कर लगाते रहते हैं। इन छोटे से परमाणुओं में अपार शक्ति होती है। वैज्ञानिकों का मत है कि ओषजन वायु के

१—विज्ञान का संक्षिप्त इतिहास, पृ० १०३।
२—वही, पृ० ११३–११५। ३—कामायनी, पृ० २६।

उत्पन्न एक तरग समूह है, ये तरगे विद्युत् कणो के कम्पन से उत्पन्न होती हैं। इसी कारण प्रकाश तरगो की तरह चचल एव कम्पनशील दिखाई देता है।[१] कामायनी में भी प्रकाश को चचल एव कम्पनशील वतलाते हुये लिखा है :—

(१) व्यक्त नील में चल प्रकाश का कम्पन, सुख वन वजता था।[२]

(२) रश्मियाँ वनी अप्सरियाँ अन्तरिक्ष में नचती थी।[३]

वायुमंडल का सिद्धान्त—वैज्ञानिको ने गुव्वारो की सहायता से भूमण्डल के ऊपर की गतिविधि का भी पता लगा लिया है। उनका मत है कि ज्यो-ज्यो गुव्वारा ऊँचाई पर चढता है त्यो-त्यो ठडक वढती जाती है। परन्तु यह वाढ छः मील से अधिक ऊँचे नही जाती। सबसे अधिक दूरी जो अभी तक ज्ञात हो सकी है वह २२ मील है। यह ज्ञात हुआ है कि छै मील से लेकर वाईस मील की दूरी तक टडक स्थायी रूप से रहती है, न घटती है और न वढती है। हवा, तूफान, आँधी, वादल सभी की सीमा केवल धरातल से ६ मील तक ही है। इसके ऊपर शान्त और क्षीण वायुमडल है। वहाँ केवल ठडक है और वायु न होने के कारण वहाँ जीवन के चिह्न नही मिलते।[४]

कामायनी मे भी धरातल की लगभग छ मील की ऊँचाई पर व्याप्त वायु-मण्डल का वर्णन मिलता है और वतलाया है कि वहाँ वायु, मेघ आदि सभी समाप्त हो जाते हैं, और स्वाँस रुद्ध करने वाला केवल शीत पवन रह जाता है। इस ऊँचाई पर पहुँचकर ही मनु श्रद्धा से कहते हैं —

लौट चलो, इस वात-चक्र से मैं दुर्वल अव लड न सकूँगा।
श्वास रुद्ध करने वाले इस शीत पवन से अड न सकूँगा।[५]

पैतृक योग्यता का सिद्धान्त—मानव विज्ञान के विशेषज्ञ गाल्टन ने अपने निरीक्षण-परीक्षणो द्वारा सिद्ध किया है कि 'एक साधारण व्यक्ति के लडके की अपेक्षा एक जज के लडके के वुद्धिशाली होने की सम्भावना पाच सौ गुना अधिक है। यही नही एक जज के पिता के वुद्धिशाली होने की सभावना एक साधारण व्यक्ति के पिता की अपेक्षा पाच सौगुना अधिक है।[६] इस आधार पर यह सिद्ध होता है कि सन्तान मे माता-पिता के गुण, योग्यता आदि सहज-जात होते हैं और सस्कार रूप में उन्हे प्राप्त होते है।

१—विज्ञान का सक्षिप्त इतिहास, पृ० १६५। २—कामायनी, पृ० ३६
३—कामायनी, पृ० २६४। ४—विज्ञान-हस्तामलक, पृ० ३६१-३६२।
५—कामायनी पृ० २५१। ६—[illegible]

कामायनी में प्रसादजी ने भी मनु एवं श्रद्धा के पुत्र मानव को श्रद्धामय एवं
ोल कहकर उसमें माता-पिता के गुणों का समावेश सिद्ध किया है। इसीलिए
श्रद्धा अपने पुत्र मानव से कहती है¹—

यह तर्कमयी तू श्रद्धामय, तू मननशील कर कर्म अभय।¹

निष्कर्ष यह है कि प्रसादजी ने कामायनी में सुप्रसिद्ध एवं प्रमुख वैज्ञानिक
तों में से कुछ सिद्धान्तों की ओर ही संकेत किए हैं। इन संकेतों का प्रमुख
। यह प्रतीत होता है कि वे वैज्ञानिक चमत्कारों से प्रभावित थे और अपने
ों के अनुकूल जिन तथ्यों को आवश्यक समझते थे, उनको यहाँ स्थान दिया
सरे वे मानवता के विकास के लिए आधुनिक विज्ञान की भी सर्वथा उपेक्षा
अच्छा नहीं समझते थे। इसी कारण 'विद्युत्कण' आदि के सिद्धान्त का
। बार-बार समर्थन किया है। किन्तु प्रसादजी की यह दृढ़ धारणा थी कि
र-विज्ञान एवं आध्यात्मिकता दोनों के समन्वय से जन-कल्याण हो सकता है,
के एकाकी रूप द्वारा न तो मानव की उन्नति हो सकती है और न मानवता
विकास ही संभव है। इसी कारण उन्होंने कामायनी में एक ओर तो श्रद्धा
न से शक्ति के विद्युत्कणों का समन्वय करने का आग्रह करके आधुनिक विज्ञान
मर्थन किया है और दूसरी ओर सारस्वतनगर का विध्वंस दिखाकर और
इडा, मानव आदि को कैलाश शिखर पर पहुँचा कर आध्यात्मिकता-युक्त जीवन
त करने की सलाह दी है। अतः प्रसादजी कामायनी में वैज्ञानिक विकास के
नहीं हैं, अपितु वैज्ञानिक आविष्कारों का समर्थन करते हुए मानवता के
ं में सहायक आधुनिक विज्ञान का अपनाना श्रेयस्कर समझते हैं।

कामायनी की दार्शनिकता और आधुनिक मानव-जीवन—आधुनिक युग
न का युग है और वैज्ञानिक आविष्कारों एवं वैज्ञानिक चमत्कारों ने मानव-बुद्धि
तना आकर्षित किया है कि वह अपनी समस्त प्राचीन मान्यताओं का परित्याग
अधिकाधिक आधुनिक मान्यताओं का अनुसरण करने लगा है। आज विज्ञान
ने सिद्ध कर दिया है कि आत्मा या ईश्वर नाम की कोई ऐसी सत्ता या शक्ति
है, जो समस्त विश्व का नियमन करती हो तथा जिसकी अनुकम्पा पर विश्व
बनाव और भ्रू-भंग होने पर विश्व का विनाश निर्भर हो। आज सभी वस्तुओं
उत्पत्ति के लिए विशेष-विशेष कारण दिये जाते हैं और विशेष-विशेष पदार्थों एवं
परमाणु आदि के संयोग से ही सभी की सृष्टि मानी जाती है। इतना ही नहीं,
लगभग सभी बातों की व्याख्या विज्ञान के सहारे की जाती है और जिन बातों

१—कामायनी, पृ० २४४।

की व्याख्या मे कुछ आपत्ति दिखाई देती है उसके बारे में यह कहा जाता है कि अभी हम उसकी खोज कर रहे हैं और खोज के पूर्ण होने पर हम उसकी भी व्याख्या कर सकेंगे। किन्तु नहीं कहा जा सकता कि वह खोज कब पूर्ण होगी और कब मानव समस्त सृष्टि के रहस्य को अपनी बुद्धि द्वारा प्रकट करने में समर्थ होगा ?

इस आधुनिक विज्ञान ने मानव जीवन को अत्यधिक प्रभावित किया है। आज विश्वभर मे वैज्ञानिक प्रणाली पर शिक्षा दी जाती है, वैज्ञानिक ढगो से समाज का निर्माण किया जाता है और वैज्ञानिक रीति से ही शासन-व्यवस्था एव राज्यो का सचालन किया जाता है। विज्ञान ने व्यक्ति और समाज दोनो को इतना अभिभूत किया है कि उनके खान-पान, रहन-सहन, आमोद-प्रमोद, गमनागमन, हास-विलास आदि में वैज्ञानिक साधनो का ही प्राधान्य है और तुच्छ से तुच्छ तथा महान् से महान् कार्यो के लिए विज्ञान का ही सहारा लिया जाता है। आज केवल समाज एव राष्ट्रो की उन्नति के लिए ही वैज्ञानिक साधनो का प्रयोग नही होता, अपितु एक राष्ट्र दूसरे राष्ट्र को हडपने के लिए भी नये-नये वैज्ञानिक अस्त्र-शस्त्रो का आविष्कार कर रहा है और नित्य-नित्य नई-नई वैज्ञानिक प्रणालियो द्वारा जन-सहार करने की बात सोच रहा है। अणु-शक्ति तथा परमाणु-बम्ब इसी विज्ञान के चरम आविष्कार है, जिनके द्वारा क्षण भर में सारे विश्व को नष्ट किया जा सकता है।

इस आधुनिक विज्ञान के आधार पर जीवन व्यतीत करने वाले समाज एव राष्ट्रो के लिए ही कामायनी का निर्माण हुआ है। प्रसादजी ने एक क्रान्तदर्शी कवि होने के नाते बहुत पहले ही यह देख लिया था कि आधुनिक विज्ञान मानवता का विकास नही, अपितु ह्रास करने में अधिक सफल होगा और इसी कारण उन्होंने सारस्वत नगर की भौतिक उन्नति एव उसके ह्रास का चित्र कामायनी में अकित किया है। इसके साथ ही उन्होने यह भी बतलाया है कि विज्ञान का उत्कर्ष इसी में है कि वह 'मानवता को विजयिनी बनाने मे समर्थ हो, उसके द्वारा समुद्रो पर सेतु बनाए जाएँ, विश्वभर की दुर्बलता को दूर करने के लिए अनन्त शक्ति का सचय किया जाय और मानवता को इतना सशक्त बना दिया जाय कि वह ग्रह-पुजो, ज्वाला मुखियो आदि को कुचलती हुई अपनी कीर्ति का विस्तार अनिल, भू, जल आदि में भी अबाध गति से करती रहे।'[1] इसी कारण उन्होने कामायनी द्वारा समरसता की विचारधारा को प्रस्तुत करते हुए सर्वत्र मानवता को सशक्त एव समृद्धिशाली बनाने की प्रेरणा दी है।

इस वैज्ञानिक युग में अधिकाश मानव किसी भी शक्ति के अस्तित्व मे विश्वास

न रखने के कारण अधिकाधिक भौतिकता से परिपूर्ण जीवन व्यतीत करने लगे हैं। उनके हृदय से धर्म-अधर्म, पाप-पुण्य, सत्य-असत्य, नैतिकता-अनैतिकता आदि के विचार उठ गये हैं और वे मानवता के उच्चादर्शों की अवहेलना करके उन्हे शासको, पूंजीपतियो, सामन्तो, शोषको आदि के स्वार्थपूर्ति के सिद्धान्त बतलाते हैं। उनकी दृष्टि में धर्म अज्ञान एवं असहाय व्यक्तियो के मस्तिष्क की उपज है, जो उन्हे केवल क्षणिक आनन्द एवं आश्रय प्रदान करता है[1] और वे विश्व मे सर्वत्र दो वर्गों की कल्पना करने लगे हैं—एक शोषित तथा दूसरा शोषक, एक शासित एवं दूसरा शासक और एक मजदूर एवं दूसरा पूंजीपति। इन विचारो से सर्वत्र भेदबुद्धि को प्रश्रय मिला है और वर्ग-संघर्ष की वृद्धि हुई है। प्रसादजी ने इसका परिणाम सोचकर और कामायनी मे इसके संघर्ष का चित्रण करते हुए अपनी अभेदता सम्बन्धी दार्शनिक विचारधारा द्वारा यह बताया है कि मानवता का विकास वर्ग संघर्ष द्वारा नही हो सकता, क्योंकि मानवमात्र मे एक ही चेतनता व्याप्त है, पूंजीपति और मजदूर दोनों एक ही हैं, शोषक और शोषित में कोई अन्तर नहीं, यह तो चेतनता का भौतिक विभाजन है, जिसमे मानव-मानव मे प्रेम एवं अनुराग के स्थान पर परस्पर भेद-भाव, विराग आदि की ही वृद्धि होती है। यदि मानव के हृदय मे अभेदता की विचारधारा घर कर जाय, तो वह फिर न तो किसी को व्यर्थ सतायेगा और न किसी के ऊपर हठात् अत्याचार करेगा। इसीलिए उन्होने सर्वत्र एक चेतनता को व्याप्त बतलाकर मानव मात्र से अनुराग करने की प्रेरणा प्रदान की है।

आधुनिक मानव अपने जीवन मे अधिकाधिक आनन्द प्राप्त करने के लिए बड़ा बेचैन है। आज जितने भी अनुसंधान, आविष्कार आदि हो रहे हैं, उनके पीछे यही एक धारणा कार्य कर रही है कि मानव अपने जीवन में अधिकाधिक आनन्द या सुख का संग्रह करना चाहता है। उस सुख या आनन्द की खोज में ही वह सतत परिश्रम करता है, इच्छाओं एवं एषणाओं में लिप्त रहता है, एक क्षण भी विश्राम करना नहीं चाहता और उसके प्राण क्रिया रूपी तन्त्र के दास बन गये हैं। परन्तु इतना परिश्रम करने पर भी उसे यहाँ सतत संघर्ष, विफलता, कोलाहल आदि के ही दर्शन होते हैं, वह असन्तुष्ट ही बना रहता है और उसकी इस अंधकार की दौड़ या युद्ध का भी अच्छा परिणाम नहीं निकलता।[2] वह अपने एकाकी सुख या आनन्द की खोज में निरंतर अनजान समस्यायें गढ़ता चला जा रहा है, उसकी एकता नष्ट हो

1—The Chief Currents of Contemporary Philosophy, p. 502

२—कामायनी, पृ० २६६–२६७।

गई है, कोलाहल एव कलह बढता जा रहा है, उसके लिए अभिलषित वस्तु का प्राप्ति तो दूर रही; हाँ, उसे अनिच्छित एव दुखद खेद की प्राप्ति हो रही है, सब कुछ पास होकर भी वह असतुष्ट बना हुआ है, उसकी सकुचित दृष्टि उसे अत्यन्त पीडा पहुँचा रही है[1] इत्यादि। प्रसादजी ने आधुनिक मानव की इस परिस्थिति का बडी सूक्ष्मता के साथ अध्ययन किया था। इसीलिए उन्होंने अपने दार्शनिक विचारो द्वारा एक ओर तो ससार की सत्यता का प्रतिपादन किया, जिससे मानव दु खी होकर कही इस ससार को छोडकर वैराग्य धारण न करे और यही अधिकाधिक कर्मशील बनकर आनन्द प्राप्त करने का प्रयत्न करे तथा दूसरी ओर ससार को ही चिति क विराट् वपु बतलाते हुए और उस चिति रूप शिव को ही अखण्ड आनन्दघन कहक यह भी सिद्ध किया कि संसार और ईश्वर में कोई भेद नही है। जैसा वह ईश्व अखण्ड आनन्दमय है, वैसा ही यह ससार भी है और इस ससार मे रहकर ही य सतप्त एव दु:खी मानव अभेदवादी विचारों तथा सत्कर्मो द्वारा आनन्द को प्राप्त क सकता है।

अत. कामायनी के दार्शनिक विचारो मे व्यावहारिकता की प्रधानता है प्रसादजी ने उन्हें आधुनिक मानव का मार्ग-दर्शन करने के लिए ही कामायनी मे श्रद्ध एव मनु की कथा के आश्रय से प्रस्तुत किया है तथा अपने दर्शन की मानव-जीवन अपरिहार्य सार्थकता सिद्ध की है। इतना ही नही प्रसादजी ने अपने दार्शनिक विचार को इस प्रकार सगुम्फित करके अपने दर्शन की श्रेयमयी धारा को प्रेममयी बना दिय है, जिससे सर्वसाधारण भी लाभ उठा सकते हैं और आधुनिक विषमतापूर्ण सघ से बचकर अपने जीवन में अभीष्ट आनन्द को प्राप्त कर सकते हैं।

कामायनी की दार्शनिक देन—कामायनी की दार्शनिक विचारधारा का सम्य अनुशीलन करने के उपरान्त यह प्रतीत होता है कि प्रसादजी ने कामायनी द्वार आधुनिक मानव का बडा कल्याण किया है। उन्होने शैवागमो एव अन्य भारती दर्शनो से प्रमुख-प्रमुख सिद्धान्तो का सार लेकर उन्हें आधुनिक मानव-जीवन अनुकूल ढालते हुए कामायनी की दार्शनिकता का निरूपण किया है। उन्होने दर्श के नीरस विचारों में भाव एव कल्पना का योग देकर उन्हें सरस एव सर्वजन-सुल बनाया है। इसी कारण कामायनी में उन्होने जिन दार्शनिक विचारो को विश्व सम्मुख रखा है वे अत्यन्त व्यावहारिक हैं तथा उनको अपनाकर प्रत्येक मानव इस जीवन में भौतिक एव आध्यात्मिक दोनो प्रकार के सुख को प्राप्त कर सकता-है सक्षेप में उनकी दार्शनिक देन इस प्रकार है :—

---

(१) अभेदवाद—कामायनी में सर्वत्र जीव और ब्रह्म तथा ब्रह्म और जगत की अभेदता का समर्थन किया गया है। प्रसादजी का मत है कि सर्वत्र एक चिति या चेतनता का ही प्राधान्य है। जड और चेतन का भेद व्यर्थ है। वह एक चिति ही कहीं जड और कहीं चेतन रूप में दिखाई देती है।[1] वैसे चिति ही संसार रूपी शरीर को धारण कर नित्य आनन्दमयी क्रीडा करती है, उसी में विश्व का उन्मीलन होता है और उसी में यह विश्व निमीलित हो जाता है।[2] इस चिति से परे संसार का अस्तित्व नहीं है। यह संसार इसकी अपनी इच्छाशक्ति का परिणाम है। यह अनेक रूपात्मक जगत इसका ही शरीर है, जो अपने सुख-दुःख से पुलकित रहता है और इस चिति से सर्वथा अभिन्न है।[3] ऐसे ही यह जीव भी चिति का स्वरूप है, इसी कारण यह चेतन पुरुष है, जो आत्म-साक्षात्कार कर लेने पर अपनी शक्ति रूपी लहरों से आनन्द-सागर की भाँति सतत तरंगायित रहता है।[4]

(२) समन्वयवाद—समन्वयवाद भारतीय मनीषियों की अत्यन्त प्राचीन दार्शनिक विचारधारा है। यहाँ प्रारम्भ से ही समन्वय के प्रयत्न हुए हैं और उसी के आधार पर समदृष्टि के सिद्धान्त की भी स्थापना हुई है। परन्तु प्रसादजी का समन्वयवाद कुछ विशेष महत्त्व रखता है। कामायनी में उन्होंने एक तो ज्ञान, इच्छा और क्रिया का समन्वय किया है, जिसमें क्रमशः सत्त्व, रज और तम तीनों गुणों का समन्वय होगया है और जो मानव-जीवन के लिए अत्यन्त हितकर है, क्योंकि इनके बिना जीवन में सदैव विडम्बना ही बनी रहती है।[5] दूसरे, उन्होंने मस्तिष्क या तर्कज्ञान तथा हृदय या श्रद्धा का जो समन्वय किया है, वह मानवता के विकास के लिए अत्यन्त अनिवार्य है, क्योंकि न तो कोरी बौद्धिक उन्नति से ही मानवता का कल्याण होता है और न कोरी भावुकता से ही काम चलता है, अपितु दोनों का सन्तुलित समन्वय ही मानव-कल्याण की वृद्धि में सहायक होता है। तीसरे, उन्होंने चेतना या मन (mind) तथा संसार या भौतिक जडपदार्थ (matter) दोनों का समन्वय किया है, जिनसे उन्होंने वैज्ञानिकों की गुत्थी भी सुलझा दी है और बतलाया है कि संसार में दोनों का महत्त्व है, कोई भी उपेक्षित नहीं तथा दोनों एक ही है।[6]

(३) समरसता—यद्यपि यह सिद्धान्त शैवदर्शन से लिया गया है, फिर भी प्रसाद ने इस दार्शनिक विचारधारा को व्यावहारिक रूप देकर व्यक्ति-व्यक्ति, व्यक्ति और समाज एवं व्यक्ति और विश्व सभी की समरसता की ओर संकेत किया है। प्रसादजी की यह समरसता एकांगी अथवा एकदेशीय नहीं है और न ...

सम्वन्ध केवल दर्शन मे ही है। वे ज्ञान, विज्ञान, साहित्य[1] आदि सभी क्षेत्रो में समरसता का होना अपेक्षित मानते है और नारी एव पुरुप, अधिकारी एव अविकृत, शासक एव शासित, प्रकृति एव पुरुप सभी मे समरसता का होना आवश्यक वतलाते हैं। इस समरसता के विना ही विपमता उत्पन्न होती है, जिससे मानव सुख-दुख के झमेले में व्यस्त रहता है और मै-मेरा, तू-तेरा, पाप-पुण्य, ऊँच-नीच, शापित-तापित, अच्छा-वुरा आदि का विचार करता रहता है। किन्तु जव वह जीवन में समरसता के सिद्धान्त को अपना लेता है, तव फिर उसे कही भी विपमता के द नही होते, कोई भी पराया प्रतीत नही होता, सर्वत्र उसे एक कुटुम्व के दर्शन होते जिससे सभी प्राणी उसे अपने ही अवयव ज्ञात होने लगते हैं, कही भी कोई व दृष्टि नही आती, फिर न कोई शापित दिखाई देता है और न कोई तापित पा सर्वत्र जीवन-वसुधा समतल प्रतीत होने लगती है, सभी पदार्थ एव प्राणी सम दिखाई देने लगते हैं तथा सभी आत्मीय वन जाते हैं।[2]

(४) आनन्दवाद—आनन्दवाद की यह विचारधारा उपनिपदो एव शैवदर के आधार पर पल्लवित हुई है। किन्तु उपनिपदो में आनन्द के अतिरिक्त सत्य, ज्ञ और व्रह्म की प्राप्ति को भी जीवन का चरम लक्ष्य वतलाया गया है और शैवदर में आनन्दघन शिव की प्राप्ति को प्रमुखता दी गई है। परन्तु कामायनी में सत्य, ज्ञ व्रह्म या शिव की प्राप्ति का वर्णन नही मिलता। यहाँ तो 'आनन्द' पर ही वि वल दिया गया है और इस आनन्द को ही मानव-जीवन का चरम लक्ष्य सिद्ध कि है। प्रसादजी ने अपने 'रहस्यवाद' नामक लेख में भी यह सिद्ध किया है कि भार जीवन में यह आनन्दवादी धारा वैदिककाल से लेकर आजतक अविरल गति से रही है।[3] अत उसी धारा के अन्तर्गत उन्होने अपने कामायनी काव्य की सृष्टि है और उसी विचारधारा को यहाँ पर भी प्रमुखता प्रदान की है। अतः आनन्द कामायनी की अपनी विशिष्ट देन है।

(५) संसार की सत्यता—आधुनिक युग के नव जागरण-काल में कामा का निर्माण हुआ है। इस समय ऐसे ही दार्शनिक विचारो की आवश्यकता जिनसे प्रेरणा पाकर भारत के नवयुवक स्वाधीनता-सग्राम मे कूद सकें और जं को महत्व देते हुए उसे सुखमय वनाने के लिए परतन्त्रता की वेड़ियो को काटने प्रयत्न करें। कहने की आवश्यकता नही कि कामायनी में ऐसा ही प्रयत्न ि

१—काव्य और कला तथा अन्य निवन्ध, पृ० ७६।

२—कामायनी, पृ० २८७–२८८

३—काव्य और कला तथा अन्य निवन्ध, पृ० ४६–६९।

गया है, क्योंकि यहाँ पर संसार को उस चित् शक्ति का शरीर कहकर संसार की सत्यता सिद्ध करते हुए[1] मानव को कर्मशील बनाने का जो प्रयास किया गया है,[2] वह युग-चेतना के सर्वथा अनुकूल है और उससे भारतीय स्वतन्त्रता-संग्राम में भी प्रेरणा मिली है। अत. संसार की सत्यता का विचार भी कामायनी की प्रमुख एवं विशिष्ट देन के अन्तर्गत आता है।

(६) निवृत्ति सहित प्रवृत्ति मार्ग की प्रेरणा—काम तथा काम-पुत्री श्रद्धा के द्वारा कामायनी में प्रवृत्ति-मार्ग को अपनाने का संदेश दिया गया है। यहाँ श्रद्धा यही कहती है कि यह 'काम' मंगल से मंडित है, श्रेयस्कर है तथा संसार भी 'काम' या 'इच्छा' का परिणाम है। अत. मानव 'काम' को भूलकर अथवा निवृत्ति-मार्ग का अनुयायी बनकर भव-धाम को असफल बनाया करता है।[3] दूसरी, ओर काम भी मनु से यही कहता है कि 'तुम अत्यन्त अबोध हो, तुम अपनी अपूर्णता को नहीं समझ पाये हो। परिणय के द्वारा मानव-जीवन पूर्ण होता है, किन्तु तुम उससे भी अपने आप रुक गये और 'कुछ मेरा हो' की स्वार्थ-भावना मे लिप्त होकर अब तक भटकते रहे।'[4] इन विचारों के मूल मे भी आधुनिक युग की क्रान्तिमयी भावना विद्यमान है, जिसमें प्रवृत्ति-मार्ग की प्रेरणा भरी हुई है, क्योंकि स्त्री और पुरुष दोनों ही समाज के अभिन्न अंग हैं और दोनों के द्वारा समाज का कार्य सुचारु रूप से चलता है। अत किसी एक की उपेक्षा करना समाज को पंगु बनाना है। साथ ही सांसारिक कृत्यों से विमुख होकर सामाजिक संतुलन स्थिर नहीं रह सकता। अत. सांसारिक कृत्यों से पराङ्मुख होना भी समाज में अव्यवस्था उत्पन्न करना है। इसी कारण प्रसादजी ने मानव को अकर्मण्यता एवं पापाचार से बचने के लिए परिणयपूर्वक गृहस्थ जीवन व्यतीत करने की सलाह दी है और निवृत्ति-मार्ग की अपेक्षा प्रवृत्ति-मार्ग को श्रेष्ठ ठहराया है। हाँ, इतना अवश्य है कि इस प्रवृत्ति में भी संयम, त्याग, आध्यात्मिकता, सात्त्विकता आदि की प्रधानता रहनी चाहिए। नहीं तो मानव की दशा भी मनु की तरह ही डांवाडोल हो जायेगी और फिर उसे इस प्रवृत्ति-मार्ग में भी सुख और शान्ति के दर्शन नहीं होंगे। इसी कारण प्रसादजी ने कामायनी में निवृत्ति सहित प्रवृत्ति-मार्ग की प्रेरणा दी है, जो इस काव्य की एक विशिष्ट देन है।

(७) नियतिवाद—प्रसादजी के दर्शन में नियतिवाद का भी अत्यन्त महत्त्व है। प्रसादजी नियति को अत्यन्त प्रबल शक्ति मानते हैं, जो समस्त संसार का नियमन करती है और जिसके अटल शासन में ही विश्व का समस्त कार्य-कलाप

१—कामायनी, पृ० २८८ । २—वही, पृ० ४७-४९ ।
३—वही, पृ० ५३ । ४—वही, पृ० १६३ ।

चलता है। यह एक ऐसी अदृष्ट शक्ति है, जो भाग्य की तरह केवल कर्मानुसार मानव-जीवन की व्यवस्था नही करती, अपितु यह सदैव मानव के कल्याण की ही योजना किया करती है और इसके एकान्त शासन मे भूले-भटके मानवो को सदैव आश्रय प्राप्त होता है।[1] इतना ही नही जब यह देखती है कि कोई व्यक्ति इसके शासन मे मनमाना कार्य करता हुआ अनाचार एव अत्याचारो मे जगत को पीडित कर रहा है तब यह उग्र रूप धारण करके अपनी प्राकृतिक शक्तियो द्वारा उसे उचित दड देकर उसका नियमन करती है, समाज में सुव्यवस्था स्थापित करती है और मानवो को ठीक मार्ग पर लाने का प्रयत्न करती है।[2] इस तरह नियति एक ऐसी शक्ति है, ज 'सर्वजनहिताय' विश्व का नियन्त्रण करती है और जिसकी छत्रछाया मे ससार के सभ कार्य चलते हैं। कामायनी मे नियति का यही रूप सर्वत्र अकित है। अतः यं नियतिवाद भाग्यवाद से सर्वथा भिन्न है और कामायनी की एक विशिष्ट दार्शनि देन के अतर्गत आता है।

निष्कर्ष यह है कि कामायनी में प्रसादजी ने दर्शन की शुष्कता को इतन सरस और आकर्षक बना दिया है कि उनके ये दार्शनिक विचार तनिक भी नीर प्रतीत नही होते। साथ ही उन्होंने उन विचारो को व्यावहारिक जीवन से सम्ब करके दर्शन की व्यावहारिकता भी सिद्ध की है। इतना अवश्य है कि इन दार्शनि विचारो पर काश्मीर-शैव-दर्शन का अधिक प्रभाव है और उसी के आधार प प्रसादजी ने यत्र-तत्र कामायनी में दार्शनिक पदावलियो का भी प्रयोग किया है, पर ऐसा नही है कि उन्होने अन्य भारतीय दर्शनो की सर्वथा उपेक्षा की हो। उन्हे ज भी विचार जिस दर्शन में अपनी धारणा के अनुकूल ज्ञात हुआ है, उसी को सार रू में ग्रहण करके कामायनी की ऐतिहासिक कथा में उसे ऐसा सुसज्जित किया है कही भी जोड-तोड प्रतीत नही होता। दूसरे, दार्शनिक विचारो के कारण कही कथा बोझिल तथा अरुचिकर नही हुई है, वरन् भावमय वर्णनो द्वारा वे दार्शनि विचार भी ऐसे सरस हो गये हैं कि वे किसी दर्शन की वस्तु नही जान पडते, अपि यही प्रतीत होता है कि वे प्रसादजी की मौलिक उद्भावनाये हैं। इसके अतिरि प्रसादजी का मुख्य लक्ष्य 'मानवता' का प्रचार करना है। अत. मानवता के अनुकू जिन दार्शनिक विचारो को उन्होने समीचीन समझा है, केवल उनको ही कामायनी स्थान दिया है, अन्य विचारो को व्यर्थ भरकर काव्य-कलेवर को बोझिल बन की चेष्टा नही की है। अत कामायनी की दार्शनिक विचारधारा पूर्णतया व्यावहारि

उपसंहार

कामायनी मे प्रसादजी के विचारो का चरम विकास

'कामायनी' महाकाव्य प्रसादजी के युग-प्रवर्त्तक विचारो का प्रतिनिधि ग्रन्थ है। प्रसादजी ने इसमें भारतीय काव्य, भारतीय संस्कृति एव भारतीय दर्शन के जिन उदात्त रूपो का दिग्दर्शन कराया है तथा मनोविज्ञान के सहारे मानवता के विकास का जो क्रमिक इतिहास अंकित किया है, उनके आधार पर यही सिद्ध होता है कि प्रसादजी आधुनिक मानव के कल्याण-हेतु जिन विचारो का प्रतिपादन करना चाहते थे, उनका संकलित स्वरूप ही इस महाकाव्य में विद्यमान है। यह महाकाव्य युग की परिवर्तित विचारधारा एव प्रगतिशील भावनाओं को लेकर लिखा गया है और इसमे प्रसादजी ने अपने प्रौढ अनुभवो एव कला के प्रौढ उपादानो का प्रयोग किया है। इसी कारण यह केवल छायावादी युग की ही एक श्रेष्ठ कृति नही है, अपितु आधुनिक युग की भी सर्वश्रेष्ठ महान् कृति है। इसमे मानव-जीवन के गहनतम विचारो का चरम विकास दिखाते हुए जीवन के निरन्तर संघर्ष को अंकित किया गया है और यह महाकाव्य जीवन के शाश्वत सत्यो का उद्घाटन करता हुआ खड़ी बोली की कविता के प्रौढतम स्वरूप को उपस्थित करता है। निस्सदेह यह एक महत्त्वपूर्ण रचना है और इसमें प्रसादजी ने युग की प्रवृत्ति और प्रेरणाओ का सम्यक् निरूपण करते हुए अपने बद्धमूल विचारो का चरम विकास प्रस्तुत किया है। कामायनी मे प्रसादजी के बद्धमूल विचारो का चरम विकास इस प्रकार अंकित है —

नियतिवाद—प्रसादजी जिस नियति को संसार का नियमन करने वाली एक कल्याणमयी शक्ति मानते हैं। कामायनी में उसका चरम विकसित रूप प्रगट किया गया है। इसी कारण वह कभी तो अपने शासन में भूले-भटको को सुख और सुविधा प्रदान करके नियमित जीवन व्यतीत करने की प्रेरणा देती है,[1] कभी बन्धन-मुक्त खेल किया करती है,[2] कभी भयंकर भीषण अभिनय करती हुई संसार

१—कामायनी, पृ० ३५।

के नियमन में सलग्न दिखाई देती है और कभी विकर्षणमयी होकर अपराधियों को दण्ड देने की व्यवस्था करती है।[१] अत. नियति यहाँ पर कर्मचक्र का प्रवर्तन करती हुई ससार में उथल-पुथल मचाती रहती है और सारा ससार उसी की प्रेरणा से गतिशील होता है।[२] इस तरह प्रसादजी ने कामायनी में अपने नियति सम्बन्धी विचारो का पूर्ण विकास दिखाते हुए देवसृष्टि एव मनु को पूर्णतया नियति के हाथो के खिलौने सिद्ध किया है और पद-पद पर मनु के अतिचार को रोकते हुए उन्हे नियति के द्वारा ही कल्याण-मार्ग की ओर प्रवृत्त होने की व्यवस्था की है।

कर्मण्यतावाद—कामायनी में आकर प्रसादजी के कर्मण्यतावाद का स्वर भी अधिक उन्नत एव सशक्त हो गया है। यहाँ वे श्रद्धा के द्वारा निराश एव अकर्मण्य मनु को जो कर्मण्यता का उपदेश हैं, यह उनकी अपनी मान्यताओ का उज्ज्वल प्रमाण है। श्रद्धा के 'शक्तिशाली हो विजयी बनो,' या 'डरो मत अरे अमृत सन्तान अग्रसर है मगलमय वृद्धि' आदि वाक्य निस्सन्देह जड में भी स्फूर्ति का सचार करने वाले हैं।[३] श्रद्धा यहाँ केवल उपदेश देकर ही चुप नही रह जाती, अपितु अपना जीवन उत्सर्ग करती हुई मनु को कर्मण्यता का सक्रिय पाठ भी पढाती है और कृषि-कार्य, पशु-पालन, धान्य आदि की व्यवस्था करती हुई उस नग्न एव पशुवत् जीवन व्यतीत करने वाले आदि-मानव के लिए वस्त्र बनाती है, कुटीर-निर्माण करती है तथा गुफा से निकाल कर उसे सभ्य पुरुष की भाँति सुन्दर गृह मे रहना सिखाती है।[४] इतना ही नही 'यहाँ मनु श्रद्धा की प्रेरणा एव उसके सक्रिय सहयोग से ही जीवन की विडम्बनाओं से क्रमश दूर होते हुए मानव-जीवन के चारों अभीष्ट फलो—धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष को भी प्राप्त करते हैं।

आनन्दवाद—कुछ आलोचको के मतानुसार तो कामायनी की सृष्टि ही एक मात्र 'आनन्दवाद' की प्रतिष्ठा के लिए हुई है।[५] इसमें कोई सन्देह भी नही है कि प्रसादजी जीवन का चरम लक्ष्य आनन्द मानते हैं और कामायनी में उन्होने यही दिखाने की चेष्टा की है कि किस प्रकार एक व्यक्ति सासारिक उलझनो, आपदाओ एव जीवन की विडम्बनाओं में फँसकर अन्त में अखण्ड आनन्द को प्राप्त कर सकता है। यह भी निश्चित है कि अपने इस सिद्धान्त की पुष्टि के लिए प्रसादजी को ऐतिहासिक आधारो की अपेक्षा कल्पना पर अधिक निर्भर रहना पडा है।

परन्तु सिद्धान्त के प्रतिपादन में कोई कमी नही दिखाई देती। उनकी आनन्द सम्बन्धी जो धारणा पहले 'एक घूँट' में संकेत रूप मे व्यक्त हुई थी[1] वह कामायनी मे आकर पूर्ण विकसित हुई है और सारा कामायनी काव्य आनन्द-मार्ग के विघ्नों, संकटो एवं उलझनो के स्वरूप को समझाता हुआ अन्त में इच्छा, ज्ञान और क्रिया के समन्वय एवं समरसता पूर्ण जीवन द्वारा आनन्द को प्राप्त करने की योजना प्रस्तुत करता है।

मानवतावाद—कामायनी के 'श्रद्धा' सर्ग में प्रसादजी ने समन्वय द्वारा 'विजयिनी मानवता हो जाय'[2] की जो घोषणा की है, उनका वह स्वर सम्पूर्ण काव्य में सबसे ऊँचा सुनाई देता है। उसके साथ ही सम्पूर्ण काव्य मानवता के विकास की कथा को लेकर ही लिखा गया है। इसी कारण मानवता के विकास के लिए जो-जो साधन अपेक्षित हैं, यहाँ उन सभी को चित्रित करने का प्रयत्न हुआ है। मानवता के लिए सबसे अधिक आवश्यकता समन्वय की है। गीता में जिस प्रकार विश्व के नाना पदार्थों से भगवान् की विभूति का समन्वय किया गया है[3] और गोस्वामी तुलसीदास ने जिस तरह लोक और शास्त्र, गार्हस्थ्य और वैराग्य, भक्ति और ज्ञान आदि का समन्वय करके अपने रामचरितमानस का निर्माण किया था, उसी तरह प्रसादजी ने भी भौतिकता और आध्यात्मिकता, प्रवृत्ति और निवृत्ति, भोग और त्याग, बुद्धि और हृदय आदि का समन्वय करके मानवता के लिए अपेक्षित एकता, समता, भ्रातृत्व-भाव, मानव-प्रेम आदि उदात्त भावनाओं का प्रसार करने के लिए कामायनी महाकाव्य का निर्माण किया है। अत: कामायनी में प्रसादजी की मानवतावादी विचारधारा का भी चरम विकास विद्यमान है।

सौन्दर्यवाद—प्रसादजी स्थूल सौन्दर्य की अपेक्षा सूक्ष्म एवं आध्यात्मिक सौन्दर्य के उपासक हैं। उनकी यह सौन्दर्य-भावना कामायनी में स्थान-स्थान पर विद्यमान है, क्योंकि इसी सौन्दर्य-प्रेम के कारण उन्हे प्रकृति के प्रत्येक पदार्थ में एक अतीन्द्रिय सौन्दर्य की ऐसी झलक दिखाई देती है, जिससे मधुर रहस्य में उनका मन अनायास ही उलझ जाता है तथा प्रत्येक पदार्थ चिर परिचित सा जान पड़ता है।[4] इसी सौन्दर्य-प्रेम के कारण वे मानव-शरीर के स्थूल अवयवों की अपेक्षा उसके सूक्ष्म एवं मानसिक रूप की ऐसी व्याख्या करते हैं कि वह प्राणी एक अलौकिक सौन्दर्य से युक्त प्रतीत होता है तथा वह अशरीरी एवं अतीन्द्रिय बनकर भी हमारे हृदय को आकृष्ट किए बिना नहीं रहता। श्रद्धा के सौन्दर्य-चित्रण में

१—एक घूँट, पृ० २०, ३०। २—कामायनी, पृ० ५६।
३—श्रीमद्भगवद्गीता १०।२०-४२ ४—कामायनी, पृ० ३५।

उक्त सभी बातें स्पष्ट रूप से मिल जाती हैं। इतना ही नही कामायनी मे इस सूक्ष्म एव अतीन्द्रिय सौन्दर्य के अतिरिक्त भाव-सौन्दर्य एव कर्म-सौन्दर्य की भी मनोरम झाँकी प्रस्तुत की गई है, जिसका विस्तृत उल्लेख प्रकरण ३ के अन्तर्गत किया जा चुका है।[१] अत कामायनी में प्रसादजी की सौन्दर्य-भावना का भी चरम विकास दिखाई देता है।

संस्कृति-प्रेम—प्रसादजी भारतीय सस्कृति के अनन्य प्रेमी हैं। उनका यह प्रेम कामायनी के अन्तर्गत आए हुए अहिंसा, सत्य, सदाचार, लोकसेवा, परोपकार आदि के वर्णनो मे भली प्रकार देखा जा सकता है। इसके साथ ही भारत में अनेकता मे एकता एव विभिन्नता में अभिन्नता देखने की प्रवृत्ति अत्यन्त प्राचीन है। प्रसादजी ने इस प्रवृत्ति को अपनाते हुए अन्त में अपने समन्वयवाद एव समरसता के सिद्धान्त का प्रतिपादन किया है। इसके अतिरिक्त भारतीय सस्कृति की अन्य विशेषताएँ भी कामायनी मे विद्यमान हैं, जिनमें प्रसादजी की भारतीय सस्कृति सम्बन्धी भावना का चरम विकास दिखाई देता है। इसका विस्तृत विवेचन प्रकरण ५ के अन्तर्गत किया जा चुका है।[२]

स्वदेश-प्रेम—प्रसादजी का स्वदेश प्रेम उनके सभी काव्यो में विद्यमान है, किन्तु कामायनी में यह और भी विकसित रूप में दिखाई देता है, क्योंकि यहाँ उषा, सध्या, रजनी, वसत, समुद्र, हिमालय, मानसरोवर, कैलाश, नदी, निर्झर, कानन आदि की जो झाँकी अकित की गई है[३] वह उनके सुदृढ स्वदेशानुराग की परिचायक है। साथ ही 'सघर्ष' सर्ग में विलासी यायावर शासक के प्रति क्षोभ एव उसके विरुद्ध जनक्रान्ति का वर्णन करके स्पष्ट ही उन्होने तत्कालीन पराधीन जीवन से स्वाधीनता की ओर अग्रसर होने की प्रेरणा दी है, जो उनके स्वदेश-प्रेम एव स्वाधीनता सम्बन्धी प्रगतिशील विचारो की सूचक है।

अध्यात्मवाद—प्रसादजी अध्यात्मवादी हैं और इसी कारण 'कामायनी' में वे भौतिकवाद के आधार पर विकसित यान्त्रिक सभ्यता एव उसके आडम्बरपूर्ण जीवन, कपट-व्यवहार, विलासिता, सुरा-स्वर्ण-सुन्दरी मे आसक्ति आदि की कटु आलोचना करते हैं। साथ ही इस यान्त्रिक सभ्यता का पतन दिखाकर आध्यात्मिक आधार पर विकसित एक नई सभ्यता की ओर सकेत करते हैं। जहाँ सभी एक कुटुम्ब के रूप में रहते हैं। प्रत्येक अपने को समाज का एक अग मानता है। जहाँ

१- ... ०५।

२—देखिए पृ० २६३—३४७।

न कोई शापित है और न कोई तापित। सभी जीवन-वसुधा के समतल पर निवास करते हैं और समरस होकर निर्विकार रूप में समस्त विश्व को एक नीड मानते हुए अखंड आनन्द का अनुभव करते हैं।[१] अत. कामायनी में वे अपनी आध्यात्मिक भावना का चरम विकास दिखलाते हुए मानव-मात्र को शुद्ध, पवित्र, सरल, सात्विक एव सन्तोषपूर्ण जीवन व्यतीत करने की सलाह देते हैं।

इतिहास-प्रेम—प्रसादजी को भारतीय इतिहास से बड़ा ही प्रेम था और उसी का यह परिणाम है कि उन्होने कितने ही उच्च कोटि के ऐतिहासिक नाटक, काव्य आदि लिखे। यह 'कामायनी' महाकाव्य भी उनके इतिहास-प्रेम का एक ज्वलन्त प्रमाण है, जिसमें इतिहास के धुँधले पृष्ठों पर अंकित मानवता की कथा को एक महाकाव्य के रूप में अंकित करके उन्होने मानव-मात्र को उसके अपरिचित इतिहास से परिचित कराने का स्तुत्य प्रयत्न किया है, उसके भूले हुए पूर्वजो का स्मरण कराया है और सुदूर अतीत से लेकर आधुनिक मानव-जीवन तक मानवता के सम्पूर्ण रहस्यों का उद्घाटन करके मानव को कल्याण-मार्ग पर अग्रसर होने की प्रेरणा प्रदान की है। निस्सदेह कामायनी महाकाव्य प्रसादजी के इतिहास-प्रेम का सच्चा प्रतीक है।

अन्त प्रकृति का चित्रण—प्रसादजी मूलत अन्तःप्रकृति के कवि हैं। उनके काव्यो में अन्तर्द्वन्द्व या अन्तर्मथन का वर्णन अपेक्षाकृत अधिक सजीवता के साथ मिलता है। कामायनी में भी प्रसादजी की इस मनोवृत्ति का चरम विकास दिखाई देता है, क्योकि यहाँ पर सभी प्रमुख पात्रो के अन्तर्द्वन्द्व का विस्तारपूर्वक चित्रण किया गया है। कामायनी के चरित्र-नायक मनु में तो सर्वत्र अन्तर्द्वन्द्व की ही प्रधानता दिखाई देती है। 'चिन्ता', 'आशा', 'काम', 'वासना', 'कर्म', 'ईर्ष्या', 'इड़ा', 'सघर्ष', 'निर्वेद' आदि सर्गों मे मनु के अन्तर्द्वन्द्व का चित्रण अत्यत विस्तार के साथ किया गया है, जिनमें कहीं वे अपने विगत अतीत पर व्यथित होते हुए दिखाई देते है,[२] कही ज्योत्स्नापूर्ण रजनी के वैभव से उत्पन्न सवेदन के द्वारा हृदय में चोट खाकर अधीर और बेचैन प्रतीत होते है,[३] कहीं श्रद्धा के कर्मवादी उपदेश और उसके आत्म-समर्पण को देखकर उनके हृदय में उथल-पुथल मचती है[४] और कहीं सघर्षमय जीवन और उसके भयानक परिणाम को देखकर उनका हृदय व्यथा से भर जाता है।[५] इतना ही नहीं मनु के अतिरिक्त श्रद्धा तथा इड़ा के अन्तर्द्वन्द्व का चित्रण भी

१—कामायनी, पृ० २८८–२८६ २६४।
२—वही, पृ० ४–१६। ३—वही, पृ० २५–४१।
४—वही, पृ० ६५–६६। ५—वही, पृ० २२०–२३०।

प्रसादजी ने बडी सफलता के साथ किया है और नारी के हृदय में उठने वाले सघर्ष की सुन्दर झाँकी प्रस्तुत की है, जिसमें कभी वह विवाह से पूर्व सकल्प-विकल्प करती हुई दिखाई देती है,[1] कभी वह प्रेमी से ठुकराये जाने पर निस्सम्बल होकर वियोग की तीव्र ज्वाला मे जलती हुई अपने अतीत जीवन पर आठ आठ आँसू रोती है,[2] कभी अपने किए हुए अनर्थकारी कुकृत्यो के दुष्परिणाम को देखकर ग्लानिपूर्ण हृदय में बीती हुई बातो का विचार करती है और सोचते-सोचते बेचैन हो जाती है।[3] इस तरह कामायनी मे सर्वत्र अन्त प्रकृति के चित्रो का प्राधान्य दिखाई देता है।

आदर्शवाद—प्रसादजी की आदर्शवादिता का भी चरम विकास कामायनी में दिखाई देता है। यहाँ पर प्रसादजी ने पहले अपने सभी पात्रो का चित्रण यथार्थ-वाद की पृष्ठभूमि पर किया है। उनके मनु पहले एक चचल, विलासी, उच्छृङ्खल एव कपट-व्यवहारी है, किन्तु अन्त मे एक महापुरुष बन जाते है। ऐसे ही इडा भी पहले दूसरो को भ्रम मे डालने वाली एक यथार्थ जगत की नारी है, जो अन्त मे श्रेष्ठ राष्ट्र स्वामिनी हो जाती है। साथ ही श्रद्धा भी पहले एक साधारण परिवार की कुलवधू है, परन्तु अन्त में वह सर्व कल्याण-कारिणी, जगत की एकमात्र मगल कामना आदि बन जाती है। इस तरह प्रसादजी ने यथार्थवाद की पृष्ठ-भूमि पर ही अपने आदर्शवाद की स्थापना की है। इसीलिए इनका आदर्शवाद यथार्थोन्मुख है और उसकी सुन्दर झाँकी कामायनी में विद्यमान है।

दर्शन-प्रेम—प्रसादजी को दर्शन से अधिक प्रेम है। परन्तु वे दर्शन के व्यावहारिक पक्ष को ही अपनाकर चले हैं। कामायनी में जिस शैवदर्शन का स्थान-स्थान पर अधिक सकेत मिलता है, उसका आरम्भिक स्वरूप सर्व प्रथम 'चित्राधार' में सगृहीत 'प्रेमराज्य' काव्य के अतर्गत विद्यमान है।[4] उसी भावना का चरम विकास कामायनी मे हुआ है। इसी कारण यहाँ प्रसादजी ने एक चिति की ही सर्वत्र व्यापकता, ससार की सत्यता, जीव-ब्रह्म तथा जड-चेतन की एकता आदि का निरूपण करते हुए सर्वत्र वैराग्य, अकर्मण्यता, कर्त्तव्य-पराङ्मुखता, द्वयता आदि का निषेध किया है[5] और आनन्दवाद की प्रतिष्ठा करके कामायनी के दर्शन को व्यावहारिक जीवन से सम्बद्ध कर दिया है।

स्वच्छन्दतावाद—प्रसादजी पूर्णत स्वच्छन्दतावादी है। इसी कारण वे कामायनी मे प्राचीन परम्परा का अधानुसरण करते हुए दिखाई नही देते।

१—कामायनी, पृ० १०४–१०५। २—वही, पृ० १७५–१७९।
३—वही, पृ० २०७–२१२। ४—चित्राधार, पृ० ७२–७३।
५—कामायनी, पृ० ५३, २८८, २९४, ५५, ५६, २८९।

यहाँ वे स्पष्ट घोषित करते हैं कि 'जब पुरातनता के निर्मोक को प्रकृति ही एक पल सहन नहीं करती, तब मानव क्यों उनमें लीन रहे ? उसे भी नित्य नूतनता की ओर अग्रसर होना चाहिए।'[1] इसी कारण वे साहित्य में भी नये-नये प्रयोग करते हुए दिखाई देते हैं और उनकी यह स्वच्छंद मनोवृत्ति कहानी, नाटक, काव्य आदि सभी विधाओं में स्पष्ट दिखाई देती है। उन्होंने कामायनी महाकाव्य का निर्माण भी इसी कारण एक स्वच्छंद प्रणाली पर किया है, जिसमें परम्परागत पद्धतियों एवं रूढ़िगत प्रणालियों का पूर्णत उल्लंघन करके नये प्रकार के वर्ण्य विषय, पात्र, सर्ग, वृत्त आदि का प्रयोग हुआ है। इतना ही नहीं प्राचीन कथानक को युग की स्वतंत्र एवं प्रगतिशील भावनाओं से सम्बद्ध करके इस तरह प्रस्तुत किया गया है कि उसमें प्राचीनता के साथ-साथ मानव-जीवन की समस्त नवीन गति-विधियों का पूर्ण आभास भी मिल जाता है। अपनी इसी मनोवृत्ति के कारण वे प्राचीन पृष्ठ-भूमि पर एक ऐसे नव-निर्माण का कार्य करते हैं, जो पूर्णतया स्वतंत्र एवं मौलिक प्रतीत होता है। कहने की आवश्यकता नहीं कि कामायनी काव्य में उनकी यही मनोवृत्ति अधिक विकसित रूप में दिखाई देती है।

नव अभिव्यंजना-पद्धति—स्वच्छंद मनोवृत्ति के कारण जहाँ प्रसादजी का ध्यान नये-नये वर्ण्य विषयों को लेकर साहित्य की नई-नई विधाओं के निर्माण की ओर गया है, वहाँ वे अभिव्यंजना की नूतन प्रणाली को अपनाने में भी सबसे पहले अग्रसर हुए हैं। उनका कामायनी काव्य आधुनिक युग की अभिव्यंजना सम्बन्धी नूतन प्रणालियों का सर्वोत्कृष्ट ग्रन्थ है, जिसमें कहीं लाक्षणिक प्रयोगों की भरमार है,[2] तो कहीं प्रतीकात्मक शब्दों के द्वारा बिम्बग्राही चित्र अङ्कित किये गये हैं।[3] कहीं व्यंजना का आधिक्य है,[4] तो कहीं उपचार-वक्रता के द्वारा अद्भुत उक्ति-वैचित्र्य के दर्शन होते हैं।[5] सारांश यह है कि कामायनी में प्रसादजी की नूतन अभिव्यंजना-पद्धति का भी पूर्ण विकास दिखाई देता है।

अत. अन्त में यही निष्कर्ष निकलता है कि कामायनी में प्रसादजी के समस्त विचारों, प्रेरणाओं एवं प्रवृत्तियों का पूर्ण विकास हुआ है। यह उनकी वह प्रौढ़ कृति है, जिसमें उन्हें बड़े मनोयोग के साथ अपनी धारणाओं, विचार-परम्पराओं एवं हार्दिक मनोभावों के चित्रण का सुअवसर प्राप्त हुआ है और इसी कारण अपनी बौद्धिक एवं हृदयगत विशेषताओं को पूर्णरूपेण अंकित करके उन्होंने कामायनी की

१—कामायनी, पृ० ५५। २—वही, पृ० १५८, १६३, १७६।
३—वही, पृ० ६३, १७५। ४—वही, पृ० ८८, ८९।
५—वही, पृ० ४८–४९।

समाप्ति पर सन्तोष की साँस ली थी। निस्सदेह कामायनी महाकाव्य प्रसादजी के प्रौढ विचारो के सकलित स्वरूप को प्रस्तुत करता हुआ प्रसादजी की सर्वश्रेष्ठ रचना होने के साथ-साथ खडी बोली के गौरव-ग्रथो मे भी विशिष्ट स्थान का अधिकारी है।

कामायनी मे जीवन-सन्देश

विश्व के सभी महाकाव्य युग-युग की सचित सम्पत्ति के भडार होते हैं। उनका निर्माण मानव-जीवन के आधार पर होता है और वे दुर्बल, पतित एव आपत्तिग्रस्त मानवता को सशक्त, उन्नत एव आनन्दमय बनाने के लिए लिखे जाते है। यही कारण है कि प्रत्येक महाकाव्य मे मानव-मात्र के लिए जीवन-सन्देश अन्तर्निहित होता है और उस सदेश द्वारा वे सम्पूर्ण विश्व का पथ-प्रदर्शन करते हुए मानव-जीवन को कल्याणमय बनाने का प्रयत्न करते हैं।

जिस तरह अन्य महाकाव्यो के द्वारा विश्व के महाकवियो ने मानव-मात्र के लिए जीवन-सन्देश दिये हैं, उसी तरह कामायनी के द्वारा प्रसादजी ने भी निरन्तर द्वयता मे लगी रहने वाली, अनजान समस्याओ में व्यस्त तथा एकता के नष्ट हो जाने के कारण अनन्त कोलाहल एव कलह मे फँसी हुई सकुचित दृष्टि वाली आधुनिक युग की इस 'अभिनव मानव प्रजा सृष्टि' को भी सन्देश दिया है और बतलाया है कि दु खो से घबडाकर ससार से भागने की आवश्यकता नही। यह दु ख तो ईश्वर का रहस्यमय वरदान है, और फिर दुःख और सुख तो रात और दिन की भाँति निरन्तर आते-जाते रहते हैं। अतः दु खो की चिन्ता न करते हुए 'भूमा' की ओर बढने का प्रयत्न करो, जो अनन्त सुखो का भडार है।[1] परन्तु उस भूमा की ओर कैसे बढा जाय? इसके लिए वे 'शक्तिशाली हो विजयी बनो' कहकर विश्व-मानव को कर्मण्यता का सन्देश देते हैं और बतलाते हैं कि निरन्तर कर्मशील रहकर ही मानव मगलमय वृद्धि करता हुआ सम्पूर्ण समृद्धि का स्वामी बन सकता है, विधाता की कल्याणमयी सृष्टि को इस भूतल पर सफलता प्रदान कर सकता है, सर्वत्र मानवता की कीर्ति-पताका फहरा सकता है, उसकी दुर्बलता को दूर कर सकता है तथा शक्ति के समस्त बिखरे हुए विद्युत्कणो को सकलित करके मानवता को विजयिनी बना सकता है।[2]

इसके अतिरिक्त वे जानते थे कि कर्मों की ओर उन्मुख होने वाला मानव प्रवृत्ति-मार्ग को अपनाता हुआ सत्कर्मो की अपेक्षा दुष्कर्मों में भी प्रवृत्त हो सकता है और भूमा की ओर न बढकर अल्पता या क्षुद्रता की ओर जा सकता है। इसके लिए प्रसादजी ने मनु के जीवन की पतनावस्था की ओर सकेत करते हुये कामायनी में